हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास

तपश्चर्या, प्रभुविश्वास और सत्यान्वेषण ही
जिनके जीवन का मूल मंत्र रहा है और
जिनके आशीर्वाद से यह प्रबन्ध
सम्पन्न हुआ है
उन्हीं
पूज्यपाद पितृदेव वैद्यराज पं० रामरखा मल्ल जी
को सादर समर्पित

उपोद्‌घात

जीवन और जगत् की यथार्थताएँ जितनी सफलता से उपन्यास में अभिव्यक्ति पा सकी हैं, उतनी और किसी साहित्य-विधा में नहीं। मानव-जीवन ज्यों-ज्यों जटिल और बहुमुखी होता गया, उसकी समस्याएँ कविता और नाटक में न समा सकीं और मनुष्य की अनुभूतिधारा शास्त्रीय सीमाओं को लाँघ कर अपने प्रकृत रूप में बह निकली। अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को उपन्यास की संज्ञा मिली। उपन्यास की हम कोई भी परिभाषा स्वीकार करें, इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि उसका मुख्य विषय मानव और उसका चरित्र है। मनुष्य एक पहेली है, एक रहस्य है। इस पहेली को सुलझाने की, इस रहस्य को खोलने की थोड़ी बहुत चेष्टा प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। इसलिए, यह कहना असंगत न होगा कि चरित्रचित्रण उपन्यास का प्राणभूत तत्त्व है। चरित्रचित्रण की सुदृढ़ नींव पर ही उपन्यास का भव्य प्रासाद टिका है।

उपन्यास-कला के इस मर्म को दृष्टि में रखकर इस प्रबन्ध के विद्वान लेखक ने वैज्ञानिक पद्धति पर हिन्दी-उपन्यास का अनुसन्धानात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत अपने विषय का यह प्रथम और सर्वथा मौलिक शोध-प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध को विद्वद्वरों के कर-कमलों में सौंपते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है—विशेषकर इस-लिए कि हिन्दी-साहित्य को एक ठोस शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रबन्ध द्वारा डा० रणवीर रांग्रा एक स्वतन्त्र चिन्तक, निष्पक्ष समीक्षक और तल-स्पर्शी तात्त्विक के रूप में हिन्दी-जगत् में प्रवेश कर रहे हैं। उनकी प्रतिभा में नवोन्मेष की मौलिकता ही नहीं, स्वमत को व्यक्त करने की निर्भीकता भी है। उनकी शैली में कृतित्व की निपुणता ही नहीं, अध्ययन की गम्भीरता भी है।

यह प्रबन्ध मेरे ही निर्देशन में लिखा गया है। इसके गुणों का अधिक परि-गणन मेरे लिए उपयुक्त न होगा। फिर भी मैं यह कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता कि यह प्रबन्ध लेखक के अथक परिश्रम, तात्त्विक चिन्तन और अनुसन्धानात्मक

अध्यवसाय का सुफल है। हिन्दी-साहित्य को इतनी सुन्दर और सुगठित कृति प्रस्तुत करने के लिए मैं अपने सुयोग्य और प्रिय शिष्य डा० राग्रा को हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वह इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण और मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करके हिन्दी के आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहेंगे।

गोविन्द त्रिगुणायत
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राक्कथन

साहित्य की आधुनिक विधाओं में उपन्यास की सर्वाधिक लोकप्रियता निर्विवाद है और उसमें भी निर्विवाद है चरित्रचित्रण का महत्त्व। चरित्रचित्रण उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व ही नहीं, उसका प्रधान आकर्षण भी है। उपन्यास में जिसकी सहायता से पाठक पात्रों से सायुज्य स्थापित करके आत्म-विभोर हो जाया करता है, वह चरित्रचित्रण ही है। उपन्यास का शेष सब कुछ भूल जाने पर भी पाठकों की कल्पना में साकार और स्मृति में अमर रहने वाले पात्रों का स्वरूप भी चरित्रचित्रण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। उपन्यास को बेकर ने गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या और इरा वोल्फर्ट ने मानव-जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद कहा है। प्रेमचन्द उसे मानव-जीवन का चित्रमात्र मानते थे और उससे आशा करते थे कि वह मानव-चरित्र पर प्रकाश डाले। वास्तव में, पात्रों के चरित्र का उद्घाटन उपन्यास की प्रमुख समस्या है। उपन्यास-रचना के लिए एक बार लेखनी उठा लेने पर कोई उपन्यासकार चरित्रचित्रण की समस्या से नहीं बच सका। उसके उपन्यास में चरित्रचित्रण ने प्रधानता ग्रहण की हो या वह गौण रहा हो, प्रतिपाद्य बनकर आया हो या अनायास ही आ घुसा हो—चरित्रचित्रण के बिना उसका उपन्यास 'उपन्यास' नहीं कहला सकता और चाहे कुछ कहलाए, क्योंकि उपन्यास का मूलाधार मानव और उसका चरित्र है और चरित्र अभिव्यक्ति माँगता है।

अपने विद्यार्थी-जीवन के आरम्भ में ही लेखक उपन्यास के इस तत्त्व की ओर आकृष्ट हो गया था, पर ज्यों-ज्यों इस ओर उसकी जिज्ञासा बढ़ती गई, हिन्दी में इस विषय के उचित आलोचना-साहित्य का अभाव देख, उसके हाथ निराशा ही लगी। वैसे तो समूचा उपन्यास-साहित्य ही आलोचकों द्वारा उपेक्षित रहा है और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित फुटकर लेखों और हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उपन्यास के अन्तर्गत परीक्षोपयोगी विवरणों को छोड़, अकेले उपन्यास-साहित्य पर लिखे आलोचना-ग्रन्थों की संख्या भी अभी नगण्य है, पर चरित्रचित्रण को आधार मानकर हिन्दी-उपन्यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला एक भी ग्रन्थ

अभी लेखक के देखने में नहीं आया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उपन्यास-चर्चा के अन्तर्गत चरित्रचित्रण का शीर्षक अवश्य मिलता है, पर उसमें पात्रों के चरित्रोद्‌घाटन के लिए उपन्यासकारो द्वारा सायास या अनायास अपनाई गई चरित्र-चित्रण की विविध प्रणालियो का उल्लेख तक नही मिलता। उनमें मिलता है केवल यह कि उपन्यासकारों की रचनाओं में उनके पात्रों के चरित्र का—चरित्रचित्रण का नहीं—जो स्वरूप उभरा है वह कैसा है, अर्थात् वह समाज-सम्मत है या नहीं और उस चर्चा का अन्त प्राय: इन शब्दों में होता है कि अमुक पात्र समाज के लिए हितकारी है या अनिष्टकारी; वह अच्छा है या बुरा। इन आलोचनाओं में पात्रों को आलोचक की चरित्र सम्बन्धी मान्यताओं और विश्वासों पर पूरा उतरते देखने की चेष्टा मिलती है और यही प्रवृत्ति आलोचकों की निराशा का कारण बनती है। एक ही पात्र की कुछ आलोचक प्रशंसा करते दीखते हैं तो कुछ उस पात्र की तथा उसके स्रष्टा की निन्दा करते हुए मिलते हैं।

इन आलोचनाओं में लेखक यह देखने के लिए लालायित रहा है कि पात्रों का चरित्र चाहे कैसा हो, उपन्यासकार अपने पात्रों को पाठकों की कल्पना में किस प्रकार साकार करता जाता है; किस प्रकार उसके पात्र काले अक्षरों से भरे उपन्यास के समतल पन्नों से धीरे-धीरे उभर कर पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के आगे सजीव होकर नाच उठते हैं; किस प्रकार वह अपने पात्रों का बाह्याभ्यन्तर खोलकर पाठकों को यह प्रतीत करा सकने में सफल हो पाता है कि उपन्यासकार की तरह वे भी उन पात्रों के बारे में सब कुछ जानते हैं और उनके मन का कोई भी कोना उनके पाठकों से अछूता नहीं रहा। शिवनारायण श्रीवास्तव के 'हिन्दी-उपन्यास' और यज्ञदत्त शर्मा के 'हिन्दी के उपन्यासकार' नामक ग्रन्थों में भी यह अभाव खटकता है। जगदीश पाण्डेय कृत 'शील-निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग' में भी यह विषय सुलझने की अपेक्षा उलझकर ही रह गया है। इसके अतिरिक्त उसमें हिन्दी के केवल तीन उपन्यासों 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर : एक जीवनी' की ही चर्चा की गई है। डा० देवराज उपाध्याय के प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' से कुछ आशा बंधी थी, पर विषयान्तर हो जाने से उसमें भी चरित्रचित्रण पर अधिक प्रकाश न पड़ सका।

यह सब लिखने से लेखक का यह अभिप्राय नहीं कि उसके इस प्रबन्ध से उपर्युक्त अभाव की पूर्ति हो जाएगी, न ही वह इस प्रकार का कोई दावा करता है। उसका तो केवल यही निवेदन है कि इस प्रबन्ध को लिखने की प्रेरणा उसे इस विषय के ग्रन्थों के अभाव से मिली। उसे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि मानव-चरित्र जैसे अतिगूढ़ विषय को समझने-समझाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। हिन्दी-उपन्यास के अथाह सागर में अवगाहन करके चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों को पकड़ सकना तो और भी कठिन है। अपने इस विनीत प्रयास द्वारा वह यदि

विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर खींच सका तो उसके संतोष के लिए यही पर्याप्त होगा ।

प्रबन्ध की योजना

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास की मुख्य रूप से तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं । पहली अवस्था है आरम्भिक तिलस्म-एय्यारी और जासूसी के उपन्यासों में हुए चरित्रचित्रण की, जिसके लिए उन उपन्यासकारों ने कोई विशेष आयास नहीं किया । उनके उपन्यासों में पात्रों के चरित्रचित्रण का जो भी रूप मिलता है, वह उनसे अनायास ही बन गया था । मानव-चरित्र के प्रकाशन में उन उपन्यासकारों की रुचि न थी । उनका मुख्य लक्ष्य पाठकों का मनोरंजन था । विकास की दूसरी अवस्था का आरम्भ प्रेमचन्द के पदार्पण से हुआ और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय तक इसका जोर रहा । प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यास-कारों ने अपने पात्रों का चरित्रचित्रण बड़े आयास से किया और उसमें उन्हें सफलता भी मिली, परन्तु चरित्रचित्रण उनके उपन्यासों का साध्य न था । उनमें वह किसी न किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनकर ही आया था । मानव-चरित्र एक हिमनग (आईसबर्ग) के समान है, जिसका नवमांश ही जल के ऊपर दिखाई देता है और शेष जलमग्न रहता है । सोद्देश्य चरित्रचित्रण वाले इन उपन्यासकारों की रुचि हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले भाग के चित्रण में ही रही है और अपने पात्रों की आकृति-वेशभूषा, उनके आसपास की परिस्थिति, उस परिस्थिति में व्यक्त होने वाले उनके अनुभावों, क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के वर्णन में ही उन्होंने पात्रों के चरित्रचित्रण की इतिश्री मान ली है । इनमें से कुछ उपन्यासकारों ने हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त भाग के अस्तित्व को स्वीकार करके उसके चित्रण की चेष्टा की भी तो वे चित्रण बहुधा मनोवैज्ञानिक सत्यांशों से दूर जा पड़े । अधिकांशतः ये उपन्यासकार अपने पात्रों का 'वे' के रूप में बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण ही कर पाए हैं, 'मैं' के रूप में अन्तरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण नहीं । उनके सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह रूप पर्याप्त भी था । तीसरी अवस्था मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय से सम्भव हुई । उसमें उपन्यासकार हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त, अवचेतन और अचेतन, अंश के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त हुए और अपने पात्रों के चरित्रचित्रण के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का आश्रय लिया ।

इसलिए, विषय-प्रतिपादन की सुविधा को देखते हुए—वर्गीकरण की दृष्टि से नहीं—प्रबन्ध में 'अनायास चरित्रचित्रण', 'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' और 'मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण' शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों की रचनाओं में पाई जाने वाली चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों का निरूपण किया

गया है। 'अनायास चरित्रचित्रण' से लेखक का अभिप्राय यह नहीं कि इस वर्ग के उपन्यासकारों ने अपने पात्रों के चरित्रचित्रण के लिए कोई भी आयास नहीं किया। अपने उपन्यासों के घटना-वर्णन, पात्रों के वेशभूषा चित्रण, संवाद रचना आदि में, जिसमें उनके पात्रों का चरित्र प्रतिबिम्बित मिलता है, निस्सदेह उन्हें बड़ा आयास करना पडा होगा। पर लेखक का आशय केवल यह है कि पाठकों का मनोरंजन करने के लिए इन उपन्यासकारों ने जितना आयास किया है, उसे देखते हुए पात्रों के चरित्रचित्रण में हुआ उनका आयास न के बराबर ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार, सामाजिक उद्देश्य से लिखे उपन्यासो में हुए चरित्रचित्रण को जो 'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' की संज्ञा दी गयी है, उसका अर्थ यह नही कि सोद्देश्य चरित्रचित्रण केवल उसी वर्ग के उपन्यासों में हुआ है। न ही उसका यह अभिप्राय है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों का चरित्रचित्रण निरुद्देश्य हुआ है। लेखक का केवल यह मंतव्य है कि दूसरी अवस्था में जहा चरित्रचित्रण का आधार सामाजिक उद्देश्य रहा है, वहाँ तीसरी अवस्था में चरित्रचित्रण का आधार रहा है मनोविज्ञान।

रूपरेखा

'हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास' विषयक इस प्रबन्ध के छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में औपन्यासिक चरित्रचित्रण के सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन है। दूसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि का चित्रण है, जिसने उसके पात्रों के चरित्र और चरित्रचित्रण के विकास को दिशा प्रदान की। तीसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास के आरम्भिक युग के तिलस्म-एय्यारी और जासूसी उपन्यासों में हुए अनायास चरित्रचित्रण की विवेचना की गई है। चौथे अध्याय में सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखे गए हिन्दी-उपन्यासों में चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों का निरूपण है। पाँचवें अध्याय में हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्रचित्रण के स्वरूप का विश्लेषण है। छठे अध्याय में उपसंहारात्मक रूप से हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास और उसकी प्रमुख समस्याओं की संक्षिप्त चर्चा है।

'उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष' शीर्षक वाले पहले अध्याय के तीन भाग हैं—(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण, (ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप और (ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ। पहले (क) भाग में उपन्यास के विविध लक्षणों का विवेचन, उपन्यास और चरित्रचित्रण के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा, उपन्यास में चरित्रचित्रण के स्वरूप का निरूपण और चरित्रचित्रण की दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाओं—महाकाव्य, नाटक, कहानी और जीवनी—से उपन्यास की तुलना की गई है। दूसरे (ख) भाग में कथानक और चरित्रचित्रण की दृष्टि से पात्रों के शास्त्रीय रूपों का उल्लेख और उपन्यासकारों द्वारा उनके पालन में शिथिलता की ओर संकेत है। तीसरे (ग) भाग

में पात्रो के बहिरंग (ऑब्जेक्टिव), अंतरंग (सब्जेक्टिव) और नाटकीय (ड्रामेटिक) चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियों के स्वरूप और उनके उपयोग की सोदाहरण व्याख्या की गई है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इस भाग में पात्रों के चरित्रचित्रण की मुख्य-मुख्य प्रणालियों की ही व्याख्या की गई है और उन्हीं के आधार पर हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विवेचन किया गया है। वैसे तो चरित्रचित्रण की असख्य प्रणालियाँ हो सकती हैं।

दूसरा अध्याय हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि का है। इस अध्याय में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध (सन् १८५०-१९००) की राजनीतिक परिस्थितियों और सामाजिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय है। तत्पश्चात् हिन्दी-उपन्यास के पूर्ववर्ती हिन्दी और संस्कृत के कथा-साहित्य और उसकी प्रवृत्तियों का विवेचन और आरम्भिक हिन्दी-उपन्यासों में पात्रों के चरित्र-विकास पर उनके प्रभाव की चर्चा की गई है। अन्त में हिन्दी में अनूदित अन्य भाषाओ के उपन्यासों का उल्लेख है, जिन्होंने हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण का स्वरूप स्थिर करने में योग दिया था।

तीसरे अध्याय का शीर्षक 'अनायास चरित्रचित्रण' है। इस अध्याय में देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म और एय्यारी तथा गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों मे पात्रो के नामो, उनके परिचयात्मक वर्णनों, आकृति-वेशभूषा-चित्रणों, घटनाचक्रों, कथोपकथनों, अध्यायो के शीर्षकों, पात्रों के एक-दूसरे को लिखे पत्रों आदि के विवेचन द्वारा यह दिखाया गया है कि इन उपन्यासकारो ने पात्रों का चरित्रचित्रण आयासपूर्वक चाहे न किया हो, चरित्रचित्रण के प्रति उदासीन वे नहीं कहे जा सकते। साथ ही इन उपन्यासकारो के प्रति आलोचकों के उपेक्षा-भाव का उल्लेख करते हुए इनकी रचनाओ के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता की ओर सकेत किया गया है।

'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' शीर्षक वाले चौथे अध्याय में सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकारों द्वारा अपनाई गई चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियो की विवेचना है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकार हिन्दी में इतने अधिक हैं कि किसे लिया जाय और किसे छोड़ा जाय, यह भी एक समस्या है। पर क्योंकि इस प्रबन्ध का उद्देश्य चरित्रचित्रण की दृष्टि से हिन्दी के समस्त उपन्यासकारो की सब रचनाओं का अध्ययन करना नही, प्रत्युत् हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास दिखाना है, इसलिए प्रतिनिधि उपन्यासकारो को ही लिया गया है। प्रतिनिधि उपन्यासकारों के भी समस्त उपन्यासों को न लेकर उन्ही प्रवृत्ति वाले उपन्यासो को लिया गया है, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणार्थ, वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक उपन्यासो को न लेकर उनके ऐतिहासिक उपन्यासो को ही लिया गया है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले प्रतिनिधि उपन्यासकारों

में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल का स्थान निर्विवाद है। इसलिए, इनके ही उपन्यासों में पात्रो के चरित्रचित्रण के लिए अपनाई गई विविध प्रणालियों की सोदाहरण व्याख्या की गई है। इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, सियारामशरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के उपन्यासों में चरित्रचित्रण के स्वरूप का अध्ययन भी रुचिकर हो सकता था पर एक तो प्रतिनिधि उपन्यासकारों के अध्ययन में इन उपन्यासकारों की अधिकांश प्रवृत्तियों की व्याख्या हो गई है और दूसरे, इस छोटे से प्रबन्ध में सबको लेकर उनके प्रति न्याय नहीं किया जा सकता था।

चौथा अध्याय हिन्दी उपन्यास में 'मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण' पर है। इस अध्याय में हिन्दी के उन उपन्यासकारों द्वारा पात्रों के चरित्रचित्रण के लिए प्रयुक्त विविध प्रणालियों का सोदाहरण निरूपण है, जिन्होंने मनोविज्ञान को चरित्रचित्रण का मुख्य आधार बनाया है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास काफी संख्या में होते हुए भी प्रतिनिधि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के रूप में अभी जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ही उल्लेखनीय माने जाते हैं। इसलिए, इस प्रबन्ध में उनके ही उपन्यासों में हुए मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण का स्वरूप-विवेचन किया गया है। इन उपन्यासकारों द्वारा प्रयुक्त बहिरंग और नाटकीय चरित्रचित्रण की प्रणालियों को भी छोड़ा तो नही गया, पर पात्रों के अंतरंग चरित्रचित्रण के निमित्त इन्होंने जिन विविध प्रणालियों को अपनाया है, उनके निरूपण पर ही अधिक बल दिया गया है। मानव-चरित्र के अव्यक्त अचेतन अंश को चित्रित करना कोई सरल काम नहीं—उसे शब्दों की भाषा में जो कि चेतन मन की ही उपज है, व्यक्त करना और भी कठिन है। इसलिए, पात्रों की अचेतन प्रवृत्तियों के चित्रण के प्रयास में जैनेन्द्र के पात्रों में जोदुरूहता आ गई है और अज्ञेय के चरित्रचित्रण में अश्लीलता का जो आभास मिलने लगा है, उसका भी विशद विवेचन किया गया है।

छठे अध्याय में हिन्दी उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास की तीन अवस्थाओं—अनायास, सोद्देश्य और मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण—में तारतम्य दिखाया गया है, हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय के साथ चरित्रचित्रण में आई दुरूहता का विश्लेषण है और उसके निवारण की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

यहाँ उन बातों का उल्लेख कर देना भी असंगत न होगा जिनका लेखक ने प्रबन्ध लिखते समय विशेष ध्यान रखा है। विविध उपन्यासकारों की रचनाओं में चरित्रचित्रण का निरूपण करते समय लेखक किसी पूर्व निश्चित कसौटी को लेकर नही चला; न ही उसने पात्रो को चरित्र सम्बन्धी अपनी मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार देखने की चेष्टा की है। इसलिए, कोई पात्र अच्छा है या बुरा, इस झमेले में वह नही पड़ा। उसका ध्यान सदा इस बात पर रहा है कि किसी पात्र का वाह्याभ्यन्तर स्फटिक स्पष्ट हो पाया है तो कैसे, और यदि अस्पष्ट रहा है तो उसकी

दुरूहता का कारण क्या है। ऐसा करते हुए उसकी रुचि उतनी छिद्रान्वेषण में नहीं रही, जितनी उन पात्रों को समझने और उनकी व्याख्या करने में। दूसरे, उपन्यासों में चरित्रचित्रण का स्वरूप-निरूपण करते समय लेखक ने सामान्यीकरण से बचने की चेष्टा की है। किसी उपन्यासकार के चरित्रचित्रण की जब भी किसी विशिष्टता का उसने उल्लेख किया है, उसके समर्थन में उस उपन्यासकार के एकाधिक उपन्यासों से उद्धरण दिये हैं। तीसरे, गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक विषय का विवेचन करते हुए भी लेखक ने भाषा का प्रसाद गुण बनाये रखने का प्रयत्न किया है।

यहाँ पर लेखक उन विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जिनकी सहायता और कृपा से यह प्रबन्ध सम्पन्न हो सका है। अनुसन्धान-कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा लेखक को पूज्यवर पण्डित अयोध्यानाथ जी से मिली। उनके आशीर्वाद के बिना लेखक इस मार्ग पर एक पग भी नहीं चल सकता था। लेखक पर उनका भारी ऋण है। श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर वर्मा, भूतपूर्व प्रधान सम्पादक, केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय का तपःपूत व्यक्तित्व इस कार्य में लेखक के लिए प्रकाश-स्तम्भ रहा है। समय-समय पर अमूल्य सुझाव देकर और प्रबन्ध में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के चुनाव में पथ-प्रदर्शन करके उन्होने लेखक पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए वह सदा उपकार मानेगा। श्रद्धेय डा० नगेन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने व्यस्त रहते हुए भी इस प्रबन्ध को देखने की कृपा की है। उनके सत्परामर्शों के अभाव में प्रबन्ध अधूरा ही रह गया होता। लेखक उनका अत्यन्त आभारी है। डा० सोहनलाल, भूतपूर्व चीफ साइकॉलोजिस्ट, रक्षा मन्त्रालय ने इस प्रबन्ध के मनोविज्ञान-सम्बन्धी अंशों को सुन कर और अनेक सुझाव देकर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए लेखक ऋणी है। डा० विजयेन्द्र स्नातक, रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, श्रद्धेय जैनेन्द्र कुमार जी तथा अज्ञेय जी ने इस प्रबन्ध को आद्यन्त पढ़कर जो अमूल्य सुझाव दिये हैं, उनके लिए लेखक हृदय से आभारी है। डा० प्रभाकर माचवे से लेखक को जो प्रोत्साहन मिलता रहा है, उसके लिए वह कृतज्ञ है। इस प्रबन्ध के प्रणयन में लेखक को देश-विदेश के अनेकानेक विद्वानों के ग्रन्थो से सहायता मिली है। लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति आभारी है।

यह प्रबन्ध श्रद्धेय गुरुवर डा० गोविन्द त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० के निर्देशन में लिखा गया है। उनके सत्परामर्शों का लेखक ने कार्यारम्भ से लेकर अन्त तक पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उनके अनुग्रह के बिना यह अनुष्ठान पूर्ण होना सम्भव ही न था। उनके प्रति शाब्दिक आभार-प्रदर्शन लेखक के हृदय-स्थित कृतज्ञतापूर्ण भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होगा।

नई दिल्ली

रणवीर रांग्रा

विषय-सूची

पृष्ठ

पहला अध्याय

उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष

उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष

(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का महत्त्व—उपन्यास के लक्षण—उपन्यास और चरित्रचित्रण—चरित्रचित्रण का स्वरूप—चरित्रचित्रण की दृष्टि से . उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास और नाटक—उपन्यास और कहानी—उपन्यास और जीवनी—वस्तुजगत के व्यक्तियों और उपन्यास-जगत के पात्रों में अन्तर ।

(ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप

औपन्यासिक पात्र—वस्तुजगत के व्यक्तियो और औपन्यासिक पात्रो में सम्बन्ध—पात्र-चयन · संख्या और परिधि—पात्रों के भेदोपभेद : कथानक की दृष्टि से—प्रधान और गौण—प्रधान पात्रो के भेद . नायक-नायिका—प्रतिनायक-प्रतिनायिका—पताकानायक-पताकानायिका—विदूषक—गौण पात्र और उनकी उपादेयता—पात्रो के भेद : चरित्रचित्रण की दृष्टि से—स्थिर पात्र (स्टेटिक)—विकसनशील पात्र (किनेटिक) ।

(ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ

बहिरंग (आब्जेक्टिव) चित्रण—पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण—पात्रों के प्रथम परिचय में उनका चरित्र—आकृति-वेशभूपा-वर्णन—स्थित्यकन तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण—अनुभाव-चित्रण (एक्सप्रेसिव फीचर्स) ।

अंतरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण—अन्त.प्रेरणाओ का चित्रण (मोटिवेशन)—अन्तर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फ्लिक्ट)—अर्तविवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)—मनोविश्लेषण (साइकॉ-ऐनेलिसिस)—मुक्त आसंग (फ्री ऐसोसिएशन)—बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)—स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम-ऐनेलिसिस)—निराधार प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)—सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)—प्रत्यवलोकन-विश्लेपण (ऐनेलिसिस ऑव रिकोलेक्शन)—पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)—शब्द सहस्मृति परीक्षण (वर्ड ऐसोसिएशन टेस्ट) ।

नाटकीय चित्रण—घटनाओ द्वारा चरित्रचित्रण—कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण—उद्धरण शैली—डायरी द्वारा चरित्रचित्रण, पत्रात्मक शैली ।

(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास

उपन्यास का महत्त्व—'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति ।

उपन्यास के लक्षण

उपन्यासकार की निरंकुशता—उपन्यास की विविध परिभाषाएँ—नियत ग्राकार वाला गद्याख्यान—गद्यमय कल्पित ग्राख्यान द्वारा जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद—उपन्यास की सर्वग्राही परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा, इस प्रबन्ध के लिए।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का मुख्य विषय : मानव—चरित्रचित्रण उपन्यास का ग्रनिवार्य तत्त्व—कथानक ग्रौर चरित्र के ग्राधार पर उपन्यास का वर्गीकरण : भ्रामक—तिलस्मी, एय्यारी ग्रौर जासूसी उपन्यासों में भी चरित्रचित्रण।

चरित्रचित्रण का स्वरूप

चरित्र—चरित्र एक विकसनशील तत्त्व—विकसनशील तत्त्व : ग्रंत.करण—ग्रंत:करण ग्रौर उसकी प्रक्रिया—ग्रंत:करण ही मनुष्य का मूल चरित्र—चरित्र की विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिभाषाएँ—मानवाचरण का मूल प्रेरक उसका ग्रंत:करण—चरित्रचित्रण की कतिपय परिभाषाएँ—व्यक्तित्वचित्रण—उपन्यास में चरित्रचित्रण का समुचित स्वरूप ।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से

उपन्यास ग्रौर महाकाव्य—उपन्यास 'एपिक इन प्रोज' नहीं—उपन्यास की नींव : जीवन की यथार्थताएँ—उपन्यास में फलागम ग्रनिवार्य नहीं—महाकाव्य में व्यक्ति-चरित्र का ग्रभाव—**उपन्यास ग्रौर नाटक**—उपन्यासकार का एकमात्र साधन, शब्द—नाटक की सीमा—उपन्यासकार की महानता—**उपन्यास ग्रौर कहानी**—तात्विक ग्रन्तर—कहानी में चरित्र के क्रमिक विकास का ग्रभाव—कहानी की सीमा—**उपन्यास ग्रौर जीवनी**—जीवनी में पात्रों का 'ग्राब्जेक्टिव' चित्रण—जीवनी के पात्र : एक पहेली—जीवनी में कार्य-कारण-परम्परा की शिथिलता—**वस्तुजगत के व्यक्तियों ग्रौर ग्रौपन्यासिक पात्रों में ग्रन्तर**—ग्रौपन्यासिक पात्रों का ग्रान्तरायिक (इन्टरमिटेंट) जीवन—कुतूहलोद्दीपक जीवन—सोद्देश्य क्रियाकलाप—नियमित जीवन—पात्र ग्रज्ञेय नही ।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का महत्त्व

साहित्य की आधुनिक विधाओं में उपन्यास का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्व त्रयोन्मुखी है—साहित्यिक, सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। इसे हम साहित्य का प्राण कह सकते है। साहित्य की हम कोई भी परिभाषा स्वीकार करे, भारतीय दृष्टि से इसमें लोकहित-भावना की अवस्थिति माननी ही होगी। लोकहित-भावना की अभिव्यक्ति जितनी सुन्दरता से साहित्य की इस विधा के माध्यम से हो सकी है उतनी और किसी साहित्याग से नही, क्योंकि जीवन और जगत की प्रतिच्छाया अपनी सम्पूर्णता में उपन्यास में ही चित्रित हो पाती है[1]। काव्य, नाटक आदि अन्य विधाएँ उसके रसात्मक और रमणीय स्थलों का उद्घाटन करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है। जीवन की जटिलता का जैसा सजीव चित्रण उपन्यास में सम्भव हुआ है वैसा काव्य, नाटक आदि में न तो किया जाता है और न इसके लिए उनके विधान में कोई स्थान ही होता है। अपनी इसी विशिष्टता के कारण उपन्यास साहित्य के अन्य अगों से आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड़ रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपन्यास का महत्त्व कम नही है। युग विशेष की संस्कृति साहित्य की उसी विधा में अपनी सम्पूर्णता में प्रतिबिम्बित हो पाती है, जिसमें जीवन के सभी पक्षों का, बिना किसी भेदभाव के, यथार्थ चित्रण किया जा सकता हो। इस दृष्टि से उपन्यास ही अग्रगण्य है। उसमें सस्कृति के संतुलित चित्रण मिलते हैं। सच तो यह है कि उपन्यास युग विशेष की संस्कृति का उत्कृष्टतम दर्पण होता है।

उपन्यास का सबसे अधिक महत्त्व मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिको को साहित्य में यदि कहीं से भी अपने सिद्धान्तों के स्थिरीकरण की प्रेरणा मिल सकती है तो वह उपन्यास से ही सम्भव है। यह सत्य मनोवैज्ञानिकों को

---

१. Henry James, "The Art of Fiction", 'Portablo Henry James', Viking Press, New York, 1951, p. 393:
"The only reason for tho oxistence of novel is that it does attempt to represent life."

भी स्वीकार करना पड़ा है[२]। ऑलपोर्ट तो ऐसे उपन्यासों की एक सूची तक दे देता है, जो मानव-व्यक्तित्व के जिज्ञासु को अवश्यमेव पढ़ने चाहिएँ[३]। मनोवैज्ञानिको के सामने यदि उपन्यास न होते तो सम्भव है बहुत से उन मनोवैज्ञानिक सत्य-खण्डों का उद्घाटन न हुआ होता जिनके कारण मनोविज्ञान का आज इतना महत्त्व है।

निश्चय ही उपन्यास साहित्य, समाज और मनोविज्ञान के लिए एक अमूल्य वरदान सिद्ध हुआ है।

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

'उपन्यास' शब्द 'उप' और 'नि' पूर्वक 'अस्' धातु में 'घञ' प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। 'अस्' का अर्थ होता है रखना, स्थिर करना, प्रक्षेपण करना आदि[४]। इस आधार पर उपन्यास शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ—वह रचना जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण (सघटन) किया गया हो। साहित्य-शास्त्रियों के हाथ में पड़कर इस शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ का विस्तार हुआ और वह इस कोटि की रचना के प्राणभूत तत्त्व 'रंजन' के आधार पर 'प्रसादन'[५] का वाचक बन गया। उस युग में 'प्रसादन' या 'रंजन' का श्रेय अधिकतर 'उक्तिवैचित्र्य' या 'वक्रोक्ति' अथवा 'उक्तिवैचित्र्यपूर्ण वक्तृता'[६] को मिलने लगा। इस प्रकार, इस शब्द के अर्थ का विविध रूपों में संकोच और विस्तार हुआ। किन्तु उसकी रंजन वाली विशेषता लगभग सभी अर्थों में, किसी-न-किसी रूप में, सन्निहित मिलती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग उस रचना के लिए किया जाता था जिसमें जीवन के विविध पक्षों का बिना किसी भेदभाव के चित्रण किया गया हो और जिसमें लोकरंजन की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता हो।

संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त 'उपन्यास' शब्द के साथ संलग्न 'प्रसादन' या 'रंजन' सम्बन्धी अर्थ हिन्दी-साहित्य तक पहुँचते-पहुँचते बहुत बदल गया था। रंजन के उन विविध स्वरूपों तक भी दृष्टि दौड़ाई जाने लगी थी जो लोक-कल्याण के विघातक

---

२. C. G. Jung, 'Modern Man in Search of a Soul', Routledge & Kegan Paul London, 1949, p. 178.

३. G. W. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation,' Constable London, 1951, p. 395—Footnote 41 :
"The following novels of character.........are samples of literary writing containing valuable psychological lessons for the student of personality."

४. Kale, 'Higher Sanskrit Grammar', Appendix to 'Dhatu Kosh,' 7th edn., p.7.

५. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, सन् १९३४, श्लोक ३६७, पृ० ४२२ : 'उपन्यासः प्रसादनम्' (प्रसन्नता सम्पादनम्—टीका)।

६. Amrushatak, 'Kavya Sangraha', Calcutta, 1872, S. 27:
'निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः' में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में हुआ है जिसे हिन्दी में 'वक्तृता' कहते है।

थे। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य साहित्य की देन थी, जिसमें लोक-रंजन को लोक-रक्षण से सर्वथा निरपेक्ष समझा जाता रहा है। संस्कृत-साहित्य में लोक-रंजन का लोक-रक्षण की प्रवृत्ति से सदा गठबन्धन रहा। इसीलिए, रंजनकारी चौसठ कलाओं के अन्तर्गत साहित्य का सन्निवेश नहीं किया गया है[७]। इस दृष्टिकोण का परित्याग करने से उपन्यासकार उपन्यास की परिधि के सम्बन्ध में भ्रमित होता गया।

उपन्यास के लक्षण

उपन्यासकार की निरंकुशता

आज उपन्यास हमारे सामने इतने अधिक रूपों में विद्यमान है कि वह जीवन के समान ही बहुमुखी और जटिल हो गया है। उपन्यास के इतिहास के आदिकाल से ही उपन्यासकार उसकी रचना में स्वतन्त्रता का आग्रह करता रहा है और उसे मनमाना रूप देता आया है। इस स्वतन्त्रता का उसने इतना अधिक उपभोग किया है कि बेचारे उपन्यास को जादूगरी के खेलों से लेकर धर्मोपदेशों, समाज-सुधारों, इतिहास-शिक्षण की विविध प्रणालियों, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं, दार्शनिक मस्तिष्क की उलझनों, यौन सम्बन्ध के रहस्यों तक सब कुछ का बोझ ढोना पड़ा है[८]।

उपन्यास के बहुरूपी और जटिल हो जाने का दायित्व यदि लोक-रंजन से लोक-कल्याण को निरपेक्ष मानने की प्रवृत्ति पर है तो उन उपन्यासकारों पर भी कम नहीं जो, कदाचित् इस आशंका से कि साहित्य के अन्य अंगों की भांति कहीं उपन्यास भी आलोचना के तीक्ष्ण बाणों का निशाना बन शास्त्रीय सीमाओं में बँध कर तड़पने न लगे, उसे भावी आलोचनाओं की पहुँच से परे रखने के लिए आरम्भ से ही उसके निर्माण में निरंकुशता का आग्रह करने लगे थे। अपनी रचना 'टॉम जोन्स' में फील्डिंग ने बड़ी निर्भीकता और आत्मविश्वास से घोषणा की है कि मैं, वास्तव में, साहित्य के एक नये क्षेत्र का प्रवर्त्तक हूँ, इसलिए उसमें जो नियम चाहूँ बना सकता हूँ[९]। इसी प्रकार, अपनी रचनाओं के आलोचकों के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव दिखाते हुए हिन्दी के आदिकालीन प्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री ने भी एक बार बड़ी निडरता से लिखा था कि "कुछ दिन की बात है कि मेरे

---

७. (क) वात्स्यायन, 'कामसूत्र', १। १६.

(ख) डा० गोविन्द त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', प्रथम भाग, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७, पृ० ५२.

८. Phillips Guedalla, 'The Sunday Times', 27th May, 1928 :
"It would almost appear as though any man with anything to say on any theme said it in fiction".

९. Henry Fielding, 'Tom Jones', Book II, The Modern Liby., New York, p. 41 :
"As I am, in reality, the founder of a new province of writing, so I am at liberty to make what laws I please therein."

मित्रो ने संवादपत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता का) कथानक सम्भव है या असम्भव। मैं नही समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढाई गई। जिस प्रकार पचतन्त्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये, उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए ...... 'चन्द्रकान्ता' में जो बाते लिखी गई हैं वे इसलिए नही कि लोग उनकी सचाई-भुठाई की परीक्षा करें, प्रत्युत् इसलिए कि उसका पाठ कौतूहलवर्द्धक हो।"[१०] उपन्यास की रचना में मनमानी करने के लिए उपन्यासकारों के इस आग्रह के फलस्वरूप ही आज इसमें विषय और रूप की इतनी विविधता मिलती है। उपन्यासकारो के इस स्वातन्त्र्य-सग्राम को जब समालोचको का समर्थन मिल गया और उपन्यासकार स्वय भी आलोचना के अखाडे में कूद पडे, तब स्थिति और भी बिगड गई। उपन्यास-कला के प्रसिद्ध व्याख्याकार और समालोचक पर्सी ल्युब्बॉक ने उपन्यासकारो को ढील देते हुए यहा तक कह दिया कि उपन्यास का अत्युत्तम रूप वही है जो अपने प्रतिपाद्य के प्रति अधिकाधिक न्याय कर सके, उपन्यास के स्वरूप की इसके अतिरिक्त और कोई परिभाषा नही।[११] इसी धारणा को बल प्रदान करते हुए ई० एम० फार्स्टर ने कहा कि मेरे सामने साहित्य के स्वरूप की समस्या का समाधान किसी सूत्र के रूप में नहीं, अपितु लेखक की उस शक्ति के रूप में आता है जिससे वह पाठकों को अपनी बात की प्रतीति कराकर उनसे जो चाहे मनवा लेता है।[१२]

ऐसी स्थिति में उपन्यासो के भाव और रूप में साम्य ढूँढ निकालना एक जटिल समस्या बन जाती है, पर उसे सुलझाये बिना उपन्यास की परिभाषा कर सकना दुस्साध्य ही नहीं, असगत भी होगा। यह जाने बिना कि उपन्यास क्या है एक-दूसरे से भिन्न भाव और रूप-रग वाली रचनाओं—'सौ अजान, एक सुजान', 'चन्द्रकान्ता-संतति', 'गोदान', 'त्याग-पत्र', 'शेखर : एक जीवनी', 'सूरज का सातवां घोडा', 'परन्तु' इत्यादि—को उपन्यास की सज्ञा दे देने की चेष्टा ऐसी ही है।

---

१०. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता सतति', चौबीसवां हिस्सा, लहरी बुक डिपो, बनारस, गुटका, बीसवा संस्करण, पृ० ८५-८६.

११. Percy Lubbock, 'The Craft of Fiction', Jonathan Cape, London, 1954, p 40 :

"The best form is that which makes the most of its subject, there is no other definition of form in fiction."

१२. E.M. Forster, 'Aspects of the Novel', Edward Arnold & Co., London, pocket edn., 1949, p. 75 :

"For me, the whole intricate problem of method resolves itself not into any formula, but into the power of the writer to bounce the reader into accepting what he says."

उपन्यास की विविध परिभाषाएँ

नियत आकार वाला गद्याख्यान–उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी उपन्यास को परिभाषा में बाँधने के प्रयत्न यदा-कदा होते ही रहे। फ्रासीसी समालोचक एबेल शैवेले ने उपन्यास को एक नियत आकार वाला गद्यमय आख्यान माना है, फार्स्टर ने भी इसी परिभाषा को स्वीकार कर लिया है, पर साथ यह जोड़ दिया है कि उसका आकार ५०,००० शब्दो से कम नही होना चाहिये[१३]। यह परिभाषा अन्य कल्पित कथाओ से उपन्यास को अलग दिखाने में तो असमर्थ है ही, साथ ही इस भ्रमपूर्ण धारणा को भी बल देती है कि उपन्यास कहानी का बृहत् रूप है और कहानी उपन्यास का लघु रूप, अर्थात् कहानी और उपन्यास में केवल आकार का अतर है। इस परिभाषा के अनुसार एक ओर तो बाण भट्ट की 'कादम्बरी' तथा दण्डी के 'दशकुमारचरित' सरीखी विशालकाय रचनाओं को उपन्यास की सज्ञा देनी पडेगी और दूसरी ओर जैनेन्द्र के 'परख' तथा 'त्यागपत्र', धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोडा,' प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' आदि को उनके छोटे आकार के कारण उपन्यास मानने से इनकार करना होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा आख्यायिका मात्र पर लागू होती है, आख्यायिका और उपन्यास के अतर को प्रकट नही करती। यह तो माना जा सकता है कि प्रत्येक उपन्यास आख्यायिका है, पर प्रत्येक आख्यायिका उपन्यास हो, यह आवश्यक नहीं।

गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या--अर्नेस्ट ए० बेकर द्वारा की गई उपन्यास की परिभाषा—गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या[१४]—हमें इस मार्ग पर एक कदम और आगे ले बढ़ती है। हिन्दी के यशस्वी उपन्यासकार प्रेमचन्द ने भी इसी प्रकार की परिभाषा की है[१५]। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक कल्पित गद्यमय आख्यान को उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उपन्यास की संज्ञा उसी कल्पित गद्यमय आख्यान को दी जाएगी जिसमें मानव-जीवन की व्याख्या की गई हो। उपन्यास को कल्पना की ऊँची उडान लेने पर भी अपने पग जीवन की

---

१३. 'Ibid', p. 9. "M. Abel Chevalley has, in his brilliant little manual provided a definition. .he says, 'a fiction in prose of a certain extent .. That is quite good enough for us and we may perhaps go so far as to add that the extent should not be less than 50,000 words."

१४. Richard Church, 'The Growth of the English Novel', Methuen & Co, London, 1951, p 8:

"This was a great step towards the modern novel, as defined by Ernest A. Baker, the interpretation of human life by means of fictitious prose in narrative."

१५. (क) प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृ० ३८ :

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

(ख) ज्ञानेन्द्रमोहन दास, 'बाङ्गला भाषार अभिधान', प्रथम भाग, पृष्ठ ३३१, कालम ३ : "गद्ये रचित ये काल्पनिक काहिनीते वा गल्पे प्रकृत जीवनेर चित्र अंकित हय।"

यथार्थ भूमि पर टिकाए रखने होंगे। पर यदि नेकर के मतानुसार मानव-जीवन की व्याख्यामात्र को उपन्यास का एक अनिवार्य गुण मान लिया जाए तो तिलस्म और एय्यारी की भूलभुलैयों में अपने पाठकों को भरमाए रखने वाली 'चन्द्रकान्ता-संतति' तथा 'भूतनाथ' की-सी रचनाओं को उपन्यास की संज्ञा देना कहाँ तक संगत होगा ? यदि उन्हें उपन्यास कहना असंगत है तो क्या जीवन की गम्भीर दार्शनिक व्याख्या करने वाले सभी कल्पित गद्यमय आख्यानों को उपन्यास मान लिया जाएगा, भले ही उनसे पाठकों का मनोरंजन न हो सके। यदि नहीं, तो कहना होगा कि जीवन की शुष्क और नीरस व्याख्या को नहीं, प्रत्युत् प्रभावोत्पादक तथा सरस व्याख्या को ही उपन्यास का एक अनिवार्य गुण माना जाएगा। यदि जीवन की व्याख्या करना ही लक्षित हो तो वह उपन्यास की अपेक्षा धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों के रूप में अधिक अच्छी तरह हो सकती है।

सुन्दर कथानक : अच्छे पात्र—इस सम्बन्ध में एडिथ व्हार्टन की परिभाषा, जो उन्होंने अपने निबन्ध 'पर्मानैण्ट वैल्यूज इन फिक्शन' में की है, बड़ी सुबोध और मार्मिक है : उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमें सुन्दर कथानक और भली प्रकार से चित्रित पात्र होते हैं[१६]। इस परिभाषा का तात्पर्य कदाचित् तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक यह पता न लगे कि 'सुन्दर कथानक' और 'भली प्रकार चित्रित पात्रों' से व्हार्टन का क्या अभिप्राय है। अपने इसी निबन्ध में वह आगे लिखती हैं कि सिन्क्लेयर लूईस की सफलता का कारण यह है कि वह अपने पात्रों को पहचानी जा सकने वाली मुखाकृतियाँ देकर चित्रित कर सका था और उन पात्रों की कहानी भी प्रभावोत्पादक सरलता से सुना सका था[१७]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्हार्टन के निकट सुन्दर कथानक वह है जो सुबोध और प्रभावोत्पादक हो और निर्लिप्त भाव से सुनाया गया हो और भली प्रकार से चित्रित पात्र वे हैं जो अलग-अलग आकृतियाँ धारण करके पाठकों की आँखों के सामने सजीव बनकर नाच उठें। इस परिभाषा की विशेषता यह है कि इसमें उपन्यास के दोनों मूल तत्त्वों—कथानक और चरित्रचित्रण—के प्रति न्याय करने का प्रयास किया गया है और उसके अनिवार्य गुण मनोरंजकता को भी भुलाया नहीं गया। वैसे तो उपन्यास में अकेला पात्रों का चरित्रचित्रण ही एक ऐसा तत्त्व है जो उपन्यास को आख्यायिका के अन्य सभी रूपों से अलग कर देता है क्योंकि जितना सूक्ष्म और प्रकृत चरित्रचित्रण उपन्यास में होता है उसके लिए अन्य आख्यायिकाओं में न तो स्थान होता है और

१६. Edith Wharton, "Permanent Values in Fiction", 'Writing for Love or Money', ed. Norman Cousins; Longmans Green & Co., Toronto, 1949, p. 52 :
"A novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters."

१७. 'Ibid'. p. 56 :
"It is due far more to the fact that he could draw people with recognizable faces and told their stories with a vigorous simplicity."

न उसकी आवश्यकता ही। इस परिभाषा में भी एक कमी है। उपन्यास और मानव-जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर इसमें संकेत तक नहीं किया गया।

मानव-जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद—उपन्यास और मानव-जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध पर इरा वौल्फर्ट ने बहुत बल दिया है। उपन्यास की परिभाषा करते हुए वह लिखता है कि उपन्यास सक्रिय मानव-जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद है। इसकी व्याख्या करते हुए उसने आगे कहा है कि वह गद्यानुवाद इतना शुद्ध होना चाहिए कि उससे पाठकों का आत्मज्ञान बढ़े[१८]। अर्नेस्ट ए० बेकर की भाँति इरा वौल्फर्ट भी उपन्यास से आशा करता है कि वह जीवन की व्याख्या करे, पर वह यह नहीं चाहता कि वह व्याख्या केवल सैद्धान्तिक हो जैसी कि धार्मिक या दार्शनिक ग्रन्थों में मिलती है। उपन्यास से उसकी माँग है कि वह पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं और उनके प्रति पात्रों की प्रतिक्रियाओं तथा इन दोनों के घात-प्रतिघात के रूप में ही पात्रो और उनकी समस्याओ का चित्रण कर दे। उपन्यासकार अपनी ओर से उसमें न कुछ डालता प्रतीत हो और न निकालता। व्याख्यात्मक भाग में उपन्यास के यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक होने की ओर भी संकेत हैं। इस परिभाषा में भी एक कमी दिखाई देती है। यह परिभाषा आख्यायिका मात्र पर समान रूप से लागू होती है। बहुत सी आधुनिक कहानियाँ इस कसौटी पर खरी उतरेंगी, पर इसी से क्या उन्हें उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है ?

उपन्यास की सर्वग्राही परिभाषा—अब तक उद्धृत प्रायः सभी परिभाषाएँ एकांगी हैं। किसी में उपन्यास के विषय-वस्तु पर बल दिया गया है, तो किसी में उसके रूप पर। किसी एक में भी कदाचित् उपन्यास की सर्वसामान्य विशेषताओं को पकड़ने का प्रयत्न नहीं किया गया। वैब्स्टर ने इस प्रकार की चेष्टा की है। इसके निकट उपन्यास एक ऐसा कल्पित, विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन के निरूपण का प्रयास करने वाले पात्रों और उनके क्रिया-कलापों का चित्रण हो[१९]। यह परिभाषा हमारे सामने उपन्यास की निम्नलिखित सर्व-सामान्य विशेषताओं को लाती है :

१. उपन्यास एक गद्यमय आख्यान है,

२. इसका कथानक कल्पित होता है,

---

१८. Era Wolfert, "What is a Novel and What is it Good for", 'The Writer's Book'. Harper and Brothers, New York, 1950, p. 8.

"They (novels) are prose translations of ideas into the language of human life being lived — the translation must be made with such an accuracy as to increase the reader's knowledge of his own self."

१९. Webster, 'New International Dictionary of English Language', 1945, p. 1670:

"A fictitious prose tale of considerable length in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot."

३. यह विशालकाय होता है,
४. इसके पात्र और उनके क्रिया-कलाप यथार्थ जीवन का निरूपण करते हैं, तथा
५. इसके सारे पात्रो और उनके क्रिया-कलापों का चित्रण एक ही कथानक के अन्तर्गत होता है ।

उपन्यास की उपर्युक्त विशेषताओ में से अतिम अकेली ही उपन्यास को अन्य विशालकाय आख्यायिकाओं से अलग कर देती है, पर इस परिभाषा से भी पूरा सन्तोष नही हो पाता । इसमें उस तत्त्व का नाम तक भी नही जिसके अभाव में उपन्यास 'उपन्यास' नही रहता । वह है उपन्यास की मनोरजन-शक्ति ।

उपन्यास की परिभाषा : इस प्रबन्ध के लिए—प्रत्येक उपन्यासकार तथा समालोचक के निकट उपन्यास की अपनी-अपनी, और बाकी सबसे निराली, परिभाषा देखकर ही कदाचित् किसी ने कहा है कि उपन्यास की सच्ची परिभाषा उसका इतिहास ही है । इस उक्ति में गहरी सत्यता है । ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो उपन्यास व्यक्ति के अपनी परिस्थितियो के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है[२०] । तो भी हम हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की परिधि निर्धारित करने के लिए किसी भी कल्पित बडे गद्याख्यान को, जिसमें एक ही मनोरजक कथानक के अन्तर्गत प्रायः प्रकृत जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रो से सम्बन्धित घटनाओ, उनकी प्रतिक्रियाओ और दोनों के घात-प्रतिघात से विकसित उनके व्यक्तित्व का सजीव चित्रण हो, उपन्यास की संज्ञा दे देगे ।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का मुख्य विषय : मानव—अब तक हमने जितने भी विद्वानो के मतों का उल्लेख किया है, उनमें उपन्यास की परिभाषा के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, इस बात से किसी को इनकार नही—फार्स्टर को छोडकर जो इस विषय में मौन है—कि उपन्यास का मुख्य विषय मानव-जीवन है। वेकर ने उपन्यास को गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या, इरा वौलफर्ट ने सक्रिय मानव-जीवन की भाषा में भावो का गद्यानुवाद तथा प्रेमचन्द ने मानव-जीवन का चित्र-मात्र कहकर मानव-जीवन के साथ उपन्यास के घनिष्ठ सम्बन्ध की सीधे-सादे शब्दों में घोषणा कर दी है। प्रसिद्ध अग्रेजी उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने तो इसी बात पर जोर देते हुए यहाँ तक कह दिया है कि उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यह है कि वह जीवन के चित्रण का प्रयास करता है[२१] ।

---

२०. वात्स्यायन : "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना'—जून, १९५२.

२१. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Portable Henry James', p. 393.

उपन्यास का वास्तविक विषय तो मानव है पर मानव जीवधारी है; उसका जीवन होता है। मनुष्य का परिचय जीवन सग्राम में प्रस्फुटित उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया से तथा अन्य व्यक्तियो से उसके आदान-प्रदान से मिलता है। मानव को उसके जीवन से अलग करके नही देखा जा सकता। इसलिए उपन्यास का विषय मानव-जीवन बन जाता है। मानव एक पहेली है; एक रहस्य है। उस पहेली को सुलझाने का, उस रहस्य को खोलने का, प्रयत्न करना उपन्यास का चरम लक्ष्य है। उपन्यास की परिभाषा देते हुए एडिथ ह्वार्टन इसलिए यह कहना नही भूली कि उपन्यास में सुन्दर कथानक के साथ-साथ भली प्रकार से चित्रित पात्रो का होना भी अनिवार्य है। वैब्स्टर ने उपन्यास में पात्रों की अनिवार्यता को तो माना ही है, साथ-साथ यह भी कह दिया है कि वे यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करते है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव स्वभावत. सब किसी के बारे में, जिससे उसका वास्ता पडता हो, या वास्ता पडने की सम्भावना हो, जानना चाहता है। पर वह जानना उतना ही चाहता है जितने से उसका सम्बन्ध हो । मानवेतर प्राणियों अर्थात् पशु-पक्षियो के सम्बन्ध में भी वह उतना ही जानना चाहता है जितने से उसका काम चल जाए। पर मानव होने के नाते अपने भीतर के मानव से तथा बाहर के मानवो से उसका चौबीस घण्टे, प्रतिक्षण-प्रतिपल, पाला पडता है। मानव को जाने बिना, उसे समझे बिना, मनुष्य की गति नही—न समाज में और न आत्मोन्नति के मार्ग में। इस रहस्यमय मानव के उद्घाटन की व्याकुलता, प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में, प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। मानव के उपन्यास की ओर आकृष्ट होने और उपन्यास के अपने पूर्ववर्ती साहित्य पर एकदम छा जाने का यह भी एक बड़ा कारण है।

चरित्रचित्रण : उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व—उपन्यास मनुष्य की यथार्थताओ से बना एक घर है[२२]। इसलिए, जब भी किसी ने इसके निर्माण के लिए लेखनी उठाई वह पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण की समस्या से बच न सका। उसके उपन्यास में चरित्र-चित्रण ने प्रधानता ग्रहण कर ली हो या वह गौण रहा हो, वह प्रतिपाद्य बन गया हो या आनुषगिक रहा हो, उपन्यास मे उसने उसे जानबूझकर छेड़ा हो अथवा वह उसमें अनायास आ घुसा हो, पात्र और उनके चरित्र-चित्रण के बिना उसका उपन्यास 'उपन्यास' नही कहला सकता और चाहे कुछ भी कहलाए, क्योकि उपन्यास का मूलाधार मानव और उसका चरित्र है। उपन्यास में जब कभी मनुष्येतर प्राणि पात्र के रूप में आते हैं तो वे भी मानव-प्रकृति के रंग में रगे हुए

२२. Stephen Spender, "The Novel and Narrative Poetry", 'The Penguin New Writing', Penguin Books, Sep 1942, p. 125 :

"They (Stendhal and Balzac) regarded an introduction of the poetic into novel as cheating The novel was a house built of facts about people : their behaviour, environment, development, income, passion".

होते हैं । उपन्यासकार उनका मानवीकरण करके ही उन्हें अपने उपन्यास में लाता है। इसके उपन्यास का घोड़ा वा कुत्ता मनुष्यों की सी संवेदनशीलता लिए रहता है, और उपन्यास में उसका चित्रण तब तक और उतना ही होता है जब तक और जितना वह उपन्यास के मनुष्य पात्र या पात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होता हो।

कथानक और चरित्रचित्रण के आधार पर उपन्यास का वर्गीकरण : भ्रामक—हम पहले कह आये हैं कि चरित्रचित्रण के बिना उपन्यास 'उपन्यास' नहीं रहता। जो आलोचक तथा पाठक (उपन्यासकार नही, क्योंकि 'आॅल आर्ट्स बीइंग अनकॉन्शस' वे तो जानते भी नहीं कि वे किस प्रकार का उपन्यास लिख रहे है) अपनी सुविधा के लिए उपन्यास को चरित्र वाले उपन्यास तथा घटना वाले उपन्यास दो भागो में बाँट देते है, वे एक विवाद तो खड़ा कर ही देते हैं, पर साथ ही उपन्यास के प्रति अन्याय भी कर बैठते हैं। वे कदाचित् यह नही समझते कि उपन्यास अपने आप में एक इकाई है और कथानक तथा चरित्र-चित्रण उसके अंग हैं, अग भी ऐसे जो अन्योन्याश्रित हों। उपन्यास का लक्ष्य ही इन दोनो का लक्ष्य है। यह कहना भ्रामक होगा कि घटना वाले उपन्यास चरित्र-चित्रण से अछूते रह सकते हैं या चरित्रचित्रण के उपन्यास घटनाओ के बिना बढ सकते है। उपन्यास में पात्रों का होना अनिवार्य है, उन पात्रो का जो जीवित हों। जीवित पात्रों के जीवन में घटनाएँ भी घटित होगी—उनका साँस लेना तक अपने आप में एक घटना है—और उनका व्यक्तित्व भी रहेगा, क्योकि व्यक्तित्व के बिना 'व्यक्ति' कैसा ? मानव-जीवन के अनुरूप उपन्यास में भी घटना और चरित्र के सूत्र आपस में इतने उलझे रहते हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखने का प्रयत्न ऐसा ही है जैसे समूचे मुख का सौन्दर्य न देखकर नाक की बनावट पर प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करना और होठों के मोटेपन पर कुढ़कर उनकी निन्दा करना। वास्तव में, चरित्र घटनाओं का फल नही तो और क्या है तथा घटना चरित्र की व्याख्या के अतिरिक्त और क्या है ? मानिए, उपन्यास का एक पात्र प्रतीक्षालय में बैठा-बैठा अचानक सामने रखी मेज़ पर अपने पाॅव टिका देता है, यह एक घटना हुई, पर क्या इस घटना में पात्र का चरित्र प्रतिबिम्वत नही होता ? दो साइकिल सवारों की अचानक टक्कर हो गई, यह एक घटना हुई जिसमें अपराध किसी का नही था। इसके बाद दोनों का अपने कपड़े झाड़, साइकिल उठा, एक-दूसरे से क्षमा माँगकर चल देना या साइकिल एक तरफ पटक, चोट की चिन्ता छोड़, मुक्के तानकर एक दूसरे पर पिल पड़ना, उस पहली घटना से निकली दो और घटनायें हैं, जिनमें से किसी एक की अवतारणा उन पात्रों के चरित्र पर निर्भर करेगी।

जीवन-संग्राम में हार और जीत की घटनाएँ हमारे चरित्र को निखारती हैं, पर इस हार-जीत में क्या हमारे चरित्र का किसी अश में भी हाथ नही रहता ? कभी मानव की परिस्थितियाँ उसके चरित्र को निखारती हैं और कभी चरित्र घटनाओं को उभारता है। उपन्यास में चरित्र को घटनाओं से या घटनाओं को चरित्र

से पृथक् करके उनकी तुलना करने का प्रयत्न उतना ही घातक है जितना किसी व्यक्ति के नाक और कान की तुलना करते हुए एक को आवश्यक और दूसरे को अनावश्यक ठहरा देना। वास्तव में, उपन्यास एक जीवित वस्तु है—प्रत्येक जीवधारी रचना की तरह एक समूची अप्रतिहत और अविभाज्य इकाई। उसके प्रत्येक अग में दूसरे अगो का कुछ-न-कुछ अश अवश्य निहित रहता है। इसलिए, ऐसा आलोचक जो उसके बाहरी ढाँचे के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ बनाने का साहस करता है, वह कुछ ऐसे सीमा-चिह्न बना देता है जो बनावटी होते हैं[२३]।

तिलस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों में भी चरित्रचित्रण

उपन्यास इतिवृत्तात्मक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो अथवा मनोवैज्ञानिक, उसमें जब तक पात्र है—पात्रों के बिना कोई उपन्यास देखा नही गया—और है जीवित पात्र, तब तक चरित्रचित्रण भी रहेगा। उपन्यास का उद्देश्य कुछ भी हो; वह कोरा मनोरजक हो या समाजोपयोगी, मनोवैज्ञानिक हो अथवा सत्यान्वेषी, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ तक कि कोरे कुतूहलोद्दीपक तिलस्म और ऐय्यारी वाले तथा जासूसी उपन्यासों में भी पात्रो के चरित्र को उनके कृत्यो तथा कथोपकथनों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास मिलता है। कई स्थलों पर तो लेखक स्वयं पात्रों का वर्णन इस ढंग से करता हुआ प्रतीत होता है मानो वह अपने पाठको पर किसी पात्र विशेष के चरित्र की—वह अच्छा हो या बुरा—धाक बैठाना चाहता हो। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' को ही लें। उसके प्रमुख स्त्री पात्र मायारानी के सम्बन्ध में खत्री जी स्वयं लिखते है : "अहा ! ईश्वर की महिमा विचित्र है। बुरे कर्मों का बुरा फल अवश्य भोगना ही पडता है। जो मायारानी अपने सामने किसी को समझती ही न थी, वही आज किसी के सामने जाने या किसी को मुँह दिखाने का साहस नही कर सकती।"[२४] यहाँ लेखक बताना चाहता है कि मायारानी को अपने पिछले बुरे कर्मो का फल मिल रहा है। मायारानी स्वयं इस बात को स्वीकार करती है :"(हिचकी लेकर) क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे मदद माँगूँ ? ऐसी अवस्था में मेरी कौन सहायता करेगा ? हाय ! आज तक मैने किसी के साथ

२३. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Portable Henry James', p. 404: "A novel is a living thing, all one and continuous, like any other organism, and in proportion as it lives will it be found, I think, that in each of the parts there is something of each of the other parts. The critic who over the close texture of a finished work shall pretend to trace a geography of items will mark some frontiers as artificial, I fear, as any that have been known to history."

२४. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता सन्तति', लहरी बुक डिपो, काशी, सोलहवाँ संस्करण, १९५१, ९वाँ हिस्सा, आठवाँ बयान, पृष्ठ ४९।

किसी तरह की नेकी नही की, किसी को अपना दोस्त नही बनाया, और किसी पर अहसान का बोझ नही डाला।".[२५]

ऐसे स्थलों को देखकर मानना पड़ता है कि लेखक घटनाओं के घटाटोप में भी चरित्रचित्रण के प्रति उदासीन नही रहा। इस प्रकार के एक-दो नही, असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें ऐसे उपन्यासो का लेखक स्वय अथवा पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा, उनके तथा अन्य पात्रों के कथोपकथनों द्वारा, उनके चरित्र पर प्रकाश डालता जाता है, जिससे उपन्यास की स्वाभाविकता बनी रहती है। जासूसी उपन्यासों के लिए बहुत सी बातों को हानिकारक घोषित करके उपन्यास में उनके समावेश का निषेध करने वाले उपन्यासकार वान डाइन को भी अपने प्रसिद्ध लेख 'ट्वैन्टी रूल्ज फॉर राइटिंग डिटेक्टिव स्टोरीज़' में उपन्यास में स्वाभाविकता लाने के लिए एक सीमा तक पात्रों के चरित्र चित्रण की अनुमति दे देनी पड़ी। उसके विचारानुसार जासूसी उपन्यास में यद्यपि लम्बे वर्णनात्मक परिच्छेद तथा पेचीदा चरित्र-विश्लेषण नही होने चाहिए, तो भी उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए पर्याप्त वर्णनात्मकता और चरित्रचित्रण अवश्य होना चाहिए।[२६] अपने महत्त्वपूर्ण लेख 'दि नॉटी चाइल्ड ऑव दि नॉवेल' में प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार क्यू० पैट्रिक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जासूसी उपन्यास में सब कुछ व्यर्थ हो जाता है, यदि उसके पात्र व्यक्तित्व धारण नही करते।[२७]

इस प्रकार, मानना पड़ता है कि चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक अभिन्न तत्त्व है—उपन्यास में वह अनायास ही हुआ हो या सायास, उसमें वह साधन बन कर आया हो या साध्य बन कर।

चरित्रचित्रण का स्वरूप

किसी कथा के पात्रों के चरित्र का प्रकाशन चरित्रचित्रण है, इतना कह देने से समस्या सुलझती तो नही, पर अपने वास्तविक रूप में अवश्य सामने आ जाती है कि चरित्रचित्रण को समझने से पहले चरित्र को समझना होगा।

---

२५. वही, पृष्ठ ५३।

२६. S. S. Van Dine, "Twenty Rules for Writing Detective Stories", 'The Writers Hand Book', The Writers Inc. Boston, 1952, p. 260 :

"A detective novel should contain no long descriptive passages.... no subtly worked out character-analysis. ....to be sure there must be a sufficient descriptiveness and character delineation to give the novel verisimilitude."

२७. Q. Patrick, "The Naughty Child of Fiction", 'Writers Hand Book', p. 246:

"A reader is pleasurably mystified only when the author manages to interest him in a clearly presented problem involving characters that have some reality for him......If ever the pattern becomes blurred, or the characters take on no individuality, masked figures can prawl around haunted houses, detectives can make cryptic decisions, shots can whiz past the heroine's ears — all in vain."

चरित्र के सामान्यत. दो स्वरूप बताए जाते है – सत् और असत् । 'सत्' चरित्र से अभिप्राय है मनुष्य का वह आचरण, जो नीति-सम्मत और समाज के अनुकूल हो। इससे उलटा आचरण, जो समाज और उसकी नीति के विरुद्ध हो, 'असत्' चरित्र माना है। समाज द्वारा स्वीकृत आचरण के पालन करने वाले को चरित्रवान कहा जाता है और जिसका आचरण असामाजिक हो या अनैतिक हो, वह चरित्रहीन कहलाता है। पर, इस प्रकार, किसी को चरित्रवान और किसी को चरित्रहीन कहना वास्तव में अनुचित है। मनुष्य अचर नहीं, चर है। वह जड नही, चेतन है। वह स्थिर नहीं, विकसनशील है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। उसका आचरण समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल, नैतिक हो अथवा अनैतिक, उसके प्राणों का तकाजा है, उसकी चेतना की माँग है कि वह कुछ-न-कुछ करता रहे। इस दृष्टि से कोई भी मानव चरित्र से व्यतिरिक्त नही माना जा सकता। चरित्र वाले तो सभी है, चरित्रहीन किसे कहा जाए ?

चरित्र एक विकसनशील तत्त्व—चरित्र के सम्बन्ध में एब्बॉट ने कहा है कि कोई मनुष्य जो कुछ है वही उसका चरित्र है[२८]। मनुष्य क्या है, यह बताते हुए लेब्निज ने उसे 'व्यक्ति' की सज्ञा दे कर पशुओ से पृथक् कर दिया है[२९]। प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति है, दूसरो से भिन्न है। उसका अपना व्यक्तित्व है। उसका अपना चरित्र है, जो उसे दूसरों से अलग बनाए रखता है। कोई एक मनुष्य दूसरे मनुष्यो से सर्वथा भिन्न तो हो नही सकता। अन्य मनुष्यों की भाँति उसके भी नाक-कान, हाथ-पाव, मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि तो होगे ही, पर उसकी इस अभिन्नता में भी भिन्नता, समानता में भी असमानता, विद्यमान रहती है। कोई भी मनुष्य हू-बहू वह नहीं हो सकता जो दूसरा है। पर यह क्यो ? मनुष्य को 'व्यक्ति' की सज्ञा देते हुए लेब्निज़ ने यह भी कहा है कि वह प्रज्ञात्मक, आत्मचेतन, सतत गतिशील, अनिर्वचनीय तथा अद्भुत सत्व है,[३०] जिससे प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि में मनुष्य की अनिर्वचनीयता और उसकी अद्भुतता का कारण उसकी प्रज्ञात्मकता तथा आत्मचेतनता है। मनुष्य प्रज्ञात्मक है; वह बौद्धिक है। बुद्धि तत्त्व की विभिन्नता ही मानवों के पारस्परिक भेद का कारण है मनुष्य प्रत्येक काम करते समय उस क्षण-विशेष की अपनी बुद्धि के अनुसार उसे ठीक समझ कर ही करता है। भले ही दूसरे क्षण वह अपनी करनी पर पछताने लग जाए। किसी एक परिस्थिति में एक व्यक्ति की बुद्धि जिसे ठीक मानती है, आवश्यक नहीं

---

२८. Webster, 'New International Dictionary of English Language', 1951, p. 461, under 'Character' :

"In truth, character is what a person is." (Abbot)

२९. अर्जुन चौबे काश्यप, 'सामान्य मनोविज्ञान', राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम संस्करण, १९५१, पृ० ७४७.

३०. वही पृ० ७४७.

"A rational, self-conscious, incommunicable and unique substance." (Leibniz).

कि दूसरों की बुद्धि भी उसे ठीक समझे। और तो और, एक ही व्यक्ति की बुद्धि समान परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के निश्चय करती हुई पाई जाती है।

विचारों की विभिन्नता होते हुए भी मनुष्यमात्र में विचारशीलता की अनिवार्यता, उसकी भिन्नता में अभिन्नता, इस बात का प्रमाण है कि मनुष्यमात्र का गठन एक-से तत्त्वों से हुआ है। परन्तु मनुष्यमात्र में विचारशीलता की अनिवार्यता होने पर भी उनके विचारों में भिन्नता, उनकी अभिन्नता में भिन्नता, एक स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य विकसनशील है, उसमें कोई ऐसा तत्त्व है जो विकास की विभिन्न दिशाएं ग्रहण कर, उसे जाति में व्यक्ति बना देता है; उसे व्यक्तितत्व प्रदान कर देता है।

विकसनशील तत्त्व : अंतःकरण—मनुष्य के भीतरी विकसनशील तत्त्व तक पहुँचने के लिए हमें मानव के गठन को देखना होगा। श्रीमद्भगवद्गीता के १३वें अध्याय में इस विषय का संकेत करते हुए कहा गया है : 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'[३१] और फिर सक्षेप में मानव-शरीर का गठन इस प्रकार दिया गया है :

'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकंच पंचचेन्द्रियगोचराः' ॥५॥
'इच्छा द्वेषः सुखं दु.खं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सयिकारमुदाहृतम्' ॥६॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-१३। ५-६)

५वें श्लोक में क्षेत्र नामक मानव-शरीर के गठन के सम्वन्ध में चर्चा की गई है और ६ठे श्लोक में उसके विकारो का वर्णन है।[३२] मनुष्य के शरीर में इन तत्त्वों का महत्त्व और उनका एक दूसरे पर प्रभुत्व दिखाते हुए गीताकार ने पहले ही कहा है :

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः' ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-३। ४२)[३३]

गीताकार ने मनुष्य शरीर का यह सारा विकास अव्यक्त प्रकृति से माना है।[३४] उसके विचार में बुद्धि, मन, और इन्द्रियाँ उस अव्यक्त प्रकृति के विकसित रूप हैं, उसके विकार हैं।

---

३१. श्रीमद्भगवद्गीता—१३। १.

३२. श्रीमद्भगवद्गीता, १६वां संस्करण, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०००, पृ० ४०३.

३३. कठोपनिषद् (३। १०-११) में शरीर के तत्त्वों का पारस्परिक महत्त्व इस प्रकार कहा गया है:—
'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥ पुरुषान्न परं किंचित्साकाष्ठा सा परागतिः ॥११॥

३४. Radhakrishnan, 'Indian Philosophy', (Vol. I), George Allen & Unwin. London, 1948, p. 535 :
"The whole drama of evolution belongs to the object world. Intelligence, mind, senses are looked upon as the developments of the unconscious prakrti, which is able to bring about this ascent on account of the presence of spirit."

साख्य में इस विषय को विस्तार से लिया गया है। सांख्य के मतानुसार[३५] प्रकृति से उत्पन्न होने वाले शारीरिक तत्त्वो को वशवृक्ष[३६] के रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—
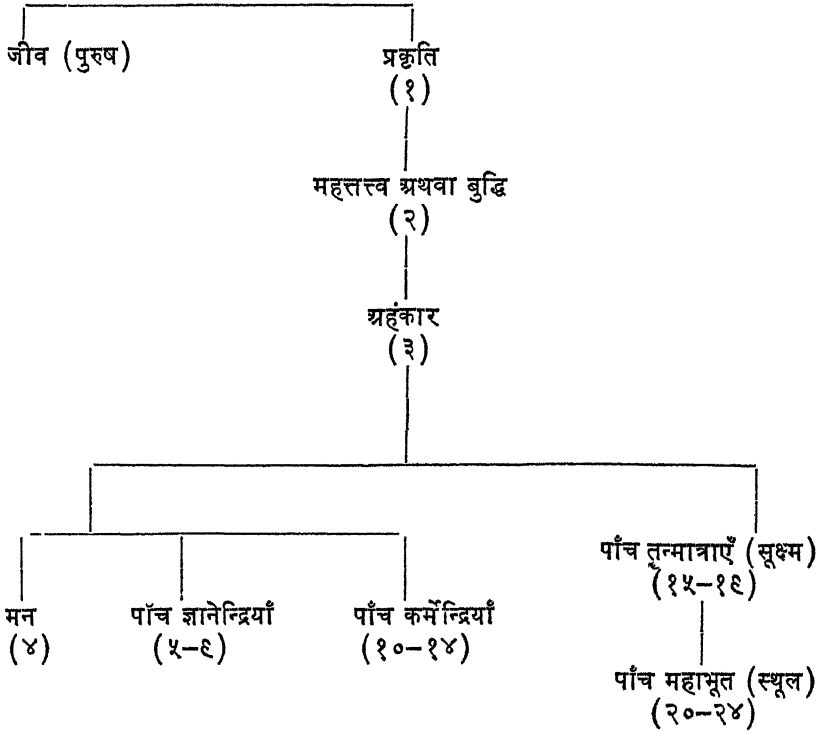
अन्तःकरण और उसकी प्रक्रिया—मानव शरीर के उपर्युक्त तत्त्वों में से दूसरा, तीसरा और चौथा—बुद्धि, अहंकार और मन—सबसे अधिक—महत्त्वपूर्ण हैं। सांख्य

---

३५. सांख्य अ० १ सू० ६१ :

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतो—
हंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः
स्थूल भूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ।।

३६. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', George Allen & Unwin, London, 1951, p. 111.

और

(ख) तिलक, 'गीता-रहस्य', (माधवराव सप्रे का हिन्दी अनुवाद), पृ० १८९ ।

लोग इस तत्त्ववर्ग को अन्त करण[३७] कहते हैं, किन्तु वेदान्ती अन्त करण में इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त 'चित्त' नामक एक चौथा तत्व भी मानते है।[३८] महाभारत में इन दोनों मतों में सामजस्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि मन जब पहले-पहल बाह्य विषयो का ग्रहण अर्थात् चिन्तन करने लगता है, तब वही चित्त हो जाता है[३९]। इस प्रकार, चित्त मन के अन्तर्गत ठहरता है, पर कुछ विद्वान बुद्धि में ही उसका सन्निवेश मानते हैं।[४०]

यह अन्त करण अनुभूतिशील और प्रतिक्रियाशील दोनों ही है।[४१] मनुष्य जब भी कोई अनुभव प्राप्त करता है उसके अन्तःकरण की प्रक्रिया इस प्रकार होती है : मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सस्कार प्राप्त करता है और फिर इन संस्कारों को निर्णय के लिए बुद्धि के सामने उपस्थित करता है और बुद्धि बताती है कि वह सस्कार कैसा है। इसी प्रकार मनुष्य जब भी कोई प्रतिक्रिया करता है, उसके अन्त करण के व्यापार का क्रम यह होता है : पहले मन बुद्धि से विचार करता है कि यह कार्य अच्छा है या बुरा, करने योग्य है या नही। बुद्धि से निर्णय ले लेने के पश्चात् उस निर्णय के अनुकूल ही मन में उस काम के करने की इच्छा या वासना उत्पन्न होती है। तब मन उस काम को करने के लिये प्रवृत्त होता है और कर्मेन्द्रियो को वैसा करने की आज्ञा देता है।[४२] इस प्रकार बुद्धि के दो व्यापार रहते हैं: कार्य-अकार्य का, अच्छे-बुरे

---

३७. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', p. 112:
"Of this group the most important are 'manas', egoism (ahankara) and the intellect (buddhi), which are together described as the 'internal organ' (antah-karana)."

(ख) Sinha, 'Indian Psychology: Perception', K. P. T. T., 1934, p. 121.
"Buddhi', 'ahankara' and 'manas' are one in nature, they together constitute the one internal organ "antahkarana."

३८. (क) Nikhilananda, 'Vedantasara of Sadananda Yogendra'. Advait Ashram Almora, 1949, p. 48 . "Antah-karana'...... ·the inner organ, of which 'Chitta', 'Buddhi', 'manas' and 'ahankare' are the different aspects".

(ख) सदानन्द योगेन्द्र, 'वेदान्तसार', ६७
'अन्योरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः'

(ग) 'कल्याण' (वेदान्त अंक), भाग ११, अंक २, सम्वत् १९९३, पृ० ६४६ तथा ६४७ के बीच दी हुई 'श्रीशंकरमतानुसार पदार्थ-विभाग की तालिका।'

३९. 'महाभारत', शांतिपर्व, २७४। १७.

४०. Nikhilananda, 'Vedantasara of Sadananda Yogendra', p. 49
This (Chitta) is included in 'Buddhi' or the intellect."

४१ Hiriyanna, 'The Essentials of Indian philosophy', p. 112 :
"...its (antah-karana's) chief function is to receive impressions form outside and respond suitably to them ."

४२. Vachaspati Misra, 'Sankhyatattvakaumudi' with Viduattosini, Bombay, Samvat 1969, 23:

का, निर्णय देना और उस निर्णय के आधार पर उस काम के करने की मन में वासना उत्पन्न करना। बुद्धि के इन दो व्यापारो के आधार पर उसके दो भेद कर दिये गये हैं। पहली को 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' और दूसरी को 'वासनात्मक' या साधारणत. 'बुद्धि' कहा जाता है। मनुष्य की अनुभूति और प्रतिक्रिया का वास्तविक आधार यह 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है, इसके कारण ही मनुष्य 'रेशनल' कहलाता है। मन तो उसका मन्त्रीमात्र है, उसकी आज्ञाओं के अनुसार काम करवाने वाला। इसीलिये इस व्यवसायात्मिका बुद्धि की स्थिरता और शुद्धि के लिये गीताकार ने बहुत जोर दिया है।[४३]

प्रकृति की उपज होने के कारण अन्त करण के ये व्यापार होते तो हैं प्रकृति के गुणों (सत्व, रजस् और तमस्) के द्वारा, पर अहंकार के कारण मोहवश जीवात्मा अपने को ही इन सब कर्मों का कर्त्ता समझने लग जाता है।[४४] इसलिये इस मानव शरीर में कर्त्ता न तो जीव को माना जा सकता है और न ही जड़ प्रकृति को। कर्त्ता तो अहकार (जीव का अहंभाव) है।[४५] जैसा कि इस वंशवृक्ष से स्पष्ट है अहंकार वह सूक्ष्म तत्त्व है जिसकी उत्पत्ति बुद्धि (महत्त्व) के बाद होती है और जिसकी उत्पत्ति के बाद से ही व्यक्ति की सत्ता स्थिर होती है।[४६] "मैं" और "मेरे" का भाव इसी अहंकार की उपज है। जीव के अह भाव के कारण ही यह अंत.करण, जिसे

"...Every one who deals with an object first intuits it, then reflects upon it, then appropriates it to himself, then resolves 'this is to be done by me,' and then he proceeds to act. This is familiar to everyone."

४३. श्रीमद्भगवद्गीता २।४१, ५३ :

(क) व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।२—४१।।

(ख) श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।२—५३।।

४४. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', P. 110 :
"Prakrti adjusts itself first to the needs of Purusa by evolving the most important aids to life's experience, viz., the organ of thinking and the principle of consciously or unconsciously appropriating the thought or regarding it as one's own."

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२७ :
'प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

४५. 'सांख्य', ६।५४ : "अहंकारकर्ता न पुरुषः" ।

४६. 'कठोपनिषद्', टीका-नरायण स्वामी, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, देहली, सप्तम् संस्करण, १९४८, पृ० ५०—(फुटनोट) : "सूक्ष्म भूत जिसकी उत्पत्ति महतत्त्व के बाद होती है और जिसकी उत्पत्ति के बाद ही व्यक्तित्व (Individuality) की सत्ता स्थिर होती है। 'मै' और 'मेरे', मन का यह भाव भी इसी अहंकार की उपज है।

अंतरात्मा भी कहा जाता है, प्रकृति का केवल विकारमात्र न रह कर व्यक्ति विशेष का अंत करण बन जाता है।

इस प्रकार, मनुष्य के शरीर में सार वस्तु तो अंत करण है। प्राणों का समावेश भी इसी में किया गया है।[४७] शेष, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां तो मन की आज्ञा का पालन करने वाली भृत्यमात्र हैं। पाँच तन्मात्राएँ सूक्ष्म देह के और पाँच महाभूत स्थूल देह के तत्त्व हैं।

यह अन्त.करण विकसनशील है। इसके व्यापारों का भी विकास होता रहता है। "जीवन में अन्त करण को (या अतरात्मा को)[४८] जो-जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उनके सार तत्व वह बटोर लेता है और उन्हीं को आगे होने वाले अपने विकास का आधार बनाता है। मनुष्य के शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव के साथ उसका जो 'लिग'[४९] या 'सूक्ष्म' शरीर जाता है उसमें ही अन्तःकरण के ये अनुभूतिसार सुरक्षित रहते हैं और जब जीव पुनः जन्म ग्रहण करता है तो इस अनुभूतिसार के आधार पर, अत.करण के पूर्व विकास के आधार पर, नया अंत करण बनता है जो इस नये जीवन के आघात-प्रत्याघातों से विकास पाने लगता है।

अन्तःकरण ही मनुष्य का मूल चरित्र

मनुष्य के शरीर में विद्यमान अंत.करण ही एक तत्व वर्ग है जो मनुष्य की अभिन्नता में भिन्नता ला देने का कारण है; जो स्वय विकसनशील है और विकास की विभिन्न दिशाएं ग्रहण कर उसे जाति में व्यक्ति बना देता है, उसे व्यक्तित्व प्रदान कर देता है। यह अन्तःकरण ही मनुष्य का मूल चरित्र है। कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रकट मानव की क्रिया-प्रतिक्रियाएं तो इसका प्रकाशनमात्र हैं; इस की अभिव्यक्ति हैं। पर जैसा कि इसके गठन से ही स्पष्ट है, अंतःकरण एक विलक्षण तत्ववर्ग है। इसे कार्य-

---

४७. तिलक, 'गीता रहस्य', (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४३

४८. रामचन्द्र वर्मा, 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, सं० २००२, पृ० ११ : अंतरात्मा—संज्ञा स्त्री (सं०), १. जीवात्मा। २. अंतःकरण

४९. (क) Aurobindo, 'Lighto on Yoga' Arya Publishing House, Calcutta, 1948, p. 29 :

"The soul gathers the essential element of its experiences in life and makes that its basis of growth in the evolution; when it returns to birth it takes up with its mental, vital physical sheaths so much of its Karma as is useful to it in the new life for further experience."

(ख) अरविन्द, 'योगप्रदीप', श्री अरविन्द ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९३६, पृ० ३५।

(ग) तिलक, 'गीता-रहस्य' (हिन्दी अनुवाद), पृ० १८८ :

"जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किए ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्त्वों का (बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं) यह लिंग शरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है, और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती तब तक उस लिंग शरीर के ही कारण, उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।"

कारण के चौखटे में नहीं बाधा जा सकता। उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के बारे में कोई निश्चित अनुमान लगाना असम्भव-सा ही है। प्रायः देखा गया है कि एक ही परिस्थिति में पली एक ही माता-पिता की जोड़ी संतान परस्पर विरोधी आचरण की होती है। कदाचित् चरित्र की इसी विलक्षणता के कारण, उसकी परिभाषा देते हुए अपने एक लेख 'प्लॉट ऑर कैरेक्टर' के अन्त में प्रसिद्ध अमेरिकन आलोचक एग्री ने हार मानते हुए कहा है : चरित्र वह उपादान है जिसके गुणों (वर्चूज) का अभी तक पता नहीं चल सका। चरित्र को परिभाषा में बाधते हुए इसी लेख में उसने माना है कि तथा-कथित 'भीतरी प्रकृति,' वह आत्मा जो न जानी जा सकने वाली प्रतीत होती है, ही चरित्र है— इससे न कुछ कम और न अधिक।[५०]

चरित्र की विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिभाषाएँ

अन्त.करण के उपर्युक्त गठन को समझ लेने के बाद, ऐसा प्रतीत होने लगता है कि चरित्र को परिभाषा में बाँध लेने के प्रयत्न में आधुनिक मनोविज्ञान अन्त करण को टटोल रहा है पर वह उसकी पकड़ में नहीं आ रहा। पाश्चात्य मनोविज्ञान का मूल्यॉकन करते हुए प्रोफेसर हॉकिंग ने आधुनिक मनोविज्ञान की इस असमर्थता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है।[५१] मैक्ड्यूगल ने चरित्र को प्रज्ञात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक तत्वों का संगठन माना है।[५१] निश्चय ही चरित्र इन तत्वों के संगठन मात्र से कुछ अधिक होगा। जैसा कि घी, चीनी, रवा और पानी का संगठन मात्र हलवा नही। इन वस्तुओं के संगठन से हलवा बनाने की एक प्रक्रिया होती है और इस प्रक्रिया को चलाने वाला भी कोई होता है। मैकड्यूगल ने चरित्र के तत्त्व तो बता दिये, पर उनका संगठन कैसे होता है, यह नहीं बताया। इसके अतिरिक्त क्रियात्मक तत्त्व अर्थात् कर्मेन्द्रियों को चरित्र का तत्त्व मानना भी विचारणीय हो

५०. Lajoi Egri. "Plot or Character", 'The Writers Book', Harper & Bros., New York, 1950, p. 169 :

"What is a character ? A factor whose virtues have not yet been discovered."

"...the so-called 'inwardness', the seemingly unpredictable soul, is nothing more nor less than character."

५१. W. E. Hocking, 'Mind and Near Mind', 'Proceedings of the Sixth International Congress of Philosophy', ed. E. S. Brightman, Longmans, London. 1927, p. 203 and 215 :

"But the extant science or sciences of mind have presented us not the mind itself, but substitutes for mind — Near-minds, we may call them ....The several Near-minds of the scientific psychology have their worth and their actuality; but they have life only as organs of mind."

५२. अर्जुन चौवे काश्यप, 'सामान्य मनोविज्ञान', द्वितीय भाग, राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम संस्करण, १९५१, पृ० ७५८।

सकता है, क्योंकि कर्मेन्द्रियाँ चरित्र नहीं, चरित्र के प्रकाशन के साधन मात्र हैं। चरित्र की ऐसी ही एक अधूरी परिभाषा नाट्यकला की व्याख्या करते हुये विलियम आर्कर ने भी अपनी पुस्तक 'प्लेमेकिंग' ए मैन्युअल आव क्रेफ्ट्समैनशिप' में दी है : प्रज्ञात्मक, भावात्मक और उत्तेजनात्मक आदतों का सम्मिश्रण या समूह।[५३]

डा० रोबक के मतानुसार चरित्र जन्मजात मूल प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओं के निग्रह वाला एक सतत जागृत मनोवैज्ञानिक झुकाव है, जो एक व्यवस्थापक सिद्धांत के अनुसार चलता है।[५४] रोबक द्वारा दी गई चरित्र की यह परिभाषा मनोविज्ञान की अपेक्षा नीतिशास्त्र के अधिक निकट प्रतीत होती है। जन्मजात मूल प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओं का निग्रह चरित्र का स्वभाव नही,[५५] यह तो नीति, समाज या सभ्यता की माँग हैं कि इन उत्तेजनाओं का दमन किया जाये। मन तो स्वभावतः बुद्धि के अनुशासन से मुक्त होकर इन प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओ को उनके प्रकृत रूप में बहने देना चाहता है; पर यदि कार्य-अकार्य का निर्णय करने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि स्वस्थ और शान्त हो तो मन में निरर्थक वासनाएं उत्पन्न नही होती और उसकी प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाएं दबी रहती हैं[५६] और वह बिगडने नही पाता।

चरित्र की परिभाषा देते हुए अपने ग्रन्थ 'ह्यूमन नेचर इन द मेकिंग' में शॉन ने कहा है कि क्रियाशील 'सैल्फ'—वह सैल्फ जो किसी न किसी सामाजिक परिपार्श्व में विकासोन्मुख रहता है—ही चरित्र है।[५७] 'सैल्फ' की व्याख्या करते हुए शॉन ने पहले ही कहा है कि सैल्फ अपने आप को अलग समझने का एक ज्ञान मात्र है।[५८] इस प्रकार 'सैल्फ' अहंकार का पर्याय हो जाता है। शॉन के अनुसार विकासोन्मुख

---

५३. William Archer, 'Playmaking : A Manual of Craftsmanship' :
"A complex of intellectual, emotional and nervous habits."

५४. (क) Roback. "Character and Inhibition", 'Problems of Personality', C. M. Campbell, 1925, p. 117-118.
(ख) Roback, "The Psychology of Character", Routledge & Vegan Paul-London, 3rd ed. 1952, p. 568.
"An enduring psychological disposition to inhibit instintive impulses in accordance with a regulative principle."

५५. 'श्रीमद्भगवद्गीता', ३।३३ :
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

५६ 'श्रीमद्भगवद्गीता', २।४१, ४४ तथा ३। ४२.

५७. Max Schoen, 'Human Nature in the Making', The Wordsworth, Ltd., Surrey 1947, p. 159.
"Character is the self in action, in the process of cultivation in some social medium."

५८. Ibid. p. 153:
"Self is a form of knowledge, the knowledge of being different."

अहंकार ही चरित्र है। पर क्या अहंकार को चरित्र माना जा सकता है ? यह अहंकार तो 'मेरे तेरे' का भाव-मात्र है, जिसकी उत्पत्ति महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि से होती है। जब बुद्धि न होगी और उसका व्यापार नहीं होगा तो जीव मोह-वश अपना समझेगा किसे ? वास्तव में विकास तो बुद्धि का होता है और जीव विमूढ होकर, अहंकार से, उसे अपना समझ बैठाता है। इसलिये बुद्धि का समावेश आवश्यक है, पर मन वजीर के बिना इन दोनों का व्यापार चल कैसे सकता है ?

मानवाचरण का मूल प्रेरक, अन्तःकरण

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं में से कोई भी हमारी संतुष्टि नहीं कर पाती और हमें मानना पडता है कि बुद्धि, अहंकार और मन, इन तीनों की सम्मिलित प्रक्रिया अर्थात् अन्तःकरण से ही मनुष्य का विकास होता है। अन्तःकरण का विकास हीं मनुष्य का विकास है। विकासोन्मुख अन्तःकरण ही मूल चरित्र है और किसी क्षण विशेष की उसकी विकासावस्था है मनुष्य का व्यक्तित्व। प्रकृति के विकार होने के नाते उसके गुणों को धारण करने वाले अन्तःकरण के तत्व अर्थात् बुद्धि, अहकार और मन पूर्व कर्म के अनुसार, पूर्व परम्परागत या आनुषगिक संस्कारो के कारण अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणों से, [५९] कम या अधिक सात्विक, राजस और तामस होकर उसका विकास करते हैं; चरित्र का निर्माण करते है।

चरित्रचित्रण की कतिपय परिभाषाएँ

चरित्रचित्रण की परिभाषा देते हुए स्कॉट मेरेडिथ ने कहा है कि चरित्रचित्रण कथा के पात्रो की व्यक्तिगत तथा न्यारी विशेषताओं अथवा उनके स्वाभाव को प्रकाश में लाकर उन्हे एक दूसरे से भिन्न दिखाने की एक विधि है।[६०] इस परिभाषा के मूल में ही कही गड़बड़ है। पात्रों को एक-दूसरे से भिन्न दिखाने से ही उनका चरित्र प्रकाश में आ जायगा, यह समझना भ्रममात्र है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पात्रों का चरित्र ठीक ढंग से चित्रित होने से वे अपने आप ही एक-दूसरे से भिन्न दीखने लग जाते हैं। यदि पात्रों को एक-दूसरे से भिन्न दिखाना ही चरित्र-चित्रण है तो उसके लिये उनके रंग-रूप, आकार-प्रकार, वेश-भूषा इत्यादि का चित्रण ही पर्याप्त होना चाहिए। फिर उनके 'न्यारे गुण और स्वभाव' को प्रकाश में लाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इससे स्पष्ट है कि पात्रो को एक-दूसरे से न्यारा दिखलाना चरित्र-चित्रण का साध्य नही, उसका साध्य तो उनके चरित्र या स्वभाव का प्रकाशन है।

---

५९. डा० सहस्त्रबुद्धे, 'स्वभावलेखन' (मराठी में), माडर्न बुक डिपो प्रकाशन, पूना, १९३८, पृष्ठ १४ :
'सामान्यतः अनुवंश, परिस्थिति, सस्कार व विचार-विकार यांना मनुष्य स्वभावा चे घटक''' ।'

६०. Scott Meredith, "Stuffing the Hollow-man — Characterization", 'Writing to Sell', Harper & Bros., New York, 1950, p. 62.
"Characterization.... is the method of distinguishing your story people from one another ..... by revealing their individual and distinctive qualities or nature.

इस परिभाषा में एक और बात भी विचारणीय है कि क्या पात्रों के केवल न्यारे गुण या स्वभाव के प्रकाश से उनका चरित्रचित्रण अप्रकृत और अधूरा न रह जायेगा मनुष्यमात्र का मूल एक होने से उनमें भिन्नता होते हुए भी कुछ न कुछ समानता अवश्य रहती है, जिसे न दिखाने से पात्रों के चरित्र के अस्वाभाविक हो जाने की सम्भावना रहती है। कदाचित इसीलिये उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द ने कहा है कि 'सब आदमियों के चरित्र में बहुत कुछ समानताएँ होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही, चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है',[६१] जिससे चूक जाने पर उपन्यास के पात्रों पर उँगलियाँ उठने लगती हैं। अंग्रेजी उपन्यासकार चार्लस डिकन्स के उपन्यास 'म्यूच्यूअल फ्रेण्ड्ज' के पात्रों के सम्बन्ध में उपन्यासकार हैनरी जेम्स ने भी लगभग इसी आधार पर अपनी शिकायत प्रकट की थी।[६२]

इसी प्रकार चरित्र-चित्रण की व्याख्या करते हुए रॉबिन्सन ने कहा है कि संक्षेप में, 'चरित्रचित्रण' शब्द का अभिप्राय है कहानी में लोगों (पात्रो) को पर्याप्त मूर्त्तिमत्ता और स्वाभाविकता के साथ इस प्रकार चित्रित करना कि वे पाठको के लिये छाया-नाम न रह कर पुस्तक के समतल पन्नो से उभर आएं और कम से कम उस समय के लिये तो व्यक्तित्व धारण कर लें।[६३] पात्रों का इस प्रकार चित्रण कि वे व्यक्तित्व धारण कर, पाठकों की कल्पना में सजीव होकर नाच उठें, उनके विकास की विभिन्न अवस्थाओ का प्रकाशन ही होगा। पर पात्रों का चरित्र विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक कब, क्यों और कैसेप हुँचा, यह दिखाये बिना उपन्यास में चरित्र-चित्रण अधूरा रह जायेगा। लौट्ज़े के शब्दों में पात्रों के चरित्र का क्रमिक निर्माण ही उपन्यास की वास्तविक समस्या है।[६४]

उपन्यास में चरित्रचित्रण का समुचित स्वरूप

इसलिये, उपन्यासकार को अपने पात्र के अन्तःकरण के सम्पूर्ण रुझान, उसके

६१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', सरस्वती प्रेस, बनारस, चौथा संस्करण, १९४६, पृष्ठ ३८.

६२. Henry James, "The Limitations of Dickens", 'The Portable Henry James, Viking Press, New York, 1951, p. 436.

"The people (Boffins etc.) have nothing in common with each other, except the fact that they have nothing in common with mankind at large."

६३. M. L. Robinson, 'Writing for Young People', Thomas Nelson, New York, 1950, p. 11:

"The characterization means briefly the setting of people in the story with a sufficient degree of visibility and plausibility so that they may for the readers emerge from the flat page as more than shadowy names, and possess, for the time at least, the rudiments of personality".

६४. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 148:

"Slow shaping of character is the problem of novel." (Lotze)

आसपास की परिस्थिति, परिस्थिति की उसके मन पर होने वाली प्रतिक्रिया, उस प्रतिक्रिया की उसके अन्तःकरण पर संस्कार डालने की शक्याशक्यता और विभिन्न प्रसंगो में उसके अन्त.करण में उत्पन्न विचारों और प्रकट में होने वाले विकारों के कम या अधिक सात्विक, राजस और तामस होने का पूरा-पूरा चित्रण करना होगा। विभिन्न परिस्थितियो में पात्रकी भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाए हो सकती हैं, समान परिस्थितियो में भी उसकी प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं पर उन विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरकों में एकसूत्रता लाकर उपन्यासकार को पात्रो के चरित्र-विकास में संगति लानी होगी।[६५] सारांश यह कि उपन्यासकार को अपने पात्रों का पूर्णज्ञाता बनना होगा, उनके सम्बन्ध में उसे पूरी-पूरी जानकारी रखनी होगी और उस जानकारी को पाठको पर प्रकट करते हुए उन्हे प्रतीति करा देनी होगी कि भले ही वह समय और स्थान के अभाव में अपने पात्रो की पूर्ण व्याख्या न कर सका हो, पर उसके पात्र पहेली नही हैं।[६६] तभी उसके पात्र सजीव हो सकेंगे। अपने पात्रों का एकसाथ स्रष्टा और जीवनीकार दोनो होने से उपन्यासकार के लिये ऐसी प्रतीति करा सकना असाध्य तो नही, कष्टसाध्य अवश्य है पर सच्चा उपन्यासकार कष्ट सहने में कसर कब उठा रखता है।

उपन्यास और महाकाव्य में चरित्रचित्रण

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' कहा है[६७] और 'रसगगाधर' में पण्डितराज जगन्नाथ ने विश्वनाथ और अन्य आचार्यो के मतों का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि रमणीय अर्थ का बोध कराने वाला शब्द ही काव्य है। रमणीय अर्थ से पण्डितराज का अभिप्राय है अलौकिक आनन्द की सृष्टि करने वाले ज्ञान की उपलब्धि। अलौकिकता के सम्बन्ध में उन्होने कहा है कि वह आनन्द में पाये जाने वाले चमत्कार के लिए दूसरा पर्यायवाची एक भेद-विशेष है और अनुभव ही उसका साक्षी है।[६८] प्रत्येक महाकाव्य पहले काव्य है और बाद में महाकाव्य। इसलिए वह रमणीय अर्थ का प्रतिपादक तो होगा ही, इसके अतिरिक्त

६५. Haines, 'Living with Books', p. 526 ·
"It is not consistency of action that makes a novel true to human nature and human experience, but consistency of motive and character."

६६. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 61:
"A character in a book is real when the novelist knows everything about it He may not choose to tell us all he knows. .But he will give us the feeling that though the character has not been explained, it is explicable."

६७. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', १।३ : 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्'।

६८. जगन्नाथ, 'रसगंगाधर', प्रथम आनन :
"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्व चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति-विशेष.॥"

उसमें कुछ और विशेपताएँ भी होंगी, जो उसे काव्य से महाकाव्य बनाती हैं। महाकाव्य की अतिरिक्त विशेषताओं का उल्लेख विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण'[६९] में किया है। महाकाव्य की ये अनिवार्य विशेपताये उपन्यास के लिए अनिवार्य न होते हुए भी, छन्दोबद्धता को छोडकर, निषिद्ध नही हैं।

अपने प्रारम्भिक रूप में उपन्यास वर्णनात्मक कविता का स्थानापन्न रहा होगा। गद्य-पद्य-युक्त विस्मयोत्पादक प्रारम्भिक उपन्यास इसी ओर स्पष्ट संकेत हैं। कदाचित् इसीलिए फील्डिग ने अपने उपन्यास 'जोजेफ एण्ड्रयूज' को 'गद्य में लिखा हुआ एक सुखान्त महाकाव्य' कहा था।[७०] श्रेष्ठ उपन्यास के लक्षण बताते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार हार्डी ने भी कहा था कि एक प्रकार की काल्पनिक रचना जो प्राचीन युग के अत्युत्तम महाकाव्य, नाटक या आख्यायिका के निकटतम हो।[७१] जेम्स जायस, डी० एच० लॉरेंस, वर्जीनिया वुल्फ तथा हिन्दी में जयशंकर प्रसाद, राधिका रमणप्रसाद सिह, अज्ञेय जैसे कई उपन्यासकार गद्य में लिखते लिखते अचानक अपने आप को कविता करते हुए पाते है। इसका अभिप्राय यह नही कि वे छन्दोबद्ध रचना करने लगते हैं, बल्कि ऐसी रचना करने लगते हैं जो गद्य में होते हुए भी कविता के निकटतर होती है। उनके गद्य की रमणीयार्थ-प्रतिपादकता किसी प्रकार भी कविता की रमणीयता से कम नही होती। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के विषय में तो यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जब उपन्यासकार

---

६९. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', ६।५७६ :

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः शूरः।
सद्दशं क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगार वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
...　　　...
इतिहासोद्भव वृत्तमन्यत् वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
...　　...　　...
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतांच गुणकीर्त्तनम्।
...　　...　　...
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
...　　...　　...
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेय-कथया सर्गनाम तु॥

७०. Arnold Kettle, 'An Introduction to the English Novel,' Vol. I :

"Fielding described 'Joseph Andrews' as a comic epic poem in prose."

७१. Stephen Spender, "The Novel and Narrative Poetry", 'Penguin New Writing', Sept. 1942:

"Good fiction may be defined here as that kind of imaginative writing which lies nearest to the epic, dramatic and narrative master-pieces of the past." (Thomas Hardy)

स्थूल वर्णनात्मकता से निकल कर मानस की अतल गहराइयो में उतरने लगता है और उसके पात्रो का चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) उमड़ पडता है, उपन्यास कविता के निकटतम पहुँच जाता है। पात्रों की एक साथ कई स्तरों पर अभिव्यक्ति के लिए, जो आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है,[७२] कविता अत्यन्त उपयुक्त है,[७३] वह कविता छन्दोबद्ध भले ही न हो।

उपन्यास 'एपिक इन प्रोज' नहीं—तो क्या महाकाव्य और उपन्यास के इस साम्य के आधार पर यह मानना होगा कि अभिव्यक्ति के प्रकारान्तर, गद्य तथा पद्य, के अतिरिक्त इनमें और कोई अन्तर है ही नही ? क्या फील्डिग आदि कुछ लोगों के अनुसार यह मान लेना उपयुक्त होगा कि महाकाव्य पद्यमय उपन्यास (नॉवेल इन वर्स) [७४] है और उपन्यास गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) है ? यदि इस कथन में कुछ भी सार है तो उपन्यास और महाकाव्य के तत्त्वो का स्वरूप एक-सा होना चाहिए ; पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है—विशेषतः चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में--और यह अकारण नही। वैब्स्टर ने 'एपिक' की परिभाषा करते हुए उसे वीर नायकों के पराक्रम का वर्णन करने वाली उच्च कोटि की कविता कहा है।[७५] इस परिभाषा के अनुसार तथा विश्वनाथ द्वारा दिए गए महाकाव्य के लक्षणों में से एक 'सताञ्च गुण कीर्तनम्'--के आधार पर महाकाव्य या एपिक' का उद्देश्य ठहरता है—वीरो के पराक्रम[७६] का अतिरजित वर्णन करके उन्हें महिमान्वित करना और साथ ही दुर्जनो की निन्दा भी करना . 'क्वचिनिन्दा खलादीनाम्'। इसलिए मानना होगा कि महाकाव्य का भवन आदर्श पर टिका है, क्योकि वास्तव में कोई भी मनुष्य सम्पूर्णतया सात्विक या सम्पूर्णतया तामसिक नही हो सकता। उसमें सत्व, रज और तम तीनों गुणो का न्यूनाधिक रूप में बने रहना अनिवार्य है। किसी मनुष्य में सब कुछ प्रशंसनीय ही हो या सब कुछ निन्दनीय ही हो, यह असम्भव है।

इसके विपरीत उपन्यास की नीव यथार्थ जीवन है। हेनरी जेम्स के शब्दो में उपन्यास के अस्तित्व का एकमात्र कारण यह है कि वह हमारे जीवन के चित्रण

---

७२. वात्स्यायन, "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना', जून, १९५२।

७३. Stephen Spender, 'The Novel and Narrative Poetry':
"..it shows that poetry is really the medium most suited to such devices as the 'interior monologue' and variations through the minds of several characters on a single theme".

७४. शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', सरस्वती मन्दिर, बनारस, सं० २००२, पृष्ठ ३।

७५. Webster, 'American Standard Dictionary', p. 111.
"A poem of elevated character, describing the exploits of heroes."

७६. वीरों से अभिप्राय केवल युद्धवीर से नही दयावीर, धर्मवीर और दानवीर से भी है। देखिए—साहित्यदर्पण ३।२३८ :
"स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्"

का प्रयत्न करता है।[७७] उपन्यास लोगो की यथार्थताओं से बना एक घर है। किसी पात्रको या नायक को महिमान्वित करने या न करने का प्रश्न उपन्यास में उठता ही नहीं। कोई पात्र जैसा है, उपन्यास उसे वैसा ही चित्रित करने का प्रयत्न करता है उपन्यास पात्रो की पराजयों को उतनी ही तन्मयता से चित्रित करता है, जितनी तन्मयता से उनकी विजयो को; उनके अवगुणो को उतना ही महत्त्व देता है, जितना महत्त्व उनके गुणों को देता है, बल्कि कई बार यह विचार किए बिना कि यह उन की सफलता या असफलता, यह उनको यथावत् चित्रित करने का प्रयत्न करने लगता है। इसलिए यह विचारणीय हो सकता है कि क्या 'गोदान' का होरी, 'कंकाल' का विजय, 'शेखर. एक जीवनी' का शेखर, 'अन्तिम आकाँक्षा' का रामलाल, 'द गुड अर्थ' का वैगलुंग', 'प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस' की एलिजावेथ, आदि महाकाव्य के नायिक-नायिकाएँ बन सकते थे ? नही, कदापि नही। उन्होंने ऐसे कौन से पराक्रम किये है, उनमें ऐसे कौन से अत्यधिक प्रशंसनीय गुण हैं, जो उन्हे महाकाव्य के नायकत्व के अधिकारी बना देते ? पर वे, अपने गुणावगुण सहित अपनी सफलताओं-विफलताओ के साथ, जो कुछ भी हैं, जैसे भी हैं, उपन्यास-जगत के अमूल्य रत्न हैं।

उपन्यास की नींव : जीवन की यथार्थतायें—इसका अभिप्राय यह नही कि उपन्यास में महाकाव्य के धीरोदात्त[७८] नायक की अवतारणा हो ही नही सकती। उपन्यास का नायक या कोई अन्य पात्र धीरोदात्त हो सकता है, पर धीरोदात्त होना उसकी अनिवार्यता नही। ऐसी स्थिति में उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज़) और महाकाव्य को पद्यमय उपन्यास (नावेल इन वर्स)[७९] कह कर उनके पारस्परिक अन्तर को मिटाने का प्रयत्न करना दोनो के प्रति अन्याय करना होगा। उपन्यास 'एपिक इन प्रोज़' का-सा हो सकता और नही भी हो सकता। कोई उपन्यास गद्यमय महाकाव्य प्रतीत होने लगे तो उसे महाकाव्य ही मान लेना उपयुक्त न होगा, क्योंकि स्थूल स्वरूप का साम्य हो जाने पर भी उनमें तात्त्विक अन्तर ज्यो का त्यों बना रहेगा। महाकाव्यकार की सारी तपस्या मानव-प्रकृति के अपरिवर्तनीय गुणों के उद्घाटन के लिए होती है, जो मूलरूप में उसके अपने मानस में स्थित रहते हैं, पर उपन्यासकार देश-काल परिस्थिति तथा कार्य-कारण की परिधि से नहीं निकल पाता। इसीलिए महाकाव्य की प्रभावोत्पादकता देशकालातीत होती है, पर उपन्यास के सम्बन्ध में यह पूर्णतया नहीं कहा जा सकता।

---

७७. Henry James, "Art of Fiction", 'The Portable Henry James', New York, 1951, p. 393.

७८. विश्वनाथ, 'साहित्य दर्पण', ३।६८ :

धीरोदात्त :

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
स्थैयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

७९. श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३.

उपन्यास में फलागम अनिवार्य नहीं—उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहना तो और भी असंगत होगा, क्योंकि महाकाव्य की अनिवार्य विशेषतायें उपन्यास के लिए अनिवार्य नही। उपन्यास महाकाव्य की मर्यादा का उल्लंघन कर सकता है। उदाहरणार्थ, महाकाव्य के नायक के लिए धीरोदात्त होना ही पर्याप्त नही, बल्कि यह भी आवश्यक है कि महाकाव्य के अन्त में उसे फल की प्राप्ति हो। 'महाकाव्य का नायक अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त करता है, यदि नायक विफल रहता है तो रचना महाकाव्य के स्तर से गिर जायगी'।[८०] उसके नायक में इतनी सामर्थ्य और शक्ति होनी चाहिए कि उसके प्रतिद्वन्द्वी उसके सम्मुख अन्त तक न टिके रह सकें। उपन्यास के नायक के लिए इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नही। उपन्यास सुखान्त भी हो सकता है और दुःखान्त भी। इसलिए उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहना क्या उसके प्रति अन्याय करना न होगा ?

महाकाव्य में व्यक्ति-चरित्र का अभाव—महाकाव्य में पात्रों की रचना और उनका चरित्रचित्रण एक पूर्वनिश्चित ढर्रे पर ही होता है। उसमें नायक होता है और उसका प्रतिद्वन्दी खलनायक भी। नायक धीरोदात्त होता है और खलनायक धीरोद्धत।[८१] कुछ पात्र नायक के सहायक होते हैं और कुछ खलनायक के। नायक के सहायक पात्र सज्जन होते हैं और खलनायक के सहायक दुर्जन। दोनों दलों में भीषण सघर्ष होता है और अन्त में नायक और उसके दल की विजय होती है। इस प्रकार महाकाव्य के पात्र प्रायः किसी-न-किसी वर्ग के प्रतीक या प्रतिनिधि (टाइप) ही होते है, परन्तु व्यक्ति-चरित्र, जिसका चित्रण आधुनिक उपन्यास की एक विशेषता है, महाकाव्य में दुर्लभ है।

उपन्यास और नाटक में चरित्रचित्रण

कई बार यह मान लिया जाता है कि रंग-मच का सम्बन्ध पात्रो की क्रियाशीलता से तथा उससे उत्पन्न घटनाओ से इतना अधिक है कि नाटक में चरित्रचित्रण का स्थान गौण समझा जाना चाहिए। परन्तु वास्तव में पात्रो का सबसे अधिक महत्व यदि किसी साहित्य-प्रकार में है तो वह नाटक है जिसका अभिनय पात्रों के बिना हो नही सकता। नाटककार स्वयं तो रंगमच पर आता नहीं और जब तक रंगमंच पर कोई आए नही तब तक नाटक का आरम्भ कैसे हो ? नाटक के प्रारम्भ से लेकर

---

८०. (क) डा० एस० पी० खत्री, 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ २४५।

(ख) 'महाकाव्य' के लक्षण देते हुए विश्वनाथ ने भी तो 'साहित्यदर्पण' में कहा है : 'चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकच फलं भवेत्।

८१. धीरोद्धतः (साहित्यदर्पण—३। ६६)

मायापरः प्रचण्डश्चपलोअहंकारदर्पभूयिष्ठ :।
आत्मश्लाघानिरतो धीरै धीरौद्धतः कथित :॥

अन्त तक एक वा अनेक पात्र रंगमंच पर आकर कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। क्या उनके क्रिया-कलाप में उनका चरित्र नही झलकता ?

रंगमंग पर आए हुए प्रत्येक पात्र का आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार तथा कथोपकथन आदि प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में उसके चरित्र का ही तो चित्रण करते है। जहाँ वे ऐसा नही करते वहाँ नाटक में कार्य की एकता के भंग होने की सम्भावना बनी रहती है। कार्य की एकता नाटक का प्राण है। नाटक में चरित्रचित्रण के महत्त्व को स्थापित करते हुए आर्थर जॉन्स ने तो यहाँ तक कह दिया कि किसी अभिनेय कृति में कथानक, घटनाएँ और वातावरण, जब तक कि वे चरित्रचित्रण से सम्बन्धित न हो, अपेक्षाकृत अबौद्धिक रहते है। उन्हें चरित्रचित्रण के विकास की एक कड़ी बनना चाहिए।[८२] रंगमच पर किया गया अभिनय यदि पात्रों के चरित्र पर प्रकाश नही डालता, तो समझना चाहिए कि वह अपने मार्ग से भटक गया है; साधन से साध्य बन कर अपना लक्ष्य खो बैठा है। नाटक में चरित्रचित्रण का स्थान निर्धारित करते हुए अपने लेख 'प्लाट ऑर कैरेक्टर' में एग्री ने ठीक ही लिखा है कि श्रेष्ठ नाटक उन पुरुषों की देन हैं, जिनका धैर्य असीम था। कदाचित् उन्होंने अपने नाटक गलत सिरे से प्रारम्भ किए, पर वे पग-पग पर सघर्ष करते पीछे हटते रहे, जब तक कि उन्होने अपनी रचना का आधार चरित्र को नही बना लिया, चाहे उनके चेतन में यह बात न आई हो कि चरित्र ही एक ऐसा तत्व है जो नाटक की नीव हो सकता है।[८३]

उपन्यासकार का एक मात्र साधन : शब्द—प्राचीन आचार्यों ने दृश्य और श्रव्य नाम से साहित्य के जो दो भेद किए है,[८४] उनके अनुसार उपन्यास श्रव्यकाव्य के अतर्गत है और नाटक दृश्यकाव्य के। उपन्यास को सुनने या पढ़ने से श्रोता या पाठक पर वह सब-कुछ प्रकट हो जाता है, जो उपन्यासकार उस तक पहुँचाना चाहता है, पर नाटक को केवल पढ़ने या सुनने से वह सब प्रकाश में नही आता, जो नाटककार व्यक्त करना चाहता है। अतः उसके साथ-साथ अभिनय देखने की भी आवश्यकता रहती है। नाटककार के मतव्य की अभिव्यक्ति नाटक के शब्दो और उसके

---

८२. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 186 :
"Story and incident and situation in the theatrical work are, unless related to character, comparatively unintellectual They should only be another phase of development of characterization." (Henry Arthur Jones)

८३. Lajoı Egri, "Plot or Character", 'The Writers Book', p. 168 :
"The great plays came to us from men who had unlimited patience for work. Perhaps they started their plays at the wrong end but they fought themselves back inch by inch, until they made character the foundation of their work, although they may not have been objectively conscious that character is the only element that could serve as the foundation."

८४. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद, कारिका २७५ तथा ५७७
"दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। दृश्यं तत्राभिनेयम् ।।२७५।।
श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत् पद्यगद्यमयं द्विधा ।।५७७।।"

अभिनय दोनों में बँटी रहती है, जिनके समन्वय में ही उसकी सम्पूर्णता निहित है। परन्तु उपन्यास अपने लिखित रूप में एक पूर्ण रचना है—अपने आप में एक पूर्ण कृति। वह सापेक्ष नही, निरपेक्ष है। उपन्यासकार अपने पाठको तक जो कुछ पहुँचाना चाहता है, उसे शब्दो के रूप में ढाल देता है। उपन्यास का कथानक तथा पात्र और उनके कथोपकथन ही नही, उन पात्रो की वेश-भूषा, अंग-भंगिमा, भाव-विचार, विभिन्न दृश्य आदि तथा वे सब जो नाटक के अभिव्यक्ति-साधन है, उपन्यास के शब्दो में निहित रहते हैं। इसीलिए उपन्यास को नाटक की भाँति अपने से अलग किसी रगमंच की आवश्यकता नही रहती, उसका रंगमच शब्द-चित्र के रूप में उसके भीतर ही रहता है, जिस पर प्रकट होने की पात्रो के साथ-साथ उपन्यासकार को भी स्वतन्त्रता रहती है। कदाचित् इसी कारण, मेरियम क्रॉफोर्ड ने उपन्यास को 'जेबी नाट्यशाला' (पाकेट थियेटर)[८५] कहा है।

नाटककार की सीमा—उपन्यास और नाटक का यह तात्त्विक अन्तर उनके पात्रों के चरित्रचित्रण के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर ला देता है। अपने पात्रो का स्रष्टा और कथाकार (नैरेटर) दोनो होने के कारण चरित्रचित्रण[८६] के लिए जितनी सुविधाएँ उपन्यासकार को प्राप्त हैं, वे सब नाटककार को उपलब्ध नही। नाटककार की स्थिति कुछ-कुछ वही है, जो जगत्स्रष्टा की। वह स्रष्टा तो है, पर रगमच पर प्रकट होकर अपनी सृष्टि की कहानी नही सुना सकता। इसलिए, नाटक के पात्रों का स्वरूप उपन्यास के पात्रों से भिन्न हो जाता है। उपन्यास के पात्र साहित्य के पात्र हैं, पर नाटक के पात्र वस्तु-जगत के व्यक्ति प्रतीत हों, इसी में नाटक की सफलता है। परन्तु जगत के व्यक्ति एक-दूसरे के लिए—अपने लिए भी तो—एक पहली हैं। जो उनका स्रष्टा है तथा उनका पूर्ण ज्ञाता है, वह उनका परिचय नही कराता और हमें एक-दूसरे के क्रियाकलाप, आचार-व्यवहार आदि के आधार पर अनुमान लगाना पड़ता है जो सीमित तो होता ही है पर कई बार भ्रामक भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार, नाटक में पात्रो की वेश-भूषा और आकार-प्रकार से, उनके आचार-व्यवहार और कथोपकथन आदि से पात्रो के चरित्र की जितनी व्याख्या हो जाती है, वही नाटक में चरित्रचित्रण की सीमा है। उससे अधिक कुछ कर सकने में नाटककार असमर्थ है। परन्तु उपन्यास-कार जब इन सब साधनो के प्रयोग द्वारा भी अपने पात्रो का पूर्ण चित्रण नही कर पाता, उनके बारे में अपनी जानकारी की पूर्ण अभिव्यक्ति नही कर पाता, तो वह कथाकार के रूप में प्रकट होकर, प्रत्यक्ष शैली द्वारा उस कमी को पूरा कर देता है। नाटककार जहाँ नाटकीय प्रणाली (इन्डायरेक्ट मैथड) को ही अपना सकता है, वहाँ उपन्यासकार को प्रत्यक्ष प्रणाली (डायरेक्ट मैथड) के प्रयोग की भी स्वतंत्रता रहती

---

८५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literaturo', p. 129 :
"The novel is, Marin Crawford once happily phrased it, a 'pocket theatre''.

८६. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 61.

है। नाटककार को अपने पात्रो से अलग रह कर, उन्हे अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा स्वय व्यक्त होने देना पड़ता है।

उपन्यासकार यह सब तो करता ही है, इसके अतिरिक्त उनके हृदय में बैठ कर उनके संकल्प-विकल्प और भाव-विचार की व्याख्या और आलोचना करता हुआ अधिकारपूर्ण निर्णय भी देता चलता है। वैसे तो नाटककार भी अपने पात्रो के चरित्र की आलोचना दूसरे पात्रो के कथोपकथनों और उनकी प्रतिक्रियाओं के रूप में करता हुआ प्रछन्न रूप से अपना मत प्रकट कर देता है, पर उसका वह मत एक पात्र के बारे में दूसरे पात्रों की आलोचनामात्र प्रतीत होने से उतना विश्वसनीय नही प्रतीत होता जितना कि उपन्यासकार का मत। उपन्यासकार स्थानाभाव के कारण भले ही पात्रों के बारे में अपनी जानकारी को प्रकट न करे, पर वह पाठकों को यह विश्वास दिला देता है कि वह अपने पात्रो के बारे मे सब कुछ जानता है और यह भी कि यद्यपि उसके उपन्यास में उनकी पूरी व्याख्या नही की गयी पर वह की जा सकती है, उसके पात्र पहेली नहीं, व्याख्येय है। नाटककार यह प्रतीति कराने में अशक्त है, क्योंकि नाटक में अभिनय के अभाव में चरित्रचित्रण अधूरा रह जाता है और अभिनय की सफलता अभिनेताओं पर निर्भर करती है, नाटककार पर नही। इसलिए नाटक में पात्रो का चरित्रचित्रण एक सीमा तक ही प्रकाश में आ सकता है और शेष के लिए दर्शकों को अनुमान से काम लेना पड़ता है। यह नाटककार की मजबूरी है, नाट्यकला की सीमा है।

उपन्यासकार की महानता—अब तक जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह नहीं कि नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार का काम सरल है। इसमें संदेह नही कि उपन्यासकार की स्वतन्त्रता नाटककार को उपलब्ध नहीं, पर यह भी सत्य है कि रगमंच की जो सुविधाएँ नाटककार को सहज उपलब्ध हैं, उनसे उपन्यासकार वंचित रह जाता है। नाटककार को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार जो कुछ बना बनाया मिल जाता है, वह उपन्यासकार को अपने परिश्रम से बनाना पड़ता है। उसे नख से लेकर शिख तक अपने पात्रों को गढना पड़ता है; उनकी वेश-भूषा, आकार-प्रकार, क्रिया-कलाप इत्यादि वह सब कुछ जो नाटककार को बना-बनाया मिल जाता है, उसके लिए उपन्यासकार को अथक परिश्रम करना पडता है। इतना ही नहीं उसे अपने पात्रों की क्रीडा के लिए क्रीड़ा-स्थल बनाना पड़ता है और उनके कार्य के लिए कार्य-क्षेत्र भी। पात्रों का घर-गाँव, उनके खेत-खलियान तथा नगर और उसके ठाठ-बाट से लेकर बर्फ से ढके हुए पर्वतों के शिखर और उनके नीचे कल-कल का नाद करती हुई चंचल गति सरिताओं आदि तक उसे न जाने क्या-क्या बनाना पड़ता है। पर उसकी कठिनाई यह नहीं कि उसे इतना कुछ बनाना पडता है। उसकी कठिनाई यह है कि उसे ये सब वस्तुएँ लकड़ी, चूना, मिट्टी से नही, केवल शब्दों द्वारा बनानी पड़ती हैं। शब्दों द्वारा ही उसे इन सबको मूर्तरूप देना पडता है। ऐसा मूर्तरूप जो मूल वस्तु की टक्कर का हो। अपने पात्रों के आकार-प्रकार, वेश-भूषा बना देने से ही उसका काम

नहीं चलता, उसे उनके भाव-विकार, संकल्प-विकल्प आदि के ऐसे शब्द-चित्र खींचने पड़ते है कि वे पात्र सजीव होकर, उपन्यास के पन्नो से उभरकर, पाठकों के कल्पना-चक्षुओ के सामने मूर्तिमान होकर नाच उठें।

उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा परिश्रम तो अवश्य अधिक करना पड़ता है, पर इसके बदले में उसे जो स्वतंत्रता मिल जाती है, वह अमूल्य है। उपन्यास के विशाल चित्रपट के कारण और प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रणालियों को अपनाने की उसे जो स्वतंत्रता है, उसके कारण तथा समय और स्थान के प्रति उसकी उदासीनता क्षम्य होने के कारण उपन्यासकार में स्रष्टा की एक अद्भुत शक्ति आ जाती है जो पात्रो के चरित्र का अपूर्व सफलता से चित्रण करने में उसे समर्थ बना देती है। अपने पात्रों के चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण वह जितनी सफलता से कर पाता है, इसमें उतनी सफलता नाटककार को कभी नहीं मिल सकती। अपने पात्रों के चरित्र के विकास की मुख्य-मुख्य अवस्थाओं को तो नाटककार भी रंगमंच पर दिखा देता है, पर उपन्यासकार की स्वतन्त्रता के अभाव में तथा समय और स्थान की पाबन्दी के कारण वह यह दिखा सकने में असमर्थ रहता है कि उसके पात्र विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक कैसे पहुँचे है। नाटक में पात्रों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास प्राय रंगमच के पीछे अन्धकार में ही हुआ करता है, क्योंकि पात्र जब पुन: रंगमच पर प्रकट होते हैं तो वे विकास की अगली अवस्था तक पहुँच चुके होते है। उनका यह विकास कब, क्यो, और कैसे हुआ, दर्शकों के लिए बहुधा यह एक रहस्य रह जाता है। इसके विपरीत उपन्यासकार प्रायः पात्रों के मन का झुकाव, उसके आसपास की परिस्थिति, परिस्थिति की उस पर पडने वाली छाप, उस छाप के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि का चित्रण करते हुए जाने या अनजाने चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण करता रहता है। यद्यपि पहले के उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, पर आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तो मुख्य समस्या ही पात्रो के चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण है।

उपन्यास और कहानी में चरित्रचित्रण

तात्विक अन्तर—बेकर के शब्दों में उपन्यास गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या है।[८७] हेनरी जेम्स ने उसे जीवन की व्यक्तिगत और सीधी छाप[८८] कहा है और उसके अस्तित्व का एकमात्र कारण यह माना है की वह जीवन के चित्रण का प्रयत्न करता है।[८९] यदि जीवन का चित्रण, समूचे जीवन का चित्रण-

८७. Richard Church, 'The Growth of the English Novel', p. 8.

८८. Henry James, "The art of Fiction" 'Portable Henry James', New York, 1951, p. 398,
"A personal and direct impression of life."

८९. Ibid., p. 393 ;

ही उपन्यास के अस्तित्व का एकमात्र कारण है तो कहानी के अस्तित्व का मूल कारण यह है कि उपन्यास मे किए गए जीवन के चित्रण को पढ़ने और पचाने के लिए समय चाहिए, जो आज के मनुष्य के पास है नही। समय का अभाव आज के युग की समस्या है और 'कम से कम समय में अधिक से अधिक काम है आज के युग की माँग। साहित्य के क्षेत्र में इस माँग की पूर्ति का प्रयत्न है कहानी। कहानी की सब से पहली और अनिवार्य विशेपता—उसके मनन के लिए आध घण्टे से दो घण्टे तक लगे,[६०] या वह एक ही बैठक में पढी जा सके[६१]—इसका सबल प्रमाण है। अपनी विकास-यात्रा में कहानी ने कई रूप धारण किये, अनेक शैलियों को अपनाया और छोड़ा, पर उसकी यह विशेषता अक्षुण्ण रही।

कहानी और उपन्यास के इस मूल अन्तर का सीधा प्रभाव उनके आकार पर पडा और कुछ लोगों को भ्रम हुआ कि कहानी और उपन्यास में आकार का ही तो भेद है। इस भ्रान्ति से एक और भ्रान्त धारणा फैली कि कहानी उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण है या कहानी उपन्यास का लघु रूप है और कहानी का विस्तृत रूप है उपन्यास। यह भ्रम यहीं तक नही रुका, प्रत्युत् इस रूप में विकसित हुआ कि कहानी उपन्यास का आगामी रूप है और यह अतत उपन्यास का स्थान ग्रहण कर लेगी।[६२] वस्तुतः, कहानी न तो उपन्यास का आगामी रूप है और न ही वह उपन्यास की स्थानापन्न हो सकती है, क्योंकि कहानी 'कहानी' है और उपन्यास 'उपन्यास'। 'कम से कम समय में अधिक से अधिक काम' के सिद्धान्त पर चलने वाली कहानी के पास न उतना समय है और न उतना स्थान, जितना उपन्यास को सहज उपलब्ध है। कहानी के पास वह विस्तृत पट भी नही, जो उपन्यास के पास है। इसलिए उपन्यास की भाँति समूचे जीवन का, उसके विविध रंग-रूपों तथा नाना प्रकार के रहस्यों का चित्रण करने में कहानी असमर्थ है। वह समूचे जीवन का यथार्थ चित्र न होकर उसके किसी अंग-विशेप का सरलीकरण है।[६३] इलाचन्द्र जोशी ने भी कहा है कि जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुबृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है। कहानी और उपन्यास के इसी अंतर को

---

६०. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 337 :
"Short story is a narrative prose requiring from half an hour to one or two hours in its perusal." (Edgar Allan Poe)

६१. 'Ibid', p. 338 :
"Short story is a story that can be easily read at a single sitting."

६२. Hudson, 'An Introduction to the Study of Li erature', p. 336 :
"...it (short story) is the 'coming form' of fiction, and that ultimately it will replace the novel entirely."

६३. Soman, 'General Introduction to Stevenson's Stories' :
"The short story is not a transcript of life, but a simplification of some side of life-" (Stevenson)

स्पष्ट करते हुए एक बार जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि आख्यायिका में सौंदर्य की झलक का रस है। मान लीजिए आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में एक गोल-मटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति, उसकी झलक मिलने न मिलने भर में सवारी आगे निकल जाती है, किन्तु उतनी ही झलक उतनी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है। इसी को बेरीपेन ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है : उपन्यास एक तृप्ति है तो कहानी है एक उत्तेजना[९४]। उपन्यास में जीवन की समस्याओं की व्याख्या मिलती है और मिलता है समस्याओं का समाधान। कहानी में यह बात नहीं पाई जाती। कहानी एक प्रश्न को उठाती है, किन्तु उसका उत्तर पूर्णरूप से नही देती। व्याख्या उपन्यास का प्राण है। व्यंजकता (सज्जेशन) और प्रतिध्वनि (ईको) कहानी की जीवन श्वासें है।[९५]

कहानी में चरित्र के क्रमिक विकास का अभाव—इसलिए, उपन्यास की भांति मानव के समस्त जीवन का चित्रण कहानीकार की सामर्थ्य से बाहर है। उपन्यासकार की सभी सुविधाएँ उसे प्राप्त होने पर भी चित्रपट की संकीर्णता उसके प्रत्येक प्रयत्न पर संक्षेप की मोहर लगा देती है। घटना का वर्णन करना हो या पात्रो का चरित्र-चित्रण, वातावरण की सृष्टि करनी हो अथवा किसी सिद्धान्त का निरूपण, उसे विस्तार और विश्लेषण में न जाकर सांकेतिक शैली से ही अपना काम निकालना पडता है। इस मजबूरी के कारण कहानीकार अपने पात्रों के चरित्र का पूर्ण चित्रण तो कर ही नही सकता,[९६] पर जितने पर वह अपना ध्यान केन्द्रित करता है, उसमें भी उसे बडे संक्षेप से काम लेना पड़ता है। इतनी असुविधायें होने पर भी उसकी चेष्टा यही रहती है कि उसके पात्रों का चरित्रचित्रण उतना ही प्रभावोत्पादक हो जितना उपन्यास के पात्रों का। इसलिए अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को चुनते समय और उन्हें उपयुक्त शैली में व्यक्त करते समय उसका प्रयत्न रहता है कि उसके पात्र पुस्तक के पन्नों से उभर कर, पाठकों के कल्पना चक्षुओं के सामने ऐसा सजीव व्यक्तित्व धारण करके नाच उठें कि उनके मानस-पटल पर उसकी गहरी छाप पड़े बिना न रहे। इसलिये अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में उसका ध्यान प्रभावोत्पादन की ओर अधिक रहता है, उसकी चरित्र सम्बन्धी गुत्थियों के सुलझाने की ओर कम। कहानी के पात्रों के भव्य व्यक्तित्व के प्रभाव में अनायास 'वाह-वाह' कर उठने पर भी पाठक यह दावा नही कर सकता कि वह उनके बारे में सब कुछ

---

९४. Berry Pain, 'The Short Story', p. 45-46 :
"The novel is a satisfaction, the short story is a stimulus."

९५. पहाडी।

९६. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' :
"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नही होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नही, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।"

जानता है, जबकि उपन्यास का पाठक ऐसा दावा कर भी सकता है। कहानीकार अपने पात्रों के चरित्र की कुछ एक विशेपताओं को ध्यान में रखकर, परिस्थिति विशेष में व्यंजित उसके व्यक्तित्व को हमारे सामने ला खड़ा करता है, पर वह यह नहीं बता पाता कि उसके पात्र ने वह व्यक्तित्व क्यों और कैसे धारण किया तथा व्यक्तित्व के विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक वह क्यों और कैसे आया।

किसी व्यक्ति के स्वाभाविक रुझान, विभिन्न परिस्थितियों की उसके मन पर पड़ने वाली छाप, उन परिस्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, तथा विभिन्न देश, काल व परिस्थितियों में उसकी मनोदशा एवं आचार-व्यवहार देखे बिना उसे अच्छी तरह से जानने का दावा कैसे किया जा सकता है। अपने नित्य प्रति के जीवन में भी हम जब कभी किसी से मिलते है, तो प्रथम भेंट में उसके बारे में सब कुछ नहीं, कुछ ही समझ पाते हैं। हमारे मन पर प्रथम भेंट की छाप पड़ती अवश्य है, पर उसे हम सही और अन्तिम नही मान सकते। प्रथम भेंट की छाप की यथार्थता और उपयुक्तता को परखने के लिए हमें विभिन्न परिस्थितियों में होने वाली उस व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया की जांच करनी पड़ती है, पर जीवन को उसकी विविधता में दिखाना कहानी का विषय नहीं। वह अपने पाठकों को अगले अनुभवों की प्रतीक्षा में नहीं रख सकती। इस लिए, जहां उपन्यास की समस्या चरित्र का क्रमिक विकास है, वहाँ कहानी की समस्या है—व्यक्तित्व की झाँकी दिखाकर प्रभाव उत्पन्न करना। कहानीकार अपने पात्रों के व्यक्तित्व के विविध रूप दिखाता है, उनके चरित्र का क्रमिक विकास नहीं।[९७] पर पात्रों के व्यक्तित्व के विविध रूप दिखाना, उनके चारित्रिक परिवर्तन-मात्र को व्यक्त करना ही चरित्र-चित्रण नहीं, चरित्र-चित्रण की सार्थकता चरित्र निर्माण के तत्त्वों और उसकी प्रक्रिया को दिखाने में है; विकासमान चरित्र के उद्घाटन में है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, चरित्र विकसनशील है; प्रतिक्षण-प्रतिपल उसका विकास होता रहता है। चरित्र के समूचे धारा प्रवाह को दिखाना ही चरित्रचित्रण है। चरित्र के विकास की किसी विशेषावस्था अर्थात् व्यक्तित्व[९८] को उस धाराप्रवाह से चुल्लू भर जल के समान निकाल कर दिखाना, उस धारा की प्रवाहशीलता के महत्त्व के प्रति आँखें मूँद लेना है। इस लिए, चरित्र-चित्रण के वास्तविक अर्थ में कहानी में चरित्रचित्रण नहीं पाया जाता, क्योंकि विस्तार और विश्लेषण के बिना चरित्र-चित्रण हो नही सकता और कहानीकार संश्लेषक है, विश्लेषक नहीं। संक्षेप शैली उसका प्राण है।

९७. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 336-37 :
"In short story character is revealed, not developed."

९८. Max Schoen, 'The Human Nature in the Making', p. 159 :
"Character is the self in action, the self in the process of cultivation in some social medium, the product of which process at a particular stage of achievement is personality."

कहानी की सीमा—अपने पात्रों का स्रष्टा और वक्ता दोनों होने के कारण कहानीकार भी उपन्यासकार की तरह उनका पूर्ण ज्ञाता होता है और उपन्यासकार की भांति उसे भी उनका आकार-प्रकार आचार-विचार आदि चित्रित करने के लिए नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनों शैलियों को, जब जिसकी आवश्यकता हो, अपनाने की स्वतन्त्रता रहती है। पर कहानी के चित्रपट की संकीर्णता उसे दोनों में से किसी एक का भी पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाने देती। इसीलिए कहानी में वर्णन और कथोपकथन होते हुए भी उसमें, वास्तविक अर्थ में, न तो संवाद मिलते है और न विश्लेषण अथवा व्याख्या ही, जिनके माध्यम से उपन्यासकार यह विश्वास दिला देता है कि वह अपने पात्रों का पूर्ण ज्ञाता है और यह भी कि यद्यपि उसके पात्रो की पूरी व्याख्या नही की गई, पर वह की जा सकती है। कहानीकार यह प्रतीति करा सकने में असमर्थ है। उसके पात्रों की दुरूहता बनी रहती है, क्योंकि वह उनके चरित्र का क्रमिक विकास और उसके कारण नही दिखा पाता। यह उसकी मजबूरी है, कहानी-कला की सीमा है। इसलिए ऐसे पात्र जो हमारी कल्पना में साकार होकर स्मृति में अमर हो जाते हैं वे उपन्यास के पात्र होते हैं, कहानी के नही।

उपन्यास और जीवनी में चरित्रचित्रण

उपन्यास के भविष्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रेमचन्द ने एक बार कहा था : "भावी उपन्यास जीवन चरित्र होगा, चाहे किसी बडे आदमी का हो या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बडाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पाई है।"[९९] इसी भाव को दूसरे शब्दो में रखते हुए विलियम बैरेट ने कहा है कि श्रेष्ठ उपन्यास किसी कल्पित व्यक्ति की जीवनी होता है और जब जीवनी पूरी हो चुकती है, वह व्यक्ति कल्पित नही रहता, बल्कि अपने स्रष्टा की भांति यथार्थ बन जाता है।[१००] अपना पहला उपन्यास 'शेखर' जीवनी की शैली में लिखकर और उसे 'एक जीवनी' की सज्ञा देकर अज्ञेय ने मानो उपर्युक्त दोनों कथनो को सार्थक सिद्ध कर दिया हो। कहना न होगा कि 'शेखर : एक जीवनी' की गणना हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों में होती है।

जीवन में पात्रों का 'आब्जेक्टिव' चित्रण—अपने विकसित रूप में उपन्यास और जीवनी दोनों के एक-दूसरे के निकट पहुँच जाने पर भी उनका तात्त्विक अन्तर स्पष्ट बना रहता है। उनकी शैली में समानता होने पर भी उनकी आत्मा में दुराव

९९. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' (भाग १), सरस्वती प्रेस, बनारस, चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृष्ठ ५६।

१००. William E. Barrot, "The Living Character", 'The Writer's Hand Book', p. 120.

"A good piece of fiction is the biography of an imaginary person. . and when the biography is complete, the person is no longer imaginary, he is as real as his creator."

बना रहता है। उपन्यास का आधार होता है, कल्पित व्यक्ति का या, ऐतिहासिक उपन्यासों में वस्तुजगत के व्यक्ति का, कल्पित जीवन पर जीवन का आधार होता है—वस्तु जगत के व्यक्ति का यथार्थ जीवन। कल्पना उपन्यास का प्राण है, पर जीवनी के लिए वह घातक है। उपन्यासकार अपने पात्रो का या उनके कल्पित जीवन का स्रष्टा और कथाकार दोनों होता है, पर जीवनीकार अपने पात्रों का कथाकार ही होता है, स्रष्टा नहीं। उसके पात्रों का स्रष्टा कोई और है, जो कथाकार नही। अपने पात्रों का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका पूर्ण ज्ञाता होता है। अपने पात्रों के सकल्प-विकल्प उनके भाव-विकार, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदि कुछ भी उससे छिपा नही रहता। जीवनीकार अपने नायक या अन्य पात्रो के सम्बन्ध में, प्रयत्न करने पर भी, सब कुछ नहीं जान पाता। अपने पात्रों के प्रति जीवनीकार की जानकारी की एक सीमा होती है। वह उनके क्रिया-कलापों के, उनके आचार-व्यवहार के, पीछे नही झाँक सकता, उसकी पहुँच अपने पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भीतरी कारणों तक नहीं होती। वह जो कुछ प्रकट में देखता है, उसके आधार पर भीतरी कारणों का अनुमान लगाता है।

प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते हैं, एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। उस का आकार-प्रकार, उसका आचार-विचार अर्थात् उसकी कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ व्यक्त होती हैं, पर किसी कार्य को करने से पहले उसके अन्तःकरण का रुझान, उसके भाव और विचार, उसकी इच्छाएँ और वासनाएँ आदि जिनको वह भयवश अथवा प्रलोभनवश प्रकट नहीं होने देता या जो प्रयत्न करने पर भी प्रकट नहीं हो पातीं, उसके अव्यक्त रूप के अन्तर्गत हैं। क्योकि उपन्यास किसी एक या अनेक कल्पित व्यक्तियों का जीवन या यथार्थ व्यक्तियों का कल्पित जीवन होता है, वह कल्पना द्वारा अपने पात्रों के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों का निर्माण कर लेता, पर कल्पना इतिहासकार और जीवनीकार, दोनो के लिए, वर्जित है। वे मनुष्य के, अपने पात्रों के, व्यक्त रूप में ही फँसे रह जाते हैं। व्यक्त यथार्थ ही उनके लिए सब कुछ है और वह जो दृष्टि की ओट में छिपा रहता है, जो अव्यक्त यथार्थ है, जिसे प्रकाश में लाना उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य होता है,[१०१] इतिहास और जीवनी की पहुँच से बाहर है। क्योंकि उपन्यासकार अपने पात्रों का पूर्ण ज्ञाता होने से उनके चरित्र के विकास की प्रत्येक दिशा और दशा से भली प्रकार परिचित होता है, उसे उनके विकास का कोई भी रूप अस्वाभाविक और अकारण नहीं दीखता। अपने पात्रों के प्रत्येक परिवर्तन के उसके पास ठोस कारण रहते हैं। उपन्यास में अकारण कुछ नहीं होता और वह कथाकार होने के नाते सब-कुछ अपने पाठकों पर प्रकट कर देता है।

---

१०१. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 45 :
"The hidden life is by definition hidden. The hidden life that appears in external signs is hidden no longer. And it is the function of the novelist to reveal the hidden life at its source.'

पाठकों के लिए उसके पात्र गोरख-धंधा नहीं बने रहते, वे उनके परिवर्तन पर आश्चर्य चकित नहीं होते। पर, इनके विपरीत जीवनीकार बाह्य कारणों तक ही सीमित रहने से अपने पात्रों के चारित्रिक विकास के भीतरी कारणों को नहीं पकड पाता और बहुधा उनके चारित्रिक परिवर्तनों की व्याख्या के प्रयत्न में भाग्यवाद की शरण लेने के लिए विवश हो जाता है। पर उपन्यास में कुछ भी सौभाग्य या दुर्भाग्य से नहीं होता; कुछ भी अचानक नहीं होता दीखता। उपन्यास में जो-कुछ भी होता है अनिवार्यत होता दीखता है। इस सम्बन्ध में, फ्रेंच आलोचक एलेन को उद्धृत करना अनुचित न होगा। उपन्यास और इतिहास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है—इतिहास बाह्य कारणों पर बल देने के कारण भाग्य प्रधान बन जाता है, जबकि उपन्यास में भाग्यवाद का नाम नहीं रहता वहाँ सब-कुछ का आधार मानव-स्वभाव होता है और उसमें सब-कुछ साभिप्राय होता है, आवेश, जुर्म, मुसीबत तक भी।[१०२]

जीवनी के पात्र : एक पहेली—पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार और जीवनीकार के सामग्री संकलन और उसके प्रयोग में भी अंतर रहता है। अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रारम्भ करने के लिए उपन्यासकार को वस्तु-जगत के व्यक्तियों से केवल उतनी सामग्री लेनी होती है, जितनी से वह कल्पना की उडान ले सके। वस्तु-जगत के व्यक्तियों के सम्बन्ध में वह सब कुछ जानने का प्रयास नहीं करता। वह किसी व्यक्ति से उसका आकार लेता है और किसी से उसका प्रकार, किसी की क्रिया लेता है और किसी की प्रतिक्रिया, किसी का भाव लेता है और किसी का विकार और कल्पना की कूची से उनमें संकल्प और विकल्प, इच्छाओं और वासनाओं के रंग भर कर एक साकार और सजीव मूर्ति बना डालता है, जो सहज में ही पाठकों के हृदय-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। जीवनीकार का चरित्र-चित्रण का ढग इससे भिन्न होता है। वह अपने पात्रों की, जो वस्तु-जगत के व्यक्ति होते हैं, पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम करता है। उसके जीवन में घटित हुई प्रत्येक घटना को, उस घटना के दूसरों पर पडने वाले प्रभाव को और उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया को और न जाने किस-किस को संजोने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। वह अपने पात्रों का रेखा-प्रतिरेखा यथातथ्य चित्रण करना चाहता है, जिस विधि का पालन उपन्यास में चरित्र-चित्रण की विफलता का कारण बन जाता है।[१०३]

इस प्रकार जीवनीकार अपने पात्रों के व्यक्त रूप को, जिस अंश में वह ग्रहण

१०२. Allain, 'Systeme des Beaux', p. 314-315 :
"History, with its emphasis on external causes, is dominated by the notion of fatality, whereas there is no fatality in the novel; there everything is founded on human nature, and the dominating feeling is of an existence where everything is intentional, even passion and crimes, even misery." (Trans. by Forster)

१०३. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.

कर पाता है, उसी से उसके चरित्र के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश करता है और जो प्रत्यक्ष नही, परोक्ष में है, उसे अनुमान से जानना चाहता है। पर अनुमान तो अनुमान ही है। अनुमान के आधार पर की गई पात्रो के चरित्र की व्याख्या न तो सत्य सिद्ध होती है और न ही वह पाठको को प्रतीति करा सकने में सफल होती हैं। इसलिए इतना कठोर परिश्रम-साध्य होने पर भी जीवनी के पात्रो का चरित्र-चित्रण पाठको के हृदय-पटल पर इतनी गहरी छाप नही लगा पाता जितनी उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण, क्योंकि इतना प्रयत्न करने पर भी जीवनी के पात्रों की पूरी-पूरी व्याख्या नही हो पाती, वे किसी न किसी सीमा तक एक पहेली बने रहते हैं। उपन्यासो के पात्रो का गुप्त से गुप्त जीवन भी व्यक्त हो जाता है, या समय आने पर प्रकट हो जाता है, पर इतिहास और जीवनी के पात्रो का गुप्त जीवन व्यक्त नहीं हो पाता और वे एक पहेली बने रहते हैं।[१०४]

जीवनी में कार्य-कारण की परम्परा : शिथिल---क्योंकि उपन्यास में कुछ भी अकारण नहीं होता और पात्रों के चारित्रिक परिवर्तन उनके भीतरी कारणों के परिणामस्वरूप होते दिखाई देते हैं, इसलिए उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध रहता है। उसके पात्रो का प्रत्येक कार्य कुछ व्यक्त या अव्यक्त कारणों से सचालित होता रहता है। ये व्यक्त या अव्यक्त कारण ही उसके चरित्र के विकास, तथा विकास की दिशा और दशा पर नियत्रण रखते हैं, उसका लक्ष्य निर्धारित करते है और उसे धीरे-धीरे उस लक्ष्य की ओर लिए बढ़ते हे। पर जीवनी में ऐसा नहीं होता। वस्तु-जगत के व्यक्ति होने से उनका जीवन हमारे जीवन की भाँति ही चलता है। हमारे साथ प्राय. ऐसा कुछ घटित होता रहता है, जिसका कारण हम प्रयत्न करने पर भी नही जान पाते। हम कहाँ, क्यों और कैसे जा रहे हैं, यह हमारी समझ में आता ही नही। हमारे चरित्र का विकास किस दिशा में हो रहा है, इसका हमें कुछ पता नही रहता। जिस प्रकार हमारा जीवन और चरित्र असंयमित रहता है, उसी प्रकार जीवनी के पात्रो का भी। जीवनी के पात्र भी असंयमित रूप से बढ़ते जाते हैं, उनके चरित्र के विकास पर जीवनीकार का कोई काबू नही रहता, क्योंकि वह उनका जीवनकार नहीं, केवल जीवनीकार ही है। पर उपन्यास में ऐसा नहीं होता। उपन्यास के पात्रों के चारित्रिक विकास की प्रत्येक दिशा और दशा पूर्व व्यक्त कारणों के अनुकूल और स्वाभाविक होती है, साभिप्राय होती है और उपन्यास के पात्र जीवनी के पात्रों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित प्रतीत होते हैं।

जीवनी के सभी पात्र ठोस वस्तु-जगत के व्यक्ति होते हैं। इसलिए यहाँ

---

१०४. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 62 :

"Fictional characters are those whose secret lives are visible or might be visible, but people in history or biography are those whose secret lives are invisible."

वस्तु-जगत के व्यक्तियो और औपन्यासिक पात्रो के अन्तर को स्पष्ट कर देना अप्रासगिक न होगा।

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और उपन्यास-जगत के पात्रों मे अन्तर

आन्तरायिक (इन्टरमिट्टेन्ट) जीवन--औपन्यासिक पात्र सजीव और स्वाभाविक होते हुए भी वस्तु-जगत के व्यक्तियो से कई प्रकार से भिन्न होते है। वस्तु-जगत के व्यक्ति जब तक जीवित रहते हैं तब तक उन्हें लगातार इस जगत की रंगशाला के अगणित मंचो में से किसी न किसी पर खेलते ही रहना पड़ता है। वे जीविकोपार्जन के लिए दौड़-धूप कर रहे हो या स्वाध्यायरत हो, खेल के मैदान में उछल-कूद कर रहे हो या खाट पर लेटे सो रहे हो, उनका खेल थमता नहीं। उनकी जीवनव्यापी क्रिया रुकना नही जानती। बिना रुके उन्हें जीवनपर्यन्त जुटे रहना पडता है। पर उपन्यास जगत में केवल एक ही रगमच[१०५] रहता है, जिस पर किसी समय विशेष में केवल वही पात्र आते हैं जिनका प्रकट होना उस समय अत्यन्त आवश्यक होता है। निश्चित समय में अपना काम समाप्त करके वे पात्र मंच से उतर आते हैं और तब तक के लिए लुप्त रहते है, मरे रहते हैं, जब तक कि पुनः मंच पर उनकी आवश्यकता न पडे।

उपन्यास-जगत के पात्र जन्म लेते ही मच पर आ जायें और जीवनपर्यन्त उस पर डटे रहे, यह आवश्यक नही। उपन्यास के मच पर वे तब तक नही लाये जाते जब तक कि उपन्यास-जगत में उनकी आवश्यकता न पडे, भले ही उपन्यास में पहली बार प्रकट होने से पहले उन्हें अपने जीवन के पन्द्रह-बीस वर्ष किसी अज्ञात लोक में बिताने पडे। इसी प्रकार उपन्यास-जगत में जरूरत न रहने पर वे पुनः मच पर नही आते, उनके मरने में चाहे अभी बीस वर्ष पडे हो। परन्तु वस्तु-जगत के व्यक्तियो को जन्म से लेकर मृत्यु तक इसी जगत में रहना पड़ता है। इस जगत को उनकी जरूरत हो या न हो, उन्हे यहाँ पड़े ही रहना होता है।[१०६] इसी अन्तर को स्पष्ट करते हुए ई० एम० फार्स्टर ने सुन्दर व्यंग्योक्ति की है: उपन्यास में पात्रों का आगमन मनुष्यो की भाँति नही; पार्सलो की भाँति होता है। उपन्यास में जब कभी कोई बच्चा प्रकट होता है तो ऐसा लगता है मानो किसी ने उसे डाक द्वारा भेजा हो। 'डिलिवरी' मिलने के बाद एक ज्येष्ठ पात्र जाकर उसे उठा लाता है और पाठको को दिखा देता हे। तत्पश्चात् उसे तब तक के लिये 'कोल्ड स्टोरेज' में रख

---

१०५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 129.

१०६. Robert Liddell, 'A Treatise on the Novel', Jonathan Cape, London, 2nd imp. 1949, p. 91:

"...life enforces on us a continuous existence, whereas a character in a fiction does not exist except at such times when he appears on the scene."

दिया जाता है जब तक कि उपन्यास के कार्य में उसकी सहायता की पुन: आवश्यकता न पडे।[१०७]

कुतूहलोद्दीपक जीवन—हमारे अपने जीवन में दिन और महीने ही नही कई-कई वर्ष व्यर्थ बीत जाते हैं और हम कोई ऐसा कार्य नही कर पाते जो उल्लेखनीय या कुतूहलोद्दीपक हो, पर किसी पात्र को उपन्यास के मच पर प्रकट होने की तब तक अनुमति नही दी जाती जब तक कि यह निश्चय न हो जाये कि प्रकट होकर वह कोई विशेष कार्य करेगा। अन्यथा कार्य की एकता भंग हो जाने पर पात्र उपन्यास-जगत मे भटकते फिरेंगे और उसकी सारी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देंगे।

सोद्देश्य क्रिया-कलाप—जन्म और मरण के समय हमारी अनुभूति क्या होती है, इसका ज्ञान हमें अनुमान से या दूसरो से सुनी-सुनाई बातो के आधार पर होता है। हमें इन अनुभूतियो का ठीक-ठीक ज्ञान नही रहता, क्योकि इन अनुभूतियों के समय हमारी अभिव्यक्ति क्षीण हो गई होती है और जब तक हममें अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य आ पाती है तब तक हम उन्हें भूल चुके होते हैं। पर उपन्यासकार एक साथ स्रष्टा और कथाकार दोनों होने के कारण अपने पात्रों को वही अनुभूति करा सकता है, और कराता है, जो परिस्थिति विशेष में आवश्यक हो। आवश्यकतानुसार, उसका पात्र मृत्यु-शैय्या पर पडा अपने जीवनव्यापी कृत्यों पर रो सकता है या अपने विगत जीवन पर गर्व करता हुआ शान्ति-पूर्वक मर सकता है। इसी प्रकार पात्रों के जीवन-मरण का प्रयोग उपन्यास में कभी कथानक को बढ़ाने और कभी समेटने के लिए दिया जाता है पर वस्तु-जगत के किसी व्यक्ति के जन्म-मरण से वह जगत न तो सिमटता है और न फैलता है। मानव-जीवन में उसकी सीमा जन्म-मरण के अतिरिक्त आहार-निद्रा, भय, मैथुन भी उसकी महत्वपूर्ण यथार्थताएँ है। पर इन परिस्थितियों में वस्तु-जगत के व्यक्ति की अनुभूति और उपयोगिता से औपन्यासिक पात्रों की अनुभूति और उपयोगिता भिन्न होती है। उपन्यास के पात्रो का भोजन करना भूख मिटाने के लिए नही, किसी और प्रयोजन से होता है। भोजन करते समय वे किसी रमणी के सौन्दर्य-पाश में उलझ जाए या उसमें मिला हुआ विष खा जाएं। भोजन का सम्बन्ध उनके पेट से नहीं, उपन्यास के कथानक से होता है। उपन्यास में निद्रा का प्रयोग भी प्रायः पात्रों को विश्राम दिलाने के उद्देश्य से नहीं, अपितु उन्हें कोई स्वप्न दिखा कर उनके भविष्य की ओर सकेत करने या चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए होता है। उपन्यास में स्त्री पात्र और पुरुष पात्र का मेल सतानोत्पत्ति के लिए नहीं, उनका चरित्र-विकास दिखाने के लिए या किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या के लिए होता है। इसीलिए, 'सैक्स' समस्या पर औपन्यासिक पात्र जितने केन्द्रित रहते हैं, वस्तु-जगत के प्राणी उतने नही; पात्रों को मानो खाने-कमाने की न सुधि हो और न आवश्यकता।

---

१०७. Forster, 'Aspect of the Novel', p. 51.

नियमित जीवन—औपन्यासिक पात्रों का जीवन हमारे जीवन की अपेक्षा अधिक नियमित होता है। उनका विकास प्राय. किसी ऐसी प्रक्रिया से होता है जो सर्वसगत हो या आसानी से समझी जा सके। उनके भाव और विचार एक के बाद दूसरे किसी क्रम विशेष से विकसित होते चलते है। वे एकदम रोने नही लग जाते और न ही अकारण अट्टहास में फूट पड़ते हैं। वास्तव में, उनके जीवन में कुछ भी अकारण या अचानक नही होता। हमारी जीवन-नैया धारा के बहाव में उठती-गिरती निरन्तर बहती चलती है, वह उस धारा की दया पर है, उसका अपना कोई लक्ष्य नही। पर उपन्यास के पात्रो की जीवन-नैया का एक विशेष लक्ष्य रहता है, जिसकी ओर प्रत्यक्ष व परोक्ष में उसका चालन होता रहता है।

पात्र अज्ञेय नहीं—वस्तु-जगत का मानव एक पहेली है। इस संसार में कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि वह किसी दूसरे को पूर्ण रूप से जानता है। यदि कोई ऐसा दावा करता भी है तो वह थोथा सिद्ध हो जाता है, क्योकि ऐसा दावा करने वाला हमारा स्रष्टा नही होता—स्रष्टा ही अपनी सृष्टि को पूर्णरूपेण जाना करता है—और जो हमारा स्रष्टा है, वह मौन है, उसने उसे बताया नही, तो फिर वह व्यक्ति पूर्ण ज्ञाता बना कैसे ? इसी लिए हम अपने निकटतम सम्बन्धियो के लिए—यहाँ तक कि अपने लिए भी—एक पहेली बने रहते है। परन्तु उपन्यास के पात्र पहेली नही बने रहते। पाठकों पर उनका सारा रहस्य खुल जाता है, क्योकि उपन्यासकार जो उन पात्रों का स्रष्टा है, उनकी नस-नस से परिचित है वही कथा-कार (नैरेटर) बन कर उनका रहस्योद्घाटन करने लग जाता है। स्रष्टा और वक्ता दोनो का उपन्यासकार में एकीकरण हो जाने से उपन्यास के पात्र पाठकों के लिए अज्ञेय नही बने रहते। उनके जीवन का प्रत्येक मोड़ और उसके कारण समझे जा सकते हैं। स्थानाभाव के कारण उपन्यासकार अपने पात्रों के सम्बन्ध में सब कुछ न भी बता पाए तो भी वह पाठको को यह विश्वास दिला देता है कि उसके पात्र और उनके विकास की प्रत्येक दिशा ज्ञेय है, उनके बारे में अज्ञेय कुछ नही।[१०८]

---

१०८. Forstor, 'Aspects of the Novel', p.61.

(ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप

पात्र

औपन्यासिक पात्र—वस्तुजगत के व्यक्तियों और औपन्यासिक पात्रों में सम्बन्ध—पात्र चयन : संख्या और परिधि ।

पात्रों के भेदोपभेद

कथानक की दृष्टि से

प्रधान पात्र—गौण पात्र

प्रधान पात्रों के भेद : नायक-नायिका—प्रतिनायक-प्रतिनायिका—पताका-नायक पताका-नायिका—विदूषक ।

गौण पात्र—गौण पात्रों की उपादेयता—कथानक को गति देना—वातावरण की सृष्टि करना—वातावरण में परिवर्तन लाना—अन्य पात्रों का चरित्र-प्रकाशन ।

चरित्र-विकास की दृष्टि से

स्थिर (स्टेटिक)

विकसनशील (किनेटिक) पात्र

औपन्यासिक पात्र

उपन्यास के पात्रों की परिभाषा करते हुए फॉस्र्टर लिखता है : आत्माभिव्यक्ति करता हुआ उपन्यासकार कुछ एक शब्द मूर्तियाँ गढ़ डालता है ; फिर उनके साथ नाम और लिंग जोड़ता है, उन्हें अनुभाव प्रदान करता है, उनसे उद्धरण-चिन्हों में बात-चीत करवाता है और कदाचित् उनसे एकसार व्यवहार भी करवाता है— ये शब्द मूर्तियाँ ही उपन्यास के पात्र हैं।[११२] यहाँ फॉस्र्टर पात्रों को उपन्यास के कथानक से अलग करके देखता हुआ प्रतीत होता है। उपन्यास के पात्र सजीव शब्द-मूर्तियाँ तो होते हैं, पर ऐसी शब्द-मूर्तियाँ नही जो स्वतन्त्र और निरपेक्ष हों। उन सब में एकसूत्रता होती है और वह एकसूत्रता है कथानक की।

कथानक उपन्यास का एक अनिवार्य तत्व है जो एकसूत्र में पिरोई हुई विभिन्न घटनाओ की माला है। पर वह घटना क्या जो किसी प्राणी के साथ न घटी हो। यद्यपि वस्तु-जगत में ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती हैं, जिनका उस जगत के प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, जिनकी उन्हें जानकारी तक नही होती, फिर भी उपन्यास-जगत में ऐसी कोई घटना घटित नही हो सकती, जिसका उस जगत के किसी प्राणी से किसी प्रकार का, प्रत्यक्ष वा परोक्ष, सम्बन्ध न हो। जिनके साथ औपन्यासिक घटनाएँ घटित होती हैं अथवा प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से सम्बन्धित होती हैं, जो उनसे विकास पाते हैं तथा उन्हें विकास देते है, वे प्राणी मनुष्य हों या मनुष्येतर, उपन्यास के पात्र कहलाते हैं। जब कभी मनुष्येतर प्राणी, पशु-पक्षी आदि, उपन्यास में आकर उसके कथानक को आगे बढ़ाते हैं या किसी अन्य पात्र के चरित्र का कोई अंग प्रकाश में लाने का साधन बनते हैं, तो वे घोड़े या कुत्ते के रूप में होते हुए भी मनुष्य के समान संवेदनशील होते हैं, मानो कोई गूँगा और बहरा मनुष्य पात्र हो।

---

११२. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 44.

"The novelist......makes up a number of words-masses roughly describing himself ... .gives them names and sex assigns them plausible gestures and causes them to speak by the use of inverted commas, and perhaps to behave consistently. These word-masses are his characters."

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और औपन्यासिक पात्रों में सम्बन्ध

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और उपन्यास के पात्रों में अन्तर होते हुए भी यह कहना अनुचित होगा कि औपन्यासिक पात्र कोरे कल्पित होते हैं। कोई भी पात्र पूर्णरूपेण कल्पित नहीं हो सकता; उसका आधार किसी न किसी रूप तथा अंश में वस्तु-जगत का कोई एक या अनेक व्यक्ति होते हैं। यह तो हो सकता है कि किसी पात्र का आधार कोई जीवित व्यक्ति न होकर किसी अन्य रचना का कोई पात्र हो, पर अन्ततः उस प्रेरक पात्र का आधार वस्तु-जगत का कोई एक या अनेक व्यक्ति अवश्य रहे होंगे। उपन्यास मानव-जीवन का चित्र है। उसके अस्तित्व का कारण यह है कि वह मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तु-जगत के मानव के जिस जीवन की व्याख्या करने के लिए उपन्यास में पात्रों की अवतारणा होती है, उससे पात्रों का तनिक भी सम्बन्ध न हो, यह कैसे हो सकता है? पर, हाँ कोई पात्र किसी जीवित व्यक्ति की हूबहू नकल करे, यह आवश्यक नही। शायद ही कोई पात्र किसी जीवित व्यक्ति का यथातथ्य रूप होता होगा।

प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के लिए—अपने लिये भी तो—अज्ञेय बना रहता है। उपन्यासकार मनुष्य ही तो है। वह उस जीवित व्यक्ति को, जो उसके पात्र का आधार है, कभी पूर्णरूपेण जान सका होगा, यह असम्भव है। जब तक मूल व्यक्ति उपन्यासकार के लिए पूर्णतया ज्ञेय न हो, तब तक उपन्यासकार उसकी यथार्थ प्रतिकृति बना सकने का दावा कैसे कर सकता है? यह उसकी नहीं, मनुष्यमात्र की सीमा है। जब भी कभी किसी उपन्यासकार ने अपने पात्र के रूप में किसी जीवित व्यक्ति की यथातथ्य प्रतिकृति बनाने का प्रयत्न किया, वह अपने इस प्रयास में तो असफल हुआ ही, अपने उपन्यास को भी असफल बना बैठा। हमें लेसिंग के इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति प्रतीत नही होती कि पात्रों के सजीव चित्रण का सबसे कम सफलतादायक उपाय यह है कि उनके रूप में किसी जीवित व्यक्ति का यथावत् रेखा-प्रतिरेखा चित्रण किया जाए।[११३] औपन्यासिक पात्र वस्तु-जगत के व्यक्तियों द्वारा प्रेरित तो होता है, पर उनकी पूरी नकल नहीं होता। उपन्यासकार एक या अनेक जीवित व्यक्तियों से उनका, उनके आकार-प्रकार, गुणावगुण, स्वभाव आदि का, वही कुछ लेता है जिसकी उसे आवश्यकता होती है। अपने नित्य-प्रति के जीवन में सम्पर्क में आने वाले या पूर्व-परिचित व्यक्तियों में से वह किसी का मुख ले लेता है और किसी का शरीर; किसी का स्वास्थ्य ले लेता है और किसी का स्वभाव; किसी के गुण ले लेता है और किसी के अवगुण। उन सब को जोड़कर वह एक पात्र रच डालता है जिसे कल्पना की कूँची से, थोड़ा इधर से और थोड़ा उधर से, छूकर सजीवता प्रदान

११३. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.
"It will be found that, as a rule, a set and formal description, given item by item, is (as Lessing showed in 'Lookoon') one of the least successful ways of making a character live before us."

कर देता है। उसका पात्र सभी से कुछ-न-कुछ ले लेता है, पर अपने को ऋणी किसी का नही मानता।[११४]

पात्र-चयन : संख्या और परिधि

कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही इतने अधिक बहिर्मुख तथा सामाजिक होते हैं कि एक बार कोई उनके सम्पर्क में आया कि उससे उनके सम्बन्ध बन गये। ऐसे व्यक्तियों का परिचय-क्षेत्र बहुत व्यापक होता है; पर एक साथ अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हुए भी कुछ-एक के प्रति उनका विशेष रुझान होता है। समाज के किसी सदस्य से मिलने-जुलने पर संकोच न रखते हुए भी कुछ-एक से मिलने पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है और उनके साथ उठने-बैठने, आने-जाने, बोलने-चलने में वे अपने आपको अधिक प्रकृतिस्थ पाते हैं। दूसरी प्रकार के व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनका परिचय-क्षेत्र बहुत सीमित होता है, जो अनेक बार सम्पर्क में आने पर भी दूसरों से घुल-मिल नही पाते; जिन्हें मित्र बनने और बनाने में देर लगती है। उनके मित्रों की संख्या कम होती है, पर वे जितने भी हों होंगे घनिष्ठ ही।

यही बात उपन्यासकारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कई उपन्यासकारों का परिचय इतना व्यापक है और अनुभूति इतनी तीव्र कि उनके घनिष्ठ परिचय वाले तो दूर, एक बार भी जो उनके सम्पर्क में आया वह उनके उपन्यासों की पकड़ के बाहर न जा सका। इसके विपरीत कई उपन्यासकार अपने पात्र एक सीमित घेरे में से चुनते हैं, पर एक बार वे जिस क्षेत्र को अपना लेते हैं, उसका कोना-कोना छान मारते हैं। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द को लें। उनका चुनाव-क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसान और जमींदार, मजदूर और मिल-मालिक, क्लर्क और अफसर, चाण्डाल और पण्डित, वकील और प्रोफेसर से लेकर वेश्या और पतिव्रता, विधवा और सधवा, माता और विमाता तक समाज के सम्पर्क में आने वाले प्रायः सब प्रकार के लोग उनके उपन्यासों में मिल जाते हैं। दूसरी ओर जैनेन्द्र है जिन्होने अपने उपन्यासों के पात्र प्रायः बुद्धिजीवी मध्यवर्ग से ही चुने हैं।

व्यापक-क्षेत्र अपनाने वाले उपन्यासकारों की रुचि सब प्रकार के पात्रों के चित्रण में एक-सी रहती हो अथवा उनका चरित्र-चित्रण वे एक-सी तन्मयता तथा सफलता से कर पाते हों, यह बात नहीं। उन सब की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। भरसक प्रयत्न करने पर भी कई प्रकार के पात्रों का चित्रण वे उनके सहज स्वाभाविक रूप में नही कर सकते, पर कुछ-एक प्रकार के पात्रो के चित्रण में वे इतने सिद्धहस्त होते है कि अनायास ही वे पात्र उपन्यास के शुष्क पन्नों से उभरकर

११४. Robert Liddell, 'Treatise on the Novel', p. 98.
"Of course, there must be beginning to every conception, but so much change seems to take place in it at once, that almost anything come to save the purpose—a face of a stranger, a face in a portrait, almost a face in the fire." Miss Compton Burnet.

पाठकों के कल्पना-लोक में साकार होकर नाच उठते हैं। ऐसे पात्रों को छूते ही उनकी लेखनी चमत्कृत हो जाती है। समाज के विविध प्रकार के व्यक्तियों के जीवन और उनकी दैनिक समस्याओं में रुचि रखने पर भी, यह मानना पड़ेगा, प्रेमचन्द की प्रतिभा अपने पूर्ण यौवन में तभी निखरती है जब वह निम्नमध्यवर्ग अथवा कृषक वर्ग का चित्रण करते हैं। उनके अमर पात्र इन्हीं दो वर्गों में से लिए गये हैं।[११५] पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे अपने एक पत्र में उन्होने इस बात को स्वय स्वीकार किया है : 'किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया। उग्र ने किया, मगर बहक गये। मैने कृषक समाज को लिया मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं, जिन पर रोशनी की जरूरत है।'[११६] शिक्षित नागरिकों के चित्रण में प्रेमचन्द कभी उतने सफल न हो पाये जितने अशिक्षित ग्रामीणों के चित्रण में। नगर के पढे-लिखे पात्रों को जब कभी उन्होंने छूआ वे उनके प्रति न्याय नहीं कर सके। उसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के प्रधान पात्र मध्यकालीन इतिहास से सम्बन्धित शिक्षित नागरिक ही है।[११७] उसमें भी उनकी अमर कृतियाँ हैं—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे चित्रित उनकी नायिकाएँ। उग्र समाज द्वारा प्रताड़ित तथा बहिष्कृत, समाज के विधिनिषेधो के प्रति उदासीन, व्यक्तियो के चरित्राकन में ही मस्त रहे। जैनेन्द्र की कला का चमत्कार भी उनकी नायिकाओं के सूक्ष्म मनोविश्लेषण में मिलता है। यशपाल की दृष्टि यदि शोषित नर-नारियो पर टिकी है तो अज्ञेय की असाधारण और अहंवादी व्यक्तियों पर।

इस प्रकार देखते हैं कि उपन्यासकार के चुनाव-क्षेत्र की व्यापकता, उसके उपन्यासों में पात्रों की विविधता और उनके चित्रण में उसकी तन्मयता से प्रायः उसकी रुचि की व्यापकता, उसकी अनुभूति की गहनता और उसकी चरित्र-चित्रण कला की सामर्थ्य का पता चल जाता है।

पात्रों के भेदोपभेद

कथानक की दृष्टि से

उपन्यास के कथानक से उनके सम्बन्ध की घनिष्ठता के आधार पर पात्रों के दो भेद किए जा सकते हैं : १. प्रधान पात्र तथा २. गौण पात्र। प्रधान पात्र वे होते हैं, जिनके भाग्य से तथा चरित्र के विकास से उपन्यास का कथानक मुख्य रूप

११५. इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ ४।

११६. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को प्रेमचन्द का लिखा हुआ ३ जून, १९३० का एक पत्र ('नई धारा' में प्रकाशित)।

११७. डा० रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला, "विचार दर्शन", पृष्ठ ६६ :

"प्रेमचन्द की तरह वर्मा जी भी एक आदर्श लेकर चले हैं। अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने यह आदर्श अशिक्षित ग्रामीणों के जीवन से विकीर्णित किया है और वर्मा जी ने शिक्षित किन्तु ऐतिहासिक नागरिकों से।"

से बँधा रहता है, जो कथानक को गति देते रहते हैं तथा उससे विकास पाते रहते हैं। जिन पात्रों से उपन्यास की कथा मुख्य रूप से सम्बन्धित नही होती तथा जिनका समावेश साधन के रूप में होता है, वे गौण पात्र कहलाते हैं। गौण पात्र कथानक को बढ़ावा देने, प्रधान पात्रो के चरित्र को प्रकाश में लाने, उन पर टीका-टिप्पणी करने इत्यादि के लिए रखे जाते हैं। उनका औपन्यासिक जीवन उनके लिए नही दूसरों के लिए होता है, पर उनका यह आत्मोत्सर्ग अपनी इच्छा से नहीं, उपन्यासकार की आवश्यकता-पूर्ति के लिए होता है।

प्रधान पात्रों के भेद

कथानक की दृष्टि से प्रधान पात्रों के साधारणतया चार भेद किए जाते हैं: १. नायक-नायिका, २. प्रतिनायक-प्रतिनायिका, ३. पताका नायक-पताका नायिका, तथा ४. विदूषक।

नायक—विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में नायक के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :

त्यागी कृति कुलीन. सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥[११८]

यद्यपि आज उपन्यास के नायक में उपर्युक्त सभी गुणों का होना अनिवार्य नहीं समझा जाता, तो भी उसका 'नेता' होना अनिवार्य-सा ही है। 'नायक' अथवा 'नेता' शब्द सस्कृत के 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—'ले जाना'। पुरुष पात्रों में सर्वप्रधान पात्र जो प्रारम्भ से लेकर अंत तक उपन्यास को—और उसके साथ ही पाठको के ध्यान को—अपने लक्ष्य की ओर लिए बढ़ता है, जिसका लक्ष्य ही उपन्यास का लक्ष्य होता है, जिसको केन्द्र मानकर उपन्यास—और उसके सभी तत्व—घूमते हैं, सुखान्त उपन्यास में जो फल का उपभोक्ता होता है और दु:खान्त उपन्यास में जिसके प्रति सबसे अधिक सहानुभूति उमड़ पडती है, वही उपन्यास का नायक होता है।

नायक के भेद—नाटक का विवेचन करते हुए सस्कृत के आचार्यों ने शील और शक्ति के आधार पर नायक के चार भेद किए हैं—१. धीरोदात्त २. धीरोद्धत ३. धीरललित, तथा ४. धीरप्रशान्त।[११९] और फिर इनमें से प्रत्येक की चार-चार श्रेणियाँ की हैं—(१) दक्षिण, (२) धृष्ठ, (३) शठ, और (४) अनुकूल।[१२०]

आज जब नाटक के लिए भी इस प्रकार का वर्गीकरण मान्य नही, उपन्यासों के नायको को—विशेषत: मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के नायकों को—इस प्रकार वर्गो में बाँटना तो और भी अस्वाभाविक प्रतीत होगा, क्योंकि उनके पात्र निरंतर विकास-

---

११८. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, ६६वाँ श्लोक।
११९. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण' तृतीय परिच्छेद, ६७वाँ श्लोक।
१२०. वही, ७३वाँ श्लोक।

मान रहते हैं और उनका चरित्र नवीन दिशाएँ ग्रहण करता रहता है, जब कि इस वर्गीकरण की नीव में ही यह भाव निहित है कि मानव का विकास कुछ-एक नपी-तुली दिशाओं में ही हो सकता है। और फिर, यह भी तो विचारणीय हो सकता है कि क्या एक ही व्यक्ति विभिन्न देश, काल और परिस्थितियो में उपर्युक्त सब दिशाएँ नही ग्रहण कर सकता? किसी मनुष्य में न तो गुण ही गुण होते हैं और न दोप ही दोप। मनुष्य गुणावगुणो का विकास स्थल है, इस तथ्य के प्रति उपर्युक्त वर्गीकरण उदासीन है।

नायिका—नायिका के लगभग वही लक्षण हैं, जो नायक के। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ नायक सर्वप्रधान पुरुप पात्र होता है वहाँ नायिका सर्वप्रधाना स्त्री पात्र। सामान्यत. उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है, पर ऐसा होना अनिवार्य नहीं। प्रत्येक उपन्यास में नायक और नायिका दोनों का होना अनिवार्य हो, यह भी नही। किसी उपन्यास में नायक और नायिका दोनों भी हो सकते है और केवल नायक या केवल नायिका भी। 'रंगभूमि' में नायक ही है, नायिका नहीं। 'झाँसी की रानी', 'त्याग-पत्र', 'दिव्या' आदि में नायिका ही है, नायक नही। नायक-प्रधान उपन्यास के नायक की पत्नी का नायिका होना अनिवार्य नही, और न ही नायिका-प्रधान उपन्यास की नायिका के पति का नायक होना। 'गोदान' के नायक होरी की पत्नी धनिया को नायिका नहीं कहा जा सकता, और न ही 'निर्मला', 'तितली', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों की नायिकायों के पतियो को नायक। हाँ, यह आवश्यक है कि जिस उपन्यास में नायक तथा नायिका दोनों हो, वहाँ उनमें लक्ष्य की एकता हो।

संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में नायिका का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है। उनमें नायिकाओं के अनेक भेदोपभेद मिलते हैं, पर उन्हें यहाँ देना आवश्यक नहीं, क्योंकि उपन्यास में नायिकाओं का विकास किसी प्रकार की सीमाओं में बँधकर नहीं हुआ है।

प्रतिनायक-प्रतिनायिका—नायक की लक्ष्य-प्राप्ति में सबसे अधिक बाधा उपस्थित करने वाले पुरुष पात्र को प्रतिनायक और नायिका के मार्ग में सबसे अधिक प्रतिरोध करने वाले स्त्री पात्र को प्रतिनायिका कहते हैं। प्रतिनायक के लक्षण देते हुए विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में लिखा है कि वह धीरोद्धत, पापाशय तथा व्यसनी होता है।[१२१] उन्होंने प्रतिनायक में धीरोद्धत नायक के सभी गुण—कपटता, प्रचण्डता, चंचलता, अहकार, आत्मगौरव, आत्मश्लाघा[१२२]—तो माने ही हैं और उनके अतिरिक्त[१२३] उसका पापी और व्यसनी होना भी माना है। इस प्रकार, धीरोद्धत

१२१. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, १६३वां श्लोक।

१२२. वही, ६९वां श्लोक।

१२३. वही, १७७ के फुटनोट्स में की गई १६३वें श्लोक की टीका :

(छ) प्रतिनायकमाह, धीरोद्धत इति। धीरोद्धत :—

'मायापरः इत्यादीनां नायक लक्षणे प्रागुक्तः।'

नायक और प्रतिनायक में बडा सूक्ष्म अन्तर रह जाता है कि धीरोद्धत नायक में इतने अवगुण होते हुए भी उसकी प्रवृत्ति पाप की ओर नहीं होती पर प्रतिनायक अथवा प्रतिनायिका स्वार्थसिद्धि के लिए सत्य और असत्य के तथा पाप और पुण्य के भेद को मिटा देते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रकार के नायक में धीरता[124] का होना अनिवार्य समझा गया है, उसी प्रकार प्रतिनायक में भी धैर्य और दृढता का होना आवश्यक माना गया है। प्रतिनायक नायक की टक्कर का पात्र होता है। शक्ति और साधनों में वह नायक से न्यून नही पड़ता, बल्कि विरोधमूलक दृढता और षड्यन्त्रकारिता में नायक को मात देने में समर्थ होता हैं। एक बार तो वह अपने प्रयत्नों में लगभग सफल हो गया होता है कि अचानक उसकी पोल खुल जाती है और उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। नायक के चरित्र विकास में प्रतिनायक का विशेष हाथ होता है। नायक के मार्ग में वह जितना सबल अवरोध खड़ा करता है, उसे पार करने में नायक को उतना ही अधिक संघर्ष करना पड़ता है। नायक को जितना अधिक संघर्ष करना पड़ेगा, उतना अधिक उसका चरित्र निखरेगा। यही बात प्रतिनायका के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

पताकानायक-पताकानायिका—पताकानायक को पीठमर्द भी कहते हैं क्योंकि यह नायक की पीठ ठोंकता रहता है और उसके अनुकूल वातावरण बनाने में लगा रहता है। यह प्रायः प्रासगिक कथा का नायक होता है, नायक की सी प्रकृति वाला पर गुणों में उससे कम।[125] इसका अपना कोई स्वतन्त्र लक्ष्य नही होता। यह नायक के ही कार्य-व्यापार में योग देता रहता है और उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक बनता है।

विदूषक—उपन्यास में, आधुनिक उपन्यास में विशेषत, प्रायः कोरे विषदूक पात्र नही मिलते। जहाँ कही भी इनका समावेश हुआ है, अन्य साधारण पात्रों की भाँति साधन के रूप में ही हुआ है। ऐसे पात्र उपन्यास को केवल नीरस होने से ही नहीं बचाते बल्कि अपने तीक्ष्ण व्यंगों द्वारा अन्य पात्रों पर टीका-टिप्पणी करने, नायक-नायिका की उद्देश्य पूर्ति में परोक्ष रूप से योग देने, समय-समय पर कथानक के टूटे हुए अंशो को मिलाने आदि का काम भी करते रहते है। उपन्यास में इनकी स्थिति गौण पात्रों से भिन्न नही कही जा सकती।

गौण पात्र

आधिकारिक कथा से नायक-नायिका, पताका नायक-पताकानायिका, प्रति-नायक-प्रतिनायिका की अपेक्षा कम सम्वन्ध रखने वाले पात्रों को गौण-पात्र कहा कहा जाता है।

---

१२४. वही, 'धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त।'

१२५. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, ७८वाँ श्लोक।

गौण पात्रों की उपादेयता

उपन्यास में गौण पात्रों का स्थान चाहे प्रधान न हो, पर उपन्यास के लिए उनकी उपादेयता किसी प्रकार भी कम नहीं मानी जा सकती। अवसर विशेष पर, जिनके लिए इनका समावेश किया जाता है, इनका महत्त्व और प्रभाव नायक इत्यादि प्रमुख पात्रों से किसी प्रकार कम नही होता। इनमें और प्रधान पात्रों में अन्तर यह है कि उपन्यास के कथानक का इनके जीवन से सीधा सम्बन्ध नही होता और न ही ये उपन्यास-जगत् के स्थायी सदस्य बन पाते हैं। उपन्यास में इनका समावेश किसी कार्य-विशेष के लिए होता है जिसे समाप्त करके ये चुपके से बाहर सरक जाते हैं, पाठकों को उनके निकलने का पता नही चलता।

उपन्यास में गौण पात्रों का समावेश प्रायः निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर होता है—

(क) **कथानक को गति देना**—कई बार गौण पात्रों का समावेश किसी नवीन घटना को घटित करके या किसी पूर्व घटित घटना की सूचना देकर कथानक को आगे बढ़ाने के लिए किया जाता है। 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने एक अत्यन्त गौण पात्र बदमाश से समूचे कथानक को गति देने का काम बडे सुन्दर ढग से लिया है। निर्मला के पिता उदयभानुलाल उसकी माँ कल्याणी से झगडकर आधी रात के समय लपकते हुए गंगा की ओर चले, इस विचार से कि वहाँ जाकर नदी किनारे अपने कपड़े छोड़ दूँ और घर नहीं लौटूँ, जिससे यह भ्रम फैल जाय कि मैं डूब गया और कल्याणी खूब पछताए। रास्ते में उन्हें अचानक एक बदमाश मिल गया जिसे उन्होंने तीन साल पहले सजा दिलाई थी, बदमाश ने बदला लेने का ठीक मौका जानकर लाठी के एक ही प्रहार से उनकी कपाल-क्रिया कर दी और स्वयं भाग गया। उसके बाद उपन्यास भर में उस बदमाश के पुनः दर्शन नहीं होते, पर उसके एक ही काम----उदयभानुलाल की हत्या—ने निर्मला को 'निर्मला' बना दिया।

(ख) **वातावरण में परिवर्तन लाना**---जब कभी उपन्यास के किसी स्थल-विशेष पर वातावरण इतना गम्भीर और अवसादपूर्ण हो उठे कि पाठकों का दिल बैठने लगे या कोई दो या अधिक पात्र किसी दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने में स्वयं इतने उलझ जायँ कि पाठक ऊबने लगे तब उपन्यासकार किसी ऐसे पात्र को प्रकट कर देता है जो जो वातावरण की गर्मी, अवसाद या गम्भीरता को कम करके उसे रोचक बना दे।

'निर्मला' में मोटेराम शास्त्री का प्रयोग पाठकों का मनोरंजन करके निर्मला की पहली मगनी छूट जाने के अवसाद को कम करने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलों के लिए विदूषक के रूप में हुआ है। इसी प्रकार अश्क ने 'गर्म राख' में नायक जगमोहन के मन को दूसरी ओर लगाने के लिए कवि चातक और शुक्ला का प्रयोग किया है।

(ग) वातावरण की सृष्टि करना—कई बार उपन्यासकार को किसी स्थान पर केवल वातावरण की सृष्टि के लिए ही अनेक पात्रों का जमघट इकट्ठा करना पड़ जाता है। उस समय उन पात्रों का व्यक्तिगत रूप में कोई काम नही होता, उन्हें सामूहिक रूप में प्रकट होकर वातावरण का निर्माण ही करना होता है। उदाहरणार्थ, 'मृगनयनी' में जब राजा मानसिह शिकार खेलने मृगनयनी के गॉव पहुँचते हैं उस समय उपन्यासकार गॉव भर के नर-नारियों को उपन्यास के पात्र बनाकर उनसे राजा-रानी की आरती उतरवाता है। इसी प्रकार उनके शिकार खेलने के समय हँकारों इत्यादि को इकट्ठा कर लेता है।

(ग) अन्य पात्रों का चरित्र-प्रकाशन—गौण पात्रो का प्रयोग बहुधा प्रधान पात्रों के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिए होता है। 'मृगनयनी' में मजदूर परिवार का समावेश राजा मानसिह की प्रजावत्सलता दिखाने के लिए किया गया है। वह रात में वेश बदलकर देखा करता था कि उसके राज्य में कोई दुःखी तो नही। 'शेखर : एक जीवनी' में प्रायः सभी पात्रो का प्रयोग नायक शेखर का क्रमिक विकास दिखाने के लिए हुआ है। केवल शशि को अपवाद माना जा सकता है, क्योंकि उसके अपने विकास-तन्तु भी उपन्यास में यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं।

पत्रों के भेद : चरित्र-विकास की दृष्टि से

चरित्र के विकास की दृष्टि से उपन्यास में प्रायः दो प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते है। एक वे जिन पर उनके आस-पास के वातावरण का कोई प्रभाव नही पड़ता और प्रारम्भ से लेकर अत तक उनके चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं दीखता। ऐसे पात्र स्वयं नही बदलते, मानों वे आरम्भ से ही अपने आप में पूर्ण हों; केवल बदलता है उनके सम्बन्ध में पाठकों का ज्ञान।[१२६] इन्हें स्थिर (स्टैटिक पात्र) कहते हैं। दूसरे पात्र ऐसे होते हैं जिन पर उनके परिपार्श्व का प्रभाव पड़ता है और कथानक के विकास के साथ-साथ जिनके चरित्र का भी विकास होता रहता है। ऐसे पात्रो को विकसनशील (किनेटिक) पात्र कहते हैं। कुछ-एक पात्र ऐसे भी होते हैं जो हमारे सामने अपने अतिरंजित रूप में आते हैं, और उनके किन्ही विशेष चिन्हों या हाव-भावो के आधार पर हम उन्हे झट पहचान लेते है—जिस प्रकार किन्ही विख्यात व्यक्तियों को उनके कार्टून देखकर—और उनके प्रति हमारा व्यंग्य भाव जाग उठता है। ऐसे पात्रों को व्यग्य-चरित्र (कैरिकेचर) कहते हैं। वास्तव में, ये पात्र स्थिर पात्रों का ही एक भेद है।

स्थिर (स्टैटिक) पात्र—स्थिर पात्र प्रायः व्यक्ति नहीं, प्रकार (टाईप) होते

१२६. Edwin Muir, 'The Structure of the Novel', Hogarth Press, 6th imp, 1949, London, p. 24-25:

"Their (of flat characters) weaknesses, their vanities, their foibles, they possess from the beginning and never lose to the end; and what actually does change is not those, but our knowledge of them."

हैं—किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि। उपन्यासकार उनमें उनके वर्ग की कुछ उभरी हुई विशेषताएँ भर देता है, पर कथानक के विकास के साथ-साथ उन पात्रो की उन विशेषताओं का विकास नही करता। अपने परिपार्श्व के प्रति उनका जो दृष्टिकोण उपन्यास के आरम्भ में बन जाता है, वह किसी प्रकार भी विकसित नही होता और कथानक के अंत तक वैसा ही रहता है। प्रथम से अतिम भेंट तक वे पात्र स्थिर रहते हैं, बदलते नही, बदलती है उनके बारे में केवल पाठकों की जानकारी। उपन्यासकार ऐसे पात्रो के सब गुण-दोषों का, उनके स्वभाव की सभी विशेषताओं का एकदम, उद्घाटन नही करता ; क्योंकि उनके बारे में सब कुछ जान लेने के पश्चात् उनके प्रति पाठकों की उत्सुकता नहीं रह पाती। उनके प्रति पाठकों की रुचि बनाए रखने और उत्सुकता बढाते चलने के लिए वह उनकी विशिष्टताओं को एक-एक करके प्रकाश में लाता है। कथानक के विकास के साथ-साथ उपन्यास के अन्य पात्रों से—और पाठकों से भी—ज्यों-ज्यों उन पात्रों का परिचय बढता जाता है, त्यों-त्यों वे अधिक खुलते जाते हैं। पर उनके स्वभाव तथा चरित्र के जो-जो गुणावगुण प्रकट होते जाते हैं, वे उत्तरोत्तर स्पष्ट तो होते जाते हैं, पर बदलते नहीं। उपन्यासकार पहले से ही उनकी रूपरेखा इतनी पक्की और स्पष्ट बना लेता है, उनकी रुचि और अरुचि, प्रेम और घृणा, प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषयों को ऐसा निश्चित कर देता है कि उन पूर्व-निर्धारित सीमाओं को तोड़ने का प्रश्न उनके लिए उठता ही नहीं।

स्थिर पात्रों के रूप में प्राय: कोई-एक भाव या गुण ही मुख्य रूप से मूर्तिमान होता है। उनके चरित्र के रूप में उस भाव या गुण की ही धीरे-धीरे व्याख्या तथा खण्डन एवं मण्डन होता रहता है।[१२७] अंत में वे भाव या गुण ही उनका जीवन-दर्शन बन जाते हैं—ऐसा जीवन-दर्शन जो प्रारम्भ से ही निरपेक्ष होता है और जो परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता रहता है। इसलिए ऐसे पात्रों की जीवन-रेखाएँ इतनी स्पष्ट होती हैं कि एक या कुछ एक वाक्यों में उनका पूर्णतया वर्णन किया जा सकता है।

एक तो स्थिर पात्रों का प्रथम परिचय कराते समय उपन्यासकार उनकी आधारभूत असाधारण प्रवृत्तियों तथा स्वभाव के गुण-दोषों पर बल दे देता है; और फिर जब उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से भी वही भाव ध्वनित होने लगता है तो पाठकों के लिए उन पात्रों को पहचानना तनिक भी कठिन नहीं रहता। उनके स्वभाव के रुझान से परिचित होने के कारण विभिन्न परिस्थितियों में उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के बारे में अनुमान भी लगाया जा सकता है। अपनी बोधगम्यता और

---

१२७. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 65 :

"In their (of flat characters) purest form, they are constructed round a single idea or quality : when there is more than one factor in them, we get the beginning of the curve towards the round."

स्थिरचित्तता के कारण ये पात्र पाठकों के हृदय-पटल पर ऐसी अमिट छाप लगा जाते हैं कि उनकी स्मृति सदा बनी रहती है, भले ही उनके जीवन की अन्य घटनाएँ भूल जाएँ।

विक्सनशील (किनेटिक) पात्र—वे पात्र जो अपने परिपार्श्व से, अपने आस-पास के वातावरण से, अप्रभावित न रहते हुए कथानक के साथ-साथ विकसित होते रहते हैं, विक्सनशील पात्र कहलाते हैं। स्थिर पात्रों की तरह ये पात्र आरम्भ से ही पूर्ण नहीं होते और न ही इनकी कोई पूर्व-निर्धारित सीमाएँ होती हैं। उनके विकास की भी कोई अवस्था स्थिर और अन्तिम नही कही जा सकती। ये निरन्तर विकसित होते रहते है। स्थिर पात्रों की परिस्थितियाँ, उनका परिपार्श्व, तो बदलता रहता है, वे स्वय नहीं बदलते, पर विक्सनशील पात्रो की परिस्थितिया चाहे न बदलें, एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही उनका विकास होता रहता है।

उपन्यासकार ऐसे पात्रों को उनके जीवन की मार्मिकतम अवस्था की ओर निरन्तर लिए बढ़ता है और विभिन्न देश, काल और परिस्थितियों के कारण उनके चरित्र में होने वाले परिवर्तनों को प्रकाश में लाकर उनके आन्तरिक कारणों पर प्रकाश डालता जाता है। कई बार तो इस प्रकार के एक ही पात्र को लेकर उपन्यास-कार उसकी विविध अनुभूतियों के प्रकाशन के बहाने मानवमात्र की असंख्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। ऐसा प्राय: मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में हुआ करता है जहाँ उपन्यासकार पात्रों के प्रत्येक मानसिक परिवर्तन की अंत:प्रेरणाओं तक पहुँचने की चेष्टा करता है।

(ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण

पात्रो के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रों के प्रथम परिचय में उनका चरित्र : प्रथम भेंट की छाप—उपन्यासकार की चेष्टा

आकृति-वेशभूषा-वर्णन . नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य रूप-चित्रण के प्रति उदासीन

स्थित्यकन (सिच्वूएशन पोर्ट्रेयल) तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

अनुभाव-चित्रण : अनुभावो का महत्व—अनुभावों की विश्वसनीयता—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण

अंतरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण

अंत:प्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

अंतर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फ्लिक्ट) : अंतर्द्वन्द्व का मूल—चेतन और अचेतन अंतर्द्वन्द्व का चित्रण

अर्तविवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

मनोविश्लेषण (साइको-ऐनेलिसिस) : मुक्त आसग (फ्री ऐसोसिएशन)—बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)—स्वप्नविश्लेषण (ड्रीम ऐनेलिसिस : स्वप्न-संघटन (ड्रीम मेकेनिज्म)—उपन्यास में स्वप्न-विश्लेषण

निराधार प्रत्यक्षीकरण विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस) : सम्मोहन की प्रक्रिया—उपन्यास में सम्मोह-विश्लेषण

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रिकोलेक्शन्स)

पूर्ववृत्यात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड ऐसोसिएशन टेस्ट)

नाटकीय (ड्रामेटिक) चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण—कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण—
उद्धरण शैली—डायरी द्वारा चरित्रचित्रण—पत्रात्मक शैली

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्र-चित्रण

वस्तु-जगत के अनुरूप उपन्यास-जगत के भी प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पात्र का कोई न कोई नाम होता है। नामकरण होता तो वस्तु-जगत और उपन्यास-जगत दोनों में है, पर उसका महत्व दोनों में अलग-अलग है। नवजात शिशु का नामकरण कराने वाला पुरोहित या अन्य जो कोई भी उसका नाम प्रस्तावित करता है, वह शिशु के भावी जीवन के बारे में कुछ भी नही जानता होता। इसलिए वस्तु-जगत के व्यक्तियों के नामों से उनके प्रति उनके माता-पिता या नाम प्रस्तावित करने वाले व्यक्ति की महत्वाकाक्षा, उसके जन्म पर उनकी प्रतिक्रिया तथा उनकी तात्कालिक मनोस्थिति का परिचय मिलता है कि वे उसे 'करोडीमल' बना देखना चाहते है या 'विनयपाल', उसे 'स्नेहलता' बनाना चाहते है या 'प्रतिभा'सम्पन्न।' परन्तु उस नाम का सम्बन्ध उस शिशु के चरित्र से तनिक भी नही होता, क्योंकि नामकरण के समय तक उसके चरित्र का कोई भी पक्ष प्रकाश में नही आया होता। वस्तु-जगत के व्यक्ति का चरित्र-विकास उसके नाम की अपेक्षा नही रखता। व्यक्ति के नाम तथा चरित्र में अनुरूपता अथवा अननुरूपता अनिवार्य न मानी जाकर, सयोगवश ही मानी जा सकती है, क्योंकि नामकरण तो इच्छामात्र से हो जाता है जबकि चरित्र-विकास कोरी इच्छा से संचालित नही होता।

पर उपन्यास के पात्रों का नाम रखने वाला उपन्यासकार कोरा पुरोहित ही नही, उनका स्रष्टा भी होता है। एक-साथ स्रष्टा और पुरोहित दोनो होने से उसकी स्थिति वस्तु-जगत के पुरोहित या नाम प्रस्तावित करने वाले किसी अन्य व्यक्ति से भिन्न हो जाती है। थैकरे जैसे कुछ एक उपन्यासकारो के इस कथन को सच मान ले कि वे पात्रों का निर्माण करके उन्हें अपने आप पर छोड देते है और उनके चरित्र-विकास में तनिक भी हस्तक्षेप नही करते,[१२८] तो भी इस बात से इनकार नही किया

१२८. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 144 :
"I do not control my characters. I am in their hands and they take me where they please."

जा सकता कि अधिकांश उपन्यासकार अपने पात्रो के भावी जीवन के सम्बन्ध में अनभिज्ञ नही होते। इसलिए, अपने पात्रो का नाम रखते समय उनके सामने पात्रो का समूचा चरित्र-विकास आ जाता है और वे उसके चरित्र के किसी उभरे हुए गुणावगुण के आधार पर उसका नाम रख देते हैं। यद्यपि इस प्रकार पात्रो के नामों द्वारा उनके चरित्र की विशिष्टता को व्यक्त करने की प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में लगभग सभी उपन्यासकारों में विद्यमान रहती है तो भी उपन्यासकार इससे जितना बच सके तो उतना ही श्रेयम्कर है, क्योकि इस प्रकार के चरित्रचित्रण में अस्वाभाविकता तो आ ही जाती है, साथ ही आवश्यकता से पहले पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं के प्रकट हो जाने से उनके चरित्र-विकास के प्रति पाठकों की उत्सुकता भी मन्द पड़ जाती है।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रों के नामकरण द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन की प्रवृत्ति बडी प्रवल रही है। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा तथा जैनेन्द्र तक के उपन्यासो में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेमशंकर, बलराज, विजय, अजित, जयंत, सुदामा, निर्मला, श्रद्धा, लीला, भुवनमोहिनी आदि पात्रों के नामो से ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ व्यक्त हो जाती है। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों तक पहुँते-पहुँचते यह प्रवृत्ति बहुत क्षीण हो जाती है।

पात्रों के प्रथम परिचय में उनका चरित्र

वस्तु-जगत में कितने ही लोग हमें मिलते रहते हैं पर सब के प्रति तो हम आकृष्ट नही होते। काफी देर साथ रहने पर भी कई लोग हमारा ध्यान अपनी ओर नही खीच पाते और कई लोग प्रथम दर्शन में ही हमें मुग्ध कर लेते है। यही बात औपन्यासिक पात्रो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कई पात्र उपन्यास में प्रवेश करते ही अपने में पाठक को उलझा लेते हैं और अपने प्रति उसकी उत्सुकता को इतना जागृत कर देते हैं कि वह उनके बारे में सब कुछ जानने के लिए अधीर हो उठता है। पर कई पात्र ऐसे भी होते हैं जो उपन्यासकार द्वारा परिचय करवाए जाने पर भी पाठक को अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहते है। वास्तव में, औपन्यासिक पात्रों के चरित्रचित्रण की सफलता इसी में है कि वे उपन्यास में पदार्पण करते ही पाठकों को अपने में उलझा लें। इसलिए, श्रेष्ठ उपन्यासकार अपने किसी पात्र को उपन्यास के रंगमंच पर तब तक नहीं लाता जब तक कि उसके करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं होता। परिचयभर कराने के लिए पात्रों को उपन्यास के रंगमच पर ले आना और बाद में उन्हें तब तक के लिए 'कोल्ड टोरेज' में डाल देना जब तक उनकी आवश्यकता न पडे, उनके प्रति पाठकों में उपेक्षा का भाव जगा देना है।

प्रथम भेंट की छाप—प्रथम भेंट में ही मनुष्य एक-दूसरे के प्रति अपनी धारणाएँ बना लेते हैं। मानिए, 'क' अचानक 'ख' से मिल गया। यह उनकी प्रथम भेंट थी। आध घण्टे के लिए दोनो साथ रहे, उन्होंने कुछ मौसम के सम्बन्ध में, कुछ

बाज़ार के भाव के बारे में और कुछ अत्याधुनिक राजनीतिक विषयों पर बातचीत की और अलग हो गए। इतने थोडे समय में यद्यपि इन दोनों में से कोई भी एक-दूसरे के सम्बन्ध में सब कुछ न जान सका तो भी दोनों के मन पर एक-दूसरे के व्यक्तित्व की छाप अंकित हो गई और एक-दूसरे के प्रति उनकी कुछ धारणाएँ बन गईं। 'क' ने सोचा कि 'ख' मिलनसार, योग्य ओर मनोरंजक व्यक्ति है और 'ख' ने समझा कि 'क' चतुर, बुद्धिवादी और व्यवहारकुशल मनुष्य है। प्रथम भेंट की इस प्रकार की छाप चाहे कितनी ही अनिश्चित और अस्थायी क्यों न हो, मानव स्वभाव की इस विशेषता की ओर स्पष्ट संकेत करती है कि मनुष्य दूसरो को समझने में कितना अधीर रहता है और इसी धुन में कितनी जल्दी वह उनके बारे में अपनी धारणाएँ बना लिया करता है, बाद में चाहे उसे वे बदलनी ही पड जाएँ।

उपन्यासकार की चेष्टा—उपन्यासकार मानव-मन की इस विशिष्टता से परिचित होता है। इसलिए, उपन्यास में पात्रों का प्रवेश कराते समय वह इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि पाठकों से प्रथम भेंट में ही उसके पात्र उनके मन पर वैसी छाप अंकित करें, जैसी वह चाहता है। अपने पात्रो का सृष्टा होने के नाते वह उनकी नस-नस से तो परिचित होता ही है और प्रायः यह भी जानता होता है कि उनके पात्रों ने चरित्र-विकास की कौनसी दिशा ग्रहण करनी है। इसलिए, उसका प्रयत्न रहता है कि उनके भावी चरित्र-विकास के अनुरूप ही पाठकों के मन पर उसकी प्रथम भेंट की छाप पडे। पाठकों पर पात्रों की प्रथम भेंट का यथेष्ट प्रभाव डालने का प्रयत्न तो प्रत्येक उपन्यासकार करता है, पर कुशल उपन्यासकार पात्रों के डील-डौल, वेश-भूषा आदि के चित्रण द्वारा उन्हे पाठको के कल्पना-चक्षुओं के सामने साकार करके उन्हें स्वयं अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उन पर धीरे-धीरे खुलने देता है। अपनी ओर से उनकी चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। जयशंकरप्रसाद तथा जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय प्रभृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपने पात्रों को इसी प्रकार पाठको पर धीरे-धीरे प्रकट होने देते है।

पर कई उपन्यासकार पात्रों की आकृति-प्रकृति, वेश-भूषा आदि का ही वर्णन करके नहीं रह जाते अपितु अपनी ओर से उनके चारित्रिक गुणावगुणों के सम्बन्ध में भी एक टिप्पणी जोड़ देते हैं और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो उपन्यासकार उस पात्र की अंगुली पकडकर उपन्यास-जगत के रगमंच पर ले आया हो और औपचारिक ढंग से उसका परिचय करा रहा हो तथा पाठकों से आग्रह कर रहा हो कि वे उस द्वारा बताई गई पात्र की चारित्रिक विशिष्टताओं को सत्य मान लें। पाठकों से इस प्रकार का आग्रह करने वाले उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का शीर्ष स्थान है।

उपन्यासकार अपने पात्रों का पूर्ण ज्ञाता तो होता ही है और वह उनके भावी विकास को भी जानता होता है, पर जब कोई उपन्यासकार अपने किसी पात्र का पहली बार परिचय कराते समय ही उसके उन चारित्रिक गुणावगुणों का उल्लेख करने लगता है जो तव तक उस पात्र की क्रिया-प्रतिक्रियो से व्यक्त नही हुए होते, तो उसका वह परिचय अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है और उसमें पक्षपात की गन्ध आने लगती है।

कुछ भी हो, कुशल उपन्यासकार यह नही भूलता कि पाठको के मन पर पड़ी हुई पात्र के प्रथम परिचय की छाप प्रथम दर्शन की छाप के समान चाहे पूर्णतः सत्य न सिद्ध हो पर मन पर पड़े उसके अक धीरे-धीरे ही धुल पाते है और जब तक वे पूर्णतः धुल नही जाते पाठक द्वारा पात्रो की बाद की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं।

आकृति-वेशभूपा-वर्णन वेशभूपा के सम्बन्ध में पजावी की एक कहावत है—"खाइये मन भाऊँदा अते पाइये जग भाऊदा', अर्थात् हमारा खाना-पीना मन-चाहा होना चाहिए, पर हमारा पहनावा जग-चाहा हो। इस कहावत में प्रतिपादित सिद्धान्त का पालन करते हुए जो लोग समय-समय पर अपनी वेशभूपा वैसी ही रखते हैं जैसी कि समाज उनके स्तर तथा व्यवसाय के व्यक्ति से आशा रखता है, उनकी वेशभूषा में उनके व्यक्तित्व की झाँकी पाना उतना कठिन नही होता, जितना उन लोगो के पहनावे में जो समाज के वेशभूपा सम्बन्धी नियमो के प्रति उपेक्षा का भाव रखने है। यद्यपि आज के युग मे जबकि सभी सामाजिक मूल्य डगमगा गए हैं, केवल आकृति या वेशभूपा के आधार पर किसी भी व्यक्ति के चारित्रिक गुणों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाना भ्रामक हो सकता है, फिर भी किसी नये व्यक्ति से प्रथम भेंट के समय हमारा ध्यान सबसे पहले उसकी आकृति और वेश-भूषा पर ही पड़ता है और जब तक उस व्यक्ति की कोई क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त नही होती, उसकी आकृति और वेश-भूपा के आधार पर उसके चरित्र को आकने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई उपाय नहीं रहता है।

उपन्यासकार भी उपन्यास में अपने पात्रों का प्रथम वार प्रवेश कराते समय उन की आकृति और वेशभूषा का चित्रण किया करता है और उसके माध्यम से उनके चारित्रिक गुणावगुणों के सम्बन्ध में अपने पाठको पर मनोवाच्छीत प्रभाव डालने का प्रयत्न किया करता है। यही नहीं, समय-समय पर उनकी आकृति और वेशभूपा में होने वाले परिवर्तनो का चित्रण करके उनकी मनोदशा में होने वाले परिवर्तनों को भी व्यक्त किया करता है। बहुधा पात्रों की आकृति और वेशभूपा का चित्रण पाठकों की कल्पना में पात्रों को साकार खड़ा कर देने के लिए ही नहीं, उनके गुणावगुणों को सांकेतिक शैली से व्यक्त करने के लिए भी होता है।

नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार अपने पात्रो को उपन्यास के रगमच पर पहली बार लाते समय पूरी पोशाक से लादकर लाते ताकि किसी वस्तु की कमी पडने पर उन्हें पुन: वस्तु-जगत में न जाना पड़े। रीति-कालीन कवियों की भाँति वे अपने पात्रों का नखशिख वर्णन बड़े मनोयोग से करते थे। पर पात्रों के बाह्य रूप का इतना विस्तृत वर्णन करने पर भी वे पात्र पाठकों के सामने सजीव हो उठते हो, यह बात नहीं थी। उपन्यासकारों की इस प्रवृत्ति की व्यर्थता को देखकर ही प्रेमचन्द ने कहा था कि 'किसी पात्र की हुलियानवीसी की जरूरत नही, दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ'[१२९], यद्यपि स्वय वह भी इस सिद्धान्त का पूर्णत: पालन न कर सके थे।

प्रारम्भिक उपन्यासों के आकृति वेशभूषा के चित्रण की एक और विशिष्टता यह है कि उपन्यासकार पात्रों को उपन्यास में पहली बार लाते समय ही उनकी आकृति और वेशभूषा का चित्रण करता है और उसके बाद उपन्यास भर में कहीं भी उसकी आकृति और वेशभूषा की चर्चा नही छेड़ता, मानो अपने औपन्यासिक जीवन में वे सदा एक-सी ही पोशाक पहने रहे हों और उनकी आकृति भी एक-ही रही हो, भले ही उनके औपन्यासिक जीवन का आरम्भ युवावस्था से हुआ हो और अवसान वृद्धावस्था में। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द तक के उपन्यासो में भी मिलती है। अपने उपन्यास 'गोदान' के आरम्भ में वह होरी की आकृति और वेशभूषा का चित्रण एक बार कर देते हैं। उपन्यास भर में पाठकों की आँखों के सामने उसका वही एक रूप रहता है। इस प्रकार, होरी की आकृति और वेशभूषा अस्वाभाविक हो आने के अतिरिक्त उपन्यासकार आकृति-वेशभूषा-वर्णन द्वारा चरित्रचित्रण करने की प्रणाली से वंचित रहकर अपने लिए सीमाओ का निर्माण कर लेता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य रूप-चित्रण के प्रति उदासीन—पात्रों का ब्योरेवार नखशिख वर्णन, यदि कुशलता से किया जाय तो वह ऐसे 'टाइप' तो बना सकता है जो आसानी से पहचाने जा सके पर इस प्रकार का वर्णन उन पात्रों को व्यक्ति-चरित्र नही बना सकता। कोई आदमी देखने में कैसा है—कद का लम्बा है या छोटा, उसका माथा चौडा और गोल है या तग और चपटा, उसकी नाक लम्बी है या मोटी, ओठ मोटे हैं या पतले, वह पेंट-कोट पहनता है या धोती-कुरता; इसी प्रकार कोई स्त्री पतली-लम्बी है या मोटी-छोटी, गौर वर्णा है या श्याम वर्णा, उसके नयन-नक्श तीखे हैं या मोटे, वह धोती-ब्लाउज पहनती है या सलवार-जम्पर—पात्रों के इस प्रकार के ब्योरेवार वर्णन से व्यक्ति-चरित्र की नींव नहीं डलती। इस लिए, व्यक्ति-चरित्र के उपन्यासों के प्रादुर्भाव से पात्रो के बाह्य रगरूप वर्णन में भी अन्तर आता गया। व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार जिस प्रकार अपने पात्रों के शील को एक चौखटे में न कसकर उसे लचकीला ही बनाए रखता है, उसी प्रकार वह बाह्य

---

१२९. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८।

रंगरूप और वेशभूषा की मोटी और पक्की रेखाओं मे बाधकर उन्हे गुडिया नही बना देता। वह अपने पात्रो की बाहरी सज्जा में नही अटकता, प्रत्युत बाहर क ठोस आवरण को चीरकर उनके भीतर की तरल मानसिकता के चित्रण की ओर प्रवृत्त होता है और उसी के द्वारा वह उसे अन्य मानवो से भिन्न व्यक्ति बना देता है। यह बात वह पाठकों की रुचि और कल्पना पर छोड देता है कि वे उसे जैसी भी पोशाक चाहे पहना ले। इसलिए, 'शेखर . एक जीवनी' जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में यदि नायक-नायिका का बाह्य रूप-चित्रण न मिले और यदि कही मिले भी तो अत्यल्प, तो कोई आश्चर्य की बात नही।

स्थित्यंकन तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण किसी व्यक्ति की स्थिति विशेष (सिच्चुएशन) को जाने बिना उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओ के आधार पर उसके चरित्र के बारे में लगाया गया अनुमान भ्रामक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि किसी के क्रिया-कलापों का विश्वसनीय मूल्याकन उन्हे उस स्थिति के सदर्भ में रखकर ही किया जा सकता है जिसमें वे व्यक्त हुए हों। स्थितियाँ अपने भीतर एक या अनेक उत्तेजको को लिये रहती हैं, जो व्यक्ति के आचरण को प्रेरित करके उद्दीप्त करते रहते हैं। इसलिए, पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के वर्णन से पहले उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस स्थिति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करे जिसमें वे पात्र पड़ गये हों, क्योकि कारण को पूरी तरह जाने बिना कार्य का सही मूल्याकन नही हो सकता। अपने पात्रों के स्थित्यंकन के लिए, उनके परिवेश के चित्रण के लिए उपन्यासकारों को वे सुविधाएँ कहाँ जो नाटककार को सहज उपलब्ध होती हैं। बना-बनाया स्टेज और सजे-सजाए तथा सिधे-सिधाए पात्र उपन्यासकार को उपलब्ध नहीं होते। सब-कुछ का उसे स्वयं ही निर्माण करना होता है। उसकी बड़ी कठिनाई यह है कि उसे सब कुछ अकेले ही करना पड़ता है और साधन उनके पास केवल एक है—शब्द। उसे पात्रों की संपूर्ण स्थिति के सजीव शब्द-चित्र उपस्थित करने होते हैं, जिससे समस्त वातावरण पाठकों की कल्पना में मूर्त्त हो उठे और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि वे सारी स्थिति अपनी आँखों देख रहे हैं।

प्रथम भेंट में किसी को पूरी तरह नही समझा जा सकता।[१३०] पूरी तरह जान पाना तो दूर, जो कुछ थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, उस पर भी पूर्णतया

---

१३०. Allport; 'Personality: A Psychological Interpretation', Constable & Company, London, 1951; p. 500:

"In the brief period of first meeting, there is little chance for contradictions to appear, or for the judge to ascertain which traits are central and which are incidental in the personality. Some feature are hidden entirely, especially those that are asocial; the 'persona' is not easy to penerate at first meeting."

विश्वास नही किया जा सकता ।[१३१] प्रथम परिचय के समय एक तो सभी चारित्रिक विशिष्टताओं को व्यक्त होने का अवसर नही मिलता । जिन कुछ-एक विशिष्टताओं को प्रकट होने का अवसर मिलता है, वे भी अनेक कारणों से दबी पड़ी रहती है या अधूरी ही व्यक्त हो पाती हैं । दूसरे, कई बार प्रथम भेंट के समय व्यक्ति स्वयं भी किसी विशेष प्रयोजन से अपने स्वभावज आचरण को दबाकर उस पर कृत्रिम शिष्टाचार का आरोप कर लेता है । इसलिए, प्रथम भेंट हमारे हृदय-पटल पर जो छाप छोड़ जाती है, उसकी सत्यता को परखने के लिए जीवन की विविध परिस्थितियों में उसकी शरीरिक, बौद्धिक और मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।[१३२]

सामान्यत: मनुष्य की परिस्थितियों और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध रहता है । जिस प्रकार, कारण की पूरी जानकारी के अभाव में कार्य का सही मूल्यांकन नही हो सकता, उसी प्रकार, अकेले कारण का ज्ञान भी कार्य को समझने में सहायक नही हो पाता । इसलिए, कुशल उपन्यासकार अपने पात्रों की विभिन्न स्थितियों के अंकन तथा उनमें व्यक्त होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं के चित्रण में ऐसा सामजस्य बैठाता है कि पाठकों की कल्पना में पात्र और उनकी परिस्थितियाँ साकार होती जाती हैं[१३३] और उनका चरित्र-विकास स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला जाता है ।

अनुभाव (एक्सप्रेसिव फीचर्ज) चित्रण—मनोभावों के उदय होने के पश्चात् शरीर में जो विकार दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं । ये अनुभाव दर्शकों को दूसरे के भावों का अनुभव कराते है ।[१३३] दूसरों के भीतरी भावों को समझने के लिए उनके अनुभावों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है । दूसरो के अनुभावों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि किसी स्थिति में पड़ते ही व्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रकट नहीं हो जाती और जब तक उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त नही होती तब तक स्थिति के प्रभाव से उसकी मनोदशा में होने वाले परिवर्तन जानने के लिए उस के अनुभावों पर ही निर्भर रहना पड़ता है । स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले पात्र के मुख तथा अन्य अंग-प्रत्यंगों में जो

---

१३१. Murphy, 'General psychology', Harper & Bros. New York, p. 474 :
"Character and personality cannot be read 'at sight', but must be carefully studied."

१३२. Ross Stagner, 'Psychology of Personality', McGraw Hill, New York, 1948, p. 33 :
"A precise statement of the behaviour of an individual in a wide variety of real life situations might well be the most valuable of all metorials for the study of personality."

१३३. डा० त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', प्रथम भाग, पृष्ठ १५६ :
'अनुभावयन्ति इति अनुभावः' ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन होते रहते है, उनमें पात्रो का तत्कालीन मानसिक संघर्ष प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसीलिए, उपन्यासकार के लिए अपने पात्रो के मुख-इंगितो (फेश्यल एक्स्प्रेशन्ज), शारीरिक मुद्राओं (जेस्चर्ज) आदि का चित्रण उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वर्णन।

जो उपन्यासकार स्थित्यंकन के पश्चात् सीधे पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण करने लग जाता है, उसके चरित्रचित्रण में अस्वाभाविकता आ जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों उपन्यासकार द्वारा बिजली का बटन दबाते ही पात्रों की प्रतिक्रिया व्यक्त हो गई हो। हिन्दी के आरभिक उपन्यासो में यह त्रुटि विशेष रूप से पाई जाती है। प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यासो में भी पात्रो के अनुभाव-चित्रण की ओर उतना ध्यान नही दिया गया जितना कि स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक होता है। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थानो की कमी नहीं जहाँ पात्र स्थिति में पड़ते ही कठपुतली के समान उपन्यासकार के इशारो पर नाचते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ उनका सकेत मात्र किया जाता है। उपयुक्त स्थल पर इस विषय का विशद विवेचन किया जाएगा।

कई बार दूसरों को समझने के लिए उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया की अपेक्षा उनके अनुभावों का अध्ययन अधिक विश्वसनीय होता है। किसी व्यक्ति की उन्ही क्रिया-प्रतिक्रियाओं में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, जो स्वभावज हों। स्वभावज प्रतिक्रिया को दबाकर सायास प्रकट की गई बनावटी प्रतिक्रिया के आधार पर लगाया गया अनुमान भ्रामक होगा। पर प्रकृत अनुभावों को पूर्णतः दबा सकना बड़ा कठिन है। लाख बनावटी चेष्टाएँ करने पर भी व्यक्ति के मुख पर बरबस एक ऐसी रेखा खिंच जाती है, उसकी शारीरिक मुद्रा में एक ऐसा परिवर्तन प्रकट हो जाता है, जो उसके समस्त कृत्रिम व्यवहार की पोल खोल देता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अनुभाव चित्रण का महत्त्व—जो लोग अन्तर्मुख होते हैं, जो समस्त बाह्य संघर्ष को अपने भीतर समेटकर जीवन भर अन्दर ही अन्दर घुलते रहते हैं, उनकी अन्तर्व्यथा को जानने के लिए उनके अनुभावों पर ही पूर्णतः निर्भर होना पड़ता है। इसलिए, अन्तर्मुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उपन्यास-कार को उनके अनुभाव-चित्रण की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होना पड़ता है। साथ ही व्यवहार-कुशल पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया में आई कृत्रिमता को उघाड़ने के लिए उन के मनोभावों के अनुवर्ती तथा उनके द्योतक अनुभावों का चित्रण होता है। इसलिए, आरम्भिक उपन्यासों के बहिर्मुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन में उपन्यासकार अनुभाव-चित्रण के प्रति उदासीन दिखाई देता है और आधुनिक अन्तर्मुख, विकासनशील पात्रों को उघाड़ने में वह उनके अनुभावों में होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों तक की भी उपेक्षा नही करता। प्रेमचन्द के उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण की उपेक्षा और इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण में विशेष तत्परता का यही कारण है।

अन्तरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण

अंतःप्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

किसी मनुष्य की काल-विशेष की परिस्थिति को, उस परिस्थिति के प्रति उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया को तथा उसके समूचे व्यक्त व्यवहार को जान लेने पर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि हम उसे पूर्णरूपेण समझ गए[१३४], क्योंकि मनुष्य का जो रूप दूसरों पर प्रकट होता है, वही तो उसका वास्तविक रूप नहीं होता। उसके व्यक्त रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय उसका वह रूप होता है, जो जाने या अजाने अभिव्यक्ति पाने से बचा रहता है और उसके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। मनुष्य के व्यक्त आचार, विचार और व्यवहार में उसके चरित्र का एक अंश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष का तो उसकी व्यक्त चेष्टाओं में आभास तक नहीं मिलता।[१३५] मानव-चरित्र हिमनग (आईसवर्ग) के समान है, जिसका केवल नवमांश ही जल के ऊपर दिखाई देता है और शेष पानी के भीतर छिपा रहता है। मनुष्य के उस अव्यक्त चरित्र को जाने बिना, जो उसके समूचे रूप को प्रेरित करता है, मनुष्य को पूरी तरह समझ सकना सम्भव नहीं।[१३६] इसीलिए उपन्यास-स्थित्यकन के पश्चात् अपने पात्रों की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं के चित्रण में ही नहीं उलझा रहता, प्रत्युत् उनके मानसिक संघर्ष को, अपने आस-पास के वातावरण के प्रति निरंतर विकसित होते रहने वाले उनके दृष्टिकोण तथा उनके प्रकट व्यवहार की अंतः-प्रेरणाओं (इन्टर्नल मोटिव्स) को प्रकाश में लाता रहता है।

वस्तु-जगत् में किसी व्यक्ति के व्यक्त आचरण के पीछे छिपे भीतरी प्रेरक को

---

१३४. Ruch , Psychology and Life', Scott, Foresman, New York, third edn., p. 122 :

"When all we know about a person's behavior is the external stimulus situation, our description of his behaviour cannot be complete."

१३५. H. A. Murray, 'Explorations in Personality', Oxford University Press, Now York, 1938, p. 244 :

"There are many complicating factors that disturb a simple intention-effect relation. In the first place, an intention is not usually realised in social life due to opposition, interruption, internal conflict or the subject's inability. And even when the effect is realised it may be even hardar to detect than the intention of the subject."

१३६. Ruch, 'Psychology and Life', p. 123.

"To understand why a person behaves as he does in any particular situation, you must know what external situation he is in—but you must know more than that. You must also understand his internal situation, which plays an extremely important role in arousing and detecting his behavior."

पहचान पाना बडा कठिन होता है। [१३७] प्राय: हम उसके बारे में ठीक-ठीक अनुमान नही लगा पाया करते और वह व्यक्ति हमारे लिए एक पहेली बना रहता है। पर उपन्यासकार, अपने पात्रों का स्रष्टा होने से उन्हें बाह्याभ्यन्तर से भली प्रकार जानता होता है और उनके चरित्र-विकास की प्रत्येक दिशा के अव्यक्त प्रेरकों से परिचित होता है। इसलिए, वह अपने पात्रो की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके अनुभाव आदि के चित्रण के साथ-साथ उनको प्रेरित करने वाली अंतःप्रेरणाओं को भी प्रकाश में लाता रहता है। ऐसा किए बिना उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण अधूरा और असंगत रह जाता है। पात्रों की अंत:प्रेणाओं के चित्रण (मोटिवेशन)[१३८] द्वारा ही तो उपन्यासकार अपने पात्रों के बहुरूपी और परस्पर-विरोधी आचरण में एक-सूत्रता लाकर उन्हें युक्ति-युक्त ठहराता है, उनमें संगति बैठाता है।[१३९]

पात्रो की चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता उतना उनके व्यक्त आचरण की समानता पर निर्भर नही करती जितना कि उसके पीछे काम करने वाली प्रेरणाओं की एकसूत्रता पर।[१४०] समान परिस्थितियों में पात्र की सदा एक-सी प्रतिक्रिया ही प्रकट हो, यह आवश्यक नहीं, पर यदि विभिन्न प्रतिक्रियाओं को जन्म देने वाली अ तः प्रेरणाएँ भी भिन्न-भिन्न और परस्पर-विरोधी होगी, तो उसका चरित्र-चित्रण कृत्रिम और असंगत दिखाई देने लगेगा। इसलिए किसी पात्र के विभिन्न कालीन आचार-व्यवहार में असमानता होने पर भी उसे प्रेरित करने वाले कारणों में समानता लाना आवश्यक हो जाता है। चरित्र-चित्रण की सफलता पात्र के बहुरूपी क्रिया-कलापों में तर्कसंगत मेल बैठाने में है। चरित्र-चित्रण में शिथिलता प्रायः तभी आया करती है, जब पात्र या तो निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने लगते हैं, या फिर उपन्यास के कथानक की आवश्यकता-पूर्ति के लिए अपनी मूल प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने लगते हैं और उपन्यासकार उनके परस्पर-विरोधी आचरण के युक्ति-युक्त कारण उपस्थित नही कर पाता।

---

१३७. Murray, 'Explorations In Personality, p. 245 :
"......The S (subject) is often unconscious of his motives or, if conscious, is unwilling to reveal them."

१३८. Boas, 'The Enjoyment of Literature', p. 223 :
"The assigning of motives and the reactions which they cause is called motivation."

१३९. Ibid, p. 223 :
"Motives do not necessarily have to be reasonable—they are not always so in real life—but they must be natural and they must be consistent in what we know of character."

१४०. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526.

अन्तर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फ्लिक्ट)

जब कोई पात्र जीवन के किसी ऐसे मोड़ पर आ पहुँचता है, जहाँ उसके सामने परस्पर विरोधी दिशा में जाने वाले दो मार्ग आ पडे हों और वह परिस्थितिवश उन दोनों में से किसी एक पर चलने के लिए बाध्य हो, पर दोनो को समान रूप से उपयोगी व अनुपयोगी समझकर यह निश्चय न कर पाता हो कि किसे अपनाए और किसे छोडे, तब उसके मन में एक अकथनीय द्वन्द छिड़ जाता है, जो उसे प्रतिक्षण बेचैन किए रखता है। ऐसी स्थिति में पात्र की अनिश्चितता का कारण जहाँ एक ओर उसकी दृष्टि में दोनों मार्गों की समान उपयोगिता व अनुपयोगिता होती है, वहाँ उसकी हिचकिचाहट का दूसरा कारण उसमें आत्मबल और इच्छा-शक्ति की कमी भी हो सकता है। फलतः वह यही सोचता रह जाता है कि अमुक मार्ग अपनाने में उसे यह क्षति उठानी पड़े और दूसरे को अपनाने में उसे यह हानि होगी और वह दोनों में से किसी प्रकार की क्षति उठाने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाता। ऐसा पात्र भीतर ही भीतर घुलता रहता है और यदि किसी निश्चय पर पहुँचता भी है तो बड़ी देर के बाद और यह भी अनमने भाव से। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ध्वनित परिस्थिति-विशेष में उसका निश्चय भले ही दूसरों को असंगत प्रतीत हो, पर यदि उस निश्चय पर पहुँचने से पहले उसके मन में उठे घोर संघर्षजनित क्लेश का पता चल जाए तो उस पात्र को समझने में गलती नहीं हो सकती। इसलिए, अपने पात्रों के परस्पर विरोधी क्रिया-कलापों में संगति बैठाने के लिए भी उपन्यासकार पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया करता है।

अन्तर्द्वन्द्व का मूल—अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं पात्रों के भीतर छिड़ा करता है, जिनके निकट जीवन और जगत के मूल्य स्पष्ट नही होते; जो यह निश्चय नही कर पाते कि किस को किस पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जिन पात्रो की आत्मा में बल होता है और जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है तथा जिनके निकट सामाजिक मूल्य सुस्पष्ट होते हैं, उन में अन्तर्द्वन्द्व नही उठ पाता। वे भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी विचलित नही होते और धैर्य से अपने पथ पर बढ़ते जाते हैं। इसीलिए हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्रों में आन्तरिक संघर्ष का नाम तक नही मिलता। उनके सामने सामाजिक मूल्य इतने स्पष्ट हैं कि उन्हे उस निश्चय पर पहुँचते देर ही नही लगती कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय। प्रेमचन्द तक के पात्रों में भी आवश्यक मात्रा में अन्तःसंघर्ष नहीं मिलता। अन्तःसंघर्ष के कारण होते हुए भी वे उससे बचे रहते हैं। पर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो की समस्त शक्ति उनके पात्रों के भीतरी द्वन्द्व को उघाड़ने में ही लगती रहती है।

चेतन और अचेतन अन्तर्द्वन्द्व—पात्रों के भीतर दो प्रकार का संघर्ष हो सकता है–चेतन और अचेतन। चेतन संघर्ष वह है जो पात्रों के चेतन मन में हो, जिसके प्रति पात्र जागरूक हों और उसके कारणो को भली प्रकार से जानते समझते हों। अचेतन संघर्ष वह होता है जो पात्रो के अचेतन में ही सक्रिय हो और जिसके कारण पात्रों की

पकड़ से बाहर हो। अचेतन संघर्ष में पात्र अपने आपको प्रतिक्षण बेचैन तो पाता है, पर उसकी बेचैनी क्यों है, यह वह समझ नही पाता। पात्र जो कुछ करना चाहता है, वह उससे हो नही पाता और जो वह नही करना चाहता उसे कर बैठता है। उसके स्वभाव में एक ऐसा भीतरी विरोध भरा रहता है जो किसी भी स्थिति से उसका मानसिक मेल नही बैठने देता।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा और जैनेन्द्र के 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी का विवाह उस से नही हो पाता जिससे वह प्रेम करती हैं, पर दोनों ही बिना विरोध के उससे विवाह कर लेती है जिससे उनका प्रेम नहीं होता। विवाह के पश्चात् दोनों का ही यह निश्चय रहता है कि वे पति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहेगी। पर जहाँ प्रेमचन्द की नायिका प्रेमा अपने निश्चय पर अटल रहती है और मन में किसी प्रकार के संघर्ष को उठने दिए बिना अपने पातिव्रत्य को निभा लेती है, जैनेन्द्र की भुवनमोहिनी लाख चेष्टा करने पर भी पति के प्रति सच्ची नहीं रह पाती। प्रेमी को भी तो वह समर्पित नहीं हो पाती। जीवन भर वह पति और प्रेमी के बीच भटकती रहती है; पूर्णतः समर्पित दोनों में से किसी को भी नहीं हो पाती। उसके अचेतन में यौन-प्रवृत्ति (सेक्स अर्ज) और विवेक बुद्धि (कान्शैन्स) में एक भीषण सघर्ष सक्रिय रहता है जो उसके आचार-विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी परिस्थिति से उनका मेल नही बैठने देता। फलतः वह जीवन भर कटी-कटी सी रहती है, पर उसका कारण नही जान पाती।

अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

पात्रो के चेतन में व्याप्त संघर्ष को तो उपन्यासकार उनके अन्तर्द्वन्द्वों (इन्टीरियर कॉन्फ्लिक्ट) के चित्रण द्वारा व्यक्त करा सकता है, पर अचेतन संघर्ष को उघाड़ने के लिए उसे बड़ा परिश्रम करना पडता है और उसे मनोविश्लेषण (साइको ऐनेलिसिस), स्वप्न-विश्लेषण, निराधार प्रत्यक्षीकरण-विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस), सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ ऐनेलिसिस), प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑफ रिकोलेक्शन्स) पूर्ववृत्त-प्रणाली (केस हिस्ट्री मेथड), शब्द-सहस्मृति परीक्षा (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट) आदि उन सभी प्रणालियों का आश्रय लेना पड़ता है जिन्हें एक मनोविश्लेपक अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों को समझने के लिए अपनाता है। मनोविश्लेपक की भाँति उपन्यासकार भी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों को अपनाता तो है, पर अपने उपन्यासों में वह उन्हें औपन्यासिक सुविधा के अनुकूल रूपान्तरित करके ही ग्रहण करता है।

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

अंतर्विवाद प्रायः अंतर्मुखी पात्रों में ही मिलता है। अंतर्विवाद पात्र का एक ऐसा मूक भाषण होता है, जिसमें पात्र छोटे-छोटे, सरल और सीधे वाक्यों मे बिना किसी युक्ति-युक्त प्रबन्ध के, अपने अन्तर के उन विचारों को व्यक्त करता जाता है

जो उसके अचेतन के निकटतम हो, मानो वह वर्णन उसके उन भावों की पुनरावृत्ति हो जो उसके मन में उस समय उठ रहे हों।[१४१] अतर्विवाद में लेखक पात्र और पाठकों के बीच में से निकल जाता है और पाठक को अवसर प्रदान करता है कि वह पात्र के मन में पैठे और उसमें मच रही उथल-पुथल को लेखक की नही, अपनी आँखो से देखे।[१४२] इस प्रणाली का प्रयोग पात्र के व्यक्त आचरण की उन प्रेरणाओं को पकड में लाना होता है जो उसके चेतन मन की पकड़ से बाहर हों।[१४३]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के आविर्भाव से पहले हिन्दी उपन्यास-साहित्य में कदाचित् ही कही पात्रों के अंतर्विवाद मिले। उनके पात्र एकान्त में बैठकर मनन न करते हो, यह बात नही। मनन और चिंतन तो उनके पात्र भी करते है, पर उपन्यासकार उनके निजी सचिव (प्राइवेट सेक्रेटरी) के रूप में सदा उनके साथ रहता हुआ पात्र और पाठक के बीच में अड़ा रहता है, मानों पात्र और पाठक में सीधा सम्पर्क होने देने में वह अपनी मान-हानि समझता हो। पात्रों की मानसिक उथल-पुथल का चित्रण तो उन उपन्यासों में भी मिलता है, पर उनमें पाठक को ऐसा प्रतीत नही होता कि पात्रो के मन में जो कुछ हो रहा है, उसे वह अपनी आँखो से देख रहा हो और पात्रों के साथ-साथ स्वय भी दु.ख-सुख का अनुभव कर रहा है, प्रत्युत् उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार उसे पात्रो के मन की रिपोर्ट दे रहा हो, मानो पाठकों के मन में खुलने वाली खिडकी के सामने का स्थान लेखक ने ग्रहण कर रखा हो और पाठक उससे हटकर बैठा हो, और लेखक स्वय खिडकी में से झाँककर पाठको के मन का आँखो देखा हाल बता रहा हो, पर पाठक की इच्छा होते हुए भी लेखक उसे झाँकने न दे रहा हो और पाठक को विवश होकर उसकी रिपोर्ट पर ही विश्वास करना पड़ रहा हो। पात्रो का बाह्य दृष्टित. (आब्जेक्टिवली) चित्रण करने वाले प्रेमचन्द प्रभृति उपन्यासकारो ने इसी रूढ़ प्रणाली का प्रयोग किया है, जो मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के अतर्विवादों से बहुत भिन्न है।

मनोविश्लेषण (साइकों-ऐनेलिसिस)

फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषको का विश्वास है कि बाल्यावस्था के दु.खद सघर्ष

१४१ Edel, 'The Psychological Novel', p. 80 :

"The internal monologue is that unheard and unspoken spebech by which a characte1 expresses his inmost thoughts, those lying nearest the unconscious, without regard to logical organisation—that is, in their original state —by means of direct sentences reduced to synthactic minimum, and in such away as to give the impression of reproducing the thoughts just as they come into mind" (Dujardin)

१४२. Ibid, p. 80 :

"The internal monologue, like every monologue, is the speech of given character designed to introduce us directly into the internal life of this character, without the author's intervention by explanation or comments"

१४३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 126 :

जो बिना सुलझे ही दमित (रिप्रेसेड) होकर अचेतन में धँस गए होते हैं, व्यक्ति के भाव, विचार और आचार को प्रभावित करते रहते है और उनमें आवेगज तनावों को जन्म देकर स्थिति के साथ उसका मानसिक संतुलन नहीं बैठने देते।[१४४] इन्हीं दुःखद स्मृतियों तथा संघर्षों को, जो उसकी अधिकाश कठिनाइयों का कारण बनते हैं, पात्र के अचेतन से निकालकर चेतन में ले आना और उनके निराकरण में उसकी सहायता करना मनोविश्लेपण का चरमोद्देश्य है।[१४५] फ्रॉयड और उसके अनुयायियो का विश्वास है कि पात्र जब तक अपनी कठिनाइयों के अचेतन प्रेरकों को जानेगा नही, तब तक उनसे बच नही पाएगा। पात्र के अचेतन की परत पर परत खोलने के लिए फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषक कई प्रणालियों का प्रयोग करता है, जिनमें मुख्य हैं—मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन), बाधकता विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेन्स), संक्रमण-विपलेषण (ऐनेलिसिस आव ट्रान्सफ़ैंस), और स्वप्न-विश्लेपण (ड्रीम ऐनेलिसिस)। मनोविश्लेषक की तरह उपन्यासकार भी इन प्रणालियो को अपनाता है, पर उसका उद्देश्य भिन्न होता है।[१४६] मनोविश्लेपक की तरह वह अपने पात्रों को स्वस्थ करने के लिए उन पर इन प्रणालियों का प्रयोग नही करता, न ही वह अपने पात्रों व पाठकों को कोई सलाह देता है, प्रत्युत् उसका उद्देश्य होता है—पात्र के अचेतन में व्याप्त संघर्ष को ध्वनित करके भिन्न-भिन्न स्थितियों में उनके भाव, विचार और आचार को प्रेरित करने वाले कारणों में एकरूपता लाना ताकि वे पाठकों की समझ में आ सकें।

मुक्त आसग (फ्री एसोसिएशन) प्रणाली—मुक्त आसंग में पात्र आराम से लेट जाता है और अपने मन को खुला छोड़ देता है कि वह कहीं जाए। तब उससे कहा जाता है कि उसके मन में जो कुछ भी आ रहा है, उसे कहता चला जाए; मानों वह रेलगाड़ी की एक खिड़की में बैठा है और उसकी आँखों के सामने से जो कुछ भी गुजर रहा है, उसे वह अपने पीछे बैठे साथी को बता रहा है, कुछ भी छोड़े बिना। मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि इस प्रकार व्यक्ति जब युक्तियुक्त विचार के बोझ से बच जाता है, उसके अचेतन में धँसी सामग्री चेतन में आने लगती है और इसी सामग्री में उसकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों से सम्बन्धित गहरा आतरिक अर्थ रहता है। यह प्रणाली व्यक्ति को आरोपित अर्थ से मुक्त करा देती है ताकि वह गहरा अर्थ जिसका सम्बन्ध उसकी अतृप्त महत्वाकांक्षाओं से होता है, उभर आए।[१४७]

१४४. Ruch, 'Psychology and Life', p. 527-528.

१४५. Freud, 'New Introductory Lectures on Psycho-analaysis', 1933, p. 112 : "Psycho-analysis aims primarily at the reclamation of the Id by the Ego."

१४६. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 130.

१४७. P. Schilder, 'Psycho-analysis, Man and Society', W. W. Norton, New York, 1951, p. 7 : "This method liberates the individual from the constraint of a superficial meaning so that a deeper meaning may come to surface, a meaning which is in relation to the unsatisfied needs and wishes of the individual's life."
Karen Horney. 'Self-Analysis', p- 101.

मुक्त आसग में पात्र का कर्तव्य होता है : १. अपने मन में जो भी उठ रहा हो—विचार, इच्छा, द्वन्द्व और तज्जनित शारीरिक सवेदना आदि—उसे सचाई और स्पष्टता के साथ पूरा-पूरा बताते चलना, २. अपने अचेतन में काम कर रही प्रेरणाओ के प्रति जगरूक होना और ३. धीरे-धीरे उन अचेतन प्रतिन्यासों (ऐटिच्यूड) के बदलने के लिए जो उसे प्राय: असतुलित कर देते है, अपने में योग्यता पैदा करना। मनोविश्लेपक का काम होता है : १. देखना-सुनना (ऑब्जर्वेशन) २. समझना (अडर्स्टैंडिग) ३. व्याख्या करना (इन्टरप्रेटेशन) ४. बाधकता के समय सहायता देना (हेल्प इन रेजिस्टेन्स) और मनुष्यता के नाते पात्र को अन्य साधारण सहायता देते रहना।[१४८] उपन्यास के पात्रो से यह आशा तो रखी जा सकती है कि वे पूरी सचाई और स्पष्टता के साथ, अपने मन में जो हो रहा है उसे बताते चलें और अचेतन में काम कर रही प्रेरणाओ के प्रति सजग रहकर उनका भी उल्लेख करते जाएँ, पर उनसे यह माँग नहीं की जा सकती कि वे अपने अचेतन प्रतिन्यासों को बदलने की चेष्टा करे। इसी प्रकार, उपन्यासों में मनोविश्लेषक का-सा काम करने वाला पात्र दूसरे पात्र द्वारा दिए गए ब्योरे को ध्यान से सुनता रहेगा, समझता रहेगा, उसके रुकने पर सौजन्यपूर्ण प्रश्नों द्वारा उसे बार-बार मुखरित करता रहेगा तथा उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए उसे अन्य साधारण सहायता भी देता रहेगा, पर वह व्याख्या द्वारा पात्र को समझाने नही बैठेगा। व्याख्या वह करेगा, पर मुक्त आसग की समाप्ति के बाद उस पात्र की अनुपस्थिति में, क्योंकि उसकी व्याख्या पात्र के लिए नही, पाठक के लिए होगी।

जैनेन्द्र के उपन्यास 'जयवर्धन' में मुक्त आसंग प्रणाली का सागोपांग प्रयोग हुआ है।

बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)

यद्यपि पात्र के मुक्त आसंग के आरम्भ होने से पहले ही मनोविश्लेषक उसे समझा देता है कि मुक्त आसंग के समय उसके मन में जो कुछ आए, उसे पूरे का पूरा, किसी अंश को छोड़े या बदले बिना, कहते जाने में उसका अपना ही हित निहित है, तो भी पात्र प्राय: उन स्मृतियों या अनुभूतियों को जिनके वर्णन में उसे व्यथा होती हो या लज्जा आती हो, या तो बिलकुल छोड़ जाता है या उनके वर्णन में हिचकिचाता है और या उनका उल्लेख करने से एकदम इनकार कर देता है। अपने मुक्त आसंग का वर्णन करता-करता पात्र ज़िस स्थल और विषय पर अचानक रुक जाता है और आगे खुलकर बताने में अनाकानी करने लगता है उन्हें मनोविश्लेपक बहुत महत्व देता है, क्योकि फ्रॉयड के अनुसार इन विपयों का उन पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो के अचेतन कारणो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में मनोविश्लेषक का मुख्य कर्तव्य हो जाता है कि पात्र की बाधकता को तोडकर उन दु:खद स्मृतियों इच्छाओ

१४८. Karen Horney, 'Self-Analysis: Analysis Share in the Psycho-analytical Process, p. 123 and also, p. 101 :

और अनुभूतियों को उसके चेतन मन में लाए, क्योंकि जब तक उसका चेतन मन उसकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप और उनके कारण को समझेगा नहीं, उन्हें हल करने में उसे सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम-ऐनेलिसिस)

वस्तु-जगत के व्यक्तियों की भांति उपन्यास जगत के पात्र भी सो लिया करते हैं, पर उनका सोना दिन भर की थकान दूर करने के लिए नहीं, औपन्यासिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। इसीलिए, जब वे सोते हैं तो निर्बाध निद्रा का आनन्द नहीं ले पाते। रात भर वे अनेक प्रकार के स्वप्न देखते रहते हैं जिनके विश्लेषण द्वारा उपन्यासकार उनके चरित्र-विकास की टूटी कड़िया जोड़कर उसे पाठकों के लिए सुबोध बना देता है।

स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म) —फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है,[१४९] इसलिए, विश्लेषण द्वारा वे सिर-पैर के विचित्र से विचित्र स्वप्नों की भी युक्ति-युक्त व्याख्या की सकती है।[१५०] स्वप्न का अर्थ ही उसका कारण होता है।[१५१] इसलिए, स्वप्न का अर्थ जान लेने पर स्वप्न के कारणों का, जो पात्र के अचेतन में उथल-पुथल मचाकर उसे बेचैन किए रखते हैं, पता चल जाता है। इसी कारण फ्रॉयडवादी व्यक्ति के अचेतन को समझने में स्वप्न-विश्लेषण की उपादेयता पर बहुत जोर देते हैं।[१५२] उनका विश्वास है कि हमारे अचेतन सघर्ष के कारण जो जागृतावस्था में चेतन मन में नहीं व्यक्त हो पाते, बहुधा हमारे स्वप्नों में अभिव्यक्ति पा जाया करते हैं। और यदि वे कारण इतने दुःखद या असामाजिक हों कि सुषुप्तावस्था में भी वे अपने मूल रूप में हमारी विवेक-बुद्धि को स्वीकार्य न हों, तो वे स्वप्न में रूप बदलकर आया करते हैं। उनके रूप बदलने की क्रिया को स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म) कहते हैं।

फ्रॉयड ने मुख्य रूप से पाँच प्रकार के स्वप्न-संघटन माने हैं—१. संघनन (कन्डेन्सेशन), २. विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), ३. नाटकीकरण (ड्रामेटाइजेशन), ४. प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) तथा ५. सेकण्डरी एलेबोरेशन। जिस स्वप्न-संघटन में अनेक विचारों और व्यक्तियों से सम्बन्धित दमित भावनाएँ स्वप्न में इस प्रकार प्रकट हों कि वे सब मिलकर एक से ही सम्बन्धित प्रतीत हों, उसे 'कन्डेन्सेशन' कहते हैं।[१५३] जिस स्वप्न-संघटन में किसी व्यक्ति के प्रति जागृतावस्था की अनुभूतियाँ तथा सवेदनाएँ

---

१४९. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 15 and 150.

१५०. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 34.

१५१. Frink, 'Morbid Fears and Compulsions'', p. 19-22.

१५२. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 559.

१५३. Freud, "Interpretation of Dreams", 'The Basic Writings of Sigmund Freud', trans. by Dr. A. A. Brill, Modern Liby., New York, 1938, p. 320.

उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाएँ, उसे 'डिस्प्लेसमेंट'[१५४] कहते हैं। स्वप्न से एकदम पहले की जागृतावस्था के भावो या विचारों का स्वप्न में छाया-चित्रो के रूप में प्रकट होना, नाटकीकरण कहलाता है। जहाँ व्यक्तियों या घटनाओं से सम्बन्धित दु:खद या असामाजिक अनुभूतियाँ या सवेदनाएँ अपने मूल रूप में प्रकट न होकर प्रतीकों के सहारे रूप बदलकर प्रकट होती हैं, उस स्वप्न सघटन को 'प्रतीकीकरण' कहते हैं।[१५५] नाटकीकरण और प्रतीकीकरण स्वप्न-सघटन में अन्तर यह है कि नाटकीकरण में प्रतीक और प्रतीकीकृत भाव का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है, जबकि प्रतीकीकरण में उनका सम्बन्ध व्यापक (समष्टिगत) होता है।[१५६] जिस क्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति स्वप्न से जागृतावस्था की ओर बढने के साथ-साथ स्वप्न में देखी बातों में एक कृत्रिम क्रम लाता जाता है, उसे 'सेकण्डरी एलेबोरेशन' कहते है।[१५७]

उपन्यास म स्वप्न-विश्लेषण—इन स्वप्न-संघटनो के माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रो की अचेतन प्रेरणाओं को, जो उनके अजाने में ही उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी स्थिति से उनका मानसिक संतुलन नही बैठने देती, प्रकाश में लाता है। उदाहरणार्थ, अज्ञेय के 'शेखर . एक जीवनी', पहला भाग के पृष्ठ १४२-१४३ पर का शेखर का स्वप्न लें। उस स्वप्न मे 'कन्डेन्सेशन' मैकेनिज्म से उसके गत जीवन के अनेक भाग, विचार और सवेदनाएँ तथा कई दृश्य मिलकर एकाकार हो गए हैं। प्रतीकीकरण द्वारा शेखर के जीवन की कटु और नीरस यथा-र्थता मरुस्थल के रूप में प्रकट हुई है और नाटकीकरण द्वारा उसको अहं (एगों) ने ऊँट का रूप धारण किया जिस पर चढ़ कर वह उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। 'शेखर : एक जीवनी' के पहले भाग के पृष्ठ १९५ पर शेखर का जो स्वप्न मिलता है, उसमें पहले दिन की शान्ति के प्रति शेखर की समस्त सवेदनाएँ विस्थापित होकर शारदा से गँठ जाती है और इस प्रकार उपन्यासकार यह दिखा कर कि शारदा को भुलाकर शान्ति के प्रति शेखर का आकृष्ट होना शेखर की विवेक-बुद्धि को स्वीकार्य न था, शेखर के अचेतन में सक्रिय उसकी यौन (सैक्स) प्रवृति तथा विवेक-बुद्धि (कान्शेस) के संघर्ष को व्यक्त करा देता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जहाज़ का पछी' के पृष्ठ ४५०-४५१ पर नायक का लीला सम्बन्धी स्वप्न जिस रूप में उपलब्ध है, यह वही नही जो वास्तव में उसने देखा था। जागने पर तो वह स्वप्न उसको एकदम भूल गया था और "अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नों (सेकण्डरी एलेबो-रेशन) के बाद ही वह उस स्वप्न के आभास को सचेत मन पर लाने में सफल हुआ था।"

१५४. Ibid, p 336.

१५५ Ibid, p. 370

१५६. Dalbioz, 'The Psycho-analytical Mothod and the Doctrine of Freud', p. 105.

१५७. Ibid. p. 120-121.

निराधार प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण (हैल्युसीनेशन ऐनेलिसिस)

स्वप्न-विश्लेषण के अतिरिक्त उपन्यासकार कई बार पात्रो के निराधार प्रत्यक्षीकरण के विश्लेषण द्वारा भी अचेतन में व्याप्त सघर्ष का आभास करा दिया करता है। 'हैल्यूसीनेशन' में व्यक्ति उद्दीपन (स्टिमुलस) की अनुपस्थिति में भी उसे प्रत्यक्ष देख लेता है। मानसिक रोगग्रसित व्यक्तियो को साधारण परिस्थितियो में भी 'हैल्यूसीनेशन' हो जाता है।[१५८] स्वप्न की भान्ति 'हैल्यूसीनेशन' भी निरी मनोरचना होती है।[१५६] 'हैल्यूसीनेशन' और स्वप्न में अन्तर यह है कि स्वप्न में निराधार प्रत्यक्षीकरण सुपुप्तावस्था में होता है और 'हैल्यूसीनेशन' में वह जागृतावस्था में ही हो जाता है।[१६०] 'हैल्यूसीनेशन' में अधिकतर दृष्टि तथा ध्वनि सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण ही पाया जाता है।[१६१] 'हैल्यूसीनेशन' का रोगी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो उसे भ्रम कहकर टाल देता है, पर रोग के बढ़ जाने पर जब दिखाई देने वाली शकलें या सुनाई देने वाली आवाजे उस पर काबू पा लेती हैं तो वह उन्हे सत्य मान लेता है।[१६२]

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'कल्याणी' में नायिका के 'हैल्यूसीनेशन' द्वारा, जिसमें वह प्रतिदिन गुसलखाने में रोने और झगडने की आवाजे सुनती हैं और एक आदमी को वहाँ से निकलकर जाते देखती है,[१६३] उसके अचेतन में मच रही उथल-पुथल का परिचय कराया है।

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)

मानसिक रोगों के इलाज में सम्मोह-प्रक्रिया का वास्तविक महत्त्व है, यद्यपि है वह सीमित ही। सम्मोहन द्वारा सम्मोहक पात्र को सम्मोह-निद्रा की अवस्था में ले आता है और फिर धीरे-धीरे उससे प्रश्न करता हुआ उसके गत जीवन की घटनाओं और तज्जनित अनुभूतियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है जो उसकी मनोवैज्ञानिक समस्याओ का मूल कारण रही हों। आरम्भ मे तो फ्रॉयड भी इस बात से सहमत रहा कि सम्मोहन द्वारा व्यक्ति के अचेतन में दबी पडी अनुभूतियों को प्रकाश में लाया जा सकता है, पर बाद में इस क्रिया से उसे घृणा हो गई, क्योंकि इस क्रिया द्वारा प्राप्त फल अस्थायी होता है।[१६४] उसके सबसे बड़े आश्चर्य का कारण यह था कि सम्मोहन-निद्रा से उठने पर पात्र को उसके बारे में उन भेदों का कुछ भी पता

---

१५८. शशिलता सिन्हा, 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पुस्तक भण्डार, पटना, १९५५, पृष्ठ १५७।
१५६. Sinha, 'Indian Psychology : Perception', p. 314.
१६०. Frank Padmore, 'Apparitions and Thought Transferance', p. 186.
१६१. शशिलता सिन्हा, 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पृष्ठ १५७।
१६२. McDougall, 'An Outline of Psychology', p. 373.
१६३. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५३, पृष्ठ ७३-७५।
१६४. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud, p. 208.

नही रहता जो उसने सम्मोह-निद्रा में व्यक्त की हों। इस प्रकार, सम्मोह-निद्रा में व्यक्त अनुभूतियाँ व्यक्ति के चेतन में नही आ पाती। फ्रायड का दृढ़ विश्वास था कि जब तक व्यक्ति अपने अचेतन में दमित ग्रन्थियों और उनके कारणो को चेतन मन में स्वीकार न कर ले उसकी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ सुलझ नही सकती।[१६५]

सम्मोहन की प्रक्रिया—सम्मोहन-क्रिया कोई जादू नही। यह तो एक उच्च-सुझावपूर्ण अवस्था होती है, जिसमें जानकार सम्मोहक रजामन्द पात्र को ले आता है। सम्मोहन की कई प्रणालियाँ हैं, सिद्धान्त सब का एक ही है। सबसे पहले पात्र को बुद्धि-प्रयोग त्यागकर अपने आपको सम्मोहक की इच्छा पर छोड देना होता है, फिर सम्मोहक उसे धीरे-धीरे आदेश देने लगता है; जैसे, 'काउच पर लेट जाओ।' फिर वह पात्र को कुछ ऐसी बात बताता है जो पूर्णतया सत्य होती है। जैसे 'कमरा शान्त है, बत्तियाँ नीची हैं।' इस प्रकार पात्र का विश्वास प्राप्त कर लेने पर वह उसे कुछ ऐसी बात बताता है जो आंशिक रूप में ही सत्य होती है और फिर वह उसे ऐसे काम करने का आदेश देता है जो अधिक असाधारण नही होते। इस प्रकार, सम्मोहन की ऊँची अवस्था में पात्र को एकदम असत्य बात का भी विश्वास कराया जा सकता है और उससे वे काम करवाए जा सकते हैं जिनके बारे में साधारणतः वह सोच भी नही सकता और जिनको वह एकदम असम्भव समझता है। इस सारे समय में सम्मोहक एक ऐसी आवाज में बोलता रहता है जो पात्र को मोहित करके उसे पूर्णतः शिथिलावस्था में ले आती है।

उपन्यास में सम्मोह-विश्लेषण—सम्मोहन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस प्रक्रिया द्वारा प्रत्यावर्तन (रिग्रेशन) को भी सम्भव बनाया जा सकता है। सम्मोहित व्यक्ति को विश्वास दिला दिया जाता है कि वह छोटी उमर का है और उसे यह बताने के लिए कहा जाता है कि वह क्या कर रहा है, उसके अनुभव क्या हैं और उसकी महत्वाकांक्षाएँ क्या है? सम्मोह-निद्रा में व्यक्ति उन सब अनुभूतियों को स्पष्टतया याद कर लेता है जो वर्षो से उसके अचेतन में दबी पड़ी हों।[१६६] सम्मोहन के बारे में दो बाते उल्लेखनीय हैं। एक यह कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मोह-निद्रा में नहीं लाया जा सकता और दूसरे, सम्मोहित कर लेने पर भी उससे उसकी किसी मूल नैतिक धारणा के विरुद्ध कार्य नही कराया जा सकता।[१६७]

कई उपन्यासकारों ने भी अपने उपन्यासों में सम्मोह-विश्लेषण का प्रयोग किया है। अपने पात्रों की सम्मोह-निद्रा में वे उनके अचेतन में पडी ग्रन्थियों का उद्घाटन कराकर उनके चरित्र-विकास की टूटी कड़ियों को जोड़ लेते है। इलाचन्द्र

१६५. Ruch, 'Psychology and Life', p. 528.
Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 136.

१६६. Ruch, 'Psychology and Life', p. 518.

१६७. Dr. Tracy, 'How to Use Hypnosis', Arco, London, p. 8-9.

जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र इस कला में दक्ष है और वह समय-समय पर इसका प्रयोग नायिका पर करके उसकी अचेतन प्रेरणाओं को प्रकाश में लाता रहता है।

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनैलिसिस ऑव रिकोलेक्शन्स)

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में बाल्यकाल के प्रथम पाँच वर्ष शेष समस्त जीवन से अधिक महत्त्व के ठहरते है। फ्रायड की धारणा है कि मनुष्य के बाद के जीवन की असंगतियों और विकृतियों का मूल उसके बाल्य-काल की उन दुःखद अनुभूतियों में होता है जो उस समय सुलझे बिना अचेतन में दमित (रिप्रेस्ड) हो जाती हैं।[१६८] व्यक्ति-मनोविज्ञान के प्रवर्त्तक एडलर का तो यहाँ तक विश्वास है कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे का जीवन के प्रति एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, जीवन भर वही बना रहता है और उस दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न असगतियो मे ही व्यक्ति के वर्तमान और अतीत की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के कारण निहित रहते हैं।[१६९] इसीलिए, व्यक्ति की बाल्य-काल की घटनाओं और उनके प्रति उसके दृष्टिकोण को जानने के लिए उसकी बाल्य-काल की स्मृतियो का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।[१७०] यद्यपि फ्रायड बाल्य-काल की स्मृतियों के महत्व पर ही बल देता है, एडलर बाल्य-काल की पुरानी स्मृतियों तथा बाद की अपेक्षाकृत नई स्मृतियो में कोई अन्तर नहीं समझता।[१७१] उसका विश्वास है कि स्मृतियाँ नई हों या पुरानी जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है।[१७२]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों के अचेतन को उघाडने के लिए प्रत्यवलोकन विश्लेषण का खूब प्रयोग होता है। पात्रों की वर्तमान मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अचेतन कारणों के पकड़ने के लिए उपन्यासकार उनकी स्मृतियों का वर्णन करने लगता है और फिर विश्लेषण द्वारा उनकी असंगतियो की प्रेरक दुःखद अनुभूतियों को व्यक्त करता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' के आरम्भ में ही उसके नायक पारसनाथ को रात भर नीद नहीं आती और उसके गत जीवन की दुःखद घटनाएँ—उसके पिता को उसे जारज संतान घोषित करना और उसकी माँ को तंग करना, एक पहाड़ी लड़की से उसका प्रेम हो जाना और बाद में उसे छोड़ भागना आदि—उसके स्मृति-पट पर उभरने लगती हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास 'व्यतीत' का नायक जयत अपने

१६८. Freud, 'New Introductory Lectures on Psycho-analysis, W. W. Norton, New York, 1933, p. 201.

१६९. Adler, 'The Science of Living', Green Berg, New York, 1929, p. 118.

१७०. Freud, "Psychopathology of Everyday Life : Childhood and Concealing Memories", 'The Basic Writings of Sigmund Freud' : Brill, p. 62.

१७१. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfred Adler', p. 191—comments.

१७२. Adler, 'Science of Living. p. 118.

जन्म-दिवस पर प्रत्यवलोकन द्वारा अपने गत जीवन का विश्लेषण करते-करते एक पुस्तक लिख डालता है। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' का नायक जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर प्रत्यवलोकन करने बैठ जाता है। चलचित्र के समान एक-एक करके अतीत की घटनाएँ उसके स्मृति-पट पर नाचने लगती हैं और वह अपने जीवन की सिद्धि की खोज में उनका विश्लेषण करता जाता है।

इस प्रकार, नायक के प्रत्यवलोकनों के विश्लेषण द्वारा उनके चरित्र के क्रमिक विकास को चित्रित करना कई मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की मुख्य टैक्नीक बन गई है।

पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

व्यक्तित्व-अध्ययन के लिए पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली अन्य सभी प्रणालियां से अधिक उपयोगी समझी जाती है, क्योंकि अन्य प्रणालियाँ प्रायः विश्लेषणात्मक होती हैं, जबकि यह सश्लेषणात्मक है। यदि इस प्रणाली का उचित प्रयोग किया जाए तो यह मनोविज्ञान और साहित्य दोनों की कसौटी पर पूरी उतर सकती है।[१७३] इस प्रणाली में मनोवैज्ञानिक अपने पात्र की वर्तमान मानसिक अवस्था और उसके कारणों को समझने के लिए उनके पूर्ववृत्त और उनकी विगत अनुभूतियों को एकत्रित करता है। इनके अतिरिक्त, वह पात्र पर किए गए अपने विभिन्न प्रयोगों का विवरण, मनोविश्लेषण द्वारा निकले निष्कर्ष तथा विविध प्रकार के आँकड़ों को भी उसमें सम्मिलित करता है। सफल पूर्ववृत्त में इन विषयों पर प्रमाणिक सामग्री का होना अत्यावश्यक है—१. पात्र की वर्तमान अवस्था, २. पात्र पर पड़े पहले के प्रभावों और उनका विकास-क्रम तथा ३. उसकी भावी प्रवृत्तियों का अनुमान। किसी भी व्यक्ति को पूरी तरह समझने के लिए इन तीनों प्रकार की जानकारी का होना जरूरी है।

इस प्रणाली में कुछ-एक त्रुटियाँ भी हैं, जिनके कारण इस पर पूर्णतया निर्भर नही किया जा सकता। इसमें पहली कमी यह है कि पूर्ववृत्त इतने अधिक 'ऑब्जेक्टिव' होते हैं कि वे मनोवैज्ञानिक पात्र के अन्तर्मन की गहराइयों तक नहीं पहुँचा पाते।[१७४] दूसरे, यदि मान लें कि किसी एक में पात्र का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, तो भी जिन साधनों से सामग्री एकत्रित की जाती है वे ही पूर्णतया विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ, विक्षिप्त या अर्द्धविक्षिप्त पात्रों के पूर्ववृत्त को जानने के लिए उनके मातापिता, दोस्तों-मित्रों तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा दिए गए ब्योरों पर ही विश्वास करना पडता है, जबकि हम जानते हैं कि इस प्रकार के विवरणों की सत्यता कितनी संदिग्ध होती है। वे लोग चाहे कितनी सचाई से ब्योरा दें, उनके अपने पूर्वग्रह उनमें प्रतिबिम्बित हुए बिना न रहेंगे।

उपन्यासकार इस प्रणाली का अच्छा उपयोग उठा सकता है। अपने पात्रों का स्रष्टा, अत· पूर्णज्ञाता, होने से वह उन त्रुटियों से बच सकता है जो मनोवैज्ञानिक

१७३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation'' p. 394-395.

१७४. Stagner, 'Psychology of Personality, p. 55.

द्वारा संकलित सामग्री को सदिग्ध बना देती है। इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यास 'जहाज का पछी' में इस प्रणाली का खूब प्रयोग किया है। इस उपन्यास का उत्तरार्द्ध पात्रो के पूर्ववृत्तो से भरा पड़ा है।

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट)

शब्द-सहस्मृति-परीक्षणो में मनोवैज्ञानिक पात्र को एक शब्द-शृंखला सुनाता या पढाता है और उससे पूछता जाता है कि प्रत्येक शब्द पढने या सुनने के बाद उसके मन में प्रतिक्रियारूप में कौनसा शब्द सबसे पहले उभरा। पात्र द्वारा बताए गए शब्द के विश्लेषण से वह उसकी मानसिक कठिनाइयो को पकड़ने का प्रयत्न करता है। अनेक बार अपराधियों की जाँच करने के लिए भी इस परीक्षण का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।[१७६]

उपन्यासकार इस प्रणाली का प्रयोग कर सकता है, पर उपन्यास में वह औपन्यासिक सुविधा के अनुकूल रूपान्तरित होकर ही आती है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो में पात्रो के मन पर होने वाली विशेष शब्दों की प्रतिक्रिया के विश्लेषण द्वारा उनके अचेतन में व्याप्त सघर्ष को उघाडा गया है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ 'विवाह' शब्द से चौक उठता है। 'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र पर 'नीरू' शब्द जादू का असर करता है।

नाटकीय (ड्रामैटिक) चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

कथानक और चरित्र-चित्रण के आधार पर किए गए उपन्यासों के वर्गीकरण की व्यर्थता दिखाते हुए हेनरी जेम्स अपने लेख 'द आर्ट ऑव फिक्शन' में लिखता है: चरित्र यदि घटनाओं का परिणाम नहीं तो और क्या है तथा घटना चरित्र की व्याख्या के अतिरिक्त और क्या है?

वास्तव में, पात्र की परिस्थितियों और उसके चरित्र में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध होता है। कभी उसका चरित्र अनेक घटनाओं को उभारता है और कभी उसके जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ उसके चरित्र को निखारती हैं। घटनाएँ मानव-चरित्र को प्रभावित ही नहीं करतीं, उसे उघाड़ने में ही सहायक सिद्ध होती हैं। सामान्य अवस्था में पात्र अपने जिस भेद को प्रकट होने से बचा लेता है, घटना की लपेट में आकर वह अपने आप प्रकट हो जाता है। इसलिए, उपन्यासकार अपने उपन्यास में घटनाओं का समावेश केवल कथानक को गति देने के लिए नहीं, पात्रों के चरित्र-

१७५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 38, and
Ruch, 'Psychology and Life', p. 555-557.

१७६. H. Crosland, 'The Psychological Methods of Word-Association and Reaction Time as Test of Deception', University of Oragon Publications' Psychol. series, 1929, 1 : No 1.

विकास तथा उसकी विविध अवस्थाओ के उद्‌घाटन के लिए भी करता है; और कई बार छोटी-छोटी घटनाओ के माध्यम से पात्रों की मनोस्थिति को इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त करा देता है कि कई पृष्ठो तक फैले मनोविश्लेषण और लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ भी इतनी स्पष्टता से नही बता पातीं।

प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास के आरम्भ में निर्मला के पिता की मृत्यु की एक ही घटना उसके समस्त जीवन-क्रम को बदल देती है। इस घटना के समावेश से उपन्यासकार निर्मला के चरित्र-विकास की दिशा ही मोड़ देता है। उनके उपन्यास 'ग़बन' में अकेली ग़बन वाली घटना नायक के जीवन में इतनी उथल-पुथल मचा देती है कि वह अपना मानसिक संतुलन खोकर घर से भाग निकलता है। प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार की असख्य घटनाओं से भरे पडे हैं जिनके द्वारा उपन्यासकार ने पात्रों के चरित्र के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उद्‌घाटन किया है। जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' में विजय द्वारा महंत के गला घोंटने वाली घटना द्वारा विजय की तत्कालीन आवेगज मनोस्थिति का सुन्दर परिचय मिलता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—घटनाओं का सम्बन्ध तो उपन्यास के कथानक तथा पात्र दोनों से होता है, पर उपन्यास में कथोपकथन का समावेश प्रायः पात्रों के चरित्रोद्‌घाटन के लिए ही होते हैं। पात्रों के संवादो में, यदि वे कृत्रिम न हों, उनकी चारित्रिक विशेषताएँ मुखरित हो उठती हैं। पूर्वरचित लम्बे-लम्बे भाषणों में तो भले ही वक्ता अपनी वक्तृता की ओट में अपनी चारित्रिक कमियो को छिपा जाए, पर सहज स्वभाव से हो रही बात-चीत में वे अनायास ही झलक पड़ती है।

कथोपकथन का उपन्यास में चाहे उतना अधिक महत्त्व न हो जितना नाटक में, फिर भी उपन्यास में उचित मात्रा में सवाद न होने से यह बोझल लगने लगता है। शायद ही ऐसा कोई उपन्यासकार मिलेगा जिसने अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए उनके कथोपकथनों को माध्यम न बनाया हो।

उद्धरण-शैली

मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि हमारा किसी गीत की अधूरी तान छेड़ना, किसी गद्य या पद्यो के अंश को सुनाने या गाने लगना, यहाँ तक कि मुँह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना भी अकारण नहीं होता। हमारी इस प्रकार की क्रियाओं का भी एक अर्थ होता है, जिसे समझ लेने से उनके कारणों तक पहुँचा जा सकता है[१७७] जो हमारे चेतन मन में चाहे न आए हों। उपन्यासकार भी अपने पात्रों द्वारा उद्धृत दूसरों के गद्य या पद्य के माध्यम से उनके प्रेरक भीतरी कारणो को अभिव्यक्त कराया करता है।

उद्धरण शैली की एक विशेष उपयोगिता है। उद्धरणों के रूप में फूट निकलने वाले भाव पात्रो की उस समय की निजी भावनाओं के समसाम्य होते हुए भी उनके

१७७. Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis', Eton Edn., 1952, p. 112.

अपने प्रतीत नही होते । इसलिए, जब कोई पात्र अपनी निजी भावनाओं को किसी दूसरे पात्र पर प्रकट करना चाहता हो, पर उनके अत्यन्त निजी तथा असामाजिक होने के कारण उन्हें उस पात्र पर व्यक्त करने से डरता हो कि न जाने वह उन्हें किस रूप में ग्रहण करे, तो वह इन भावनाओ से मिलते-जुलते दूसरो के कथनों को उद्धृत करके पहले देख सकता है कि उनके प्रति उस पात्र की प्रतिक्रिया कैसी होती है । प्रेमी या प्रेमिका जब पहली बार एक-दूसरे के प्रति अपना प्रेम-ज्ञापन करते है तो वे दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाओं को शीघ्रातिशीघ्र व्यक्त करने की इच्छा रखते हुए भी ऐसा नही करते, क्योकि प्रेम-निवेदन करने से पहले वह यथासम्भव यह जान लेना चाहा करते है कि उनका यह निवेदन किस रूप में ग्रहण किया जाएगा । इस लिए जब तक उन्हे अपने प्रति दूसरों की भावनाओं का निश्चय न हो, वे दूसरो के उद्धरणों की आड मे बेखटके आत्माभिव्यक्ति कर सकते हैं ।

अज्ञेय के उपन्यासो में हिन्दी, संस्कृत, अग्रेजी, बगला, पजाबी आदि भाषाओ के गद्य-पद्याश प्रचुर मात्रा मे उद्धत मिलते है । इन उद्धरणों का अधिकाश प्रयोग ऐसी परिस्थितियो में हुआ है जहा पात्रो की स्पष्टोक्तियो में अश्लीलता या असामाजिकता की गंध आ सकती थी । शेखर और शशि एक-दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाएँ उद्धरणो के रूप में ही अभिव्यक्त करते है । बहन-भाई होने से, दूसरो की आड़ लिये बिना, उनका काम चल नहीं सकता था । रेखा और भुवन को भी उद्धरणों के रूप में आत्म-ज्ञापन अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है ।

डायरी द्वारा चरित्रचित्रण

कई मनुष्यो की आदत नियमित रूप से डायरी लिखने की होती है और कई कभी-कभी, जब झोंक में हों, डायरी लिखा करते हैं । इन डायरियों के अर्थ व्यक्तिगत नोटबुको से लेकर स्वयं-ज्ञापक आत्मकथा तक, कई रूप मिलते हैं । डायरी चाहे कैसी हो, इससे व्यक्ति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है । मनोविश्लेषक के लिए डायरी बड़ी मूल्यवान सामग्री होती है । उपन्यासकार भी अपने पात्र के चरित्र-विकास की टूटी कड़ियाँ जोड़ने के लिए उसकी डायरी पाठकों के सामने खोल देता है । डायरी के माध्यम से उपन्यासकार पात्रों की ऐसी मानसिक समस्याओं का आभास करा देता है जो पात्रो को निरंतर बेचैन किए रखती हैं, पर जिन्हें वह किन्हीं कारणों से दूसरों पर प्रकट नही कर पाता । ऐसे पात्र प्राय. अंतर्मुख होते हैं, जो चेष्टा करने पर भी दूसरो से घुल-मिल नहीं पाया करते ।

जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'तितली' के नायक इन्द्रदेव की समस्त मनोव्यथा उसकी डायरी में उमड़ आती है । इस डायरी के अभाव में न तो कभी शैला ही उसकी मानसिक उथल-पुथल को समझ पाती और न पाठक ही उसके चरित्र-विकास की इस टूटी कड़ी को जोड पाता । इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' के धीराज की आत्महत्या के कारणों का भी डायरी से ही पता चलता है जिसके अभाव में उसकी आत्महत्या

एक पहेली बनी रहती। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की रेखा की डायरी के माध्यम से ही भुवन यह जान सका था कि उन दोनों के यौन सम्बन्ध से उत्पन्न 'सर्जन वायलिनिस्ट' को रेखा न क्यों कच्चा गिरा दिया था। हिन्दी के उपन्यासो में इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उपन्यासकार ने डायरी के माध्यम से पात्रो के उन अतर्द्वन्द्वो को व्यक्त कराया है, जो सामान्यत· कभी प्रकाश में न आ पाते और जिन्हें जाने बिना पात्रों के चरित्र-विकास में सगति बैठाना कठिन हो जाता।

पत्रात्मक-शैली

कई बार उपन्यासकार को अपने पात्रों के चरित्र के किसी विशेश पक्ष को उद्‌घाटित करने के लिए पत्रात्मक शैली का सहारा लेना पड़ता है। पात्रो के स्वभाव का वह अ श जो अभी तक समाज की आँखों से ओझल रहा हो, किसी घनिष्ठ मित्र या सम्बन्धी को लिखे पत्र में सहसा अभिव्यक्ति पा जाता है, और उसमें पात्रों द्वारा स्वीकारोक्ति के रूप में उनकी अनेक परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वर्णन कराके उपन्यासकार उनके चरित्र-विकास की अनेक उलझनों को सुलझाता हुआ उन्हे पाठकों के लिए सुबोध बना देता है। जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'ककाल' के अ'तिम चरण में किशोरी को लिखा चेतन का पत्र चेतन के चरित्र-विकास की अनेक टूटी कड़ियों को जोड़ देता है। उस पत्र के अभाव में वह पात्र पाठकों के लिए पहेली बना रहता।

जब पात्र एक-दूसरे के पास हों और उनका आपस में मिलना-जुलना होता रहता हो तब तो उनका अन्तरंग उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया में, उनकी पारस्परिक बात-चीत, अनुभावों आदि में प्रतिबिम्बित होता रहता है, पर एक-दूसरे से दूर अलग जा पडने पर तो उनके पारस्परिक सम्बन्धों में होने वाला विकास-क्रम उनके पत्रों द्वारा ही व्यक्त होता है कि वे एक-दूसरे की ओर खिचते जाते हैं या दूर होते जाते हैं। इस प्रकार, पात्रों की परस्पर भेंटों के बीच जो एक अंतराल पड़ जाता है, उसमें उन पात्रों के एक-दूसरे के प्रति बदलते रहने वाले दृष्टिकोण के लिए भी उपन्यासकार पत्रात्मक शैली का प्रयोग किया करता है। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने इस शैली का भरसक प्रयोग किया है। 'नदी के द्वीप' के पात्र भिन्न-भिन्न नगरों में अलग-अगल रहते हैं। चार-छ: महीने में कभी कही एक-आध बार उनकी आपस में भेंट हो पाती है। पर इसी बीच, एक-दूसरे के प्रति उनकी संवेदनाएँ उनके पत्रों में उमड़ पडती है और पत्रों द्वारा ही वे दूसरों को प्रभावित करते रहते हैं और उनसे प्रभावित होते रहते है।

इस प्रकार, उपन्यासो में पत्रात्मक शैली का प्रयोग पात्रों के चरित्रोद्‌घाटन के लिए ही नहीं, चरित्र-विकास के लिए भी होता है।

दूसरा अध्याय

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि

(चरित्रचित्रण की दृष्टि से)

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि (चरित्रचित्रण की दृष्टि से)

(क) राजनीतिक परिस्थिति

अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा-भाव
अंग्रेजी राज्य में अनास्था
नैतिक पतन
राष्ट्रीयता का उदय
इण्डियन नैशनल कॉंग्रेस
क्रान्ति की ओर

(ख) सामाजिक आधार

शिक्षित मध्यवर्ग का उदय
सुधारवादी आन्दोलन
ब्राह्म समाज
आर्य समाज
प्रार्थना समाज
रामकृष्ण मिशन
थियोसोफिकल सोसायटी
हिन्दी के साहित्यकार

(ग) साहित्यिक परम्परा

सस्कृत-साहित्य
पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य
हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार
मुन्शी इंशाअल्लाखाँ
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा
श्रीनिवासदास
अम्बिकादत्त व्यास
बालकृष्ण भट्ट
हिन्दी में अनूदित उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि

हिन्दी-कथा-साहित्य का जन्म खड़ीबोली के गद्य के विकास के साथ ही हुआ। यों भी कह सकते है कि कथा-साहित्य के विकास के साथ ही गद्य का स्वाभाविक रूप प्रकाश में आने लगा। वास्तव में, आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक युग में कथा-साहित्य और गद्य का अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध रहा। उपन्यास का सर्वाधिक आकर्षण उसके पात्रो और उनके चरित्र के विकास में होता है, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के माध्यम से होती है और उनके लिए पद्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक उपयुक्त रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों हिन्दी-उपन्यास खड़ीबोली के गद्य के विकास की प्रतीक्षा में था। गद्य का विकास होते ही उपन्यास की धारा अपने सम्पूर्ण प्राण वेग से उमड़ पड़ी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य के ही जन्मदाता नहीं थे, हिन्दी गद्य के युग-निर्माता भी थे। यद्यपि हिन्दी-उपन्यास की लोकप्रियता देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों से ही बढ़नी आरम्भ हुई थी, उसकी दृढ पृष्ठभूमि भारतेन्दु युग (सन् १८५०-१९००) के प्रथम चरण से ही तय्यार होने लग गई थी। इस पृष्ठभूमि को तय्यार करने में भारतेन्दु-युग के हिन्दी-साहित्य का ही योग नही था, प्रत्युत् उस युग की अनिश्चित राजनीतिक परिस्थितियों तथा उसके उत्तरार्द्ध में चले समाज-सुधार के विविध आन्दोलनो का भी उसमें विशेष हाथ रहा। इसलिए, पहले उस युग की राजनीतिक परिस्थिति और उसके सामाजिक आधार का परिचय करा देना आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थिति

अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा-भाव

सन् १८५७ के विप्लव से पहले का अंग्रेजी राज्य कानून और व्यवस्था के राज्य की अपेक्षा ज़ोर-जबरदस्ती का तथा अत्याचार और सैन्य-बल का राज्य अधिक था।[1] देश के कोने-कोने में अंग्रेजी फौजें बिखरी रहती थी और आए, दिन उनका

१. Henry Dodwell, 'A Sketch of the History of India' (1858-1918); Longman's Green & Co., London, 1925, p. 246 :
"Until the Mutiny the English Government in India had always been accompanied by a great show of force"

दमन-चक्र चलता रहता था। पर अंग्रेज़ो की इस दमन-नीति के विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह के रूप में जो भयंकर प्रतिक्रिया हुई, उसने अंग्रेजो की आंखे खोल दी और वे महसूस करने लगे कि भारत पर अपने राज्य को चिर-स्थायी बनाने के लिए उन्हे भारतीयों के शरीर को ही नही, हृदय को भी जीतना होगा। विप्लव के बाद सन् १८५८ में नई सरकार की स्थापना हुई।[२] राज्य की बाग-डोर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के हाथ से निकलकर महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गई। सत्ता संभालते ही महारानी ने घोषणा की : हम अपनी भारतीय प्रजा के प्रति भी अपने को उसी प्रकार कर्तव्यबद्ध समझते हैं जिस प्रकार अपनी अन्य प्रजाओं के प्रति, क्योंकि प्रजा की सुख-स्मृद्धि में ही हमारी शक्ति है।[३] इससे देश भर में सान्त्वना की एक लहर दौड़ गई। शताब्दियो से चली आ रही राजनीतिक उथल-पुथल और अनिश्चितता से तग आई भारतीय जनता को चैन की साँस मिली। वैसे तो सन् १८१३ के 'चार्टर एक्ट' में भी अग्रेजों ने भारतीयों को आश्वासन दिया था कि भारतीयों की सुख-सुविधा को बढ़ाना हमारा कर्तव्य है,[४] पर विक्टोरिया के राज में कनेडा को मिली स्वतन्त्रता और अन्य देशो की अंग्रेजी प्रजाओं को मिले अधिकारों को देखते हुए भारतीयों की दृष्टि में विक्टोरिया की इस घोषणा का एक विशेष महत्व हो गया था। इन बातो ने मिलकर अग्रेज़ों के प्रति, उनके शासन के प्रति तथा उनकी महारानी के प्रति लोगो में श्रद्धा और स्वामिभक्ति का भाव जगा दिया और अग्रेज़ी राज्य में सड़क, रेल, तार, डाक, पुलिस, न्यायालय आदि की व्यवस्था से प्राप्त सुविधा और सुरक्षा के कारण अंग्रेज़ो की मुक्त कंठ से प्रशंसा होने लगी। साधारण

---

२. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of the British Rule in India Macmillan, London. p. 466.

३. R. C. Majumder, 'An Advanced History of India', Macmillan, London, p. 888.

"We hold ourselves bound to the natives of our Indian territories by the same obligations of duty which bind us to all our other subjects" (Queen's Proclamation of 1858).

P. Griffiths, 'The British Impact on India', Macdonald, London, 1952,? p. 274 :

"......their (Indian Subjects) prosperity will be our strength, and their contentment our security, and in their gratitude our reward." (Queen's Proclamation of 1858),

४. Majumder, 'An Advanced History of India', p. 888 :

"It is the duty of this country to promote the interest and happiness of the native inhabitants of the British dominions in India." (Charter Act of 1813).

अनपढ़ जनता ने ही नही, सिंधिया,[५] गोपालकृष्ण गोखले,[६] दादाभाई नॉरोजी[७] जैसे देश के चोटी के नेताओं तक ने भी अंग्रेजो और उनके राज्य की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। विक्टोरिया की घोषणा से लेकर सन् १८७५ में 'प्रिंस ऑव वेल्स' की राजकीय यात्रा तक का युग वह था जब चारों ओर अंग्रेजों की विरदावलियाँ गाई जा रही थी। इसलिए, उस युग के हिन्दी-साहित्य में भी यदि अंग्रेजों की प्रशस्ति मिले तो आश्चर्य की बात नही।

अंग्रेजी राज्य में अनास्था

यह स्थिति अधिक देर तक न बनी रह सकी। भोली भारतीय जनता यह आशा लगाए बैठी थी कि सदियो की अराजकता को मिटाने वाला अंग्रेजी शासन उनके लिए सुख-सुविधा के सभी उपकरण जुटाएगा, पर उसकी यह आशा पूरी न हुई। अंग्रेजों द्वारा दिए गए आश्वासन थोथे सिद्ध हुए। भारतीय जनता के प्रति उन्होने जो लम्बे-चौड़े वायदे किए थे, वे धरे के धरे रह गए[८]। उल्टे, आर्थिक रूप से जनता को अतिरिक्त बोझ सहना पड़ा। विद्रोह को दबाने के लिए अग्रेजों का जो खर्चा हुआ था उससे भारत सरकार का दिवाला निकल गया। अराजकता के चार वर्षो में सरकार को ३ करोड़ ६० लाख रुपए का घाटा पड़ा, जो उस समय की उसकी एक वर्ष की आय के बराबर था।[९] इस घाटे से मद्रास सरकार तो इतनी घबरा गई थी कि उसने केन्द्र को लिखा कि यह स्थिति तो स्वयं विद्रोह की स्थिति से भी अधिक

५. Dodwell, 'A Sketch History of India', p. 247-248 :
"Your prestige fills men's minds to an extent which, to men who know how things were carried on scarce fifty years ago, seems beyond belief... I never put myself on a mail cart, unattended and perhaps unknown without, appreciating the strength of your rule." (Scindia).

६. P. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 232 :
"The blessings of peace, the establishment of law and order, the introduction of Western education and the freedom of speech and appreciation of liberal institutions which have followed in its wake—all these are things which stand to the credit of your rule." (G. K. Gokhale).

७. Ibid, p. 232-33 :
"Law and order are its (of the British rule) first blessings. Security of life and property is a recognised right of the people . The native now learns and enjoys what justice between man and man means and that law, instead of despot's will, is above all." (Dadabhai Naoroji in his paper read at the East India Association in 1867).

८. Majumdar, 'An Advanced History of India'. p. 880 :
'All means were taken of breaking to the heart the words of promise they had uttered to the ear." (Lord Lytton I, the Governor-General in his confidential despath).

९. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of British Rule in India', Macmillan, London, p. 472,

मार्मिक है।[10] इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार ने कई प्रकार की योजनाएँ बनाईं पर उन सब का आशय यही था कि सरकार जनता पर खर्च कम करे और उसके सामने माँग अधिक की रखे। फलत. जनता पर अनेक प्रकार के टैक्स लगे पर बदले में उन्हें जो आराम मिला वह न के बराबर था। लगान के बढने से खेती की व्यवस्था बिगड़ गई।[11] अंग्रेजी उद्योगों की होड में भारत के ग्रामीण उद्योग समाप्त होने लगे या बलपूर्वक समाप्त किए जाने लगे। देश में चारो ओर निराशा का वातावरण छा गया।

नैतिक पतन—सबसे बडी बात यह थी कि लाख चेष्टा करने पर भी भारतवासी सन्' ५७ के विप्लव को भूल नही पाए थे। वास्तव में, अंग्रेजो के स्मृति-पट पर उस विद्रोह का चित्र ज्यों-ज्यों धुँधला पड़ता गया, त्यों-त्यो उसके सम्बन्ध में भारतीयों की स्मृति स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई और उनके हृदय का घाव हरा होता गया। दो बातें जो लोगों को सबसे अधिक सालती थीं, उनमें पहली यह थी कि इस संग्राम के वीर सेनानी अपनी आरम्भिक विजयो को चिर-स्थायी न बना सके थे और दूसरी यह कि अंग्रेजों ने इस विद्रोह को अत्यन्त निर्ममता से दबाया था। इसी बीच क्लाइव और हैटिंग्ज की लूट-खसूट और जोर-जबरदस्ती की कहानिया प्रसिद्ध हो चुकी थीं। विद्रोह की रोमाचकारी घटनाओ का विवरण भी गाव-गाव में पहुंच गया था। उनमें शहीद होने वाले अमर वीरो की घर-घर पूजा होने लग गई थी।[12] अंग्रेजो पर से लोगो का विश्वास उठ गया था। वे अंग्रेजो से तंग थे पर भीतर ही भीतर कुढ़कर रह जाते थे। नौकरशाही के आगे किसी की एक नही चलती थी।[13] पिछली घटनाओं को सोचकर खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने की हिम्मत किसी में होती नही थी। यह भारत के नैतिक पतन का काल था। चारों ओर भयंकर उदासी और आतक का राज्य था। (ऐसी स्थिति में साधारण जनता का जीवन और जगत की समस्याओं

१०. Ibid., p. 472.
"...According to our belief this is a more serious crisis than the Mutiny itself."

११. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 281 :
"Toil, toil, toil; hunger, hunger, hunger; sickness, suffering, sorrow; those alas ! alas ! are the keynotes of their short and sad existence," (A. O, Hume in his letter to Sir Aukland Colvin, Governor of the United Provinces).

१२. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of British Rule in India', p. 461.

१३. Griffiths, 'The British Impact on India', p.
"The European local officers scattered over the country at great distances from one another and having large districts to attend to far beyond their powers of supervision, depend to a great degree on their subordinates ... The necessary result of this system is that Government is that of first impressions." (From a petition of the British Indian Association to the Britsh Parliament)

से पलायन के प्रयत्न में साहित्य से तिलस्म और जासूसी के लोकरंजक उपन्यासो की माँग करना अस्वाभाविक नही था।

राष्ट्रीयता का उदय

इस प्रकार, विप्लव और उसे दबाने में अंग्रेजों द्वारा किया गया अत्याचार भारतीयों और अंग्रेज़ो के दिलो में जो बिलगाव उत्पन्न कर गया था वह महारानी विक्टोरिया का राज हो जाने पर भी न हट सका। हटना तो दूर वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। हुकूमत का नाम भर बदलने से भला क्या होता?[१४] कम्पनी का राज्य हो या विक्टोरिया का, था तो अंग्रेज़ों का राज्य ही। इसमें सन्देह नही कि अंग्रेज़ी सरकार ने—विशेषकर विक्टोरिया सरकार ने—अराजकता का अन्त किया, अपनी भारतीय प्रजा को इतनी सुरक्षा प्रदान की जो उसे सदियों से किसी स्वदेशी राजा से प्राप्त न हुई थी और उसकी कानूनी व्यवस्था ने उसे आतरिक दमन से भी इतना बचाए रखा कि किसी देशी रियासत में भी वह सम्भव नही था। भारतीयों को यह तो सब मिला, पर इसका उन्हे अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ा। उन्हें अपनी स्वतन्त्रता का, अपने राष्ट्रीय चरित्र का और उस सब-कुछ का जो किसी जाति को सम्मानित बनाता है त्याग करना पडा।[१५] देश में जब तक अज्ञानान्धकार छाया रहा और लोग एक-दूसरे से कटे-कटे रहे तब तक तो वे अंग्रेज़ों के अत्याचार सहकर भी उनकी प्रशसा करते रहे, पर ज्यों-ज्यो रेल, डाक तार, आदि की व्यवस्था से दूर-दूर के लोग एक-दूसरे के निकट आने लगे, देश के कोने-कोने में अंग्रेजो के विरुद्ध आग सुलगने लगी। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से लोगों में अपनी दुर्दशा के प्रति जागरूकता बढ़ी और अपनी अवस्था के सुधार की लालसा जगी। लार्ड मैकॉले की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप देश-भर में एक से भावों और विचारों का प्रचार हुआ तथा विभिन्न प्रान्तो, जातियो और धर्मो के लोगों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समानता दिखाई देने लगी। अंग्रेज़ी सब शिक्षितो की सामान्य भाषा बन गई

१४. Russel, 'My Diary in India', ii, p. 259:

"The mutinies have produced too much hatred and ill-feeling between the two races to render any mere change of name of the rulers as a remedy for the evils which affect India.. .. many years must elapse ere the evil passions excited by these disturbances expire, 'perhaps confidence will never be restored'."

१५. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 231-232:

"The strength of the British Government enables it to put down every rebellion, to repel every foreign invasion, and to give its subjects a degree of protection which those of no Native Power enjoy. Its laws and institutions also afford them security from domestic oppression unknown in Native States, but these advantages are dearly bought. They are purchased by the sacrifice of independence, of national character, and of whatever renders a people respectable." (Munro)

और देशोद्धार बना सब का नारा। इस प्रकार, अंग्रेज़ों की अपनी नीति से ही भारत में राष्ट्रीयता का उदय हुआ।

इसी बीच भारतीय प्रेस भी काफी शक्ति पकड़ चुका था। लॉर्ड रिपन द्वारा प्रेस पर पाबन्दियाँ हटा लेने से भारतीय प्रेस को खूब प्रोत्साहन मिला और वह खुलकर अंग्रेजों के विरुद्ध आग उगलने लगा।[१६] अंग्रेजो की प्रेस सम्बन्धी नीति उनके अपने लिये ही विघातक सिद्ध[१७] हुई। देश में तो राष्ट्रीयता की लहर दौड़ ही रही थी, उधर विलायत से लौटे दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेताओं ने जनता के सामने योरोपीय देशों के निवासियों को सहज-प्राप्त स्वतन्त्रता और अधिकारों का चित्र खीचकर उनकी महत्वाकांक्षाओ को भडकाया और साथ ही उनके बढ़ते हुए जोश को काम में लाने के लिये सगठन-कार्य आरम्भ किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के तूफानी दौरो ने सोये देश को जगा दिया।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस

इसी बीच सन् १८८३ में इण्डियन सिविल सर्विस के रिटायर्ड अंग्रेज ए० ओ० ह्यूम ने देश के हितार्थ सगठित होने के लिए कलकत्ता के स्नातकों के नाम एक मर्मभेदी अपील[१८] जारी की। ऐसी अपील व्यर्थ कैसे जा सकती थी? देश के अनेक प्रान्तो से चोटी के नेता ह्यूम के साथ इस पुनीत काम में जुट गए। सन् १८८४ में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' की स्थापना हुई जिसने सन् १८७५ में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' का रूप धारण कर लिया। ह्यूम का मूल उद्देश्य कांग्रेस को सामाजिक संस्था का रूप देने का था, पर लार्ड डफरिन ने इस बात पर जोर दिया कि

---

१६. Sir George Campbell, 'Memoirs of my Indian Career'. II, p. 314 :

१७. Dodwell, 'A Sketch of the History of India', p. 255 ·

"A free press and the dominion of strangers are things which are quite incompatible and cannot long exist together, for what is the duty of a free press? It is to deliver the country from a foreign yoke." (Munro)

१८. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 279.

"Whether in the individual or the nation, all vital progress must spring from within, and it is to you, her most cultured and enlightened minds, her most favoured sons, that your country must look for the initiative. In vain may aliens, like myself, love India and her children ······but they lack the essential nationality, and the real work must ever be done by the people of the country themselves. ...As I said before, you are the salt of the land. And if amongst even you, the elite, fifty men cannot be found with sufficient power of self-sacrifice, sufficient love for and pride in their country, sufficient genuine and unselfish heartfelt patriotism to take the initiative, and, if needs be, devote the rest of their lives to the cause—then there is no hope for India."

इस संस्था को राजनीतिक विषयों पर भी विचार करना चाहिए।[१६] कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों का स्वर अग्रेज़ो के प्रतिभक्ति और श्रद्धा का ही था। यह बात उसके अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणो[२०] से स्पष्ट हो जाती है। सरकार की ओर से भी इसे पूरा-पूरा प्रोत्साहन मिलता रहा।

परन्तु ज्यों-ज्यो कॉग्रेस में सरकार और उसकी नीति की आलोचना बढ़ती गई, उसके प्रति सरकार का रुख भी बदलता गया। उस समय कॉग्रेस के विचार प्रस्तावो के रूप में प्रकट होते थे जो सरकार को विचारार्थ भेज दिए जाते थे। अपने इन प्रस्तावो द्वारा कॉग्रेस ने सरकार का ध्यान देश की बढ़ती हुई गरीबी की ओर दिलाया था और उससे जॉच की मॉग की थी। उसने 'आर्म्स एक्ट', आबकारी कर और नमक कर आदि की भी कडी आलोचना की थी। सुधारो के सम्बन्ध में वह प्रतिनिधि कौसलों द्वारा स्वायत्त शासन के विकास, इण्डिया कौसल की समाप्ति, सामान्य और प्राविधिक शिक्षा का प्रचार, सैनिक खर्चे की कमी, भारतीयों के लिए आई. सी. एस. के समान उच्च सरकारी पदों आदि की माँगें सरकार के सामने रखती रही थी। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक कॉंग्रेस का मुख्य काम रहा सरकारी नीति की आलोचना और सुधारो की मॉग। यद्यपि धीरे-धीरे उसमें लोकमान्य तिलक की विचार-धारा के लोगों का ज़ोर बढ़ रहा था, फिर भी उसके सदस्य अपनी माँगों को प्रतिवर्ष शान्तिपूर्वक दोहरा कर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। अंग्रेज़ी न्याय में उनका विश्वास अभी तक बाकी था।

क्रान्ति की ओर

कॉग्रेस के प्रति सरकार का रवैया उदासीनता का था। कॉंग्रेस द्वारा बार-बार प्रस्ताव पास करके भेजने पर भी उसके कान पर जूँ तक न रेंगती थी। सरकार का कहना था कि कॉग्रेस थोड़े से पढ़े-लिखे लोगो की ही संस्था है। इसलिये, उसे समस्त भारतीयो की ओर से कोई दावा करने या मॉग पेश करने का अधिकार नहीं। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते कॉंग्रेस के कई सदस्यों का अंग्रेज़ो की न्यायपरता पर से विश्वास उठने लगा और धीरे-धीरे एक ऐसे दल का उदय होने लगा जिसका दृढ़ विश्वास था कि कोरे भाषणों के बल पर अंग्रेज़ों से कुछ नही मिल सकेगा, उनके विरुद्ध ठोस कार्रवाई करनी होगी। इस दल के नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

---

१६. Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 892 :

"... . it would be a public benefit, if there existed some responsible organisation through which the Government might be kept informed regarding the best Indian public opinion'.

२०. Griffiths : 'The British Impact on India', p 280-81 :

"She, Great Britain, had given them order; shehad given the railways, and above all, she had given them the inestimable blessings of Western education. But a great deal still remains to be done." (From the President's address at the inaugural meeting on 28th December, 1885).

थे। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और उग्र-विचार धारा से देशव्यापी क्रान्तिकारी आन्दोलनों को प्रश्रय मिला। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कर्जन द्वारा बंग-विच्छेद किये जाने पर जो देशव्यापी क्रान्ति मची थी उसका नेतृत्व भी इन्होंने ही किया था। अंग्रेजों को चेतावनी देते हुए अपने पत्र 'केसरी' में इन्होंने बार बार लिखा कि जब सरकार की दमन-नीति असह्य हो उठती है, तभी बम फटने लगते है।

सक्षेप में, भारतेन्दु युग (सन् १८५०-१९००) तक की राजनीतिक परिस्थिति यही थी, जिससे तत्कालीन हिन्दी-साहित्य अछूता न रह सका था, क्योंकि उस युग के हिन्दी-लेखक साहित्यकार ही नहीं, राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी थे।

सामाजिक आधार

सन् १८५७ के विप्लव से पहले भारतीय समाज में मुख्य रूप से दो ही वर्ग थे—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। मध्य वर्ग यदि था तो नाम मात्र को। उच्च वर्ग था राजा-महाराजाओं, नवाबों और उनके बडे-बड़े जागीरदारों का जिनका न कोई धर्म था, न ईमान। उनका कोई धर्म और ईमान कहा जा सकता है तो वह था जीवन और जगत के प्रति अत्यधिक उदासीनता और आमोद-प्रमोद में आत्म-विस्मृति। सुख-सुविधा के सब साधनों से सम्पन्न होने के कारण यह वर्ग इतना आत्म-निर्भर हो गया था कि वह समाज-व्यवस्था और उसके विधि-निषेधों की पूर्ण उपेक्षा करके भी जीता रह सकता था, क्योंकि सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर उन्हें दण्ड देने की शक्ति समाज में नही थी। समाज के दण्ड विधान की पहुँच से वह वर्ग बाहर था। इसके एकदम विपरीत दशा थी शोषण की चक्की में शताब्दियों से पिसते चले आ रहे निम्न वर्ग की, जिसके लिए आमोद-प्रमोद वर्जित थे, सुख-सुविधाएँ निषिद्ध थीं। उसके लिये तो अपना अस्तित्व बनाये रखना भी एक कठिन कार्य था। दिन-रात खून-पसीना एक करके भी उन लोगों को दो जून रोटी को तरसना पड़ता था। निर्धनता ही उनकी समस्या नहीं थी। यह भोली-भाली जनता घोर अज्ञानान्धकार में मार्ग खो चुकी थी। सब धर्म-मर्यादाओं को पालना, लोक-लाज निभाना, समाज-व्यवस्था को बनाये रखना आदि सब कुछ का बोझ उन्हीं के सिर पर था। देवी-देवताओं का कोप, नौकरशाही का अत्याचार, समाज का दण्ड-विधान सब-कुछ इनके लिये ही था। इन सब के भय से उनका दम निकला रहता था। अज्ञान और अन्ध परम्पराओं से संवेष्टित यह वर्ग कुरीतियों और कुप्रथाओं के बन्धनो से जकड़ा हुआ था और उन पर घोर रूढ़िवादी कूपमण्डूक लोगों का आतंक छाया हुआ था।

---

२१. Tilak, 'Kesari', of 12th May and 9th June, 1908 ('The Cambridge History of India', vol. VI, 1932, p. 556):

"Bombs explode when the repressive action of Government becomes unbearable."

शिक्षित मध्य वर्ग का उदय—

विप्लव के बीच और उसके पश्चात् अंग्रेजों का जो दमनचक्र चला उसने उच्च वर्ग की कमर तोड दी। अंग्रेजी राज्य में प्राप्त रेल, डाक, तार आदि की सुविधाओं, लॉर्ड मेकॉले की शिक्षा-नीति, अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव तथा पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप देश भर में एक ऐसे मध्य वर्ग का उदय होना आरम्भ हुआ जिसके सदस्यो में प्रान्त, जाति और धर्म की विभिन्नता होते हुए भी भावो और विचारों की, महत्त्वाकाक्षाओं और आदर्शों की, समानता दिखाई देने लगी। लाहौर से लेकर मद्रास तक और कलकत्ता से लेकर बम्बई तक के सभी छोटे-बडे नगरों में इस वर्ग के सदस्यो की संख्या बढ़ने लगी। जब तक यह नव-शिक्षित वर्ग अंग्रेजी शिक्षा द्वारा प्रचारित नए-नए विचारों और आदर्शों के समझने और आत्मसात् करने में लीन रहा, इसके सदस्यों की धारणाओं और मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नही आया। पर ज्यो-ज्यों सैद्धान्तिक पठन-पाठन का स्थान जीवन के व्यावहारिक पक्ष ने लेना आरम्भ किया यह वर्ग तीन भागों में बँटने लगा।[२२] कुछ लोगों की धारणा थी कि देश और जाति का हित अंग्रेजों की छत्रछाया में ही अपने उत्कर्ष और उद्धार के उपाय ढूँढने में है। अंग्रेची शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता की चकाचौध मे ये लोग इतने भरमा गये थे कि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अंधानुकरण में ही इन्हें अपना और देश का हित दिखाई देता था। हिन्दुओं में राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' और मुसलमानों में सर सैयद अहमदखा इस विचारधारा के लोगों में अगुआ थे। इन लोगो के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में कुछ पढे-लिखे लोग अंध-परम्पराओं को मान्यता देने की ओर प्रवृत्त हुए और अज्ञान के अंधकार में पल रही भोली-भाली अनपढ़ जनता के नेता बन बैठे। इससे रूढ़िवाद को बल मिला।

सुधारवादी आन्दोलन

नवोदित मध्य वर्ग में इन दोनों अतिवादी प्रवृत्तियों की व्यर्थता और इनमें निहित राष्ट्रीय और सामाजिक व्यवस्था का अहित देखकर एक तीसरी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। ये लोग न तो चमकीली पश्चिमी सभ्यता के अंधानुगामी थे और न ही भारतीय सस्कृति और धार्मिकता की विकृतियों के उपासक थे। हिन्दी के साहित्यकारों का सम्बन्ध इसी वर्ग से था। इनके निकट कोई बात केवल इसलिए घृणास्पद न थी कि वह पश्चिमी है और न इसीलिए श्रद्धास्पद कि वह भारतीय है। विकृत भारतीय समाज और संस्कृति की न्यूनताओं और पाश्चात्य सस्कृति और विचारों की विशि-

---

२२. Dodwell, 'India'—Part II (1858-1936), Arrowsmith Bristol, p. 189.

Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 877 :

"Some were lured by the Western ideas to follow an extremely radical policy, and this naturally provoked a reaction which sought to strengthen the forces of orthodoxy. Between these two extremes were moderatex roformers."

ष्टताओ पर इनकी विशेष दृष्टि रहती थी । देशव्यापी सुधारवादी आन्दोलनों को प्रेरित करने का श्रेय इन्हीं लोगों को है । उन लोगों ने महसूस किया कि धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियो और अंध-परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के यथार्थ रूप को इतना प्रच्छन्न कर दिया है कि उसकी विकृतियो को ही भारतीयता समझ देश के नव-शिक्षित लोग उससे विमुख होकर पश्चिमी सभ्यता की ओर खिचे चले जाते हैं। इसलिए, उन लोगों का ध्यान प्राचीन भारतीय सस्कृति की पुनर्व्याख्या, वेदों, उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रो के अध्ययन और प्रचार तथा भारत के गौरवमय अतीत की भूली बातो के प्रकाशन की ओर गया । राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द इस सास्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत बने । इन्होंने धार्मिक विकृतियों तथा सामाजिक कुरीतियों पर निर्मम प्रहार किये, धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड का खण्डन और समाज के थोथे दम्भ का विस्फोट किया, भारतीय संस्कृति और समाज के यथार्थ रूप का उद्घाटन किया और उसके विकृत रूप को सुधारने की माँग बडे जोर से व्यक्त की । देश भर में सुधारवादी संस्थाओं का जाल बिछ गया । इन संस्थाओं ने समाज-सुधार का काम तो किया ही, साथ ही ऐसे त्यागी, निःस्वार्थी और लगन वाले कार्यकर्त्ता तैयार किये जो बाद के राष्ट्रीय आन्दोलनों की बागडोर सँभाल सके ।

उस समय की सस्थाओं में से, जिन्होने समाज-सुधार का कार्य मुख्य रूप से अपनाया, ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण मिशन के नाम उल्लेखनीय हैं । यद्यपि उत्तर भारत में, विशेषत: हिन्दी भाषा-भाषी जनता में, मुख्य रूप से ब्राह्म समाज तथा आर्य समाज का प्रचार ही व्यापक रहा और बाद में अनेक स्थानो पर आर्यसमाज ने ब्राहम समाज को भी आत्मसात् कर लिया था, तो भी शिक्षित वर्ग पर पड़ी अन्य सुधारवादी नेताओं के व्यक्तित्व की छाप की उपेक्षा नही की जा सकती । इसलिए, समाज-सुधार के कार्य में इन संस्थाओं के योगदान का सक्षिप्त परिचय कराना असंगत न होगा ।

ब्राह्मसमाज

सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने ऐसे लोगों को संगठित करने की दृष्टि से जो विविध देवी-देवताओं को न पूज कर एक ही ईश्वर की आराधना में विश्वास रखते हों और जो मूर्ति-पूजा के विरोधी हों, ब्राह्म सभा की स्थापना की । बाद में यह सभा ब्राह्मसमाज के रूप में विकसित हुई । राजा राममोहन राय की विदेश यात्रा और वहाँ उनकी मृत्यु के पश्चात् इस सस्था को धक्का लगा और इसकी प्रगति रुकी रही जब तक कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा न की । देवेन्द्रनाथ के प्रयत्नों से इस संस्था को अक्षयकुमार दत्त तथा केशवचन्द्र सेन जैसे त्यागी और उत्साही युवकों का सहयोग मिला और धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी इस सस्था ने सुधारों की धूम मचा दी । सन् १८६५ के अन्त

तक इस समाज की चौव्वन शाखाएँ बगाल में, दो पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में, एक पंजाब में और एक मद्रास में खुल चुकी थी।

बाद में सामाजिक सुधारों के विषय में महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन में मतभेद हो गया। केशवचन्द्र सुधारों के सम्बन्ध में अधिक प्रगतिवादी थे। उनका आग्रह था कि अतर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह खुल्लम-खुल्ला होने चाहिएँ। फलत केशवचन्द्र के नेतृत्व में 'भारतीय ब्राह्मसमाज' की स्थापना हुई। वह युग सुधारों का था। सुधारो के विषय में जो भी कोई अग्रगामी होता था, जनता उसी की ओर आकृष्ट होती। इस नई संस्था को लोगों का समर्थन प्राप्त हुआ और पहले ब्राह्म समाज को लोग भूल गए। नए समाज ने सुधारो का एक सुनिश्चित कार्यक्रम बनाया और बडी लगन से उसके अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया। इस समाज के प्रयत्नो से सन् १८७२ का एक्ट-३ बना, जिसने बाल-विवाह और बहु-विवाह प्रथा को अवैध घोषित कर दिया तथा विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया।

बाद में, इस समाज में भी व्यक्ति-पूजा आ जाने से फूट पड़ गई। सन् १८७८ में केशवचन्द्र द्वारा अपनी कन्या का चौदह वर्ष की अवस्था में ही कूच-विहार के राजा से विवाह कर देने पर मतभेद ज़ोर पकड़ गया और विरोधी दल ने 'साधारण ब्राह्म-समाज' नाम से एक अलग सस्था बना ली। केशवचन्द्र के समाज की भी वही अवस्था हुई जो देवेन्द्रनाथ के समाज की हुई थी। 'साधारण ब्राह्मसमाज' ने राष्ट्रीय भावना और समाज-सुधारों का खूब प्रचार किया। समाज में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में इसे विशेष सफलता मिली। पर्दा-प्रथा का अन्त, बाल-विवाह निषेध, विधवा-विवाह का प्रोत्साहन और स्त्री-शिक्षा का प्रचार—इस समाज के मुख्य विषय रहे।

आर्यसमाज

सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३) इस युग की महान् विभूति थे।[२३] स्वामीजी भारतीय समाज की समस्त विकृतियों को हटाकर उसे वैदिक धर्म के अनुसार ढालना चाहते थे। 'वेदों की ओर लौट चलो' उनका मुख्य नारा था। उनका दृढ़ विश्वास था कि "अज्ञानी भारत का अज्ञानान्धकार—जिसके कारण वे इतने गिर गए हैं और फिर भी इधर से इतने असावधान हैं—एक दिन दूर हो जायगा जब कि वेदों का सच्चा ज्ञान देश भर में फैलकर अपना प्रकाश फैलाएगा और सभ्यता का सूर्य अपनी चमक दिखाएगा।"[२४] इस लिए, उन्होंने वैदिक युग के पश्चात् भारतीय धर्म और

---

२३. कोहेनूर, लाहौर, २८ जुलाई, १८७७ :

"इतिहास के देखने से स्पष्ट है कि पिछले २५०० वर्षों के समय में स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् कोई ऐसा श्रेष्ठ नेता और ऋषिवर न उत्पन्न हुआ था जो सन्मार्ग बताता।"

२४. पं० गोपालराव हरि देशमुख के नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती का ६ जून, १८७७ का पत्र : ('महर्षि दयान्द सरस्वती', सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, स० २००६)

समाज में युग आई कुरीतियों और अन्ध परम्पराओं तथा सब प्रकार की विकृतियों पर निर्भय होकर निर्मम प्रहार किए और देशवासियों के सामने प्राचीन भारतीय संस्कृति का वह शुद्ध और निर्मल रूप रखा जिस पर वे गर्व कर सकते थे।[२५] 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और अन्य कई ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों और मान्यताओं का प्रकाशन किया।

अपने युग के अन्य सुधारकों से स्वामीजी की यह विशेषता रही कि उन्होंने अपने उपदेश गिने-चुने, पढे-लिखे लोगों तक सीमित नहीं रखे। देश के कोने-कोने में घूम कर, छोटे-बडे, सुपढ़-अनपढ़, राजा-रंक सब प्रकार के जनसमुदाय से अपने भाषणों द्वारा उन्होंने सीधा सम्पर्क स्थापित किया और जगह-जगह आर्यसमाजों की स्थापना की। जीवन भर वह दलितोद्धार, स्त्री-शिक्षा-प्रचार और बाल-विवाह निषेध, विधवा-विवाह, धर्म और समाज के नाम पर प्रचलित पाखण्डों के भण्डा-फोड़, मूर्ति-पूजा के खण्डन, वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना में लगे रहे। जिस बात को उन्होंने सत्य समझा, उसका निर्भय होकर प्रकाशन किया और जो बात उन्हें असत्य प्रतीत हुई, उसकी उन्होंने धज्जियाँ उड़ा दीं। पर राग-द्वेष की भावना से वे किसी के मण्डन व खण्डन में प्रवृत्त नहीं हुए। मोहनलाल पड्या के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने एक बार कहा भी था : "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य की प्राप्ति ही भारत की पूर्णोन्नति के साधक है। कडुए उपदेशों से जाति को जगा कर, कुरीतियों और कुनीतियों को नष्ट करना ही मेरे खण्डन का उद्देश्य है। मैं जाति के हित के लिए अनेक कष्ट, गालियाँ, विष-पान आदि तक सह लेता[२६] हूँ।" उनके जीवन-वृत्त[२७] से पता चलता है कि उस युग के सभी महान् सुधारक, ब्राह्मसमाज के देवेन्द्रनाथ ठाकुर, प्रार्थना-समाज के महादेव गोविन्द रानाडे, थियोसोफिकल सोसायटी के कर्नल ऑल्काट और मैडम बलावात्सकी आदि से उसका सम्पर्क रहता था और वे सब इनके ओजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित थे।[२८] अपने युग पर ही नहीं, आने वाले युग पर भी स्वामीजी का और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का प्रभाव व्यापक रहा। महात्मा गाधी के शब्दों में "महर्षि दयानन्द हिन्दुस्थान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में और श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्थान पर

---

२५. Sir P. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 252-53 :
"He fought for social justice, and he presented his......countrymen with a form of Hinduism of which they could be proud."

२६. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती', पृष्ठ ३५७.

२७. वही, पृष्ठ १५३, १७७, १७८ (देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन), पृष्ठ ३१२ (कर्नल ऑल्काट), पृष्ठ ३५३ (जस्टिस रानाडे)

२८. Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 883 :
"Dayananda undoubtedly proved a dynamic force in Hindu society. His appeal to the masses, which was attended to with splended success, was an eye-opener to all reformers ; social, religious and political."

बहुत अधिक पड़ा ।"[२९] स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज का काम उनके सुयोग्य शिष्यों द्वारा, जिनमें ला० हंसराज, प० गुरुदत्त, ला० लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द विशेष उल्लेखनीय हैं, जारी रहा और उनके अनथक परिश्रम से समाज का समस्त देश में—विशेषत: पंजाब और उत्तर प्रदेश में खूब प्रचार हुआ ।

धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में आर्यसमाज की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी । हिन्दी-साहित्य पर भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आर्यसमाज का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । "सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ में बागडोर होते हुए भी हिन्दी-साहित्य आर्यसमाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका । उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाए ।"[३०]

प्रार्थना समाज

ब्राह्म समाज की विचारधारा धीरे-धीरे बंगाल के बाहर भी फैल गई, पर इसका जितना अधिक प्रचार महाराष्ट्र में हुआ, उतना अन्य किसी प्रान्त में नही । वहाँ प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य 'ब्राह्म समाज' की तरह धर्म और समाज में घुस आई विकृतियों का निराकरण था । पर बाद में इस संस्था की समस्त शक्ति समाज-सुधार में ही लगती रही । विविध जातियो और धर्मो के लोगों का परस्पर खान-पान और विवाह-शादी, विधवा-विवाह, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का सुधार और अछूतोद्धार आदि विषयों की ओर इस संस्था का विशेष ध्यान रहा । इस संस्था को जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे जैसे मेधावी पुरुषों का सहयोग प्राप्त हुआ, जिनके प्रयत्नों से इसे काफी सफलता हुई । समाज-सुधार के विषय में रानाडे का अनुभव बड़ा विशाल था और विचार बहुत सुलझे हुए थे । उनकी धारणा थी कि 'सुधारक को समूचे व्यक्ति को लेना होगा, न कि उसके किसी एक पक्ष को लेकर सुधारों को माँग करनी होगी ।[३१] इसलिए, सच्चे सुधारक का काम समाज पर शताब्दियो से पड़े संस्कारों को धो डालने का प्रयत्न नही—ऐसा कर सकना असम्भव है—उनके परिमार्जन की ओर प्रवृत्त होना होगा ।[३२] रानाडे के निकट धर्म और समाज-सुधार दो पृथक् काम नही, एक-दूसरे के पूरक थे ।

रामकृष्ण मिशन

उन्नीसवीं शताब्दी को 'रामकृष्ण मिशन' के रूप में पूर्व और पश्चिम का अपूर्व

२९. हरिश्चन्द्र, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती', परिशिष्ट पृष्ठ, १.

३०. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, "भारतेन्दु-कालीन साहित्य", 'सम्मेलन पत्रिका'—पृष्ठ ७४ :

३१. Majumdar, 'An Advanced History of India'. p. 882 :
"The reformer must attempt to deal with the whole man and not to carry out reforms on one side only." (Ranado)

३२. Ibid, p. 882 :
"The true reformer has not to write on a clean slate. His work is more often to complete the half written sentence." (Ranado)

समन्वय देशों को मिला। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, जिनके नाम पर मिशन की स्थापना हुई, कलकत्ता के निकट एक मन्दिर के साधारण पुजारी थे। वह सब धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे। ईश्वर-भक्ति में वह इतने लीन रहते थे कि उनका जीवन एकान्त का जीवन रहा। आस-पास के कुछ एक ग्रामों और नगरों से आगे उन की ख्याति नहीं फैली थी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के नवयुवक स्नातक नरेन्द्रनाथ दत्त, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द (सन् १८६३--१९०२) के नाम से विख्यात हुए, के रूप में परमहंस को एक योग्य शिष्य मिला और भारत को मिला एक सच्चा सपूत। स्वामी विवेकानन्द के पास अगाध ज्ञान था, अध्यात्म-शक्ति थी और था ओजस्वी व्यक्तित्व। सन् १८९३ में उन्होंने शिकागो में हुई 'पार्लमेंट ऑव रिलिजन्स' में भाग लिया और वहाँ अपने विद्वतापूर्ण भाषणों द्वारा पश्चिम वालों के हृदय पर भारतीय धर्म और संस्कृति की छाप बैठा दी। इससे उनकी प्रसिद्धि विश्व भर में फैल गई। अमेरिका में रामकृष्ण मिशन के कई केन्द्र खुले। स्वदेश लौटकर उन्होंने भारतमें ही स्थान-स्थान पर मिशन की शाखाएँ खोली। पढ़ी-लिखी जनता में मिशन का खूब प्रचार हुआ। सरल उपासना-पद्धति के अतिरिक्त, मिशन के जल्दी फैल जाने का कारण एक यह भी था कि इसने तत्कालीन अन्य संस्थाओं की भांति खण्डन-मण्डन की नीति को नहीं अपनाया, भाषणों और साहित्य-प्रकाशन द्वारा केवल अपनी ही विचारधारा का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त मानव-सेवा के कार्य को भी मिशन ने निस्संकोच भाव से अपनाया तथा स्कूल और अस्पताल खोले।

मिशन की सबसे बड़ी देन है, भारतीय समाज-व्यवस्था और संस्कृति के प्रति देशवासियों में सम्मान की भावना का संचार। विदेशों में स्वामी विवेकानन्द के भाषणों की धूम मचने से भारत के प्राचीन धर्म और संस्कृति की जो प्रशंसा होने लगी थी, उसने भारत के युवकों में अपूर्व आत्म-विश्वास फूँक दिया। वास्तव में, स्वामी विवेकानन्द पहले हिन्दू थे जिन्होंने विदेशों में भारत की प्राचीन संस्कृति की विजय-पताका फहराई।[३३]

थियोसोफिकल सोसायटी

इस सोसायटी के प्रवर्त्तक मैडम ब्लावात्स्की और कर्नल ऑल्काट थे। सबसे पहले उन्होंने अमेरिका में इस सोसायटी की स्थापना की। सन् १८८६ में उन्होंने भारत आकर मद्रास में उसकी एक शाखा खोली। भारत में इस सोसायटी का प्रचार इतना इस संस्था के सिद्धान्तों के कारण नहीं हुआ, जितना उसकी प्रमुख कार्यकर्त्री

---

३३. Ibid, p. 886 :

"He (Swamivivekananda) was the first Hindu whose personality won demonstrative recognition abroad for India's ancient civilisation and for her new-born claim to nationhood." (Sir Valentire Chirol)

एनी बेसेण्ट के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण हुआ। इस सोसायटी का विशेष ध्यान हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान की ओर ही रहा। उसका विश्वास था कि प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार से ही देशवासियों में अपने गौरवमय अतीत के प्रति गर्व और अपने भविष्य की उज्ज्वलता में आस्था उत्पन्न होगी।[३४]

हिन्दी के साहित्यकार

नवोदित मध्य वर्ग की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हम पहले कर आए हैं, उन में हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों का सम्बन्ध न पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध-भक्तो से था और न ही भारतीय रूढिवादियों के पुजारियो से। उनका सम्बन्ध उस मध्यवर्ती सुधारवादियो से था जो धर्म और समाज के नाम पर चल रही पाखण्डपूर्ण कुरीतियों और अंध-परम्पराओं पर निर्मम आघात कर रहे थे और प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील थे। वेदो, उपनिषदो और दर्शनों में विश्वास, सामाजिक कुरीतियों और विकृतियों की घोर निन्दा, पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों की प्रशसा और बुरी बातो की निन्दा, शासको के अत्याचार के प्रति रोष और शहीद वीरो की पूजा आदि अनेक प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु युग के हिन्दी-साहित्यकारों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान थी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अधिकाश साहित्य महारथी—राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि—कोरे साहित्यिक ही नही राजनीतिक कार्य-कर्ता, समाज-सुधारक और धर्मोपदेशक भी थे।

साहित्यिक परम्परा

हिन्दी-उपन्यास के शारीरिक गठन को, उसके रूप-विधान को, हम चाहे पश्चिमी साहित्य की देन मान लें, पर इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि इसके भीतर विराजने वाली आत्मा भारतीय ही है। इसलिए, यह कहना कि प्राचीन भारतीय साहित्य-परम्परा से हिन्दी-उपन्यास का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नही,[३५] उस विशाल परम्परा के प्रति कृतघ्न बनना होगा। हिन्दी के अधिकाश प्रारम्भिक उपन्यासो का सुख में समाप्त होना, उनके कथानक का जीवन के किसी आदर्श को आधार मानकर चलना, उनके नायक-नायिका का सद्वृत्ति वाले होना और उस आदर्श के पीछे अपना तन-मन-धन तिल-तिल करके जलाते रहना, उपन्यास भर में

३४. Ibid, p. 886.

"The Indian work is, first of all, the revival, strengthening, and uplifting of the ancient religions. This has brought with it a new self-respect, a pride in the past, a belief in the future .. .." (Mrs, Annie Besant)

३५. नलिनविलोचन शर्मा, "हिन्दी-उपन्यास", 'आलोचना : इतिहास विशेषांक', अक्टूबर, १९५२।

सत् और असत् पात्रों में सघर्ष चलना, पर अन्त में असत् पात्रो का दम्भस्फोट होना और सत् पात्रो का विजय पाना—आदि प्रवृत्तियाँ हिन्दी-उपन्यास में कही समुद्र-पार से नही आई थी, अपने देश की प्राचीन परम्परा से ही उसे ये मिली थी।

संस्कृत-साहित्य

संस्कृत में आख्यायिका-साहित्य प्रचुर मात्रा मे मिलता है। ऋग्वेद तक में भी आख्यायिका के सभी तत्व विद्यमान है। उसमें कथावस्तु है, पात्र है और है उनके सजीव कथोपकथन, जिनमें उनका चरित्र प्रस्फुटित हो पड़ा है। यम-यमी सवाद पुरुरवा-उर्वशी सवाद आदि इसके प्रमाण हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो में— विशेषतः ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में—और उपनिषदों में भी कथाएँ मिलती हैं; जैसे, सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा तथा याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी और नचिकेता आदि की कथाएँ। रामायण और महाभारत तो कथा-साहित्य का बृहद रूप लेकर अवतरित हुए थे। उन वीर-गाथाओ में भारतीय सस्कृति का जो रूप व्यक्त हुआ वह शताब्दियों तक साहित्यकारों और उनके साहित्य को प्रेरित और प्रभावित करता रहा और आज भी मुग्ध कर रहा है। मानव-मन के भय की भावना ने विभिन्न पौराणिक कथाओं को जन्म दिया। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो के व्यवस्थित होने पर वृहत्कथा, कथासरित सागर, हितोपदेश, पचतत्र, बैतालपचविंशति आदि अनेक नीति-कथाओ का आविर्भाव हुआ। बुद्ध-मत और जैन-मत के अभ्युदय के साथ इन मतों के प्रचार की दृष्टि से जातक कथाएँ और जैन गाथाएँ रची गई। निश्चय ही, हिन्दी-उपन्यास इस लम्बी आख्यायिका-परम्परा के प्रभाव से वंचित न रह सका होगा, जबकि यह एक निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी के लगभग सभी प्रारम्भिक उपन्यासकार संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों पर सस्कृत की विशुद्ध साहित्यिक आख्यायिकाओं—दंडी का 'दशकुमार चरित',सुबन्धु की 'वासवदत्ता,' बाणभट्ट की 'कादम्बरी,' आदि—का प्रभाव भी कम नही पड़ा होगा। कादम्बरी के कथासंयोजन, आत्मविस्मृकारी वातावरण, प्रभावोत्पादक सवादों और आदर्शोन्मुख यथार्थ की हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओ पर भी बडी गहरी छाप पड़ी। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मराठी में उपन्यास के अर्थ में 'कादम्बरी' शब्द ही प्रचलित हो गया है।

पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य

इस सम्बन्ध में, संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी में उपन्यास के उदय होने से पहले के कथा-साहित्य की भी, चाहे वह पद्य में ही हो, उपेक्षा नहीं की जा सकती। इतिहास और कल्पना के अद्भुत योग से निर्मित वीरगाथा-कालीन रासो ग्रंथों को—पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, आल्हा-ऊदल आदि की—तथा सूफी-

कवियो के प्रेमाख्यानकों को—मृगावती, मधुमालती, पद्मावत आदि को - केवल इसलिये भूल जाना कि वे पद्यात्मक रचनाएँ है, उपन्यास को उसके उद्‌गम-स्रोत से काट कर अलग से देखने के समान होगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन रचनाओ का पद्यात्मक होना तो उस युग की माँग के कारण था। चन्द्रवरदाई या जायसी आज के युग में हुए होते तो अपने नायक-नायिका के जीवन-वृत्त के लिए वे पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक उपयुक्त पाते।

सूफी कवियो के प्रेमाख्यानको के निकट तो अधिकाश हिन्दी-उपन्यास ठहरेगे। यौवन की उमग में दो धडकते दिलो का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण, परस्पर मिलन के लिए उनकी आकुलता, उनके बीच में धर्म और समाज के विधि-निषेधों का व्यवधान, प्रेम की मादक सुरा पीकर संसार की किसी भी शक्ति से टक्कर लेने का उनका सकल्प आदि विशिष्टताएँ इन दोनों में समान रूप से मिलेंगी। वास्तव में यदि हम रूप-विधान के चक्कर में न पड़कर नायक-नायिका के चरित्र-विकास की दृष्टि से देखें तो हिन्दी-उपन्यास को अग्रेजी उपन्यासों की अपेक्षा भारतीय आख्यानकों के अधिक निकट पायेगे—वे आख्यानक सस्कृत के हों या हिन्दी उपन्यासों के उदय से पूर्व के।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार

अब तक हमारा अभिप्राय इस बात पर बल देना था कि हिन्दी-उपन्यास का ढाँचा भले ही अग्रेजी उपन्यास या उसकी बगला कलम की देन हो, पर उसमें निवास करने वाली आत्मा भारतोय ही थी। इसलिए, बाहरी ढांचे के भ्रम में पड़कर उसे नितान्त अभारतीय घोपित कर देना हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारो को उस श्रेय से वचित करना होगा, जिसके वे पूर्णरूप से अधिकारी ठहरते है। यह उन उपन्यासकारों की महानता ही तो थी कि अग्रेजी और बगला उपन्यासों से प्रभावित होने पर भी उन्होने उनका अन्धानुकरण नही किया और अनेक प्रलोभनो के हांते हुए भी वे अपनी साहित्यिक परम्परा से कटकर एक दन अलग नही जा पडे।

यद्यपि संस्कृत की वैताल-पचविशति, सिहासन-द्रात्रिशिका, पचतन्त्र, हितोपदेश आदि रचनाओं के आधार पर हिन्दी में भी "किस्सा तोता-मैना", वैताल पचीसी, सिहासन-बत्तीसी आदि अनेक बड़ी कथाऐं लिखी गई थी, फिर भी हिन्दी में साहित्यिक कथाओ का आँरम्भ मुन्शी इशा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' जिसका दूसरा नाम "उदयभानु चरित" है, से ही माना जाना चाहिए। इसकी रचना सन् १८१० के आस-पास हुई थी। बाद के हिन्दी-उपन्यास ने अपना ढांचा चाहे बदल लिया हो, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि यह और इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ प्राचीन साहित्य-परम्परा और आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में एक मजबूत कड़ी का काम करती हैं। इसलिए, हिन्दी-उपन्यास-

साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए इनकी और इनके रचयिताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मुन्शी इंशा अल्लाखाँ—

जब अँग्रेज हिन्दी का प्रचार कराने में लगे हुए थे, इंशा अल्लाखाँ ने भी पाण्डित्य-प्रदर्शन की धुन में 'रानी केतकी की कहानी' की रचना का एक प्रयोग कर डाला। इस को लिखते समय उनका प्रयत्न यह रहा कि "हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट न मिले और हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"[३६] यद्यपि स्वय लेखक ने इसे कहानी घोपित किया है, आकार की दृष्टि से यह आज के लघु उपन्यास के बराबर ठहरती है।

इसके कथानक के गठन में तथा पात्रो के चरित्रचित्रण पर भी सूफी प्रेमाख्यानकों का प्रभावविशेष रूप से लक्षित होता है। वही 'पद्मावत' वाली प्रेम की लगन, हृदय की तड़प, प्रेमी को पाने की उत्कट अभिलापा इसमें भी विद्यमान है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह भारतीय साहित्य से अधिक दूर नही। सत् पात्रो और असत् पात्रो में सघर्प, सत् पात्रो का जीवन भर कष्ट सहते रहना, अन्त में असत् पात्रो की पराजय और सत् पात्रो को फल की प्राप्ति—पात्रों के चरित्र का यही परम्परागत स्वरूप इस रचना में भी मिलता है।

इस रचना का लक्ष्य चरित्र-चित्रण न होते हुए भी लेखक का इसे 'उदेभान-चरित' नाम देना यह बताता है कि वह नायक के चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नहीं, प्रत्युत् उसके चरित्र के किसी विशेप रूप को उभारना चाहता है। उदेभान और रानी केतकी में परस्पर प्रेम हो जाता है। दोनों एक दूसरे को जी-जान से चाहने लगते है। नायिका के माता-पिता बीच में बाधा बनकर आते हैं। तभी नायक अपने एक पत्र में नायिका को सलाह देता है कि किसी और देश भाग चलें। इसके उत्तर में नायिका जो लिख भेजती है, उसमें उसका अपना चरित्र प्रतिबिम्बित मिलता है।

> "पर बात यह भाग चलने की अच्छी नही। इसमें एक बाप-दादे को चिट लग जाती है, और जब तक माँ-बाप, जैसा कुछ होता चला आता है, उसी डौल से, बेटे-बेटी को किसी पर पटक न मारें और सिर से किसी के चेपक न दें, तब तक एक जीव तो क्या, जो करोड़ जी जाते रहें, तो कोई बात हमें रुचती नही।"[३७]

---

३६. इंशा अल्ला खाँ, 'रानी केतकी की कहानी', परिमल प्रकाशन प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९५२, पृष्ठ २०।

३७. इंशा अल्ला खाँ, 'रानी केतकी की कहानी', पृष्ठ २८।

पर उसी नायिका को जब यह सूचना मिलती है कि उसके पिता ने उसके प्रेमी को हिरन बना दिया है और अब वह वनो की खाक छान रहा है, तो वह समस्त लोक-लाज भूल, माता-पिता की इच्छा-अनिच्छा की चिन्ता छोड, प्रेमी की तलाश में अकेली घर से निकल पड़ती है। इस प्रकार, हिन्दी के इस प्रारम्भिक 'कहानी नामक उपन्यास' में भी एक विकसनशीला नायिका के दर्शन हो जाते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा—

हिन्दी-उपन्यास ने अंग्रेजी ढाँचा तो पहले-पहल भारतेन्दु-युग में ही अपनाया था। उस समय के अधिकाश उपन्यासों का ढाँचा हिन्दी में सीधे, अग्रेजी से नही आया था, प्रत्युत् बंगला के उपन्यासों की देखा-देखी ही हिन्दी-उपन्यास ने अपना रूप बदल लिया था। 'भारतेन्दु' के अनुरोध से पहले 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का और बाद में 'राधा रानी', 'स्वर्णलता', 'चन्द्रप्रभा', 'पूर्ण प्रकाश' का हिन्दी में अनुवाद हुआ। भारतेन्दु ने स्वयं भी एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। 'एक कहानी कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' शीर्षक से उसके कुछ अंश 'कवि-वचन-सुधा' में निकले भी थे। बाद में, उपन्यास के उत्थान की ओर वह विशेष रूप से प्रवृत्त हुए थे, पर उनकी यह आकाक्षा बीच में ही रह गई। इस सम्बन्ध में, 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के एक अंक में छपी यह विज्ञप्ति उल्लेखनीय है :

नाटकोपन्यास पाक्षिक पुस्तिका—

> "हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का पूर्ण रूप से अभाव है। विशेष करके अंग्रेजी और बग भाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत ही कम प्रकाशित हुए है। और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वाद से भी हमारे देश बान्धवगण वंचित हैं। इस हेतु ऐसा विचार किया है कि एक मासिक पुस्तिका २० पृष्ठ की हिन्दी-भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो और उसमें केवल उपन्यास और नाटक रहे।"[३८]

यहाँ भारतेन्दु के समकालीन पडित श्रद्धाराम फिल्लौरी का नाम भी उल्लेखनीय है। फिल्लौरीजी अपने समय के सच्चे हिन्दी-हितैषी और लोक-प्रिय लेखक थे। 'आत्म-चिकित्सा', 'तत्वदीपक', 'धर्मशिक्षा', 'उपदेश-संग्रह', 'शतोपदेश' आदि हिन्दी में अनेक धार्मिक ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने सं० १९३४ में 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा था। कहते हैं, उस समय उस उपन्यास की बड़ी प्रशंसा हुई थी।

भारतेन्दु-युग के अन्य साहित्यिक जो उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुए, उनमें लाला श्रीनिवास दास, पडित अम्बिकादत्त व्यास, और पडित बालकृष्ण भट्ट के नाम

३८. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', नवम्बर १८७८ ई०

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसलिए, यहाँ इन उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

श्रीनिवासदास—

अंग्रेजी ढंग पर प्रथम मौलिक हिन्दी-उपन्यास लिखने का श्रेय लाला श्रीनिवासदास ही को है। इस उपन्यास का अंग्रेजी ढाचा हिन्दी में बंगला के माध्यम से नहीं, सीधा अंग्रेजी में आया था। लालाजी अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। अंग्रेजी उपन्यासों तक उनकी सीधी पहुँच थी। तब तक का हिन्दी-कथा-साहित्य प्रेमी-प्रेमिका की एक-दूसरे के प्रति लगन, उनके हृदयों की धड़कन, प्रिया से मिलने की व्याकुलता आदि की संकीर्ण परिधि में उलझा हुआ था। उसे जीवन की यथार्थताओं की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय उनके उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' को है। वह स्वयं भी अपने उपन्यास की इस विशिष्टता के प्रति सचेत थे—"अपनी भाषा में अब तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें अकसर नायक-नायिका वगैरा का हाल ठेठ से सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है—जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ, साहूकार का लड़का था। उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला······ऐसा सिलसिला इसमें कुछ नहीं मालूम होता·········· अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।"[३६] अपने इन शब्दों में उपन्यासकार मानो चरित्र-चित्रण की प्राचीन शैली के प्रति भी असंतोष प्रकट कर रहा हो और साथ ही, नई प्रणाली चलाने का दावा कर रहा हो। उसका यह दावा एक सीमा तक ठीक ही रहा, क्योंकि इसके बाद लिखे जाने वाले उपन्यासों में परीक्षा-गुरु के द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अनुकरण किया गया।

इस उपन्यास का नायक सेठ मदनमोहन है जो अपने चापलूस मित्रों के चक्कर में फँसकर दिखावे का जीवन व्यतीत करने लगता है और गले तक ऋण में डूब जाता है। उसका एक सज्जन मित्र बृजकिशोर इसका उद्धार करता है और विपत्ति काल की उसकी परीक्षा ही उसका वास्तविक गुरु बनती है। व्यापारी क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव होने के कारण उपन्यासकार वातावरण की सफल सृष्टि कर सका है और पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता ला सका है। लेखक द्वारा बीच-बीच में पाठकों के सामने सीधे प्रकट होकर उपदेशात्मक भाषण झाड़ना अवश्य खटकने लगता है, पर यह तो उस युग की प्रवृत्ति थी जिससे वह कैसे बच सकता था। इस प्रकार की त्रुटियाँ होने पर भी प्रथम मौलिक हिन्दी-उपन्यास के नाते यह रचना चिर स्मरणीय रहेगी।

---

३६. श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु', भूमिका।

अम्बिकादत्त व्यास

इस युग में जबकि उपन्यास-लेखन के अनेक प्रयोग हो रहे थे, पडित अम्बिकादत्त व्यास ने भी 'आश्चर्य वृत्तान्त' की रचना कर डाली। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह निरी मनगढ़ंत रचना है जिसमें जीवन की यथार्थताओं की अपेक्षा अद्भुत और अलौकिक की ओर अधिक झुकाव है। जिस प्रकार 'परीक्षा-गुरु', 'निस्सहाय हिन्दू' आदि रचनाओं में बाद के सामाजिक उपन्यासों के तत्त्व बीज रूप में मिलते हैं, उसी प्रकार इस उपन्यास में देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म, ऐयारी और बाद के साहसिक उपन्यासों का पूर्व रूप देखने को मिल जाता है। उदाहरण के लिए इसके निम्नलिखित अंश देखिए—

(क) "इसको अँगूठी में दबाकर डण्डा झटकारने से एक गोली निकल पड़ती है और उस गोली में ऐसी-ऐसी औषधियाँ पड़ी है और लिपी हैं कि कोई जन्तु क्यों न हो, उसके रोम से सम्बन्ध होते ही बिजली उत्पन्न होती है और धड़ाके से वह गोली छूट जाती है।"[३६]

(ख) "धूम के फाटक की ओर हम लोगो ने देखा तो साहब का अनुभव ठीक पाया। फाटक के समीप एक भारी तोप, कल पर चढ़ी भरी रखी थी और उसमें ऐसे यन्त्र लगे थे कि फाटक खुलते ही वह आप ही छूट पड़े और सामने के सहस्रो मनुष्यो की राख की ढेरी लगा दे।"[४०]

मुख्य रूप से कुतूहलोद्दीपक होते हुए भी यह रचना चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नही कही जा सकती। चाहे परिस्थिति के आतंक से पाठक को मुक्त करने के उद्देश्य से हास्य की पुट देने के लिए ही इसमें बंगाली महाशय का समावेश किया गया हो, पर उसका व्यंग्यचित्र बड़ा सुन्दर बन पाया है। अंग्रेज़ी साहब का चरित्र भी उसके कथोपकथन और क्रिया-प्रतिक्रिया में प्रतिबिम्बित हो उठा है, चाहे ऐसा अनायास ही हुआ हो। उसकी आकृति और वेश-भूषा का वर्णन भी बड़ा प्रभावोत्पादक हुआ है :

"हम लोगो ने साहब को देखा कि उनकी लम्बी उजली दाढ़ी फरफरा रही है, उजला कुरता और पायजामा पहरे है।······मेरी समझ में साहब लगभग पैसठ बरस के होंगे, पर ऊँचा शरीर, दृढ़ अग और अग की स्फूर्ति ऐसी थी कि बाल छोड़ सर्वांग में यौवन झलकता था।[४१]

पात्रो के आकृति, वेशभूषा-वर्णन की यही शैली अपने परिष्कृत रूप में हिन्दी के परवर्ती उपन्यासों में मिलती है।

---

४० (क) अम्बिकादत्त व्यास, 'आश्चर्य वृत्तान्त', व्यास पुस्तकालय, काशी, १६४६, पृष्ठ ३१।

४० (ख) वही, पृष्ठ ३७।

४१. अम्बिकादत व्यास, 'आश्चर्य वृत्तान्त', पृष्ठ २६।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

पडित बालकृष्ण भट्ट अपने समय के उच्च कोटि के विद्वान् थे। इनका रहन-सहन आडम्बरहीन था। सनातन धर्म के पक्के अनुयायी होते हुए भी वे कभी अन्ध-परम्परा के पक्षपाती नही रहे। इन्होंने 'सौ अजान, एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नाम से दो उपन्यास लिखे। ये दोनों छोटे-छोटे उपन्यास है, जिनकी रचना कुछ-एक नैतिक सिद्धान्तो को पाठकों की समझ में बैठाने के उद्देश्य से हुई।

'सौ अजान, एक सुजान' को ही लें। इसमें हीराचन्द नामक एक सेठ के दो पुत्रों की कहानी है जो कुछ-एक चापलूस और अजान मित्रो की कुसगति में पडकर अपना सब कुछ गँवा देते हैं और जेल तक भोगते है। अन्त में चन्दू नामक एक सुजान मित्र द्वारा उनका उद्धार होता है। इस उपान्यास का उद्देश्य है अपने पाठकों को यह शिक्षा देना कि धर्मानुकुल आचरण करने वाले सुख-समृद्धि को प्राप्त होते हैं और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले अंत में दु.खी होते हैं। उपन्यास के अन्त में भट्ट जी स्वयं भी लिखते है।

> "अन्त को हम अपने पढने वालो को सूचित करते है कि आप लोगो में यदि कोई अबोध और अजान हो, तो हमारे इस उपन्यास को पढ़, आशा करते हैं, सुजान बनें। इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चन्दू था, और आप को हमारा यह उपन्यास होगा।"[४२]

उपन्यास के विपय-प्रसार तथा आकार की दृष्टि से इसके पात्रो की सख्या अधिक लगती है। सेठ हीराचन्द, शिरोमणि मिश्र, चन्द्रशेखर (चन्दू), ऋद्धिनाथ, निधिनाथ, बसंता, रमादेवी, नन्ददास (नन्दू), रघुनन्दन, हकीम साहब, हुमा बेगम, बुद्धदास, लड़कों का बुड्ढा चाचा, मिट्ठूमल, कोतवाल दारोगा, फहमुआ (कोतवाल का नौकर), तकी अली (कांस्टेबल), पंचानन, जज, कुल मिला कर २० के लगभग पात्र हैं और उपन्यास का आकार है १२३ पृष्ठ। परिणामस्वरूप पात्रों के चरित्र का सम्यक विकास नही हो पाया। दोनो बाबू, चन्दू-नन्दू, पंचानन, रमादेवी के सिवा अन्य पात्र महत्त्वविहीन हैं, उनके चरित्र-चित्रण में उलझकर लेखक मुख्य पात्रो के चरित्र को भी ठीक ढंग से विकसित नही कर पाया है।

लेखक ने पात्रों का चरित्र इतिहास शैली में ही चित्रित किया है। उनके अच्छे या बुरे काम करने की रिपोर्ट भी हमें लेखक के शब्दों में ही मिलती है। कथोपकन बहुत कम करवाये गए हैं, यहाँ तक कि उपन्यास के नायकों (दोनों बाबू) में से केवल ऋद्धिनाथ ही बोलता है और वह भी सारे उपन्यास सें केवल एक बार जो तीन-चार वाक्यों तक ही सीमित है।[४३]

---

४२. बालकृष्ण भट्ट, 'सौ अजान एक सुजान', गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, ११वां संस्करण, सं० २००६, पृष्ठ १२३।

४३. वही, पृष्ठ ९५।

इसमें दो प्रकार के पात्र है—अच्छे और बुरे। अच्छे पात्र धर्मानुकूल आचरण करते है और बुरे धर्म-विरुद्ध चलते है। दोनों में संघर्ष होता है। पहले बुरो की जीत होती है पर अंत में बुरों को उनकी करनी का फल जेल मिलती है और अच्छों को सुख और शान्ति। लेखक की सहानुभूति सदा अच्छों के साथ रही है और बुरों के प्रति उसकी घृणा व्यक्त होती रहती है। लेखक पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर टीका-टिप्पणी भी साथ-साथ करता जाता है।

नये पात्रो का परिचय लेखक बडे स्वाभाविक ढंग से करता है, पर वह परिचय इतना पूर्ण होता है कि एक बार उनके बारे में सब कुछ जान लेने के बाद फिर उनके चरित्र के विकास में पाठक की विशेष उत्सुकता नही रहती। पात्रो का परिचय कराते समय उनके गुणावगुणों के वर्णन के साथ-साथ लेखक उनका 'रूप-रंग' तथा समाज में उनका स्थान भी बता देता है।

अनूदित उपन्यास

उपर्युक्त मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त, हिन्दी-उपन्यास को आधुनिक रूप देने और उसे उत्तरोत्तर विकसित करते रहने में अन्य भाषाओं के हिन्दी में अनूदित उपन्यासों का भी विशेष हाथ रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रयत्नो से उस समय के साहित्यिकों का ध्यान अन्य भाषाओं के अच्छे-अच्छे उपन्यासों को हिन्दी में रूपान्तरित करने की ओर जा चुका था। बंगला के कई अच्छे उपन्यासों के हिन्दी-रूपान्तर तो उनके जीवन-काल में ही प्रकाश में आ चुके थे। बाबू गदाधरसिंह ने 'बंग-विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का, बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता', आदि का, पडित प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधा रानी', 'युगलाँगु-रीय' का और पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृण्मयी' का हिन्दी अनुवाद करके निकाल दिया था।[४४]

इसके बाद तो हिन्दी में अनुवादों की एक बाढ़-सी आ गई। यद्यपि इनमें अधिकांश अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था जैसा अनुवादक के लिए आवश्यक होता है, तो भी जिस उद्देश्य को लेकर ये अनुवाद किए गए थे, उस की पूर्ति अच्छी तरह हो गई थी। इनसे हिन्दी के लेखकों का अन्य भाषाओं के नए ढग के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों से परिचय हो गया और उन्हें स्वतन्त्र उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली और इसके लिए योग्यता भी प्राप्त हुई। इस युग में हुए अन्य कुछ अनुवादों और अनुवादकों के नाम इस प्रकार हैं।[४५]:—

बाबू रामकृष्ण वर्मा	'ठगवृत्तान्त-माला' (सं० १९४६)
	'पुलिस-वृत्तान्त-माला' (सं० १९४७)

४४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००३, पृष्ठ ४५५।

४५. वही, पृष्ठ ४९७।

'अकबर' (सं० १९४९), 'अमन्तावृत्तान्त-माला' (सं० १९५१)
'चितौर चातकी' (सं० १९५२)

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री 'इला' (सं० १९५२), 'प्रमीला' (सं० १९५३)

बाबू गोपालराम गहमरी 'चतुर चचला' (सं० १९५०), 'भानमती' (सं० १९५१)
'नए बाबू (सं० १९५१), 'बड़ा भाई" (सं० १९५७)
'देवरानी-जेठानी' (सं० १९५८),
'दो बहिन' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (सं० १९६१) आदि।

मुन्शी उदितनारायण : 'दीप-निर्वाण'

इस प्रकार, उस युग में बकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चडी चरण सेन, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र आदि बंगला के उच्च कोटि के उपन्यास-कारों के लगभग सभी अच्छे-अच्छे उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित हो चुके थे। बंगला के अतिरिक्त गुजराती और मराठी के भी कुछ उपन्यासो का हिन्दी में अनुवाद हुआ। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक ही था कि अन्य भाषाओं के उच्च कोटि के उपन्यास हिन्दी में उपलब्ध होते। इन अनुवादो ने इस आवश्यकता को पूरा किया।

उस युग के मौलिक उपन्यासों की औपन्यासिकता और अनूदित उपन्यासों की भाषा और शैली आज चाहे कितनी ही नगण्य प्रतीत हो, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उस युग के मौलिक और अनूदित उपन्यासों ने मिलकर आधुनिक हिन्दी-उपन्यास को एक दृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान की जिसके बल पर वह बड़े उत्साह और आत्मविश्वास के साथ अपने विकास की अगली अवस्थाएँ पार कर सका।

तीसरा अध्याय

अनायास चरित्रचित्रण

अनायास चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

उपन्यास में सत्यं, प्रियं और हितं

आरम्भिक उपन्यासों में लोकरंजन की प्रवृत्ति ही मुख्य

तिलस्म-ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों में चरित्रचित्रण

देवकीनन्दन खत्री

परिचयात्मक विवेचन

आलोचकों द्वारा उपेक्षा

पुनर्मूल्यन की आवश्यकता

देवकीनन्दन खत्री के पात्र

पात्रो का चरित्रचित्रण

पात्रों के नाम

पात्रों का प्रथम परिचय

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

गोपालराम गहमरी

परिचयात्मक विवेचन

आलोचको की उदासीनता

आदर्श जासूसो का चित्रण

पात्रो का चरित्रचित्रण

अध्यायों के शीर्षक

पात्रों के नाम

पात्रो का प्रथम परिचय

आकृति-वेशभूषा-चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

पात्रों के पत्र

सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण

प्रस्तावना

उपन्यास में सत्यं, प्रियं और हितं—जैसा कि उसके अंग्रेजी नाम 'नावेल' से भी ध्वनित होता है, साहित्य में उपन्यास एक नए साहित्य-प्रकार के रूप में आया। उसका जन्म कविता और नाटक के पश्चात् हुआ। मानव-जीवन के उत्तरोत्तर जटिल होते जाने से उसकी समस्याएँ कविता और नाटक में न समा सकी और मनुष्य की अनुभूतिधारा सब प्रकार के बाँध तोडकर, कविता और नाटक की शास्त्रीय सीमाओं का उल्लंघन करके, अपने प्रकृति रूप में बह निकली। अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को उपन्यास की सज्ञा मिली। उपन्यास ने कल्पना की ऊँची उड़ान न भर कर मानव-जीवन की यथार्थताओं को अपना विषय बनाया और अपनी विशालता में धीरे-धीरे मानव-विकास के तीनों क्षेत्रो – भावात्मक, बौद्धिक और वैज्ञानिक—को समा लिया। दर्शन और विज्ञान को उनकी सीमाओं से निकालकर साहित्य के अनुरूप ढालने में उपन्यास ने जो कार्य किया वह अभूतपूर्व था। उससे मानव को आशा बँध गई कि वह उपन्यास में अपनी अनुभूति को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त होते देख सकेगा।

श्रीमद्भागवद्गीता में 'वाङ्मय' तप के अन्तर्गत की गई परिभाषा के अनुसार साहित्य के तीन प्रधान तत्व ठहरते हैं—सत्य, प्रियं और हितं।[1] सत्यं, शिवं और सुन्दरं क्रमशः सत्यं, हितं और प्रियं के ही दूसरे नाम हैं। साहित्य के सभी गुण इन तीनों तत्वो के अन्तर्गत हैं। साहित्य में स्वाभाविकता लाने वाला तत्व सत्यं है। लोकरक्षण की प्रवृत्ति उसका हितं (शिवं) तत्व है। जिन विशेषताओं के कारण साहित्य अपने पाठकों का मनोरजन करके उन्हें अपने में उलझाए रखता है, वे उसके प्रिय (सुन्दरं) तत्व के अन्तर्गत हैं। साहित्य की प्रत्येक कृति में ये तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं, पर वे सदा साम्यावस्था में नहीं रहते। किसी में 'सुन्दरं' प्रधानता ग्रहण कर लेता है, किसी में 'शिवं' मुख्य हो जाता है और किसी में 'सत्यं' मुख्य रूप

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १७। १५ :

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्य प्रियं हितंच यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयतप उच्यते ॥"

से अवस्थित हो जाता है। पर सफल साहित्य-कृति वही हो पाती है, जिसमें इन तीनों तत्वों का समन्वय हुआ हो।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में लोकरंजन की प्रवृत्ति मुख्य—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'सुन्दर' तत्व का प्राधान्य रहा। उस समय साहित्य से, विशेषतः उपन्यास से, समाज की पहली माँग लोकरंजन की थी। उस युग के पाठकों को वही उपन्यास प्रिय लगते थे जो उनके मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करके उन्हें आत्म-विस्मृत कर दे। मनुष्य का मन और इन्द्रियाँ उन वस्तुओं में जल्दी से उलझती हैं जिनके प्रति उसे विस्मय हो और जो उसके भीतर वैचित्र्य का भाव जागृत करें। इसीलिए, हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में अनोखी घटनाओं तथा विचित्र पात्रों की भरमार रही। उस युग के उपन्यासों में नाना प्रकार की विस्मयोत्पादक घटनाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन करके पाठकों के हृदय में कुतूहल जागृत करते हुए उन्हें मुग्ध करने की चेष्टा की जाती थी। घटनाओं के घटाटोप के पीछे जो एक रहस्यमयता छिपी रहती थी, उसका धीरे-धीरे उद्घाटन करके पाठक के औत्सुक्य को निरन्तर बढ़ाते रहने वाले उस युग के उपन्यास अत्यन्त रोचक और लोक-प्रिय बन गए थे।

उस युग में, हिन्दी-उपन्यासों से और कोई आशा नहीं की जाती थी। परिणामस्वरूप, लोकरंजन उपन्यास का एकमात्र लक्ष्य बन गया था। उस समय का पाठक उपन्यास से यह आशा नहीं करता था कि वह उसे एक जीवन-दर्शन देकर उसका पथ-प्रदर्शन करे, क्योंकि वह जानता था कि जीवन-दर्शन के लिए उसे उपन्यास की ओर नहीं, धर्म-ग्रन्थों की ओर प्रवृत्त होना होगा। उपन्यास को तो वह केवल इसलिए पढ़ता था कि कुछ समय के लिए यथार्थ जीवन की कटुताओं को भूल सके और अपने आपको मुक्त पंछी के समान विचरता हुआ पाए। पाठकों की इस माँग की पूर्ति में लिखे गए उपन्यासों में से देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यास तथा गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले उस युग के तीसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के अधिकाश उपन्यास, वासनाओं के रूप-रंग लिए होने पर भी, इन दोनों उपन्यासकारों की रचनाओं के समकक्ष नहीं माने जा सकते। उनके उपन्यास नितान्त समाज निरपेक्ष नहीं थे। उनमें समाज के कुछ-एक सजीव चित्र और पात्रों का थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी मिल जाता है। तभी तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति आलोचक देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों को तो साहित्य की कोटि में ही नहीं रखते, पर इन्हें साहित्य की दृष्टि से पहला उपन्यासकार मानते हैं।[२] इसलिए, गोस्वामीजी के उपन्यासों में हुआ चरित्र-चित्रण अनायास नहीं, सोद्देश्य चरित्र-चित्रण की कोटि में आएगा।

---

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००३, पृष्ठ ४९९-५००।

तिलस्म-ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण—देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यास चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से तो नही लिखे थे, पर एक बार उपन्यास लिखना आरम्भ करके भला कोई उपन्यासकार चरित्र-चित्रण की समस्या से बच पाया है। खत्री जी के पात्रो का चरित्र-चित्रण भी उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके कथोपकथनों आदि में उपन्यासकार के जाने या अजाने फूट पड़ता है। तत्कालीन समाज के चरित्र सम्बन्धी मूल्य उनके उपन्यास में अपने अविकृत रूप में मिलते हैं। धर्म और न्याय पर चलने वाले 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्तासतति' के राजा वीरेन्द्र सिह और उनके पुत्र इन्द्रजीत सिह तथा आनन्द सिह जीवन भर अपने नीच और स्वार्थी शत्रुओ की कूटनीति में उलझे रहते हैं और नाना प्रकार के कष्ट भोगते रहते हैं। पर अंत में उनके अधर्मी शत्रुओं की पोल खुल जाती है और उन्हें उनके कुकर्मो का फल मिलता है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर खत्री जी का इस प्रकार लिखते रहना कि आदर्शमय जीवन वाला, न्याय और धर्म की रक्षा करने वाला सदा अंत में विजयी हो कर सुख पाता है और अत में उसके असत् पात्रों का विजयी होना इस ओर स्पष्ट संकेत है कि उपन्यासकार सत् और असत् पात्रों के भेद को भूल नही पाया है और उनका चरित्र अनायास ही उनके कृत्यों में अभिव्यक्ति पा सका है। इसी प्रकार गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासो का जासूस अपराधी को पकड़ने के लिए दिन-रात एक कर देता है। इसी धुन में वह अपना सब सुख भूल जाता है। उसकी यह त्याग-भावना उसकी चतुराई और सच्चरित्रता की ही परिचायिका है। इन उपन्यासों के अंत में अपराधी का पकडे जाना और फॉसी पाकर अपनी करनी का फल भोगना भी उन पात्रो के भयकर चरित्र को पाठको के सामने ला खडा करता है, उपन्यासकार ने भले ही इसके लिए कोई चेतन प्रयास न किया हो।

देवकीनन्दन खत्री

परिचयात्मक विवेचन

देवकीनन्दन खत्री हिन्दी के पहले उपन्यासकार हैं, जिनके पाठकों ने, चाहे वे किसी वर्ग के हों, उनके उपन्यासो की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उनके उपन्यासों को लिखे आज लगभग सत्तर वर्ष होने को है और इस बीच हिन्दी-उपन्यास अपने विकास की अनेक अवस्थाएँ पार करके अत्याधुनिक मनोवैज्ञानिक रूप धारण कर चुका है, फिर भी खत्रीजी के उपन्यासो के पाठकों और प्रशंसकों की संख्या में कोई कमी नही आई। उनके उपन्यासो ने केवल पाठक ही नही, उपन्यासकार भी पैदा किए हैं। हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों पर इस रूप में उनका भारी ऋण है, इस ऋण को स्वीकार करने में भले ही आज कई उपन्यासकार संकोच करते रहे हों। गुरुदत्त ने खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' से मिली प्रेरणा को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है : "मैंने सर्वप्रथम 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित पढ़ा था। उस समय मैं स्कूल की पाँचवी श्रेणी में पढ़ता था। 'चन्द्रकान्ता' मुझ को बहुत ही रसमय लगी थी। वास्तव में लेखक बनने की इच्छा मेरे मन में तब से उगी थी।"[3] हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी भी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' से प्राप्त रस को भूल नहीं पाते[4]। उनका कहना है कि आधुनिक उपन्यासों को तो मैंने केवल पढ़ने के लिए पढ़ा है।

आलोचकों द्वारा उपेक्षा—यह आश्चर्य और खेद का विषय है कि खत्रीजी को जितना अधिक मान उनके पाठकों ने दिया, उनके प्रति उतना ही अधिक उपेक्षा का भाव हिन्दी के आलोचको ने दिखाया। हिन्दी-उपन्यास के इस विशाल भवन को दृढ़ नींव प्रदान करने वाले इस साहित्य-महारथी और उसकी रचनाएँ अब तक आलोचकों से उचित मान नहीं पा सकी हैं। आलोचक सदा इनके साथ ऐसा व्यवहार करते रहे हैं जो समाज से बहिष्कृत लोगों के प्रति होता रहा। साहित्य के इतिहास में तिलस्मी और ऐय्यारी के उपन्यासों का उल्लेख हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों का, उनके

---

३. गुरुदत्त : "उपन्यास कैसे लिखे गए", 'साहित्य संदेश : आधुनिक उपन्यास-अंक', जुलाई-अगस्त, १९५६, पृष्ठ ८० ।

४. बख्शी. "हिन्दी-कथा-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तिया", 'नया समाज', मार्च, १९५३ ।

अनगढ रूप तथा अपरिपक्वता का, परिचय कराने के लिए किया जाता है, मानो हिन्दी-उपन्यास के विकास में इससे अधिक उनका कोई महत्त्व न हो। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी कि जितने पाठक खत्रीजी ने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रन्थकार ने नही और यह भी कि 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही न जाने कितने उर्दू-जीवी लोगो ने हिन्दी सीखी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके प्रति श्रद्धाँजलि अर्पित करने की बजाय उनकी रचनाओ को साहित्य मानने तक से इन्कार कर देते हैं . "ये (उपन्यास) वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से है, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नही, इससे ये साहित्य-कोटि में नही आते[५]।'

ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपन्यासो की रचना में निहित लेखक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किए बिना, अपने पूर्वग्रहों के आधार पर ही आलोचक उनकी रचनाओं का मूल्याँकान करते रहे है। इन उपन्यासो की रचना धर्म-प्रचार या समाज-सुधार की भावना से नही हुई थी। उस समय के पाठकों की हिन्दी-उपन्यास से यह माँग थी भी नही। वे तो मनोरंजन के लिए, कुछ समय के लिए यथार्थ-जीवन की कटुताओ को भुलाने के लिए, उपन्यास पढ़ना चाहते थे। उनकी माँग की पूर्ति में ही इन उपन्यासों की रचना हुई थी। खत्रीजी ने स्वय भी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है : "जिस प्रकार पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थ बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गए, उसी प्रकार यह पाठकों के मनोविनोद के लिए[६]।" उपन्यास और लोक-रक्षण की भावनाओ को परस्पर-विरोधी तो खत्रीजी भी नहीं मानते थे, पर उनका आग्रह यह था कि उनका युग 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' के-से हल्के-फुल्के लोकरजक उपन्यासो का ही था, न कि गम्भीर विपय की भारी-भरकम रचनाओ का। अपने आलोचकों के प्रति उन्होंने लिखा भी है : "एक समय था कि लोग सिहासन-बत्तीसी, बैताल-पच्चीसी आदि कहानियो को विश्राम-काल मे रुचि से पढ़ते थे, फिर चहारदरवेश और अलिफलैला के किस्सों का समय आया, अब इस ढग के उपन्यासो का समय है। अब भी वह समय दूर है जब लोग बिना किसी प्रकार की न्यूनाधिकता के ऐतिहासिक पुस्तकों को रुचि से पढ़ेगे[७]।" अपने पाठकों के मनोरजन की धुन में यह उपन्यासकार भले ही धार्मिक नेता या समाज-सुधारक के रूप में अपने पाठकों के सामने न आया हो, पर इतने से ही यह समझ लेना कि ये उपन्यास समाज के लिए अनुपयोगी हैं, इनके प्रति अन्याय करना होगा। इनके लेखक के अपने शब्दो में, इनका "सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में नही पडेगा[८]।" इन उपन्यासो में वर्णित घटनाओ की संभाव्यता

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, स २००४, पृष्ठ ४६६।

६. देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता संतति', चौबीसवाँ हिस्सा, लहरी बुकडिपो, बनारस, गुटका बीसवा संस्करण, १९५७ ई०, पृष्ठ ८५।

७. देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता संतति', पृष्ठ ८६।

८. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता'—भूमिका, लहरी बुकडिपो, बनारस, १९५६ ई०, पृष्ठ २।

के सम्बन्ध में चाहे मतभेद हो, पर इस बारे में दो मत नही हो सकते कि इन उपन्यासों में शायद ही कोई ऐसा स्थल मिलेगा, जहाँ खत्रीजी ने समाज-व्यवस्था और उसके विधि-निषेधों के विरुद्ध लेखनी उठाई हो।

पुनर्मूल्यन की आवश्यकता—क्योंकि खत्रीजी ने अपने उपन्यासो में लम्बे-लम्बे उपदेशात्मक भाषण नही दिए, इसी से यह समझ लेना कि उनके उपन्यासो में जीवन के लिए उपयोगी तत्वों का अभाव है, सत्य के प्रति आंखें मूंद लेना होगा। इनके उपन्यासों को जीवन और जगत के लिए अनुपयोगी कहकर उन्हें साहित्य तक की कोटि से निकाल लेने वालों से पूछा जा सकता है कि क्या 'चन्द्रकान्ता' के ऐय्यार तेजसिंह और जीतसिंह के-से निःस्वार्थी स्वामी-भक्तों के आदर्श चरित्र से, जो अपने स्वामी के हित-साधन में सिर-धड की बाज़ी लगा देते है, पाठको को कोई प्रेरणा नहीं मिलती; क्या क्रूरसिंह जैसे समाज के अनिष्टकारी अपराधियो को पकड़ कर दण्डित करने में उनकी तत्परता, शरीर और बुद्धि की अथक दौड, कूटनीतिज्ञता पाठकों को प्रेरित नही करती कि वे भी उनकी तरह समाज के विघातक तत्व को ठिकाने लगाने के लिए कमर कस लें ? क्या ऐय्यारी द्वारा प्राप्त विजय अहिंसात्मक विजय से किसी भी प्रकार कम महत्व की कही जा सकती है ? हा, यदि उनकी कूट-नीतिज्ञता तथा बेहद चालाकी से शिकायत है तो सोचना होगा कि विशाखदत्त के नाटक 'मुद्रा राक्षस' में इस प्रकार की चालो की कौनसी कमी है। उसे तो साहित्य की कोटि से निकालने की किसी आलोचक को नहीं सूझी। इसी प्रकार के कई-एक प्रश्न हैं जिनसे कोई भी आलोचक, हिन्दी-उपन्यास में देवकीनन्दन खत्री का स्थान निर्धारित करते समय, बच नही सकता। यही नहीं, इन प्रश्नों का सही-सही उत्तर खोजे बिना वह यह समझ नही सकता कि आलोचकों की निपट उपेक्षा ही नहीं, घोर विरोध के होते हुए भी देवकीनन्दन खत्री के पाठकों ने उनके आलोचको की सम्मति क्यों नही मानी और क्यों उनके उपन्यास अपना रास्ता स्वयं बनाते रहे और बनाते रहेंगे।

देवकीनन्दन खत्री के पात्र—हिन्दी-उपन्यास में वर्ग प्रतिनिधि पात्रों के चित्रण की आवश्यकता महसूस करते हुए प्रेमचन्द ने एक बार अपने एक पत्र में लिखा था : "किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष ढंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया। उग्र ने किया मगर बहक गए। मैंने कृषक वर्ग को लिया, मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं, जिन पर रोशनी की जरूरत है।[९] कहना न होगा कि प्रेमचन्द के इस पत्र से ४०-४५ वर्ष पहले ही देवकीनन्दन खत्री ने वर्ग प्रतिनिधि पात्रों के चित्रण की आवश्यकता महसूस कर ली थी। उनके 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' नामक उपन्यासों में मध्ययुगीन राजदरबारों में काम करने वाले ऐय्यार लोगों का जितना विशद चित्रण हुआ है उतना किसी अन्य वर्ग का—प्रेमचन्द के उपन्यासों में कृषक वर्ग के चित्रण को छोड़कर—हिन्दी उपन्यास में अन्यत्र शायद ही

९. पं० प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे अपने ३ जून, १९३० के पत्र में।

मिले। सं० १९४४ में 'चन्द्रकान्ता' के प्रथम संस्करण की भूमिका में उन्होने लिखा भी है : "आज हिन्दी के बहुत से उपन्यास हुए है, जिनमें कई तरह की बातें तो राजनीति भी लिखी गई हैं, राजदबार के तरीके वो सामान भी जाहिर किए गए हैं, मगर राजदरबारों में ऐय्यार (चालक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफनमौला याने सूरत बदलना, बहुत सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना जासूसों का काम देना, वगैरह बहुत सी बातें जाना करते थे—इन ऐय्यारों का बयान हिन्दी किताबो में अभी तक नहीं गुज़रा। अगर हिन्दी पढ़ने वाले भी इस मजे को देख लें तो कई बातों का फायदा हो[10]। जब राजा-महाराजाओ में अनबन हो जाती थी तो ये लोग अपनी चालाकी के बल पर ही, रक्त की एक भी बूँद गिराए बिना, एक भी सैनिक की जान गँवाए बिना, झगडा समाप्त करा देते थे। उस युग में इन लोगों का बड़ा मान होता था। इन्ही ऐय्यारों का आदर्श-जीवन खत्रीजी के उपन्यासो में चित्रित हुआ है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यासों की रचना मुख्यतः पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चाहे न की हो पर उनके उपन्यासों को पढ़ने पर उनके पात्रों का जो स्वरूप पाठकों की आँखो के सामने खिच जाता है उसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता है कि चरित्र-चित्रण के प्रति वे उदासीन थे। वास्तव में, उनके उपन्यासो के कई ऐय्यार उनके पाठकों के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। अब हम यह देखेंगे किस प्रकार ये पात्र धीरे-धीरे पाठको की कल्पना में साकार होते जाते हैं—लेखक ने इस ओर कोई विशेष प्रायास किया हो या न किया हो।

पात्रों के नाम

खत्री जी के पात्रो के नामों से ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं का पता चल जाता है, मानो पात्रों के नामों द्वारा उपन्यासकार उनके स्वभाव के गुणावगुणों को व्यक्त कर रहा हो। उनके उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' के राजकुमार वीरेन्द्रसिंह को 'अपनी ताकत का भरोसा'[11] है, यह बात उसके नाम से ही व्यक्त हो जाती है। नायिका 'चन्द्रकान्ता' भी सौन्दर्य में चन्द्रकान्ति से कम नही। उसकी ऐय्यारा सखी चपला अपने नाम के अनुरूप ही 'चालाकी के फन में बडी तेज'[12] और 'चचल आवभावों वाली' है। तेजसिंह और उसके पिता जीतसिंह के नामों से भी उनके कृत्य ध्वनित हो जाते हैं। तेजसिह बडा चालाक और फुर्तीला है। वास्तव में वीरेन्द्रसिह की विजय सिद्ध बाबा के वेश में जीतसिंह के कारण ही सम्भव हो सकी थी।[13]

१०. देवकीनन्दन खत्री ; 'चन्द्रकान्ता'—भूमिका, पृ० १।

११. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पहला बयान, पृ० ३।

१२. वही, तीसरा बयान, पृ० ५।

१३. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', चौथा हिस्सा, २२वॉं बयान, पृ० ९०।

क्रूरसिह के नाम से ही पता चल जाता है कि यह खल नायक होगा। उसके पिता मन्त्री कुपथसिह के नाम से भी संकेत मिल जाता है कि वह अपने राजा को सदा गलत रास्ते पर ही डालता होगा।[१४] क्रूरसिह इतना क्रूर है कि अपने पिता के मन्त्री पद को सम्भालने की इच्छा से उसे विष दिलाकर मरवा डालता है।[१५] इसी प्रकार 'चन्द्रकान्तासंतति' के खलनायक भूतनाथ और मायारानी की दुश्चरित्रता भी उनके नामो से ध्वनित हो जाती है।

पात्रों के नामो द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन की प्रणाली बडी पुरानी है। इस प्रणाली की सार्थकता या उपयोगिता के बारे में चाहे दो मत हो, इससे इन्कार नही किया जा सकता कि इस प्रणाली का प्रयोग करने वाला उपन्यासकार अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नही हो सकता।

पात्रों का प्रथम परिचय

खत्री जी के उपन्यासो का आरम्भ बडे नाटकीय ढंग से होता है। उपन्यास का पर्दा उठते ही उसका आरम्भ होते ही—पाठक पात्रो को उपन्यास के रंग-मच पर कार्य-व्यस्त पाता है। अपने समकालीन उपन्यासकारो की भाति, परिचय कराने भर के लिए पात्रों को रंगमच पर ले आने की प्रवृत्ति उनमें दृष्टिगोचर नही होती। पात्रों का परिचय देते समय भी वह उनकी आकृति, वेशभूषा के ब्योरेवार नख-शिख वर्णन में नही उलझते, बल्कि एक-दो वाक्यों में ही उनका संक्षिप्त परिचय देकर उन्हे अपने क्रिया-कलापो द्वारा पाठकों पर धीरे-धीरे खुलने देते हैं।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास खुलते ही पाठक दो व्यक्तियों, वीरेन्द्रसिह और तेजसिह, को पत्थर की चट्टान पर बैठे परस्पर बातचीत में मग्न पाता है। वीरेन्द्रसिह का परिचय कराते हुए उपन्यासकार इतना ही लिखता है. 'वीरेन्द्रसिह की उम्र इक्कीस या बाईस वर्ष ही होगी। यह नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिह का इकलौता लड़का है।'[१६] तेजसिह का परिचय थोड़ा विस्तार से मिलता है, शायद इसलिए कि वह उपन्यास का मुख्य पात्र है—"तेजसिह राजा सुरेन्द्रसिह के दीवान जीतसिह का प्यारा लड़का और कुंअर वीरेन्द्रसिह का दिली दोस्त, बड़ा चालाक, फुर्तीला, कमर में सिर्फ खंजर, बायें बगल में बटुआ लटकाए, हाथ में एक कमद लिए, बड़ी तेजी के साथ चारों तरफ देखता और इनसे बातें करता जाता है।"[१७] उपन्यास के खल नायक क्रूरसिंह का उपन्यास में प्रवेश करा देने पर भी उपन्यासकार अपनी ओर से उसका परिचय नहीं देता। अपने साथियों से उसका

१४. वही, पहला हिस्सा, तीसरा बयान, पृ० ६।
१५. वही, सातवाँ बयान, पृ० २८।
१६. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पहला बयान, पृ० १।
१७. वही, पहला बयान, पृ० १।

कथोपकथन आरम्भ होने से पहले पाठको को उसका जो कुछ भी थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है, वह उसके नाम से तथा वीरेन्द्रसिह और तेजसिह में हुई बातचीत से भी मिलता है । बाद में शायद उपन्यासकार को स्वयं यह कमी महसूस हुई थी, फिर भी क्रूरसिह के नाम पर चिन्ह लगाकर वह पाद-टिप्पणी के रूप में उसका और उसके साथियो का केवल इतना ही परिचय देता है: "उसकी उम्र कोई २१ या २२ वर्ष की थी और उसके ऐय्यार भी हमसिन ही थे।"[18]

इस प्रकार हम देखते है कि देवकीनन्दन खत्री अपने पात्रों का प्रथम परिचय कराते समय प्रत्यक्ष प्रणाली (डाइरेक्ट मैथड) से काम न लेकर नाटकीय प्रणाली (इनडाइरेक्ट या ड्रामेटिक मैथड) को ही अपनाते है और अपनी ओर से उनके चारित्रिक गुणावगुणो का उल्लेख करके पाठकों को उनके प्रति पूर्वग्रहवान नही बनाते । जैसे कि हम आगे देखेंगे, प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही नही, परिपक्व उपन्यासो तक में भी यह बात खटकती रहती है कि पात्रो के क्रिया-कलापों का वर्णन करने से पहले ही वह उनके गुणावगुणों के प्रति अपनी श्रद्धा या घृणा व्यक्त करके पाठको पर अपनी रुचि का आरोप करने लगते हे । खत्री के उपन्यासों में इस प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित नही होती । अपनी ओर से किसी पात्र का चारित्रिक परिचय वह तभी देते हे जब अपने कई एक क्रिया-कलापों द्वारा वह पात्र पाठकों पर खुल चुका होता है । ऐसी स्थिति में पात्र के चरित्र पर उपन्यासकार की टिप्पणी खटकती नही, क्योंकि उपन्यासकार पात्र की जिन विशिष्टताओं का उल्लेख करता है, वे उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया में पहले ही व्यक्त हो चुकी होती हैं।

ऐय्यारा चपला को ही ले । 'चन्द्रकान्ता' के पृष्ठ ५ पर पहली बार उसका परिचय कराते हुए खत्री जी इतना ही लिखते है : 'चपला चालाकी के फन में बड़ी तेज है और चन्द्रकान्ता की प्यारी सखी है।'[19] पर कई विकट परिस्थितियों में उसका साहस, वीरता और चतुरतापूर्ण प्रतिक्रियाएँ दिखा चुकने के बाद उपन्यास के पृष्ठ ६७ पर वह उसकी चारित्रिक विशिष्टताओ के सम्बन्ध में थोड़ा खुलकर लिखते हैं : "चपला कोई साधारण औरत न थी । खूबसूरती और नजाकत के सिवाय उसमें ताकत भी थी । दो-चार आदमियो से लड़ जाना या उनको गिरफ्तार कर लेना उसके लिए एक अदना काम था । शस्त्र-विद्या को पूरे तौर से जानती थी, ऐय्यारी के फन के अलावा और भी कई गुण उसमें थे—रग उसका गोरा, बदन हर जगह से सुडौल, नाजुक हाथ-पॉव की तरफ खयाल करने से यही जाहिर होता था कि इसे एक फूल से भी मारना खून करना है।"[20] यहाँ चपला की इतनी प्रशसा

१८. वही, पहला हिस्सा, पृ० ३ ।

१९. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ५ ।

२०. वही, पृ० ६७-६८ ।

पढ़कर पाठक चौंकता नही, क्योंकि उसके इन गुणों से वह पहले ही परिचित हो चुका होता है।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

पात्रों की आकृति और वेशभूषा का वर्णन खत्री के उपन्यासों में बडी प्रचुरता से हुआ है। एक ही पात्र विभिन्न परिस्थितियों में विविध प्रकार की वेशभूषा और रंगरूप में मिलता है। उनके ऐय्यार पात्रों के सम्बन्ध में यह कभी नही कहा जा सकता कि वे कब, कहाँ और किस रूप में मिलें। अपने कार्य की सिद्धि के लिए इन पात्रों को आए दिन अपना रूप बदलना पड़ता है। आकृति और वेश-भूषा ही नहीं, अपने असली चेहरे तक को भी बदलकर उस नकली नकली रूप का आरोप करना पड़ता हैं। इनके विविध रूपो का वर्णन इनके चरित्रोद्घाटन के लिए नही, बल्कि इनके असली रूप को छिपाने के लिए हुआ है। इसलिए, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार के वर्णनों का कोई महत्त्व नही।

हाँ, जहाँ पात्र अपने वास्तविक रूप में प्रगट होते हैं, यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं, वहाँ उनकी आकृति और वेशभूषा में उनके चरित्र का भी थोड़ा-बहुत अंश प्रतिबिम्बित मिल जाता है। उदाहरणार्थ, घोड़े पर चढ़े हुए कुँवर वीरेन्द्रसिंह की एक झाँकी देखिए

> "सिर पर फौलादी टोपी जिसमें एक हुमा के पर की लांबी कलंगी लगी हुई थी, बदन में बेशकीमती लिवास के ऊपर फौलादी जर्: पहने हुए थे, गोरा रंग, बड़ी- बड़ी आँखें, गालों पर सुर्खी छा रही थी। बड़े-बड़े पन्नों के दानों का कण्ठा और भुज-बल भी पन्ने का ही था, जिसकी चमक चेहरे पर पड़कर खूबसूरती को दूना कर रही थी—ताकत, जवाँमर्दी, दिलेरी और रोआब इनके चेहरे ही से झलकता था, दोस्तों के बीच मुहब्बत और दुश्मनों के दिल में खौफ पैदा होता था।"[२१]

वीरेन्द्रसिंह की छवि का यह वर्णन काफी लम्बा हो गया है, पर ऐसा इसलिए हुआ है कि उपन्यासकार चन्द्रकान्ता की माँ के हृदय में उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर उससे कहलवाना चाहता है कि 'अगर चन्द्रकान्ता के लायक वर है तो वीरेन्द्र सिंह।'[२२]

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

खत्रीजी के उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास हैं पर कोई उपन्यास घटना प्रधान होने से ही पात्रों के चरित्र-चित्रण से वंचित रह जाएगा यह आवश्यक नहीं। उपन्यास की घटनाएँ उसके पात्रों के साथ ही तो घटित होंगी, उन घटनाओं के प्रति व्यक्त होने वाली पात्रों की प्रतिक्रियाओं में उनका चरित्र भी अपने आप प्रतिबिम्बित हो उठेगा।

---

२१. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ६२।

२२. वही, पहला हिस्सा, पृ० ६२।

खत्री के उपन्यासो में घटनाओं का समावेश कथानक को गति देने के लिए ही नही, पात्रों के चरित्रोद्‌घाटन के लिए भी हुआ है। वास्तव में, इन उपन्यासो को पढने के बाद पात्रों के चरित्र का जो स्वरूप पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के सामने नाच उठता है, उसे व्यक्त करने का अधिकांश श्रेय उनमें वर्णित घटनाओं को ही है। उपन्यासकार अपने पात्रों को, विशेषकर ऐय्यार पात्रों को एक के बाद एक अधिकाधिक विकट परिस्थियों में डालता रहता है, उनके जीवन में अधिकाधिक भयंकर घटनाएँ घटित करता जाता है, जो उनके मार्ग को कण्टकाकीर्ण करती रहती हैं। उनके आदर्श ऐय्यारो का विकट से विकट परिस्थिति में भी तनिक न घबराना और अत्यन्त धैर्य और वीरता के साथ उसका सामना करके अपना रास्ता आप बनाना, उसके चरित्र की दृढ़ता को व्यक्त करता है। इसके विपरीत उनके खल पात्रों का अपने अनुकूल परिस्थिति पाकर व्यर्थ में अकड़ने लगना और किसी भयंकर स्थिति में पड़ जाने पर हिम्मत हारकर भाग्य को या अपने साथियों को गालियाँ देने लगना और अपने शत्रुओं से नाक रगड़कर तथा गिड़गिड़ाकर क्षमा-याचना करना उनके चरित्र की हीनता को उद्‌घाटित करता है।

सजीव शब्द-चित्र—कोई आदर्श पात्र कितनी भयंकर घटना में अपना धैर्य और साहस बनाए रहता है और खल पात्र कितनी जल्दी प्रलोभन में आ जाता है और कितनी जल्दी भय से थर-थर काँपने लगता है, यह दिखाने के लिए उपन्यासकार को घटना का इतना सजीव वर्णन करना होता है कि पाठको को ऐसा प्रतीत होने लगे कि वे सारी घटना अपनी आँखों से देख रहे हैं, न कि उपन्यास में से पढ़ रहे हैं। इस कला में देवकीनन्दन खत्री सिद्धहस्त हैं। उनके शब्द-चित्र इतने सजीव होते हैं, उनके स्थित्यंकन में इतनी मूर्तिमत्ता होती है कि पाठकों को पता ही नही रहता कि वे उपन्यास पढ़ रहे हैं। उस समय तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि वे पात्र के साथ एक भंयकर तहखाने में फँसे हुए हैं और अपनी आँखो से घटित उस रोमांचकारी घटना को देख रहे हैं और जिनके साथ वे घटनाएँ घटित होती हैं, उनकी प्रतिक्रिया के भी साक्षी हैं। खत्रीजी के उपन्यासों की सफलता में उनकी वर्णन-शक्ति का बड़ा योग है। आश्चर्य होता है कि हिन्दी-उपन्यास के शैशवकाल के इस उपन्यासकार की रचना-शक्ति पर। इसके पास न कोई ईंट है, न पत्थर, न चूना है न गारा; न हथौड़ा है, न फावडा। केवल शब्दों के सहारे वह गगनचुम्बी रंगमहल और पाताल तक धँसी गारें, हीरे-जवाहरातों से जगमगाते खज़ाने और मीलों लम्बी घुप-अँधेरी गुफाएँ रच डालता है।

पाठकों को इस प्रकार घटना सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी दे चुकने के बाद उपन्यासकार जब उनकी प्रतिक्रियायों का वर्णन करता है, तो पाठकों पर उनका चरित्र अपने-आप व्यक्त हो उठता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण

पात्रों की परस्पर बातचीत में, यदि वह कृत्रिम न हो और सहज स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुई हो, पात्रो का चरित्र प्रतिबिम्बित हो उठता है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो में पात्रो के सवादों की, उनके कथोपकथनो की, कमी नही पर वे सब कथोपकथन पात्रों के चरित्र को चित्रित नही करते, उनमें अधिकाश कथोपकथन तो ऐसे है, जिनका समावेश कथानक को गति देने के लिए है, और शेप में से बहुत ऐसे हैं जो पात्रो की सहज-स्वाभाविक बातचीत से बहुत दूर जा पड़ते है तथा जिनका समावेश पात्रों के चरित्र के प्रकाशन के लिए नही, अपितु उनके वास्तविक और स्वाभाविक रूप को छिपाने के लिए, दूसरो को धोखा देने के लिए, किया गया है। उदाहरणार्थ, ये कथोपकथन देखिये :

"चपला ने चम्पा से पूछा, "सखी, मैंने जो तुझ से कहा था सो तैंने किया ?" चम्पा बोली, "नही मै तो भूल गई।" तब चपला ने कहा, "भला वह बात तो याद है या वह भी भूल गई ?

चम्पा बोली, "वह बात तो याद है।"

तब फिर चपला ने कहा, भला दोहरा कै मुझ से कह तो सही, तब मैं जानूँ कि तुझे याद है।[२३]"

इसी प्रकार का एक और कथोपकथन देखिए

"तेजसिह को देख चपला बोली, "क्यों केतकी, जिस काम के लिए मैंने तुझ को भेजा था, क्या वह काम तू कर आई जो चुप-चाप आकर बैठ रही है।"

नकली केतकी—"हाँ, काम करने तो गई ही थी, मगर रास्ते में एक तमाशा देख तुमसे कुछ कहने को लौट आई।"

चपला—"ऐसा। अच्छा तैंने क्या देखा, कह ?"

नकली केतकी—"सभी को हटा दो तो तुम्हारे और राजकुमारी के सामने यह बात कह सुनाऊँ।"[२४]

इस प्रकार के व्यर्थ के कथोपकथनों को निकाल देने पर भी खत्रीजी के उपन्यासों में अनेक ऐसे कथोपकथन रह जाते है जो पात्रों का चरित्र प्रकाश में लाने में सहायक सिद्ध होते हैं। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के आरम्भ में ही तेजसिंह और वीरेन्द्रसिंह की परस्पर बातचीत देखिए, इसमें दोनों के चरित्र की झाँकी मिल जाती है :

"**तेजसिंह**—"जब मै अपने दुश्मनों की चालाकी और कार्रवाई देखकर लौटूँ तब आपके चलने के बारे में राय दूँ। कही ऐसा न हो कि बिना समझे-बूझे काम करके हम लोग वहाँ ही गिरफ्तार हो जाएँ।"

---

२३. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ७।

२४. वही, पहला हिस्सा, पृ० १२।

वीरेन्द्र—"जो मुनासिब समझो करो, मुझको तो सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है, लेकिन तुम को अपनी ताकत और ऐय्यारी दोनो का।"

तेजसिंह—"मुझे यह भी पता चला है कि हाल ही में क्रूरसिंह के दोनो ऐय्यार यहाँ आकर पुन. हमारे महाराज का दर्शन कर गए हैं। न मालूम किस चालाकी से आए थे ? अफसोस उस वक्त मैं यहाँ न था।

वीरेन्द्र—"मुश्किल तो यह है कि तुम क्रूरसिंह के दोनो ऐय्यारों को फंसाया चाहते हो और वे लोग तुम्हारी गिरफ्तारी की फिक्र में हैं, परमेश्वर ही कुशल करे। खैर अब तुम जाओ और जिस तरह बने चन्द्रकान्ता से मेरी मुलाकात का बन्दोबस्त करो।[२५]"

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

जब पात्रो की परस्पर बातचीत के दौरान में किसी ऐसे पात्र की चर्चा छिड जाती है जो उस समय वहाँ उपस्थित नहीं होता, तो उसकी निन्दा में कहे गए वाक्य चाहे विश्वसनीय न प्रतीत हों, पर उसकी प्रशंसा में कहे गए वाक्यो की सचाई में कोई सन्देह नहीं रहता। खत्रीजी के उपन्यासों में ऐसे कथोपकथनों की कमी नही, जहां किसी पात्र की अनुपस्थिति में अन्य पात्र उसकी प्रशंसा करते हैं। 'चन्द्रकान्ता' के महाराजा जयसिंह भरे दरबार में तेजसिंह की चर्चा छिड़ जाने पर कहते हैं : 'तेज-सिंह की चाल-चलन, बातचीत, इल्म और चालाकी पर जब खयाल करता हूँ, तबीयत उमड आती है। बडा ही लायक लड़का है, उसके चेहरे पर कभी उदासी तो देखी नही।[२६] इसी प्रकार 'चन्द्रकान्ता संतति' में मायारानी से बातचीत के दौरान में राजा गोपालसिंह की प्रशंसा करते हुए बाबा कहते हैं : 'बेशक ये हमारे मालिक राजा गोपालसिंह है, जिनकी नेकियों ने लोगों को अपना ताबेदार बना लिया था, जिनकी बुद्धिमानी और मिलनसारी प्रसिद्ध थी।[२७]"

जब किसी पात्र की उपस्थिति में, उसके मुँह पर ही कोई अन्य पात्र उसकी निन्दा करने लगता है और उस पात्र से जवाब नही बन पाता, तब उस निन्दा को निपट झूठ नहीं कहा जा सकता। खत्री के खल पात्रो के मुंह पर जब कोई पात्र उनके कुकृत्यों की निन्दा करने लग जाता है तब उनकी चरित्रहीनता में कोई सन्देह नही रहता। 'चन्द्रकान्ता सतति' की मायारानी के मुँह पर उसकी निन्दा करते हुए बाबा कहते हैं : "बाबा, ओह, ये तो राजा गोपालसिह हैं, जिन्हे मरे कई वर्ष हो गए। नही, नही मरा हुआ आदमी लौटकर नही आता······ओह, इनके बारे में हमें धोखा दिया।'[२८]

---

२५. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ३।
२६. वही, पृ० ६६।
२७. 'चन्द्रकान्ता सतति', ९वॉ हिस्सा, पृ० ७६-७७।
२८. खत्री, 'चन्द्रकान्ता संतति', ९वां हिस्सा, लहरी बुकडिपो, काशी, १६वॉ संस्करण, १९५१, पृ० ७६ ७७

गोपालराम गहमरी

परिचयात्मक विवेचन

देवकीनन्दन खत्री के पश्चात् हिन्दी-उपन्यासों को दृढ़ नींव प्रदान करने वाले उस युग के दूसरे महारथी थे जासूसी उपन्यासों के लेखक गोपालराम गहमरी। हिन्दी में जासूसी कहानियो और उपन्यासो का आरम्भ गहमरी जी ने किया और उनके अपने जीवन के साथ हिन्दी का जासूसी-साहित्य समाप्त भी हो गया। उन्होंने कुल मिलाकर दो सौ के लगभग जासूसी कहानियाँ और उपन्यास लिखे।[२९] हिन्दी-जनता में उन उपन्यासो की खूब माँग रही। जासूसी उपन्यासो की रचना करते समय उन्होंने अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासो के ढाँचे को तो जरूर अपनाया, पर कोरे रूप विधान को देखकर यह समझ लेना कि उनके उपन्यास पूर्णरूप से अंग्रेज़ी साहित्य की देन हैं और अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासों के भारतीय संस्करण हैं,[३०] गहमरीजी के प्रति अन्याय करना होगा। जो लोग अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासकार कानन डॉयल की 'शरलॉक होम्स सीरीज़' से परिचित हैं, उन्हें गहमरीजी के उपन्यासों की मौलिकता को पहचानने में देर न लगेगी। इसके अतिरिक्त, 'जासूस' नाम की एक पत्रिका भी वह चालीस वर्ष तक बड़ी लगन से निकालते रहे। यह पत्रिका बड़ी लोकप्रिय रही। प्रेमचन्द के उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने तक हिन्दी-उपन्यास के प्रति पाठकों का आकर्षण बनाए रखने वाले उपन्यासकारों में गहमरीजी का स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

आलोचकों की उदासीनता—पर खेद है, देवकीनन्दन खत्री की तरह गहमरीजी भी आलोचकों की कृपा दृष्टि से वंचित रहे। हिन्दी में जासूसी-उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले, अस्सी वर्ष की अवस्था तक हिन्दी की अनथक सेवा करने वाले, साहित्यकार का भी आलोचकगण उचित आदर नहीं कर सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनके अनुदित उपन्यासों का ही उल्लेख करके रह जाते हैं; उस युग के मौलिक

---

२९. कृष्णदेवप्रसाद गौड़, 'स्वर्गीय गोपालराम गहमरी', 'साप्ताहिक संसार', ७ जुलाई, १९४६।

३०. यज्ञदत्त शर्मा, 'हिन्दी के उपन्यासकार', भारती (भाषा) भवन, दिल्ली, १९५१, पृ० ६।
शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास', पृ० ७४।

उपन्यासकारो में इनकी गिनती तक नही करते।[३१] अन्य आलोचक उनका उल्लेख करते हुए केवल इतना ही लिख पाते है कि उनके उपन्यसो और 'जासूस' नामक पत्र से 'उपन्यास पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिला',[३२] 'जनता को उपन्यास पढ़ने का और भी चस्का लग गया',[३३] इससे अधिक मानों उनके उपन्यासों की कोई उपयोगिता ही न हो। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो इनके उपन्यासों को तनिक भी महत्व नही दिया गया। यह तो माना कि देवकीनन्दन खत्री की तरह, उपन्यास-रचना में गहमरीजी का मुख्य उद्देश्य लोकरंजन का था, पर यह कहना कि 'चरित्र-चित्रण की ओर इनके उपन्यासो में भी ध्यान नही दिया गया',[३४] वास्तविकता के प्रति आँखें मूँद लेना होगा।

आदर्श जासूसों का चित्रण—गहमरीजी के उपन्यासों के पाठक इस बात को भली प्रकार से जानते हैं कि उनके उपन्यासों में जासूसो की खूब प्रशंसा हुई है। उनके जासूस अपराधियों को उनके कुकृत्यों के लिए उचित दण्ड दिलाने के उद्देश्य के निःस्वार्थभाव से उनकी खोज में लगते हैं। उनकी समस्त-खोजों के पीछे जो भावना काम करती है, उसका उल्लेख उनके 'ठन-ठन गोपाल' नामक उपन्यास में बडे स्पष्ट रूप में मिलता है : 'तुम लोग अपने ही घर को घर समझते हो, इस कारण अपने घर में पकडे चोर अपराधी को मार पीटने में खुश होते हो। और हम लोग सब प्रजा को अपना घर समझते हैं और सर्वसाधारण के अपराधी पर हम लोगों को भी वैसा ही गुस्सा होता है।[३५] ये जासूस लोग अपराधी को पकडना अपना परम कर्तव्य समझते हैं और अपने बुद्धिबल और इच्छाशक्ति के आधार पर ही बड़े से बडा जोखम लेने के लिए तैयार रहते हैं। लोकहित भावना में रत ऐसे ही जासूसों का आदर्श चरित्र गहमरीजी के उपन्यासो में चित्रित हुआ है। गहमरीजी की दृष्टि में 'उपन्यास लिखना और जासूसी में काम करना दोनों ही लोकोपकार के लिए हैं।'[३६] ये जासूस ही उनके उपन्यासों के नायक हैं और उनके नाम पर गहमरीजी के बहुत से उपन्यासों के नाम पडे हैं। उनके उपन्यास 'ठन-ठन गोपाल' को ही लें। ठनठन गोपाल इस उपन्यास के नायक का नाम है। वह एक आदर्श जासूस है, जिसमें बुद्धि और साहस का अपूर्व मेल है। अपराधी को पकड़ने के लिए वह अपनी जान पर खेल जाता है और अंततः अपने प्रयत्नों में सफल भी हो जाता है। तिलस्म और ऐय्यारी वाले उपन्यासों की अपेक्षा जासूसी के उपन्यासो के नायकों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति की अधिक गुंजाइश रहती है, क्योकि जासूसी उपन्यासों

३१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ४९७-५०१।
३२. यज्ञदत्त, 'हिन्दी के उपन्यासकार', पृ० ६।
३३. श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास', पृ० ७५।
३४. यज्ञदत्त, 'हिन्दी के उपन्यासकार', पृ० ६।
३५. गोपालराम गहमरी, 'ठनठन गोपाल', किताब महल, इलाहाबाद, १६४६ ई०, पृ० ६७-६८।
३६ वही, पृ० ८६।

के नायकों के पास जादू की बाँसुरी या अलादीन का चिराग तो होता नहीं कि उसकी सहायता से वे जो चाहे कर ले। उन्हें तो मनुष्य की सीमित शक्ति से ही अपना काम करना होता है और विकट से विकट परिस्थिति में भी अपनी बुद्धि, बल और धैर्य का परिचय देना होता है। इस दृष्टि से गहमरीजी के पात्र देवकीनन्दन खत्रीजी के पात्रों की अपेक्षा हमारे जीवन के अधिक निकट ठहरते है और उनका चरित्रचित्रण-भी खत्री जी के चरित्र-चित्रण से एक कदम आगे है।

पात्रों का चरित्रचित्रण

यद्यपि पात्रो का चरित्रचित्रण गहमरीजी के उपन्यासों में भी मुख्य रूप से न होकर आनुषगिक रूप से ही हुआ है, तो भी देवकीनन्दन खत्री की अपेक्षा इनकी प्रवृत्ति इस ओर अधिक रही। अपने पात्रों के रूप में उन्होंने जिस वर्ग को चुना था, उसके प्रति न्याय करने के लिए भी इन्हे उनके अपेक्षाकृत स्वाभाविक चरित्रचित्रण की आवश्यकता थी। उन्हे अपने उपन्यासो के चोर-उचक्के, डाकुओं को तो चालाक और साहसिक बनाना ही था, पर जासूसो को उनसे भी अधिक चतुर और साहसी बनाने की आवश्यकता थी और साथ ही जरूरत थी उन्हे अपराधियों से पीड़ितों के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए अधिक मानव बनाने की ताकि वे धन-इनाम आदि के प्रलोभन के अतिरिक्त सच्ची लोकहित-भावना से भी कर्तव्यरत रहते। अपने कर्तव्य को अच्छी तरह निभाने के लिए इन जासूसों को केवल अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं तौलना होता था, प्रत्युत् अपने प्रतिद्वन्द्वी अपराधी के बल-विक्रम, साधन-सम्पन्नता और चारित्रिक गुणावगुणों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करनी होती थी। इसलिए जासूसों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उनके चरित्र का ही उद्घाटन नहीं होता, उनके प्रतिद्वन्द्वी अपराधियों की कलई भी खुलती जाती है। यद्यपि पाठकों की उत्सुकता को अन्त तक बनाए रखने के लिए यह सब उद्घाटन होता बेहद धीरे-धीरे है, तो भी उपन्यास समाप्त कर चुकने के बाद पाठक के हृदय-पटल पर प्रत्येक मुख्य पात्र का चरित्र एक स्पष्ट छाप छोड़ जाता है।

आगे हम देखेंगे कि गहमरीजी के औपन्यासिक पात्रों का चरित्र किस प्रकार पाठकों पर धीरे-धीरे व्यक्त होता रहता है।

अध्यायों के शीर्षक

गहमरीजी के उपन्यासों के अधिकांश अध्यायों के शीर्षकों से ही पता चल जाता है कि उस अध्याय में कौनसा पात्र मुख्य रूप से भाग लेगा और उसके चरित्र की कौनसी विशिष्टता प्रकाश में आएगी। यदि कोई व्यक्ति उनका उपन्यास पूरा न पढ़कर अध्यायों के शीर्षकों को ही पढ़ ले तो भी उसे उपन्यास के प्रमुख पात्रों के नाम और उनके एक-दो मुख्य गुणावगुणों का परिचय मिल जाएगा। 'ठनठन (नायक का नाम) की बुद्धि', 'गवरघाँख रोटी वाला', 'माता की ममता', 'रेशमी का पता',

'रेशमी की गुप्त बातें', 'घर घूमन' (नाम), 'बैला खयासिन', 'सती की बहादुरी', 'दुरदिन' (नाम) और सती', 'रामलाल' आदि शीर्षक गहमरीजी के उपन्यासों के परिच्छेदों के हैं, जिनके आधार पर पाठक पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं तथा उनके जीवन में आने वाले व्यक्तियों और मोड़ों के सम्बन्ध में अनुमान लगा सकता है।

पात्रों के नाम

गहमरीजी के अधिकांश औपन्यासिक पात्रो के नाम स्वाभाविक चाहे न प्रतीत हों, उन पात्रों की किसी, मुख्य अथवा गौण, विशिष्टता को अवश्य व्यंजित कर देते है, जैसे : ठनठनगोपाल, घरघूमन, दुर्दिन, नटुरी, सती आदि। जासूस 'ठनठन गोपाल' अपनी जान की बाजी लगाता है, लखपति और करोडपतियों के अपराधियों को पकडने के लिए, पर स्वयं बेचारा ठनठन गोपाल ही है। घरघूमन को गुप्तचर के नाते घर-घर घूमना पड़ता है। दुर्दिन अपनी चाल से बाप-दादे की कमाई खोकर अपना ही दुर्दिन नही लाता, अपितु अपने मित्र तेलुराम का भी दुर्दिन ले आता है। नटुरी दासी का कद छोटा है। सती अपनी जान बचाकर आश्रय देने वाले तेलुराम के प्रति भी समर्पित नहीं होती और उसके लाख चेष्टा करने पर भी अपना सतीत्व बचाए रखती है।

पात्रों का प्रथम परिचय

हिन्दी के अन्य प्रारम्भिक उपन्यासकारों की भान्ति गहमरीजी अपने पात्रों का हाथ पकडकर उन्हें पाठकों के सामने नही लाते और न ही अपनी ओर से पाठकों को उनका परिचय देने लगते हैं। उनके उपन्यासों में पात्रो का प्रथम परिचय नाटकीय ढग से मिलता है। उपन्यास आरम्भ होते ही पाठक को पात्र कार्यव्यस्त मिलते हैं और अपने क्रिया-कलापों से ही वे उन पर खुलते है।

उनके अनुपस्थित या गायब हुए-हुए पात्रों का प्रथम परिचय भी हमें उपन्यास-कार के शब्दों में नही मिलता। अन्य पात्रों के कथोपकथनों से ही हम उनके बारे में कुछ जान पाते हैं। जाँच-पड़ताल के दौरान में जब जासूस या कोई और पुलिस-अफसर अन्य पात्रों से अनुपस्थित या भगोड़े पात्र के बारे में पूछ-ताछ करता है तब पाठक भी कुछ-कुछ जान पाता है। पर बहुधा होता यह है कि जासूस केवल एक ही पात्र से पूछकर सतुष्ट नही होता। एक ही पात्र के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए वह तीन-चार व्यक्तियों से पूछ-ताछ करता है और उन व्यक्तियों के बयानो में कई बार इतना अन्तर होता है कि पाठक बेचारा उन पात्रों के बारे में प्राप्त प्रथम परिचय से उनके सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित मत नही बना पाता। जासूसी उपन्यासकार का अपना प्रयत्न भी यही होता है कि जब तक पूरी सामग्री प्रकाश में न आ जाए तब तक पाठक उसके किसी पात्र के चरित्र के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से न कह सके। पूरी सामग्री प्रकाश में तब आती है जब उपन्यास समाप्ति

पर पहुँच जाता है। उपन्यास का नायक जासूस, जिससे पाठक सायुज्य स्थापित करता है, भी तो अपने किसी अपराधी के बारे में अंतिम और निश्चित रूप से नहीं कह पाता। निश्चित हो जाने पर तो उसकी खोज समाप्त हो जाती है। इस अनिश्चित संदेहावस्था को निश्चित जानकारी में बदलने के लिए ही उसकी सारी दौड़धूप और खोज होती है।

'ठनठनगोपाल' की रेशमी के चरित्र के सम्बन्ध में जासूस जो प्रारम्भिक जाँच करता है, उसमें दीवान सुन्दरलाल बताता है कि वह 'चाल-चलन की बड़ी[३७] पाक है, पर नटुरी दासी का कहना है कि 'ओको एकाध दिन बाहर रात के देखे रही' [३८]। इसी प्रकार, हरदेवी के सम्बन्ध में इन्द्र दासी का यह कहना है कि 'हमारी हरदेवी तो ठीक जैसे गंगाजल पवित्र होता है, टटका जैसा अनमूँघा फूल जो महादेव की पिंडी पर चढता है।'[३९] पर उसके कमरे का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद जासूस यह सोचने लगता है कि उसका लुप्त होना शायद उसकी अपनी इच्छा से प्रेम के चक्कर में हुआ हो, यद्यपि निश्चित रूप से वह यह बात नही मानता। इसलिए, हरदेवी के चरित्र के बारे में पात्र को भी निश्चित रूप से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

इस प्रकार जासूसी उपन्यासों में यद्यपि पात्रो के प्रथम परिचय की सामग्री प्रचुर मात्रा में बिखरी रहती है, पाठक उपन्यास के नायक जासूस के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कह पाता। जासूस के सम्बन्ध में अवश्य उसकी धारणा बनने लगती है कि वह चतुर और समझदार व्यक्ति है। उपन्यासकार भी यही चाहता है कि जासूस के प्रति पाठक के मन में इस प्रकार के भाव उठें। तभी तो पाठक उसकी अगली कार्रवाई की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेगा।

आकृति-वेशभूषा-चित्रण

जासूसी उपन्यासों के जिन पात्रों के चारित्रिक गुणावगुणों के जानने के लिए पाठक उत्सुक होता है, वे वही पात्र होते हैं, जो मुख्य घटना को घटित करके स्वयं लुप्त हो गये होते हैं। जब कभी ये पात्र प्रकट में आते भी हैं, तो अपना रूप बदल कर। ऐसी स्थिति में उनकी वेश-भूषा के आधार पर उनके चरित्र के सम्बन्ध में अनुमान लगाने का प्रश्न ही नही उठता।

शेष रहा जासूस और उसके साथी। उनके भी स्वाभाविक आकार-प्रकार तथा वेश-भूषा के चित्रण की ओर उपन्यासकार ध्यान नहीं देता, क्योंकि आए दिन इन लोगों को वेश बदलकर अपराधियों का पीछा करना पड़ता है। कभी ये लोग साधारण पथिक के रूप में मिलते हैं और कभी साधु के वेश में। उनके उस बदले हुए वेश में उनके स्वभाव को ढूँढने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

---

३७. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० १३।

३८. वही, पृ० २६।

३९. वही, पृ० ३०।

इसलिए, जासूसी उपन्यासों में आकृति और वेश-भूषा के वर्णनों की प्रचुरता होते हुए भी चरित्रचित्रण की दृष्टि से उनका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

अन्य जासूसी उपन्यासों की भाँति गहमरीजी के उपन्यास भी घटनाओं से भरे पड़े है। इसमें सन्देह नही कि उनके अधिकांश उपन्यासों में अधिक बल कथानक पर है, और उनकी घटनाएँ कथानक को गति देने के लिए हैं। फिर भी उपन्यास-कार के जाने या अजाने उन घटनाओं के माध्यम से पात्रो के चरित्र का भी किसी अंश में उद्घाटन हो जाता है। इन उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ एक उपन्यास ऐसे भी मिल जाएँगे, जिनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण की अवहेलना नहीं हुई, जिनमें घट-नाएँ केवल कथानक को ही गति नही देती, पात्रों का चरित्रोद्घाटन भी करती है।

उनके उपन्यास 'ठनठन गोपाल' को ही लें। हरदेवी के अचानक गायब हो जाने की मुख्य घटना उपन्यास के नायक जासूस को प्रकाश में लाती है और हरदेवी को खोज निकालना बन जाता है उसके इस औपन्यासिक जीवन का लक्ष्य। अपने लक्ष्य की पूर्ति में वह सिर-धड़ की बाजी लगा देता है। उसके मार्ग में जितनी अधिक विकट बाधाएँ आती हैं और भयंकर घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें उतनी ही अधिक उसके चरित्र की दृढ़ता और साहस का परिचय मिलता है। भूत वाली घटना से उसके साहस का पता चलता है। हरदेई की खोज में अपराधी रामलाल का पीछा करता हुआ जासूस और उसका साथी रात काटने के लिए एक दूकान के बरामदे में सो गए। आधी रात के समय एक आहट ने उसे जगा दिया। उठा तो भीतर आँगन में 'एक आबनूस-सा काला आदमी निकल आया। कोई गज सवा गज लम्बा होगा लेकिन कपाल बडा भारी है। बाल बड़े लम्बे हैं। नाक भी बडी ऊँची और लम्बी है आँखें भी बड़ी जैसे भैस की होती हैं।'[४०] इस भूत को देखकर वह घबड़ाया नहीं, बल्कि उसे चुप-चाप एकटक देखता रहा। घबराए हुए साथी को देखकर वह कहता है: "भूत है तो बड़ा मजा होगा। इसी से हरदेवी का पता लगा लेंगे।"[४१] उसके इस साहस को देखकर उसका साथी ठीक ही कहता है, "लेकिन धन्य है आपका कलेजा। दूसरा होता तो बाप-दादा करके भाग गया होता।"

इसी प्रकार जासूस के असीम धैर्य का पता उस रात वाली घटना से चलता है जब वह और उसका साथी जंगल में भागते-भागते चारो ओर से शत्रुओं से घिर जाते हैं। तब उसके हाथ का 'पिस्तौल आग छोडने लगता है। थोड़ी ही देर में दो आदमी कराहकर गिर पड़ते हैं और उनके साथी उन्हे उठाकर भाग लेते है। गहमरीजी के उपन्यासों में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मिलेगी जिनमें व्यक्त होने

४०. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० ५५।
४१. वही, पृ० ५५।

वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ प्रकट हो जाती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—

गहमरीजी के उपन्यासो में कथोपकथनो की कमी नही, पर ऐसे कथोपकथनो की अपेक्षाकृत कमी अवश्य है जो उनमें भाग लेने वाले पात्रो को व्यक्त करते हो। उनके उपन्यासों में अधिकाश कथोपकथन ऐसे है, जिनका समावेश कथानक को गति देने के लिए हुआ है। शेष कुछ ऐसे है, जिनमें व्यक्त पात्रो के चरित्र की विश्वसनीयता संदिग्ध रहती है, क्योंकि उनके सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं हो पाता कि उनमें कृत्रिमता कितनी है और स्वाभाविकता कितनी।

इस प्रकार के व्यर्थ भरती वाले कथोपकथनों को छोड दे तो भी गहमरी जी के उपन्यासों में काफी कथोपकथन ऐसे मिल जायँगे जिनमें किसी एक पात्र के चरित्र का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित हो जाता है। उदाहरणार्थ, उनके उपन्यास 'टनटन-गोपाल' का यह कथोपकथन देखे, जिसमें दासी रेशमी की ओजस्विता, चरित्र की दृढ़ता और स्वामी-भक्ति प्रस्फुटित हो उठती है। शत्रु उसे उसकी मालकिन के घर से उड़ा लाया है और अब मालकिन के विरुद्ध गवाही देने के लिए उसे बाध्य कर रहा है। रेशमी के उत्तर मे उसकी निर्भीकता देखिए :

> "**रामलाल**—तुमको अदालत मे कहना होगा कि यही असल हरदेवी है।"
>
> अकड़कर रेशमी बोली—"नही, यह तो हमसे नही होगा।"
>
> अब तो रामलाल गर्म होकर कहने लगे—"अच्छा नही होगा तो न सही। लेकिन तेरे भैया को गिरफ्तार कर देंगे।"
>
> अब तो रेशमी फूलकर बोली—"आप को यही उचित भी है—आप उसको गिरफ्तार नही कर देंगे तो आपके पाप की नाव कैसे लदेगी?"
>
> **रामलाल**—"देख, रेशमी नहीं मानेगी तो और विपत्ति में पड़ेगी।"
>
> **रेशमी**—"वह तो जानी हुई बात है।"
>
> रामलाल ने उठकर सीटी बजाई। इसी समय दो लठैत आ पहुँचे। उन्होंने रेशमी का हाथ पकड़ा।
>
> रामलाल ने फिर कहा—"अब भी नहीं बिगडा है रेशमी। तुम गरीब की लड़की हो। मेरी बात को मानकर जिन्दगी भर को सुखी हो सकती हो।"
>
> रेशमी के ओठों पर ताने की हँसी दिखाई दी
>
> "भगवान् ने बड़ी दया करके मुझे गरीब की बेटी बनाया है रुपया रहने पर आपकी ही तरह न सब फंद फरेब करना होता।"
>
> रामलाल के इशारे से उन लोगों ने रेशमी का मुँह बन्द करके बांध दिया, जिससे कुछ बोल न सके[२४]।"

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी—

अनेक बार जब दो पात्रों की बातचीत में किसी अन्य पात्र की चर्चा छिड़ जाती है तो कई बार उस तीसरे अनुपस्थित पात्र के चरित्र के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति मिल जाया करती है। गहमरीजी के उपन्यासों में ऐसे बहुत से कथोपकथन मिल जायँगे, जहाँ किसी एक पात्र का चरित्र अन्य पात्रों की टीका-टिप्पणी द्वारा प्रकाश में आया हो। उनके उपन्यास 'ठनठनगोपाल' में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पात्र जासूस नायक के बुद्धि-बल की, उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति में प्रशंसा करते हैं। प्रथम भेंट पर ही दीवान कुँवरि कहती है—"नाम तो सुना है बेटा। बड़े-बूढ़े सबसे सुनती हूँ। तुम पाताल फोड़कर अपराधी को निकालते हो[४३]। अपनी पत्नी को आपबीती सुनाता हुआ नायक अपने साथी के बारे में यों कहता है : "हम तो समझते थे कि हम ही उपकार करते है। लेकिन हमारे काम की मर्यादा उतनी नही जितनी घरघुसन के ऊँचे दिल और उदार विचार की थी जो हमारे लिए अपनी जान देने को तैयार था ·····जगत में ऐसे मित्र दुर्लभ ही नही, इस जमाने में अप्राप्य है।"[४४]

पात्रों के पत्र

गहमरीजी के उपन्यासो में पत्रो के पात्र भी भारी सख्या में मिल जाएँगे पर उन सब पत्रो के लेखक पात्रो के चरित्र का कोई अश प्रकाश में आया हो, यह बात नही। उनमें कई पत्र तो जाली मिलेगे, जासूस को—और पाठको को भी—धोखा देकर चक्कर में डालने के लिए। अनेक पत्र ऐसे भी मिलेगे, जो केवल कथानक को गति देने के लिए या कथा की टूटी कड़ियो को मिलाने के लिए होते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ऐसे पत्रो का कोई मूल्य नही ठहरता।

फिर भी कभी-कभी कोई एक पत्र ऐसा जरूर मिल जाता है, जो कृत्रिम न हो और जिससे एक या अनेक पात्रो के चरित्र पर प्रकाश पडे। उदाहरणार्थ, 'ठनठन-गोपाल' के तेलू राम का पत्र देखिए जो उसने विष खाकर आत्महत्या करने से पहले लिखा था। यहाँ उसके कुछ अश ही उद्धृत किए जाते है—

> "इस दुनिया में आकर मैंने देख लिया कि कोई किसी का नही है।··· यह सती, सती नही पिशाचनी है। नही तो मुझे इतना कष्ट क्यो देती। तुम कह सकते हो कि यह सती है, इस पर मेरी पाप की नज़र है, मै महापापी हूँ, लेकिन जब मै ब्याह करने पर राज़ी था, तब मै पापी कैसे हो सकता हूँ।"

तेलूराम के इस पत्र में मृत्यु से पहले की उसकी मनोस्थिति की ही झाँकी नही मिलती, सती के प्रति उसकी भावना का भी परिचय मिलता है।

---

४३. वहीं, पृ० २६।

४४. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० १६८।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण

कहते है कि किसी की निजी वस्तुओं को देखकर उसकी रुचि-अरुचि के सम्बन्ध में काफी कुछ जाना जा सकता है। जासूसों की सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि जिनके बारे में उन्हें जानकारी प्राप्त करनी होती है, वे उनकी पहुँच से परे होते हैं और उनकी वस्तुओं—विशेषकर उनके निजी कमरे के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर ही उन्हें अनुमान लगाना पड़ता है। पात्र के कमरे में पड़ी वस्तुओं और रखने के ढंग आदि के आधार पर वह उनके चरित्र के बारे में अनुमान लगाता है और जहां डाका पड़ा हो, कत्ल या चोरी हुई हो, उस स्थान को ध्यान से देखकर ही वे लोग स्थिति का बहुत-कुछ अनुमान अक्ल की दौड़ से ही लगा लिया करते है। इस तरह की स्थितियाँ गहमरीजी के उपन्यासों में प्रचुरता से मिलती है। जासूस ठनठनगोपाल, हरदेवी और उसकी मां के कमरों को देखकर ही स्थिति का काफी-कुछ अनुमान लगा लेता है।

चौथा अध्याय

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

उपन्यास में व्यक्ति और समाज

व्यक्ति का समाज से संघर्ष

सुधारों की माँग

पाखण्ड का भण्डा-फोड़

समाज के बहिष्कृत वर्ग के प्रति सहानुभूति

अतीत की सुखद स्मृति

पुरातन मूल्यों में आस्था

आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चरित्रचित्रण

व्यक्ति-चरित्र का अभाव

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल के औपन्यासिक चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों का अध्ययन

परिचयात्मक विवेचन

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रों का प्रथम परिचय

स्थित्यंकन

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

अनुभाव-चित्रण

सांकेतिक वर्णन

क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

आवेगज (इमोशनल) आचरण का चित्रण

उपन्यासकार द्वारा टीका-टिप्पणी

अंतःप्रेरणाओं का चित्रण

अंतर्द्वन्द्व का चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

डायरी द्वारा चरित्रचित्रण

पत्रात्मक शैली

कविता-गीत

प्रस्तावना

अपनी लोकरंजन शक्ति के कारण उपन्यास साहित्य के सभी अंगों पर छा गया। उसके पाठकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई। पाठकों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ता गया। यह माँग उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ती गई कि उपन्यास वैचित्र्यपूर्ण अस्वाभाविक घटनाओं का मोह त्यागकर मानव-जीवन और उसकी समस्याओं को उनके प्रकृत रूप में पाठकों के सामने रखे। उपन्यास से यह आशा की जाने लगी कि वह कोरे लोकरंजन में न उलझा रहकर लोकरक्षण की ओर भी प्रवृत्त हो और केवल 'सुन्दर' ही नही 'शिव' भी बने, केवल 'प्रिय' ही नही 'हितकर' भी बने। समाज की दृष्टि में उपन्यास हितकर तभी हो सकता था यदि वह समाज-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सहायक बनता। इसके लिए आवश्यक था कि समाज-व्यवस्था में, उसके द्वारा स्वीकृत आचार-व्यवहार में तथा उसके विधि-निषेधों में उपन्यास की पूर्ण आस्था होती और वह उन का प्रचार करता। इस माँग की पूर्ति में जिन उपन्यासों की रचना हुई, उनमें कोरी कौतूहलोद्दीपक घटनाओं का स्थान जीवन और जगत् की नाना समस्याओं ने ले लिया। उपन्यास की अभिरुचि अब मानव-जीवन की यथार्थताओं के उद्घाटन में बढ़ने लगी और धीरे-धीरे वह अपने परिवेश के प्रति मानव के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास का चित्रण करने लगा।

उपन्यास में व्यक्ति और समाज

व्यक्ति का समाज को आत्म-समर्पण

परिस्थितियों के प्रति उस युग के मानव का दृष्टिकोण सहज स्वीकारिता का था। प्रबल धार्मिक संस्कारों ने उसे भाग्यवादी बना दिया था। उसका दृढ़ विश्वास था कि अच्छा या बुरा, सुख या दु:ख, जो कुछ भी उसे मिल रहा है, वह उसके अपने कर्मों का फल है। इसके अतिरिक्त उस समय समाज के बन्धन इतने कड़े थे कि वह कभी स्वप्न में भी उनसे मुक्त होने की कल्पना नहीं कर सकता था।

इसीलिए, उस युग के उपन्यासों में जिन नायक-नायिकाओं की सृष्टि हुई, उनका संस्थावाद में पूर्ण विश्वास था। वे समाज को पूर्ण आत्मसमर्पण कर देते हैं, मानो उनका अपना कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं। धर्मग्रन्थों और नीतिशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट आदर्श जीवन व्यतीत करना मानो उनका एकमात्र लक्ष्य हो। उन उपन्यासों में दो प्रकार के पात्र मिलते हैं, एक सत् पात्र और दूसरे असत् पात्र। सत् पात्र वे जो नाना प्रकार के कष्ट उठाकर भी समाज के विधि-निषेधों का पालन करते हैं। असत् पात्र वे जो स्वार्थ के लिए समाज की रीति-नीति का उल्लंघन करते हैं। इन दोनों में खूब संघर्ष होता है और अन्त में असत् पात्रों को उनके कुकर्मों का दंड मिलता है, कभी समाज की ओर से और कभी किसी दैवी शक्ति से; और अच्छे पात्रों को उस फल की प्राप्ति होती है, जिसके लिए वे जीवन भर कष्ट सहते रहते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उपन्यासकार की अपनी सहानुभूति सदा सत् पात्रों के प्रति ही रही है। श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु', बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान और एक सुजान' और प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यास इसी कोटि के हैं।

व्यक्ति का समाज से संघर्ष

सुधारों की माँग—विज्ञान के प्रसार ने जब प्रत्येक वस्तु के साथ 'क्यों' लगाकर मनुष्य को उसके निदान की ओर प्रवृत्त किया तो वह समाज की प्रत्येक प्रथा तथा उसके प्रत्येक विधि-निषेध के वैज्ञानिक कारणों को जानने के लिए अधीर हो उठा। उसने एक-एक करके सब रीति-रिवाजों को बुद्धि की कसौटी पर कसा, यद्यपि उसकी उस कसौटी में पूर्वग्रह की मात्रा ही अधिक थी। उसने महसूस किया कि यद्यपि समाज की अधिकांश प्रथाएँ मानव और समाज के हित के लिए बनाई गई थी, तो भी परिस्थितियों के बदल जाने से कई प्रथाओं में सुधार की आवश्यकता है। इसलिए, उस युग के उपन्यासों में जहाँ एक ओर समाज-सम्मत आचरण करने वालो के आदर्श जीवन का चित्रण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर विकृत संस्कारों और कुप्रथाओं के कारण होने वाले अनर्थों का वर्णन करके सुधारों की माँग भी बड़े ज़ोर से व्यक्त की गई है। तत्कालीन उपन्यासों के नायक-नायिकाएँ भी सच्चरित्र, त्यागवान तथा कष्ट-सहिष्णु थे। कई उपन्यासों में ऐसे नायक-नायिकाओं के जीवनव्यापी कष्टों का चित्रण भी हुआ जो समाज के विकृत संस्कार और कुप्रथाओं का शिकार हुए थे। प्रेमचन्द के प्रतिज्ञा, सेवासदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन में सुधारों की माँग बड़े जोर से व्यक्त की गई है।

पाखण्ड का भण्डा-फोड़—समाज ने व्यक्ति के आगे जो आदर्श जीवन रखा था उसके पालन में जितने धैर्य, संयम और त्याग की आवश्यकता थी, उसका ह्रास हो चुका था। फलतः वह उस आदर्श जीवन का पालन करने में असमर्थ था, पर

वह अपनी असमर्थता को स्वीकार करके हार कैसे मान लेता। इसलिए, अब वह दिखावे का जीवन व्यतीत करने लगा। उसके यथार्थ रूप और सामाजिक रूप में उत्तरोत्तर अन्तर पड़ता गया। उस युग के उपन्यासों में पाखण्डी पात्रो की सृष्टि होने लगी जो धर्म या समाज के नाम पर निरीह लोगो पर अत्याचार करते थे। उपन्यास-भर में लेखक उनके पाखण्ड को उघाड़ता रहता है और अन्त में उन्हें उनकी काली करतूतों के लिए दण्ड दिलाता है। जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' और प्रेमचन्द का 'गोदान' समाज के पाखण्डपूर्ण जीवन पर करारी चोट करते हैं।

समाज के बहिष्कृत वर्ग के प्रति सहानुभूति—कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गए जिनमें समाज के बहिष्कृत वर्गो—चोर, डाकू, वेश्या इत्यादि—के पतन की कहानी मिलती है और उनके पतन का एकमात्र कारण समाज को ठहराया गया है। स्थल-स्थल पर ऐसे पात्रों के प्रति पाठक की सहानुभूति को उभाड़ने का प्रयत्न किया गया और समाज पर जी खोलकर कीचड उछाला गया। पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री के आरम्भिक उपन्यास इसी प्रकार के हैं। इन उपन्यासों में उपन्यासकार का ध्यान चरित्रचित्रण की ओर इतना नही रहा है, जितना वातावरण-सृष्टि की ओर।

अतीत की सुखद स्मृति—इस युग में एक और प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। वह थी समाज की विषमताओ से, युग की उलझी हुई समस्याओं से, पलायन की। लोगों को वर्तमान के झंझटों से दूर सुन्दर अतीत में ले जाने के लिए ऐतिहासिक रोमास लिखे गये। इन उपन्यासों से कोई नवीन ऐतिहासिक खोज प्रकाश में आई हो, यह बात नही। इनका लक्ष्य तो प्राचीन युग के प्रति औत्सुक्य का भाव उत्पन्न करके उन्हें उसमें उलझाए रखना था। वैसे कही-कही आनुषंगिक रूप में इन रोमोसों में उपन्यासकार के अपने युग की समस्याओ का चित्रण भी मिल जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, सोना, मृगनयनी आदि ऐतिहासिक उपन्यास इसी प्रकार के हैं। इनमें उपन्यासकार ऐतिहासिक पात्रों के देश-काल और परिस्थिति-चित्रण के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व-चित्रण की ओर भी विशेष रूप से प्रवृत्त रहा है।

पुरातन मूल्यों में अनास्था—समाज-व्यवस्था से मनुष्य असंतुष्ट तो पहले ही था, पर विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ समाज की विषमताओं के प्रति, उसकी भेद-भाव तथा ऊँच-नीच की नीति के प्रति, मानव की जागरूकता बढ़ने लगी। कई बार उसके मन में आया भी कि वह उस समाज के प्रति विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दे, पर शताब्दियों से पड़े संस्कार उसकी हिम्मत न बँधने देते थे। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की खोजों ने उसे चौंका दिया। समाज के प्रति उसकी धारणाओं में रूपान्तर घटित होने लगा, जिसका समाज के साथ उसके सम्बन्धों पर बडा गहरा प्रभाव पड़ा। यह जानकर उसे बड़ा धक्का लगा कि समाज द्वारा किए गए अच्छे और बुरे एव पाप और पुण्य के वर्गीकरण में सचाई की अपेक्षा स्वार्थ

और पूर्वग्रह की मात्रा अधिक है। उसने देखा, जो एक के लिए अच्छा है वह दूसरे के लिए बुरा सिद्ध हो रहा है; जिसे एक पाप कहता है, दूसरा उसे पुण्य की सज्ञा देता है। इसलिए उसे अच्छे-बुरे तथा पाप-पुण्य के भेद को फिर से परखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप पुरातन मूल्यो के प्रति अस्वीकारिता का भाव जोर पकड़ने लगा और साथ ही नए प्रतिमानों की खोज के लिए व्याकुलता बढ़ी। हिन्दी-उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' इस प्रकार के उपन्यासों का अग्रदूत बना।

आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह—ज्यों-ज्यो समाज में विघटन के सूत्र फैलने लगे, त्यों-त्यों उसने अपने आदर्श जीवन की स्वागिकता के यशोगान पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रतिक्रिया भी उतने ही वेग से प्रारम्भ हुई। उपन्यास-साहित्य में सर्वत्र बूर्जवा समाज के शोषित वर्गों का रोमाचकारी चित्रण होने लगा और साथ ही शोषक वर्ग के हथकण्डों का भण्डाफोड़ भी बड़ी निर्ममता से हुआ। इस प्रकार के उपन्यासों में यशपाल के पार्टी कामरेड, देशद्रोही, मनुष्य के रूप आदि उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास में बहिरंग (आब्जेक्टिव) चरित्रचित्रण

इस प्रकार, एक लम्बे युग तक उपन्यास का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वह अपने परिपार्श्व के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास को चित्रित करता रहा। समाज-व्यवस्था में मनुष्य की आस्था किसी दैवी शक्ति के भय से रही हो अथवा वह शुद्ध समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित हुई हो; समाज के रीति-रिवाजों तथा विधि-निषेधों को उसने यथावत् स्वीकार कर लिया हो या समयानुसार उनके परिवर्तन की माँग उठाई हो; समाज से उसका संघर्ष किसी सिद्धान्त पर हुआ हो अथवा स्वार्थ-साधन की दृष्टि से, अपने को समाज से निरपेक्ष समझने की प्रवृत्ति उस युग के मानव में दृष्टिगोचर नही होती। दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने की, रूढ़ विचारधाराओं, अन्धविश्वासपूर्ण रीति-रिवाजों, व्यर्थ के विधि-निषेधों और पुरातन मूल्यों में समयानुसार परिवर्तन ले आने की उस युग के मानव ने आवश्यकता तो महसूस की और उसके लिए वह स्वयं हानि उठाकर सामाजिक शक्तियों से टक्कर भी लेता रहा, पर वह अपने को समाज का एक अभिन्न अंग समझता रहा था और यह कभी सोच भी न पाया था कि समाज से अलग उसका कोई निजी अस्तित्व है। वास्तव में, अपने समाज अथवा वर्ग से अलग उसके स्वन्तन्त्र व्यक्तित्व का विकास ही न हो पाया था और वह अपने समाज या वर्ग के चरित्र को अपना ही चरित्र समझता था।

व्यक्ति-चरित्र का अभाव

वस्तुजगत् के उन व्यक्तियों को लेकर हिन्दी-उपन्यास में जिन पात्रों की

सृष्टि हुई, वे उनके अनुरूप ही अपने समाज या वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आये। उनके समाज या वर्ग के गुणावगुण ही उनके चारित्रिक गुणावगुण बने। उस युग के उपन्यासों में उन पात्रों का वही रूप चित्रित हुआ जो उनके समाज के सामने व्यक्त था, उनके चरित्र का वही अंश व्यक्त हुआ जो उस समय के समाज को सहजोपलब्ध था। मनुष्य के सामाजिक रूप के अतिरिक्त उसके किसी अन्य व्यक्तिगत रूप को सामाजिक मान्यता न देने की तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुरूप उस युग के उपन्यासों में पात्रों का सामाजिक रूप ही अभिव्यक्ति पा सका और उसी रूप के यथार्थ चित्रण की ओर तत्कालीन उपन्यासकारों की समस्त शक्ति लगती रही। मनुष्य के व्यक्ति रूप को ही सब कुछ समझ लेने की प्रवृत्ति उस युग के उपन्यासों में बुरी तरह से घर कर गई थी।

हम पहले ही कह आए हैं कि मानव-चरित्र एक हिमनग (आईस बर्ग) के समान है। हिमनग का केवल नवमांश पानी के ऊपर दिखाई देता है और शेष ८/९ भाग जलमग्न रहता है। इसी प्रकार मनुष्य की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं में, विविध यत्नज या अयत्नज चेष्टाओं में, उसके चरित्र का अल्पाश ही अभिव्यक्ति पा सका करता है और शेष कई गुना बड़ा अंश उसके अन्तःकरण में अव्यक्त रहकर उसकी व्यक्त आचरण को प्रेरित किया करता है। युग की प्रवृत्ति के अनुरूप उस समय के उपन्यासकारों की रुचि हिमनग रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अश में ही रही। बहुत से उपन्यासकारों ने तो मनुष्य के उस व्यक्त चरित्र को ही समूचा चरित्र समझकर उसके अव्यक्तांश के प्रति उदासीनता का भाव अपना लिया था और वे अपने औपन्यासिक पात्रों की आकृति, वेश-भूषा, उनके आस-पास की परिस्थिति, उस परिस्थिति में व्यक्त होने वाले उनके अनुभाव तथा क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के चित्रण में ही उन पात्रों के चरित्र-चित्रण की इतिश्री समझ लेते थे।

कुछ एक उपन्यासकारों ने हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त अंश के अस्तित्व को स्वीकार तो किया था पर उसके स्वरूप की कल्पना मनमाने रूप में कर ली थी। इसलिए, अपने पात्रों की परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाने के लिए जब भी वे अव्यक्तांश की ओर प्रवृत्त हुए और उसका जो रूप उन्होंने चित्रित किया वह बहुधा मनोवैज्ञानिक सत्याशों से दूर जा पड़ा। वे भी अपने पात्रों के उसी रूप को चित्रित कर सके थे, जिस रूप में दूसरे उन्हें मानते हैं। पात्रो के बाह्याभ्यान्तरिक यथार्थ रूप को चित्रित कर सकना तो दूर रहा, उस युग के उपन्यास यह भी न बता सके कि पात्रो की अपनी दृष्टि में उनका कौन सा रूप यथार्थ था। उस युग का उपन्यासकार अपने पात्रों को 'वे' के रूप में चित्रित करता रहा था। उनके 'मैं' रूप से वह लगभग अनभिज्ञ ही रहा।

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

इसलिए उस युग के उपन्यासों में उनके पात्रों का समूचा चरित्र न चित्रित हो सका और वे उसके सहजोपलब्ध व्यक्त अंश को लेकर ही सन्तुष्ट हो गए। वास्तव में, अपने पात्रों का सच्चे अर्थों में चरित्रचित्रण करना उस युग के उपन्यासकारों का लक्ष्य भी नहीं था। चरित्रचित्रण उनके उपन्यासों का साध्य नहीं था। कोरे चरित्रचित्रण की दृष्टि से ये उपन्यास लिखे भी नहीं गए थे। चरित्रचित्रण तो उनके उपन्यासों में साधन ही रहा—तत्कालीन समाज और उसकी परिस्थितियों, दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विभिन्न विषमताओं और अन्य विविध समस्याओं को उनके यथार्थ रूप में चित्रित करके अपने अनुभव के आधार पर समाधान उपस्थित करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए। क्योंकि समाज का चित्रण उसके मानव सदस्यों और उनके जीवन को लिए बिना हो नहीं सकता, इसलिए, उन उपन्यासकारों को प्रसंगवश मानव-चरित्र का उद्घाटन करना पड़ा। वास्तव में उनका लक्ष्य तो अपनी परिस्थितियों के प्रति, समाज के प्रति, जीवन और जगत् के प्रति मानव के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास का चित्रण करना था। इसलिए, उस युग के उपन्यासकारों से यह आशा रखना कि वे 'चरित्रचित्रण' के सच्चे अर्थों में अपने पात्रों का चरित्र चित्रण करते उनके प्रति अन्याय करना होगा।

अब हम सोद्देश्य चरित्रचित्रण करने वाले प्रतिनिधि उपन्यासकारों—प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद', भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल—के उपन्यासों में हुए चरित्रचित्रण के स्वरूप का निरूपण करेंगे।

प्रेमचन्द

परिचयात्मक विवेचन

प्रेमचन्द साहित्य को 'जीवन की आलोचना'[1] मानते थे। साहित्य से उनकी माँग थी कि वह 'जीवन की आलोचना और व्याख्या करे'[2]। उपन्यास के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण रहा। उपन्यास की सफलता वह उसकी मनोरंजकता भर में नही समझते थे, प्रत्युत् उससे आशा करते थे कि वह 'मानव-चरित्र पर प्रकाश डाले और उसके रहस्यो को खोलता हुआ मानव-जीवन को मंगलमय बनाने में योग दे'[3] उसे समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें।[4] प्रेमचन्द मानव-जीवन को मानव-समाज से पृथक् करके नही देखते थे, अपितु मानव-समाज की सतत गतिशील चंचल धारा में से ही मानव-जीवन को पकड़ने का प्रयत्न करते थे। इसलिए, उन्होने अपने उपन्यासों का उपयोग सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना के लिए किया था[5]।

समाज से मानव का सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रेमचन्द ने एक कुशल जर्राह के समान पहले मानव और उसके युग की प्रवृत्तियों की चीर-फाड़ करके स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियो को अलग-अलग किया[6] और फिर अपनी समस्त शक्ति अस्वस्थ प्रवृत्तियो के, जो उस युग और समाज के लिए समस्या बनी हुई थी,

---

१-२. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ६।

३. वही पृष्ठ ३८।

४. वही पृष्ठ ५६।

५. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ २२।

६. 'हंस', दिसम्बर १९३३ में प्रेमचन्द की एक टिप्पणी :—

"मानव हृदय आदि से ही 'सु' और 'कु' का रंग-स्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो 'सु' या 'सुन्दर' है, और इसलिए कल्याणकर है, इसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और 'कु' या 'असुन्दर', इसलिए असत्य, वस्तुओ से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है।"

वास्तविक स्वरूप को समझने और अपने उपन्यासो के माध्यम से दूसरों को समझाने में लगा दी[७]। इसी दृष्टि से उन्होने अपने उपन्यासों के कथानक रचे और उनके लिए पात्र चुने[८]। अपने उपन्यासों में उन्होंने अनेक प्रकार की समस्याओं को उठाया, जिनके चित्रण के लिए उन्हें आवश्यकता पड़ी—१. स्वार्थ-साधन में दूसरो के लिए समस्याएँ खड़ी करके उन्हे उत्तरोत्तर गम्भीर बनाते रहने वाले शोषक पात्रों की, २. उन समस्याओं की चक्की में निरन्तर पिसते रहने वाले शोषित पात्रों की, और ३. पिसने वालो के प्रति सहानुभूति रखने वाले अथवा उनकी उलझनो को सुलझाने का प्रयत्न करते रहने वाले सुधारक पात्रों की।

शोषित नारी का चित्रण

प्रेमचन्द सूक्ष्मदर्शी थे। वह गृहस्थ और समाज की समस्याओं को पहचानते थे। सामाजिक समस्याओ का उनका निदान सदा ठीक रहा, चिकित्सा में चाहे वह सफल न हुए हों। उन्होने देखा कि नारी जो समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई अर्थात् परिवार की नीव है, जिस पर गृहस्थ और समाज के समस्त सदाचार टिके हुए हैं, उसे कही भी उसका उचित स्थान नही दिया जा रहा। उस पर दुनिया भर के कर्तव्यों का बोझ लाद दिया जाता है, पर अधिकार उसे एक भी नही मिलता। वह सबका पोषण करती है—अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी—पर उससे पोषित होकर भी सब उसका शोषण करने पर तुले रहते हैं। व्यक्तिगत रूप में स्वय शोषित रहने के कारण प्रेमचन्द को शोषित की सच्ची पहचान[९] हो

---

७. प्रेमचन्द का २६ दिसम्बर, १९३४ का एक पत्र, डा० इन्द्रनाथ मदान के नाम, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में प्रकाशित :

"(८) हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। (५) मैंने अपने विचारों के व्यक्तिकरण का साधन बनाने के लिए उपन्यास को ही तर-जीह दी है।"

८. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० ५५ :—

"प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेषरूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आस-पास पात्रों का जमघट खड़ा करना है।"

९. प्रेमचन्द का ७ सितम्बर, १९३५ का एक पत्र, डा० इन्द्रनाथ मदान के नाम, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में प्रकाशित'।

"(६) जीवन मेरे लिए अनवरत कार्य रहा है। मैं काम करने में आनन्द पाता हूँ। कभी कभी निराशा के ऐसे क्षण आते हैं जबकि आर्थिक कष्ट का अनुभव होता है ······आर्थिक दृष्टि से मैं असफल रहा, व्यापार करना नहीं जानता।"

गई थी। शोषितों के प्रति उनका हृदय पसीज उठता था[१०]। इसीलिए अपने उपन्यासों में वह बार-बार चिर-शोषित नारी के विविध रूपों का चित्रण करके उनके साथ हो रहे अन्याय के प्रति पाठकों को जागरूक बनाने और उन्हे यह चेतावनी देने का अवसर ढूँढ लेते हैं कि परिवार और समाज में नारी को उसका उचित स्थान देने में ही मानव जीवन का मंगल निहित है[११]।

इसलिये प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री-पात्रों के लगभग सभी रूप शोषित वर्ग के हैं। और तो और, कन्या-रूप में भी यह शोषित होने से नहीं बच पाई। माता-पिता स्वार्थवश या समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विवशताओं में उसके अनमेल विवाह द्वारा उसका मार्ग कंटकाकीर्ण बना देते हैं। मनोरमा के विवाह के लिये उसका पिता प्रलोभनवश, उसकी इच्छा की चिन्ता किये बिना, राजा विशालसिह से वचनबद्ध हो गया। इसी धनलोलुपता के कारण विरजन का विवाह कमलाचरण से हुआ था और सुमन, निर्मला, सोना, रूपा का अनमेल विवाह उनके माता-पिता में दहेज देने की सामर्थ्य न होने के कारण हुआ। शोषित पत्नी के रूप में विरजन, प्रेमा, सुमित्रा, सुमन, सुधा, इन्दु, सुभागी, जालपा, मनोरमा, सुखदा, अहल्या, धनिया आदि का चित्रण हुआ। प्रेमिका के रूप में भी नारी कम नही पिसी। विरजन, माधवी, प्रेमा, गायत्री, सोफिया, मनोरमा, जौहरा, मिस मालती आदि की मूक या व्यक्त विरह-वेदना से यह स्पष्ट हो जाता है। विधवा को तो समाज मनुष्य समझता ही नहीं, मनुष्य के असंख्य सहज अधिकारों तक से उसे बलपूर्वक वंचित कर दिया जाता है। उसके सतीत्व पर कामी लोग गीधों के समान टूट पड़ते हैं। विरजन, पूर्णा, गायत्री, विलासी रुक्मिणी सुधा, रतन सब किसी न किसी रूप में घोर यातनाएँ सहती हैं। वेश्या के रूप में भोली, सुमन और जौहरा पीडित हैं, तो रखैल के रूप में लौंगी, झुनिया, सिलिया पिसी जा रही हैं। विमाता के रूप में निर्मला असख्य मानसिक कष्ट सहती हुई घुल-घुलकर मर जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विमाता का प्रायः शोषक रूप ही देखने को मिलता है, पर प्रेमचन्द को विमाता का भी शोषित रूप ही चित्रित करना अभीष्ट था।

तत्पश्चात् सामाजिक व्यवस्था द्वारा उत्पन्न नारी की असहाय-निरुपाय अवस्था का अनुचित लाभ उठाकर स्वार्थ साधने वाले शोषक पात्रो का समावेश हुआ। कोई पति बनकर उसका शोषण करता है, कोई प्रेमी बनकर। पति बनकर उसे

१०. सन् १९३६ में प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से प्रेमचन्द द्वारा दिया गया भाषण :

"जो दलित है, पीडित हैं, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्यकार का) फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है।"

११. डा० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ० ३० तथा ३१।

पीसने वालो में कमलाचरण, कमलाप्रसाद, दाननाथ, गजाधर, ज्ञानशंकर, मुंशी तोताराम, राजा महेन्द्रप्रताप, भैरों, राजा विशालसिह, मि० खन्ना इत्यादि प्रमुख है। प्रेमी बनकर चूसने वालों में प्रताप, अमृतराय, सदन, विनय, चक्रधर, रमानाथ, अमरकान्त, सलीम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ज्ञानशंकर जैसे कामुक व्यक्ति अपनी बड़ी साली गायत्री की रूपसुधा का पान करने के लिये सब नाच नाचने और नचाने के लिये तैयार रहते हैं, उन्हें इस बात पर भी दया नही आती कि वह बेचारी विधवा है। स्वार्थवश अथवा किसी विवशता में उसका अनमेल विवाह करने वाले माता-पिता की भी कमी नहीं, जैसे विरजन की मा, कृष्णचन्द्र, निर्मला की मा, हरिसेवक सिंह, होरी इत्यादि। उसे रखैल बनाकर अपनी तुष्टि करने वाले पंडित दातादीन, हरिसेवक आदि भी प्रेमचन्द की दृष्टि से नही बच पाये। नारी का किसी भी रूप में शोषण करने वाले सभी व्यक्तियों का उनके उपन्यासो में समावेश हुआ। समाज में सौतेले पुत्र प्रायः शोषित के रूप में पाये जाते हैं, पर यहाँ वे भी शोषक के रूप में ही लिये गये है। इतना ही नही, अपने स्वार्थ के लिये नारी का शोषण करने वाली नारियाँ भी प्रेमचन्द की दृष्टि से नही बच पाईं। सुमन की मामी और सदन की माँ रुक्मिणी तथा रानी जाह्नवी का व्यवहार क्रमशः सुमन, शान्ता, निर्मला तथा सोफिया के प्रति कम कठोर नही रहा।

शोषित नारी के प्रति सहानुभूति रखने वाले अथवा उसकी उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करने वालों के रूप में अमृतराय, विट्ठलदास, स्वामी गजानन्द, पद्मसिंह आदि आते है। प्रेमचन्द के पात्रों का यह वर्ग कोई ठोस काम नहीं कर पाता। या तो इस वर्ग के पात्रों की शोषित नारियों के प्रति सहानुभूति वाणी तक ही सीमित रहती है और यदि वे सक्रिय रूप में प्रयत्नशील होते भी है तो उनके प्रयास व्यक्तिगत ही रह जाते हैं।

शोषित किसान का चित्रण

घर-गृहस्थ तथा समाज की प्रमुख समस्याओं को ले चुकने के बाद प्रेमचन्द देशव्यापी समस्याओं की ओर झुके। उन्होंने देखा कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की सुख-समृद्धि की नींव उसके गाँव है, भारत की नारी की भाँति भारत के गाँव भी उसकी सस्कृति को उसके अविकृत रूप में सुरक्षित रखे हुए हैं, उनके गाढे पसीने की कमाई पर समस्त देश पलता है, पर उनकी दशा दिनोंदिन बिगड़ रही है। गाँवों की दयनीय व शोचनीय अवस्था के प्रति प्रेमचन्द का हृदय द्रवित हो उठा—विशेषतया कृषक वर्ग की दशा के प्रति जो बाहर और भीतर दोनों तरफ से पिस रहा था। इस शोषित वर्ग की मूक वेदना का चित्रण करके उसके प्रति देशव्यापी सहानुभूति जगाने के लिये प्रेमचन्द ने उपन्यास को अपना माध्यम बनाया। इस सम्बन्ध में उनके सफल उपन्यास प्रेमाश्रम, रंगभूमि तथा गोदान उल्लेखनीय हैं। मनोहर, बलराज, बिलासी,

सूरदास, भैरो, बजरंगी, होरी, धनिया, गोबर आदि की अवतारणा इसी चिर-शोषित तथा चिरोपेक्षित वर्ग के चित्रण के लिये हुई। इन पात्रों को केन्द्र बनाकर उन्होने गाँव की सभी समस्याओं को पकड़ा और उनका वास्तविक स्वरूप और निदान उपस्थित किया है।

अपने विलासी जीवन को सुखमय बनाने के लिये भोले-भाले ग्रामीणो के सामने असख्य आर्थिक और सामाजिक उलझने खड़ी करके उनकी विवशता से अनुचित लाभ उठाने वाले एवं उन पर अकथनीय अत्याचार करने वाले क्रूर शोषकों के रूप में ज्ञानशंकर, राय कमलानन्द, रानी गायत्री, जॉन सेवक, राजा महेन्द्रप्रताप, रायसाहब अमरपाल सिंह, मि० खन्ना और उन अत्याचारों के पोषक साथियों-सहायकों, गौस और ताहिर जैसे कारिन्दों, गिरधर जैसे चपरासियों, क्लार्क तथा दयाशंकर जैसे सरकारी अधिकारियों, डा० इर्फान तथा डा० प्रियनाथ जैसे वकीलों-डाक्टरों—की जरूरत पडी। गाँव वालो की अपनी अज्ञानता, धर्म-भीरुता, पारस्परिक ईर्ष्या तथा स्वार्थ-भावना द्वारा उत्पन्न समस्याओं के चित्रण के लिये सुक्खु चौधरी, दुखरन भगत, भैरों, सुभागी, मिठुआ, हीरा, दमडी बंसोह, भोला, नौहरा, झुनिया, सिलिया इत्यादि को स्थान मिला। इसके अतिरिक्त, इन समस्याओं के प्रति अपने विचार प्रकट करने तथा उन पर टीका-टिप्पणी करने के लिए इन शोषितों के प्रति सहानुभूति रखने वाले पात्रों की आवश्यकता पड़ी। कादिर खाँ, प्रेमशंकर, ज्वालासिह, राजा भरतसिह, डा० मेहता आदि का समावेश इसी उद्देश्य से हुआ।

व्यापक चयन-परिधि

अपने युग की प्रवृत्तियों और पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के चित्रण के लिए प्रेमचन्द ने जब जैसी आवश्यकता पडी वैसे पात्रों का चयन किया। उनका ध्यान मूलतः शोषित वर्ग पर केन्द्रित होने पर भी उनके पात्र-चयन का घेरा इतना व्यापक रहा कि सुपुत्र और कुपुत्र, रखैल और प्रेमिका, वेश्या और पतिव्रता, विधवा और सधवा, माता और विमाता से लेकर किसान और जमीदार, मजदूर और मिल मालिक, क्लर्क और अफसर, चाण्डाल और पण्डित, वकील, डाक्टर-प्रोफेसर तक नित्य-प्रति के सम्पर्क में आने वाले सब प्रकार के लोग उनके उपन्यासों में मिल जाते हैं। पर उन सबको लेखक की सहानुभूति मिली हो या उन सबका चरित्रचित्रण उसने एक-सी तन्मयता से किया हो, यह बात नही। अपने घेरे में तो वह सबको ले आए, पर हृदय से वह केवल निम्न मध्य वर्ग तथा कृषक वर्ग के साथ ही रह सके, क्योकि यही दो वर्ग सबसे अधिक शोषित होने के कारण उनकी सहानुभूति को खीच सके थे। विविध प्रकार के पात्रों पर लेखनी उठाने पर भी उनकी प्रतिभा पूरे निखार

में तभी आती है, जब वह निम्न मध्य वर्ग तथा कृषक वर्ग का चित्रण करते हैं।[१२]

जालपा, मनोरमा, विलासी, सोफिया, सलोनी, मुन्नी, लौगी, धनिया तथा पुरुष पात्र मनोहर, बलराज, सूरदास, चक्रधर, रमानाथ, देवीदीन, अमरकान्त, होरी इत्यादि जो हमारे हृदय-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड जाते है, वे निम्न-मध्य-वर्ग तथा कृषक वर्ग के ही प्रतिनिधि है।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

वस्तु-जगत् में बहुधा व्यक्ति के नाम और उसके चरित्र में कोई साम्य नही मिलता, पर उपन्यास जगत् में ऐसे अनेक पात्र मिल जायेंगे, जिनके नाम उनके चरित्रानुकूल हों। अपने पात्रों का स्रष्टा होने से उपन्यासकार उनकी नस-नस से परिचित होता है और उनके भावी चरित्र-विकास के सम्बन्ध में सब कुछ जाना करता है।[१३] इसलिए, अपने पात्रों का नाम रखते समय उसके सामने उनका चरित्र आ जाता है और उसे उनके नाम में चरितार्थ करने का उपन्यासकार का मोह हो जाता है। उपन्यासकार इस प्रकार के मोह से जितना बच सके उतना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा उसके पात्रों के नामों में अस्वाभाविकता आ सकती है। प्रेमचन्द भी अनेक बार अपने पात्रो के नामों को सार्थक बनाने का तथा उनके नामो द्वारा ही उनके किसी विशेष गुणावगुण को व्यक्त करने का मोह नहीं छोड़ सके है।[१४] परिणाम-स्वरूप, उनके कई पात्रों के नाम सहज-स्वाभाविक न बनकर प्रतीकात्मक अथवा व्यंग्यात्मक हो उठे हैं।

पात्र के गुणानुरूप नाम

ऐसे वे नाम हैं जो पात्र के चरित्र के किसी विशेष गुणावगुण को व्यक्त करते हैं, जैसे, सुवामा, प्रेमशंकर, ज्ञानशंकर, बलराज, निर्मला, मनोरमा, राजा विशालसिंह,

---

१२. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ ४।
"प्रेमचन्द का व्यक्तित्व तब सबसे अधिक विकसित होता है, जब वे निम्न मध्यवर्ग और कृषक वर्ग का चित्रण करते है।"

१३. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 55.
"......And—most important—we can know more abou him (character) than we can know about any of our fellow creatures, because his creator and narrator are one."

१४. कोमल कोठारी, 'प्रेमचन्द के पात्र', प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर १६५४, पृष्ठ २१७ में इस विशेषता को गुण माना गया है :
"अपने हिन्दी-साहित्य में तो ले देकर ये ही एक मात्र ऐसे पुरोहित हैं जिनके पात्रों के नाम-करण में कुछ तथ्य, सार्थकता और संगति का आभास मिलता है। ......व्यक्तित्व और नाम की अभिन्नता ही पात्र के अस्तित्व को साभिप्राय और सार्थक बनाती है।" पर उपर्युक्त कारणों से इस धारणा से हमारा मतभेद है।

झगड़ू साहू इत्यादि । इन पात्रों के नामों से ही इनका चरित्र व्यक्त हो जाता है। ऐसा संयोगवश हुआ हो, यह नहीं । इनके स्रष्टा ने जान-बूझकर इनके चरित्र की किसी एक उभरी हुई विशेषता के आधार पर इनका नामकरण किया है, यह बात इन पात्रों के जीवन-दर्शन से स्पष्ट हो जाती है। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की यह दृढ़ धारणा है कि 'हमें अब सगठन की, परस्पर प्रेम व्यवहार की और सामाजिक अन्याय के मिटाने की आवश्यकता है'।[१५] ज्ञानशंकर स्वयं जानता है कि वह 'भावों का आराधक नहीं, विचार का उपासक' है।[१६] उनके पात्र बलराज का 'शरीर खूब गठीला हृष्ट-पुष्ट था, छाती चौडी और भरी हुई थी । आँखों से तेज झलकता था।'[१७] 'वरदान' के नायक प्रताप की माँ, सुवामा ने 'वही किया जो ऐसे सन्तोषपूर्ण और उदार हृदय मनुष्य की स्त्री को करना उचित था'।[१८] अपने सौतेले पुत्र मन्साराम के प्रति 'निर्मला' के सम्बन्धों की निर्मलता दिखाते हुए लेखक उससे कहलवाता है—'मेरे मन में पाप का लेश भी न था । अगर एक क्षण के लिए भी मैंने उसकी ओर किसी और भाव से देखा हो तो मेरी आँखे फूट जाएँ'।[१९] इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने पात्रों के नामों द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन का प्रयत्न किया है, जिससे पात्रों के नामो में कुछ अस्वाभाविकता आ गई है । वस्तुजगत् के लोगों के नाम और चरित्र में साम्य बहुत कम होता है, और होता भी है तो केवल संयोगवश—इस विषय में कोई भी सांसारिक प्रयत्न फलीभूत नहीं हो पाता । इसके अतिरिक्त पात्र के जीवन की एक-दो घटनाओं से उसके नाम और चरित्र में साम्य देखकर उसके भावी विकास के प्रति पाठक की उत्सुकता मंद पड जाती है, क्योंकि पात्र के नाम से उसके चरित्र का रुझान आवश्यकता से पहले ही प्रकट हो जाता है ।

व्यंग्यात्मक पात्र

प्रेमचन्द के पात्रों के व्यंग्यात्मक नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो ऐसे हैं जो पात्रों के चरित्र की किसी विशेषता के एकागी विकास पर व्यंग कसने के लिये रखे गए नाम; जैसे—श्रद्धा, विद्या आदि । प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा की धर्म में इतनी अंधश्रद्धा है कि 'वह अपने पुत्रो से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से, हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सहन करना उसके लिए

१५. प्रेमचन्द, प्रेमाश्रम, पृष्ठ १२१ ।
१६. वही, पृष्ठ ४३ ।
१७. वही, पृष्ठ ११ ।
१८. प्रेमचन्द, 'वरदान', पृष्ठ ११ ।
१९. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृष्ठ १२८ ।

असम्भव था।[२०] इसी प्रकार, ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या 'विद्यावती' तो थी पर उस में वह चतुराई नही थी, जिससे ज्ञानशंकर को काबू में रख सकती। 'उसे पति की सकीर्णता पर खेद तो होता था लेकिन कुछ और कहते डरती थी कि उनकी दुष्कामना कही और भी दृढ़ न हो जाए।[२१]'

दूसरी प्रकार के व्यंग्यत्मक नाम हैं—पात्र के किसी विशेष अवगुण पर व्यंग कसने के लिए—उसके बिल्कुल उलट गुणके बोधक नाम—जैसे, जॉन सेवक, डा० प्रियनाथ, दयानाथ इत्यादि। रंगभूमि का उद्योगपति पात्र जॉन सेवक सिगरेट का कारखाना तो खोलता है धन कमाने के लिए, पर प्रकट ऐसा करता है कि मानो इस प्रकार वह गाँव वालों की सच्ची सेवा कर रहा है : "इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हजार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जाएगी और उनके सिर से खेती का बोझ टल जाएगा। जितनी जमीन एक आदमी अच्छी तरह जोत सकता है, उसमें घर भर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारों को रोटी कमाने का अवसर देगा।"[२२] दयानाथ नाम है 'गबन' के नायक रामनाथ के पिता का जो पुत्र के भाग जाने पर पुत्रवधू जालपा से सहानुभूति की बजाय निर्दयता-पूर्ण व्यवहार करता है।[२३] इसी प्रकार प्रियनाथ हैं 'प्रेमाश्रम' के वह डा० महोदय जिन्हें मार डालने के लिये जनता ने घेर लिया था और जो प्रेमशंकर की सामयिक सहायता से ही बच सके थे। अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितने प्रिय रहे होंगे।

एक नाम के एकाधिक पात्र

ससार में भी कई बार एक नाम के एकाधिक व्यक्ति मिल जाते है, पर नाम साम्य होने से ही उनमें चरित्रसाम्य नही हो जाता। यदि किन्ही दो व्यक्तियों के नाम और चरित्र में कभी साम्य मिल भी जाय तो उसे संयोग ही माना जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास-जगत् में भी कई बार एक नाम के एकाधिक पात्र मिल जाते हैं। जाह्नवी नाम के दो स्त्री पात्र—'रंगभूमि' के विनय की माँ तथा 'सेवासदन' की नायिका सुमन की मामी। इसी प्रकार, निर्मला नाम के दो स्त्री पात्र हैं- 'निर्मला' उपन्यास की नायिका तथा 'कायाकल्प' के चक्रधर की माँ। इन पात्रों में नाम-साम्य तो है पर चरित्र-साम्य नहीं। कमला नाम के भी दो पुरुष पात्र मिलते हैं—'वरदान' की नायिका विरजन का पति तथा 'प्रतिज्ञा' में सुमित्रा का पति, और चरित्र भी आपस में मिलता-जुलता है। इनका नाम साम्य कुछ खटकता है, विशेषतया जबकि इन उपन्यासों के लेखन-काल में कोई अधिक अन्तर नहीं।

२०. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२४।
२१. वही पृष्ठ ३०।
२२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५१।
२३. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १५०।

स्वाभाविक नामकरण

प्रेमचन्द ने जहाँ नामों को सार्थक बनाने का मोह छोड़कर पात्र के प्रदेश, काल, जाति तथा वर्ग को ध्यान में रखकर उसका नामकरण किया है, वहाँ उनके नाम अत्यन्त स्वाभाविक बन पाये हैं। प्रेमचन्द के अधिकतर पात्रों के नाम उनके प्रदेश, काल, जाति और वर्ग के अनुसार ही हैं और वे हमारी स्मृति में बने रहते हैं। इनमें ग्रामीण पात्रों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भैरों, जगधर, दुखरन भगत, बिसेसर साह, गूदड़, नोखेराम, अलगू, बेचन, हल्कू, घीसू, भोला, गोबर, होरी, हीरा, झुनिया, सिलिया, धनिया, नोहरी, रूपा, सोना, मुन्नी, सलोनी इत्यादि नाम अत्यन्त स्वाभाविक बन पाये हैं, कदाचित् इसलिए भी कि इनके नाम-करण के पीछे लेखक का कोरा शब्द-ज्ञान नहीं, प्रत्युत् ग्रामीण-जीवन से उसकी एकात्मीयता है।

पात्रों का प्रथम परिचय

प्रेमचन्द का विचार था कि "किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलिया-नवीसी की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देना चाहिये।'[२४] अपने पात्रों से पाठकों की प्रथम भेंट के समय उनका परिचय कराते हुए उन्होंने प्रायः इसी शैली को निभाया है—पात्र की आकृति तथा वेश-भूषा के सक्षिप्त वर्णन के बाद दो-चार वाक्यों में उसके चरित्र की कुछ-एक उभरी हुई विशेषतायें बता देना, यह तो परिचय का एक ढग हुआ जिसमें दो व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति की सहायता से एक-दूसरे से परिचित होते हैं। पर परिचय का यही एक प्रकार तो नहीं। कोई तीसरा व्यक्ति परिचय कराये, यह न सदा आवश्यक होता है और न सम्भव ही। लोग अपने प्रयत्न से अथवा अचानक भी एक दूसरे से परिचय प्राप्त कर लेते हैं। पात्रो के प्रथम परिचय को स्वाभाविक और कुतूहलो-द्दीपक बनाने के लिए उपन्यासो में परिचय के अनेक प्रकारों का प्रयोग किया जाता है। प्रेमचन्द ने भी 'प्रतिज्ञा'[२५] में पूर्णा से, 'गबन' में देवीदीन[२६] इत्यादि से प्रथम परिचय कराते समय औत्सुक्यवर्द्धक शैलियों का प्रयोग किया है। पर अन्य शैलियो को उन्होंने छुआ भर है। पात्रों का प्रथम परिचय कराने की उनकी प्रमुख शैली औपचारिक ही रही है, जिसका प्रयोग प्रायः किसी सभा के मच पर से किसी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए या किसी भाषण से पूर्व उसका परिचय कराते समय या किन्हीं दो अपरिचित व्यक्यिों का आपस में परिचय कराते समय

---

२४. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८।
२५. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ १५।
२६. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १२६।

या एक व्यक्ति से अनेक का अथवा अनेक व्यक्तियों से एक का परिचय कराते समय किया जाता है।

औपचारिक परिचय

प्रेमचन्द अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रों का परिचय कराते समय भाषण शैली से काम लेते हुए प्रतीत होते है, मानो लेखक अपने पात्र के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करता हुआ मंच पर से बोल रहा हो। 'वरदान' के नायक प्रताप के पिता मुंशी शालिग्राम का परिचय इसी प्रकार का है : 'यद्यपि प्रकट में वे सामान्य संसारी मनुष्यों की भाँति ससार के क्लेशों से क्लेशित और सुखों से हर्षित दृष्टिगोचर होते थे, तथापि उनका मन सर्वदा उस महान् और आनन्दपूर्ण शान्ति का सुख भोग करता था जिस पर दु.ख के झोकों और सुख की थपकियों का कोई प्रभाव नही पडता है'[२७]। 'प्रतिज्ञा' के नायक अमृतराय का प्रथम बार चारित्रिक परिचय कराते हुए प्रेमचन्द कहते हैं : 'अमृतराय सिद्धान्तवादी आदमी थे—बड़े ही सयमशील, कोई काम नियम विरुद्ध न करते। जीवन का सद्व्यय कैसे हो, इसका उन्हें सदैव ध्यान रहता था। धुन के पक्के आदमी थे। एक बार कोई निश्चय करके उसे पूरा किये बिना न छोडते'[२८]।

कई बार प्रेमचन्द एक ही पैराग्राफ में तथा अपनी औपचारिक शैली में एक साथ चार-पाँच पात्रों का परिचय करा देते हैं, मानो वे पात्र पंक्ति बाँधे खडे हों और लेखक एक-एक करके पाठक से उनका परिचय करा रहा हो, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी 'टीम' के खिलाड़ी पंक्तिबद्ध खड़े हों और कैप्टेन एक-एक करके उनका परिचय किसी नेता से करा रहा हो। 'रंगभूमि' में, लेखक समूचे सेवक परिवार का परिचय एक ही पैराग्राफ में करा देता है : 'जॉन सेवक दुहरे बदन के गोरे चिट्टे आदमी थे ······ आकृति से ग़रूर और आत्म-विश्वास झलकता था'। 'मिसेज़ सेवक के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, और उससे हृदय की संकीर्णता टपकती थी'······'प्रभु सेवक की मसें भीग रही थीं। छरेरा डील, इकहरा बदन, चेहरे पर गम्भीरता और विचार का गहरा रंग नजर आता था'। 'मिस सोफिया बड़ी-बड़ी रसीली आँखों वाली लज्जाशील स्त्री थी। ·········रूप अति सौम्य, मानो लज्जा और विनय मूर्तिमान हो गए हों'[२९]। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह की रानियों का परिचय भी इसी प्रकार कराया गया है[३०]।

---

२७. प्रेमचन्द, 'वरदान', पृष्ठ ६।
२८. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ६।
२९. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ६।
३०. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृष्ठ ५९।

ऐसे स्थलो पर प्रतीत होता है कि एक साथ कई पात्रों का परिचय कराकर लेखक मानो बेगार टाल रहा हो। पर एक साथ इतने पात्रों को सँभालना पाठक के लिए कठिन हो जाता है। कथानक तथा चरित्र के भावी विकास को भली प्रकार से समझने के लिए उसे पात्र से प्रथम भेंट या परिचय तक को भी भूलना नहीं होता और इस प्रकार के स्थल उसके मस्तिष्क पर ज़ोर डालते हैं। इसके अतिरिक्त पात्रों को उनका परिचय कराने के लिए उपन्यास के रंगमंच पर ले आना और फिर काफी समय तक, जब तक कि उपन्यास में उनकी जरूरत न पड़े, उन्हें निश्चेष्ट पड़े रहने देना कहाँ तक उचित होगा, यह भी तो विचारणीय हो सकता है। उपन्यास में पात्रों का परिचय तब तक नहीं कराना चाहिए जब तक कि उनके करने के लिए कोई आवश्यक काम न हो। आवश्यकता से पहले उनके दर्शन कराना भी उपन्यास में शैथिल्य का कारण बन सकता है।

पक्षपातपूर्ण प्रथम परिचय

पात्रों के सम्बन्ध में प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी धारणाएँ बनी होती हैं। किसी पात्र से उसे अनुराग होता है और किसी से विराग। कोई उसकी सहानुभूति पा लेता है और कोई उसकी घृणा का पात्र बन जाता है, पर प्रथम परिचय में ही उसके प्रति अपनी सहानुभूति या घृणा को व्यक्त करके पाठकों पर अपने पूर्वाग्रह को लादना और उसे अपने अनुभव की सत्यता पर विश्वास करने के लिए बाध्य करना, कहाँ तक उचित होगा? अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाए बिना पात्र को उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा धीरे-धीरे पाठकों पर प्रकट होने देना क्या अधिक उचित न होगा?[३१]

प्रेमचन्द की यह विशेषता रही है कि उनके पात्रों के प्रथम परिचय में ही उनके प्रति लेखक के पूर्वाग्रह व्यक्त हो उठते हैं। प्रेमाश्रम में गिरधर चपरासी का परिचय कराते समय वह स्पष्ट रूप से उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्त कर देते हैं : "गिरधर महाराज आते हुए दिखाई दिए। लम्बा डील था, भरा हुआ बदन, तनी हुई छाती...... यह महाशय जमीदार के चपरासी थे।" यहाँ तक तो ठीक है, पर उनकी किसी क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण किए बिना यह उसकी चारित्रिक विशेषता का वर्णन करने लग जाते हैं : "ज़बान से सबके दोस्त, दिल से सबके दुश्मन थे।[३२] जमींदार के सामने जमींदार की-सी कहते थे और असामियों के सामने असामियों की-

---

३१. Walter Allen, 'Writers on Writing', Phoenix House, London, p. 199 :
"A character is interesting as it comes out, and by the process and duration of that emergence, just as a procession is effective by the way it unrolls, turning to a mere mob if all of it passes at once."
(Henry James in 'The Spoils of Poynton')

३२. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ ६।

थी।'[३३] इसी प्रकार, 'प्रतिज्ञा' के नायक अमृतराय के प्रथम चारित्रिक परिचय में ही उनके प्रति लेखक की श्रद्धा व्यक्त हो जाती है : 'अमृतराय सिद्धान्तवादी आदमी थे, बड़े ही संयमशील ? ...... धुन के पक्के आदमी थे।'[३४] अमृतराय धुन का पक्का था या कच्चा यह तो उपन्यास पढ चुकने पर ही पता चलता, पर लेखक पहले से ही आग्रह करने लग जाता है कि उसे धुन का पक्का मान लिया जाए।

परस्पर विरोधी वर्णन

पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित और अन्तिम रूप में कह देने से उनके भावी विकास के प्रति पाठकों की उत्सुकता तो मंद पड़ ही जाती है, इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि यदि पात्र का विकास उपन्यास की भविष्य-वाणी के अनुसार न हुआ तो लेखक को अपनी मूल धारणा बदलनी पड़ जाए और पात्र के विकास में पूर्वापर सम्बन्ध शिथिल हो जाए। "रंगभूमि" में राजा महेन्द्र कुमार का परिचय कराते समय प्रेमचन्द ने उसके प्रति अपनी यह धारणा बडे जोर-दार शब्दों में प्रकट की थी कि "रईसों की विलास-लोलुपता और सम्मान-प्रेम का उनके स्वभाव में लेश भी न था।[३५] पर यह पात्र मुँहजोर निकला और उसका विकास लेखक की इस धारणा के अनुसार न हो पाया। बाद में लेखक को विवश होकर मानना पड़ा कि "उनमें यदि कोई कमजोरी थी तो यह कि वह सम्मान-लोलुप मनुष्य थे, और ऐसे अन्य मनुष्यों की भाँति वह बहुधा औचित्य की दृष्टि से नहीं, ख्याति-लाभ की दृष्टि से अपने आचरण का निश्चय करते थे।"[३६]

प्रथम परिचय वर्गरूप में, व्यक्ति-रूप में नहीं

प्रेमचन्द की सहानुभूति अथवा घृणा समूची जाति अथवा वर्ग के प्रति रही है। वे किसी व्यक्ति को उसके जातीय व वर्गीय गुणावगुणों का अपवाद नहीं मानते थे, समाज या वर्ग से अलग व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। 'रंगभूमि' के सूरदास का वर्गरूप में परिचय उनकी इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा है : "उन्हीं में एक गरीब और अन्धा चमार रहता है, जिसे लोग सूरदास कहते हैं। भारत में अन्धे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है और भीख माँगना बना-बनाया काम। उनके गुण और स्वभाव जगत् प्रसिद्ध हैं—गाने बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेष अनुराग, अध्यात्म और भक्ति

---

३३. प्रेमचद, 'कर्मभूमि', पृष्ठ १४-१५ पर लाला समरकान्त का प्रथम परिचय भी इसी प्रकार का है।

३४. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ६।

३५. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ७३।

३६. वही, पृष्ठ १७८।

में विशेप प्रेम उनके स्वाभाविक लक्षरग हैं। बाह्य दृष्टि बन्द और अन्तर्दृष्टि खुली हुई।'[३७] सूरदास को बलपूर्वक अन्धे भिखमंगो के वर्ग में घसीटकर प्रेमचन्द ने उसके प्रति अन्याय किया है। कहना न होगा कि सूरदास साधारण भिखमंगों से बहुत ऊँचे एक भिखारी संत के रूप में विकसित होता है। वह भिखारी होते हुए भी अपने वर्ग का अपवाद ठहरता है।

प्रभावोत्पादक प्रथम परिचय

जहाँ-जहाँ प्रेमचन्द ने अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाये बिना, तटस्थ रहकर सहज स्वाभाविक ढग से, पात्रों का प्रवेश कराके उन्हें अपने आप पाठकों पर खुलने दिया है वहाँ प्रथम परिचय प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थलों की कमी नहीं। प्रतिज्ञा में पूर्णा का प्रथम परिचय बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। 'इतने में एक युवती ने आँगन में कदम रखा मगर कमलाप्रसाद को देखते ही ड्योढ़ी में ठिठक गई। देवकी ने कमला से कहा—'तुम जरा कमरे में चले जाओ, पूर्णा ड्योढ़ी में खड़ी है।'[३८] इस प्रकार, कमलाप्रसाद को और पाठक को भी पूर्णा के प्रथम दर्शन होते हैं। यहाँ लेखक ने जिस कुशलता से उसका नाम बताया है और उसकी लज्जाशीलता की ओर संकेत किया है, बड़ा स्वाभाविक और रोचक रहा है। इसके पश्चात् लेखक उसके आकार-प्रकार का संक्षिप्त वर्णन करता है और चरित्र की एक-आध विशेषता बताता है जो उसकी प्रथम प्रतिक्रिया में ही व्यक्त हो गई होती है। 'पूर्णा को देखते ही प्रेमा दौडकर उसके गले लिपट गई। पड़ौस में एक पण्डित बसन्त कुमार रहते थे। किसी दफ़तर में क्लर्क थे। पूर्णा उन्हीं की स्त्री थी, बहुत ही सुन्दर, बहुत ही सुशील।'[३९]

प्रेमाश्रम में मनोहर के पुत्र बलराज का प्रथम परिचय भी बड़ा सजीव रहा है। लेखक के कुछ कहे बिना ही पाठक उसके चरित्र के बारे में बहुत कुछ प्रथम भेंट में ही समझ जाता है। 'इतने में मनोहर का पुत्र बलराज कोठरी में जाकर खड़ा हो गया। उसका शरीर बड़ा गठीला हृष्ट-पुष्ट था मनोहर और गिरधर महाराज में हुई बातों की खबर उसे लग गई थी। बोला, 'किसी का दिया खाते हैं या किसी के घर माँगने जाते हैं? अपना तो एक पैसा नहीं छोड़ते तो हम क्यों धौस सहें? न हुआ मैं, नही तो दिखा देता गिरधर महाराज को। तुमने अच्छा जवाब दिया दादा। सारा गाँव घी दे, न दे, हम तो घी न देंगे'।[४०] यहाँ लेखक ने अपनी ओर से पात्र की केवल आकृति और वेशभूषा का चित्रण किया है और

---

३७. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५।
३८. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ १५।
३९. वही, पृष्ठ १५।
४०. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ ११।

उसकी चारित्रिक विशेषताओं के बारे में स्वयं कुछ न कहकर घी वाली घटना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन कर दिया है जिसमें पात्र का स्वभाव प्रतिबिम्बित हो उठता है। हमारे सामने वह निर्भीक तथा शोषण के प्रति जागरूक, नवयुवक किसान के रूप में साकार हो जाता है।

'गबन' में देवीदीन का प्रथम परिचय और भी सजीव रहा है। घर से भागकर रेलगाड़ी में बिना टिकट के यात्रा करने पर रमानाथ जब पकड़ा गया और सोचने लगा : 'गाडी से कूद पड़ूँ', तो सहसा एक बूढ़े आदमी ने जो उसके पास ही बैठा था, पूछा—'कलकत्ते में कहाँ जाओगे बाबूजी ?' रमा ने समझा, यह गँवार मुझे बना रहा है, झुँझलाकर बोला —'तुमसे मतलब, मै कहीं जाऊँगा।' बूढ़े ने इस उपेक्षा पर तनिक भी ध्यान न दिया, बोला—'मै भी वहीं चलूँगा। हमारा-तुम्हारा साथ हो जायेगा।' फिर धीरे से बोला—'किराए के रुपए मुझसे ले लो, वहाँ दे देना।' जब रमा ने उसकी ओर ध्यान से देखा : 'कोई ६०-७० साल का बूढा घुला हुआ आदमी था। मास तो क्या हड्डियाँ तक गल गयी थीं। सिर के बाल मुड़े हुए थे।'[४१] यहाँ एक विशेष परिस्थिति में देवीदीन से प्रथम भेंट होती है। उसकी आकृति और वेशभूषा के अतिरिक्त शेष सब कुछ अभी रहस्य ही है पर उसके व्यवहार में उसकी प्रकृति स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो उठी है। लेखक अपनी ओर से कहकर केवल घटना का वर्णन करता प्रतीत होता है इसी में पात्र देवीदीन को उदारता का परिचय मिल जाता है और उसके बारे में और जानकारी प्राप्त करने की पाठक के मन में उत्सुकता जागृत हो जाती है।

वर्णनात्मक शैली

प्रथम भेंट में ही किसी व्यक्ति के बारे में सब कुछ नहीं जाना जा सकता।[४२] सब कुछ जान पाना तो दूर, जो कुछ थोडी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, उस पर भी पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता।[४३] प्रथम परिचय के समय एक तो चरित्र सम्बन्धी सभी विशेषताओं को प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिलता और जिन कुछ एक को प्रकट होने का अवसर मिलता है वे भी अनेक कारणों से दबी पड़ी रहती हैं या अधूरी ही व्यक्त हो पाती है। दूसरे, कई बार प्रथम भेंट के समय व्यक्ति स्वयं भी किसी विशेष प्रयोजन से अपने नैसर्गिक आचरण को छिपाकर

---

४१. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १३६।

४२. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 500 :

"In the brief period of first meeting, there is little chance for the judge to ascertain which traits are central and which are incidental in the personality. Some features are hidden entirely, especially those that are asocial."

४३. Murphy, 'General Psychology', Harper, New York, p. 474.

कृत्रिम शिष्टाचार में लगा रहता है। इसलिए प्रथम भेंट हमारे हृदय पर जो छाप छोड़ जाती है, उसकी सत्यता को परखने की ग्रावश्यकता बनी रहती है ग्रौर उसके लिए जीवन की विविध परिस्थितियों में व्यक्ति की शारीरिक, बौद्धिक ग्रौर मानसिक प्रतिक्रियाग्रों का सूक्ष्म ग्रध्ययन करना होता है।[४४]

प्रेमचन्द ग्रपने पात्रों का प्रथम परिचय देकर निश्चिन्त नहीं हो जाते, प्रत्युत् उन्हें ग्रनेक स्थितियो में डालकर उनकी क्रियाग्रों-प्रतिक्रियाग्रों, भाव-भगियो-ग्राँख, नाक, कान, मुँह, सिर, हाथ, पाँव इत्यादि की विभिन्न मुद्राग्रों तथा उनके चलने-फिरने, उठने-बैठने, हँसने-खेलने, खाने-पहनने की निजी विचित्रताग्रों के इतने सजीव शब्द-चित्र उपस्थित करते है कि पात्र पाठकों की कल्पनाग्रों में साकार होकर नाच उठता है।[४५]

स्थित्यंकन

स्थितिचित्रण में प्रेमचन्द बड़े सिद्धहस्त हैं। पात्र दिखाई भी नहीं देता कि वह उस स्थिति का चित्रण करने लग जाते हैं जिसमें उसे डालना होता है। वातावरण का निर्माण करते हुए वह पात्र के परिवेश का चित्रण इतनी सूक्ष्मता से करते हैं कि छोटी से छोटी बात पर भी उनका ध्यान गये बिना नहीं रहता। "प्रेमाश्रम" में वह प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा को ऐसी स्थिति में डाल देते हैं कि वह पति तथा धर्मपरायणता दोनो में से एक को ग्रपनाने के लिए बाध्य हो जाती है ग्रौर पति की ग्रपेक्षा धर्म को प्राथमिकता देती है, धर्म के प्रति ग्रपने ग्रंधविश्वास के कारण।[४६] विदेश से लौटकर प्रेमशंकर की श्रद्धा से प्रथम भेंट पृष्ठ १२६ पर होती है, पर उससे चार पृष्ठ पहले से प्रेमचन्द इस परिस्थिति के लिए भूमिका बाँधने लग जाते हैं : 'श्रद्धा वहाँ स्वागत करने के लिए न थी। प्रेमशकर को उसकी इस प्रेम-शून्यता पर बड़ा दुःख हुग्रा। श्रद्धा से प्रेम उनके लौटने का मुख्य कारण था। उसकी याद उन्हें तड़पाया करती थी।[४७] प्रेमशंकर भूल गये थे कि समुद्र में जाते ही हिन्दू धर्म घुल जाता है'[४८] ग्रगले पन्ने पर स्थिति को स्पष्ट ग्रौर गम्भीर बनाते हुए वह लिखते हैं : वह (श्रद्धा) ग्रपने प्राणों से, ग्रपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती

४४. Ross Stagner, 'Psychology of Personality', McGraw Hill, New York, 1948, p. 33.

४५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146 :
"Whatever is individual and characteristic in their physical aspect in general, whatever is of importance in their expression or demeanour at any critical moment, must be so indicated as to stand out clearly in the reader's mind."

४६. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२६।

४७. प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२२।

४८. वही, पृष्ठ १२३।

थी किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सामना करना, उनके लिए असम्भव था।"[४९] चार पृष्ठों तक स्थिति-चित्रण को फैला चुकने के बाद वह प्रेमशकर और श्रद्धा को एक-दूसरे के आमने-सामने लाते है।

इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' में विधवा होने के पश्चात् जब पूर्णा अपना घर छोड़-कर प्रेमा के पिता के घर आश्रिता के रूप में जाती है और उसे जिस स्थिति का सामना करना पड़ता है उसके चित्रण में इतनी मूर्तिमत्ता है कि पाठकों को प्रतीत होने लगता है कि वे अपनी आँखों से सब कुछ देख रहे हों। 'प्रेमा से गले मिलकर भी उसका चित्त प्रसन्न न हुआ। तब वह सखी भाव से आती थी, आज वह आश्रिता बनकर आई थी। तब उसका आना साधारण बात थी, उसका विशेष आदर-सम्मान न होता था, लोग उसका स्वागत करने को न दौड़ते थे। आज उसके आते ही देवकी भण्डारे का द्वार खुला छोड़कर निकल आई। सुमित्रा अपने बाल गुँथवा रही थी। अनगुँथी चोटी पर आंचल डालकर भागी, महरियाँ अपने-अपने काम छोड़कर निकल आईं। कमलाप्रसाद तो पहले ही आँगन में खड़े थे। लाला बदरीप्रसाद संध्या करने जा रहे थे, उसे स्थगित करके आगन में आ पहुँचे।'[५०]

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति (सिचुएशन) में पड़ते ही पात्र की प्रतिक्रिया प्रकट नहीं हो जाया करती। उसकी प्रतिक्रिया स्थिति विशेष पर इतना निर्भर नहीं करती, जितना इस बात पर कि पात्र उसे किस रूप में ग्रहण करता है।[५१] ज्यों-ज्यों स्थिति गम्भीर होती जाती है, त्यों-त्यों पात्र की मनोस्थिति में भी अन्तर आता जाता है और जब तक उसके मनोवेग प्रतिक्रिया के रूप में नहीं उमड़ पड़ते, उसकी मनोदशा में होने वाला क्षण-प्रतिक्षण का परिवर्तन उनकी विभिन्न मुद्राओं और भाव-भंगियों द्वारा प्रकट होता रहता है।[५२] स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले पात्र के अंग-प्रत्यंगों में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, उनमें

४९. वही, पृष्ठ १२४।

५०. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ २९।

५१. Ruch, 'Psychology and Life', p. 160:
"If two people find themselves in the same external situation, one may react one way and the other a different way, because of their past experiences with the situation."

५२. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 239:
"The organism is a psycho physiological unit, and happenings at the level of gesture and expressive movements may be expected to reflect inner patterns of perceptions and feelings. This hypothesis is confirmed by studies of handwriting, drawing, voice, motor coordination and nervous movements."

पात्रो का तत्कालीन मानसिक संघर्ष प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसलिए इस बीच की स्थिति का वर्णन भी उतना ही आवश्यक होता है जितना स्थिति और उसके प्रति पात्र की प्रतिक्रिया का चित्रण।[५३]

गोदान में अनुभाव-चित्रण

पात्रों की पारस्परिक बातचीत के समय तो प्रेमचन्द उनकी भाव-भंगी का सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण करते जाते हैं और उनकी विभिन्न मुद्राओं का वर्णन करते जाते हैं, जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण गोदान के आरम्भ में ही रायसाहब को मिलने के लिए घर से चलते समय होरी की धनिया से व्यंग्यपूर्ण बातचीत है। पति को जाते देख धनिया जब रस पानी कर लेने को कहती है तो होरी 'अपने झुर्रियों से भरे हुए माथे को सिकोड कर'[५४] उत्तर देता है, और जब वह चारों पोशाक उसके सामने ला पटकती है तो सालियों-सलहजों के बारे में व्यंग्य करते समय उसके 'गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पड़ती है।'[५५] इसी प्रकार रूपा का अपनी बड़ी बहन सोना को 'उँगली मटकाकर चिढ़ाना[५६]', बूढ़े पंडित दातादीन का 'घनी सफेद भौहो के नीचे छिपी हुई आँखों में जवानी की उमग भर पोपले मुख से गाय को प्रशसना',[५७] झींगुरी सिह का कभी 'सहानुभूति का रंग मुँह पर पोत कर'[५८] और 'कभी फूले हुए गालों में धँसी हुई आँखे निकालकर',[५९] बातचीत करना, राय-साहब का खन्ना से 'मूँछों में मुस्कराहट लपेटकर' बातें करना,[६०] इत्यादि अनेक स्थल उद्धृत किये जा सकते है जहाँ प्रेमचन्द ने बातचीत के समय पात्रों की मुख-मुद्राओं का सुन्दर चित्रण किया है।

आरम्भिक उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण की कमी

प्रेमचन्द के कई आरम्भिक उपन्यासो में मार्मिक स्थितियों में जहाँ पाठक प्रेमचन्द से आशा रख सकता है कि वह पात्रो की प्रतिक्रिया प्रकट होने से पहले की

---

५३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation,' p. 486 :
"The influence of passing emotion or mood, however, does require special mention, for under certain circumstances depression, fatigue or elation may be so marked that it dominates the motor region and completely obscures the normal course of movement."

५४. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृ० १ ।

५५. वही, पृष्ठ ३ ।

५६. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २४ ।

५७. वही, पृष्ठ ५९ ।

५८. वही, पृष्ठ २१० ।

५९. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २१० ।

६०. वही, पृष्ठ २३६ ।

उनकी भ्रू-भंगिमा के चित्रण द्वारा उनके तात्कालिक मानसिक संघर्ष का दिग्दर्शन कराए वहाँ उसे निराश होना पड़ता है। क्योंकि लेखक अनमने भाव से बीच की स्थिति का वर्णन एक-दो वाक्यों में करके प्रतिक्रिया के चित्रण की ओर लपक पड़ता है। जैसे 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशकर तथा श्रद्धा की पूर्व उद्धृत भेंट वाली स्थिति में प्रेमचन्द श्रद्धा का तो थोडा-बहुत चित्रण कर भी देते है पर प्रेमशकर के बारे में इतना ही लिखकर कि "वह सन्नाटे में आ गए। कदाचित् आकाश सामने से लुप्त हो जाता तो भी उन्हें इतना विस्मय न होता,"[६१] उन्हें जीने से उतार देते हैं। यह विचारणीय हो सकता है कि क्या श्रद्धा के इस व्यवहार के प्रति प्रेमशकर को केवल विस्मय ही हुआ होगा, मानसिक कष्ट नही ? अपनी चिरसचित आशाओं को मिट्टी में मिलते देख उसे जो अपरिमित दुःख हुआ होगा उसे व्यक्त करने के लिये प्रेमचन्द के ये शब्द अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' में बदरीप्रसाद के घर आश्रय के लिए आई पूर्णा की तब की मनोस्थिति का वर्णन करने के बाद प्रेमचन्द यह बताकर ही रह जाते हैं कि यह समारोह देखकर पूर्णा का हृदय विदीर्ण हुआ जाता था।[६२] जितनी रुचि से वह उसके परिवेश का चित्रण करते है और उसके लिए जितना स्थान घेरते हैं, उससे एक चौथाई स्थान भी उस पात्र के मानसिक संघर्ष को उसकी भ्रू-भंगिमा द्वारा व्यक्त करने में नहीं घेरते, जिसके चित्रण के लिए उन्होंने उस स्थिति का निर्माण किया था।

प्रतिक्रिया-चित्रण

पात्रों की स्थिति का विस्तारसहित सूक्ष्म वर्णन करने के पश्चात् प्रेमचन्द उनकी प्रतिक्रिया के चित्रण की ओर लपक पड़ते है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि परिस्थिति के अंकन के पश्चात् लेखक ने बटन दबा दिया हो और तड़ित वेग से पात्रों की प्रतिक्रिया प्रकट हो गई हो। 'कायाकल्प' में किसानों के आन्दोलन में पुलिस से हुई मुठभेड़ में चक्रधर की प्रतिक्रिया इसी प्रकार प्रकट हुई प्रतीत होती है : 'इतना सुनना था कि चक्रधर बाज की तरह दारोगा जी पर झपटे। कैदियों पर कुन्दों की मार शुरू हो गई थी······एकाएक चक्रधर ठिठक गए। ध्यान आ गया—स्थिति और भयंकर हो जायगी।'[६३] प्रतिक्रिया तक पहुँचने से पहले प्रेमचन्द आवश्यकता से अधिक विस्तार से वर्णन करते हैं, पर उनका प्रतिक्रिया-चित्रण आवश्यकता से बहुत संक्षिप्त होता है। पात्रों की प्रतिक्रिया के अंकन में वह अधिक देर नहीं उलझे रहते, क्योंकि उसके पश्चात् उन्हे अपनी रुचि का काम करना होता है और वह है—टीका-टिप्पणी द्वारा निष्कर्ष निकालकर पाठकों के सामने रखना।

---

६१. प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२६।
६२. प्रेमचन्द 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ २१।
६३. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृष्ठ ११०।

उपन्यासकार की ओर से टीका-टिप्पणी

उपन्यास रचना में प्रेमचन्द का मूलोद्देश्य चरित्रचित्रण न था।[६४] उनका लक्ष्य अपने युग और समाज की समस्याओं का उनके वास्तविक स्वरूप में उद्घाटन करना और अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर उनका समाधान उपस्थित करना था।[६५] इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने उपन्यासों को माध्यम बनाया, उन समस्याओं के चित्रण के लिए परिस्थितियों का निर्माण किया, उनके लिए पात्रों की सृष्टि की,[६६] आवश्यकतानुसार उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओ को व्यक्त किया और यह सब कुछ कर चुकने के बाद, निष्कर्ष निकालते हुए अपने उन विचारों को प्रकट किया जिनके प्रचार के लिए उन्होंने उपन्यासों की रचना की थी। इसलिए, वह यदि टीका-टिप्पणी द्वारा निष्कर्ष निकालने के लिए अधीर रहें तो आश्चर्य की बात नही।

'रगभूमि' में रानी जाह्नवी की कठोरता से संतप्त और विनय की उदासीनता से खिन्न सोफिया की अवस्था का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द अभी इतना ही कह पाए थे कि 'सोफिया चारपाई पर लेट गई। मानो थक गई'[६७] कि उसकी स्थिति पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने लग गए : 'सफलता में अत्यन्त सजीवता होती है, असफलता में असह्य अशक्ति,'[६८] 'इत्यादि। इस प्रकार एक वाक्य में उसकी हालत बताकर अगली ८ पक्तियों में उस पर टीका-टिप्पणी करते हैं। इस निराशावस्था में जब उसकी माँ उसे क्लार्क से विवाह कराने के लिए लेने आती है तो सोफिया को यह सोचकर कि परमात्मा ने उसकी माँ के हृदय में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया है, बड़ी सांत्वना मिलती है। उस समय भी माँ और बेटी के मिलन का केवल एक वाक्य में—'वह दौडकर माता के गले से लिपट गई'[६९]—वर्णन करके माता की गोद की महिमा-गान करते-करते अगली १५ पक्तियाँ भर देते हैं। ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ पाठक हृदय थामकर पात्र की छटपटाहट देखने और उसका विलाप सुनने

---

६४. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'प्रेमचन्द', पृष्ठ १२ :

"प्रेमचन्द जी पात्रों का निर्माण करने में जितने कुशल है, इतने उनका निर्वाह करने में नही। कई पात्रों को बीच ही में अकाल मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है।"

६५. Indranath Madan, 'Prem Chand : An Interpretation', p. 121-22 :

"Prem Chand portrays characters, not character .... He has created several characters, but hardly a character. His fundamental aim is not characterization, but essentially reformation. His intention is centered in a moral or social problem, not in the subtleties and contradictions of psychology."

६६. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० ५५।

"प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आस-पास पात्रों का जमघट खड़ा करना है।"

६७-६८. प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृष्ठ १६६।

६९. वही, पृ० १७२।

के लिए तैयार हो जाता है। पर लेखक उसकी चिन्ता किये बिना उपदेश देने में उलझ जाता है। जब सोफिया अपनी माँ के साथ फिटन पर बैठकर घर के लिए चली, उसकी उस समय की अवस्था के बारे में इतना कहकर कि फिटन सड़क पर तेज़ी से दौडी चली जाती थी, और सोफिया बैठी रो रही थी[७०] प्रेमचन्द उसके साथ अपनी एक टिप्पणी जोड़ देते है : उसकी दशा उस बालक की-सी थी, जो रोटी खाता हुआ मिठाई वाले की आवाज सुनकर उसके पीछे दौड़े, ठोकर खाकर गिर पड़े, पैसा हाथ से निकल जाए और वह रोता हुआ घर लौट आए।[७१]

वास्तव मे, प्रेमचन्द के वर्णनो में समस्या-चित्रण और टीका-टिप्पणी के रूप में उनके अपने विचारों के प्रकटीकरण को ही अधिक स्थान मिला है।

विश्लेषणात्मक प्रणाली

किसी मनुष्य की काल विशेष की परिस्थिति को, उस परिस्थिति के प्रति उस की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया को, उसके समूचे व्यक्त व्यवहार को जान लेने पर भी यह दावा नही किया जा सकता कि हम उसे पूर्णरूपेण समझ गए,[७२] क्योंकि मनुष्य का जो रूप दूसरों पर प्रकट होता है, वही तो उसका वास्तविक रूप नहीं होता। उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय उसका वह रूप होता है, जो जाने या अनजाने अभिव्यक्त होने से बच रहा हो। मनुष्य के व्यक्त आकार-प्रकार, आचार-विचार आदि में उसके चरित्र का अंश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष का तो उसकी व्यक्त चेष्टाओं में आभास तक नहीं मिलता।[७३] मानव-चरित्र हिमनग (आइसबर्ग) के समान है जो केवल १/९ ही व्यक्त रहता है और शेष पानी के भीतर छिपा रहता है। मनुष्य के उस अव्यक्त चरित्र को जाने बिना, जो उसके समूचे व्यक्त रूप का प्रेरक होता है, मनुष्य को पूरी तरह समझ सकना सम्भव नही।[७४] इसीलिए प्रेमचन्द अपने पात्रों की परिस्थिति विशेष का विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुकने पर उनकी व्यक्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, उनके हाव-भाव आदि के चित्रण में ही उलझे नही रहते, प्रत्युत् उनके मानसिक संघर्ष को, अपने परिवेश के प्रति निरंतर विकसित होते रहने वाले उनके दृष्टिकोण तथा उनके प्रकट व्यवहार की अन्त:प्रेरणाओं (इन्टर्नल मोटिव्स) को प्रकाश में लाते रहते हैं।

---

७०. वही, पृ० १७७।

७१. वही, पृ० १७७।

७२. Ruch, 'Psychology and Life', Scott, Foresman, New York, Third edn., p. 122.

७३. H. A. Murray, 'Explorations in Personality', Oxford University Press, New York, 1938, p. 244.

७४. Ruch, 'Psychology and Life' p., 122.

अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

कोई क्या कहता है या करता है, यह इतना महत्त्व नही रखता जितना यह कि वैसा कहने या करने से उसका अभिप्राय क्या है।[७५] किसी के व्यवहार को देखते ही हमारा पहला प्रश्न यह होता है कि उसका वह व्यवहार स्वाभाविक है या किसी विशेष अभिप्राय से प्रेरित। हमारी यह जिज्ञासा और भी प्रखर हो जाती है जब हम किसी को उसके पूर्व-विदित स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करते देखते हैं।[७६] हमें पता होता है कि उसकी व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर उसके उस आचरण का मूल्याकन भ्रामक होगा, इसलिए हमें उसकी मूल प्रेरणा तक पहुँचना होता है। उस के उस व्यवहार के बारे में अपनी निश्चित धारणा बनाने से पहले उसके पीछे काम करने वाली[७७] अन्तःप्रेरणा (मोटिव)[७८] को जानना होता है कि वे अच्छी थी या बुरी, अर्थात् उसकी नीयत अच्छी थी या बुरी।

परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में एक-सूत्रता

प्रेमचन्द इस तथ्य को भली प्रकार समझते थे। इसलिए अपने पात्रों का चित्राकन करते समय वह उनके बाह्य आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार तक ही सीमित न रहते हुए उनके मन में पैठकर उसमें होने वाली हलचलों, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में चल रहे द्वन्द्वों, उसके व्यक्त व्यवहार को स्वरूप देने वाली प्रेरणाओं और उसकी अव्यक्त चेष्टाओं का भी चित्रण करते चलते थे। जीवन के विविध मोडों में उनके पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में भले ही अनेकरूपता और असम्बद्धता दिखाई दे, पर विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त होने वाले उनके विविध प्रकार के

---

७५. Ibid p. 122 :
"When we do not know why some one behaves as he does today, we are not able to predict what he will do tomorrow, and so we will not have any successful way of dealing with him when tomorrow comes."

७६. R. M. Maciver, 'Society', Macmillan & Co. Lodon, 1950, p. 35 :
"We are always seeking to discover the overt behaviour of our fellows. Particularly when some one we know acts in an unexpected manner, we hunt for the explanatory motive."

७७. Ibid, p. 35 :
"Motives, then are the effective incitements to action that lies behind our acts, behind the show of things"

७८. Boas, 'Enjoyment of Literature', p. 223 :
"Motives are the reasons which impel characters to act as they do."

प्रेरक कारणों में अवश्य एकसूत्रता मिलेगी ।[७९] गहने ही स्त्री की सम्पत्ति होते हैं। पति की और किसी सम्पत्ति पर उसका अधिकार नही होता । उन्ही का उसे बल और गौरव होता है ।[८०] जब पति बूढ़ा हो और पुत्र सौतेले तथा आवारा हो, तब तो उनके लिए गहनों का मूल्य और भी बढ जाना चाहिए । पर आधी रात के समय जब निर्मला का सौतेला पुत्र जियाराम उसके जीवन भर की सचित पूँजी, गहनों का बक्स, चुराकर ले जाता है और वह उसे लेटे-लेटे देखती रहती है, न तो उठकर उसे रोकती है और न शोर ही मचाती है[८१] तो पाठक को उसके इस व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य होता है। वह यह नहीं समझ पाता कि अपने प्रति इस अत्याचार को निर्मला चुपचाप क्यों सह लेती है । निर्मला की इस प्रतिक्रिया के प्रेरक भाव को प्रकाश में लाकर प्रेमचन्द उसके इस व्यवहार में सगति ला देते हैं । निर्मला चुप इसलिए नहीं रही कि उसे जियाराम की हितचिंता थी या गहनो से उसे प्यार नहीं था, प्रत्युत् उसने अपनी निंदा के डर से शोर नही मचाया कि लोग कहेंगे कि विमाता होने के कारण वह अपने सौतेले पुत्रों को बदनाम करके घर से निकलवाना चाहती है । बाद में जियाराम के प्रति उसका यह कथन भी उसके इसी भाव की पुष्टि करता है । 'मुझ में सारी बुराइयाँ ही बुराइयाँ है, तुम्हारा कसूर नही, विमाता का नाम ही बुरा होता है, अपनी माँ विष भी खिलाये तो वह अमृत है, मैं अमृत भी पिलाऊँ तो विष हो जायगा ।'[८२] अपनी सौतेली संतान के प्रति, निर्मला की यह धारणा ही उसके व्यवहार को स्वरूप प्रदान कर रही थी ।

अव्यक्त प्रेरणाओं का चित्रण

प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार के उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जहा उन्होंने अन्त:प्रेरणाओं के चित्रण द्वारा अपने पात्रों के चरित्र के उस अश को भी व्यक्त कर दिया है, जिसका उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में आभास तक नहीं मिलता और जिसे जाने बिना उनके चरित्र का उचित मूल्याकन सम्भव नही हो पाता । 'रंगभूमि' के नायक सूरदास पर जब भैरों ने मुकदमा चलाया तो जगधर बड़ी मेहनत और

---

७९. H. E. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526 :

"It is not consistency of action that makes a novel true to human nature and human experience, but consistency of motive and character. Human beings are consistently inconsistent in thought, word and deed but these inconsistencies arise from temperamental qualities, from circumstantial or psychological causes and are logically related to motives and events,"

८०. प्रेमचन्द, 'निर्मला' पृ० १६३ ।

८१. प्रेमचद, 'निर्मला', पृ० १७१ ।

८२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ३६३ ।

लगन से भैरों के गवाह तोड़ने में जुट गया, यद्यपि इससे पहले सूरदास के प्रति जगधर का प्रेम कभी व्यक्त नहीं हुआ था। जगधर का यह व्यवहार पाठक को विचित्र लगने लगता है और उसकी स्वाभाविकता पर उसका विश्वास नहीं जमता जब तक कि उपन्यासकार उसे यह नहीं बताता कि जगधर की सूरदास में इतनी भक्ति न थी जितनी भैरों से ईर्ष्या। भैरों यदि किसी सत्कर्म में भी उसकी सहायता मांगता, तो भी वह इतनी ही तत्परता से उसकी उपेक्षा करता।[८३] प्रेमाश्रम का खलनायक ज्ञानशंकर एक बार अपनी ससुराल केवल इसीलिए अधिक दिन ठहर गया कि उसकी पत्नी विद्या ने उसके साथ शीघ्र लौटने से इनकार कर दिया था। पाठक को उसके इस व्यवहार पर आश्चर्य होता है, क्योंकि उसका-सा स्वार्थी जीव इस प्रकार पत्नी पर जान देना क्या जाने। पर उसके वहाँ ठहरने का वास्तविक कारण, जिसे अन्त.करण में भी व्यक्त करने का उसे साहस न होता था, जान लेने पर उसका व्यवहारसंगत प्रतीत होने लगता है—गायत्री के कोमल भाव और मृदुल रस-मयी वार्ता का उसके चित पर आकर्षण होने लगा था।[८४]

इस प्रकार, प्रेमचन्द पात्रो की अव्यक्त प्रेरणाओं के चित्रण द्वारा अपने पात्रों के परस्पर विरोधी व्यवहार में भी संगति बैठा देते हैं।

आवेगज (इमोशनल) आचरण का चित्रण

आवेगज मनोस्थिति में कोई व्यक्ति क्या कर डालेगा, यह अनुमान लगा सकना बडा कठिन होता है।[८५] आवेश में मनुष्य अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है और अस्वाभाविक तथा असाधारण प्रतिक्रियाएँ करने लग जाता है।[८६] उस समय उसे न तो वस्तुस्थिति का ध्यान रहता है और न ही उस स्थिति विशेष के प्रति व्यक्त हो रहे अपने व्यवहार से उत्पन्न हानि-लाभ की चिन्ता रहती है। किसी अन्य समय में साधारण प्रतीत होने वाला वातावरण उस समय उस पर असाधारण चोट करने लगता है और उसकी समस्त मानसिक प्रक्रिया में एक विचित्र खलबली-सी मच जाती है और अपने पर संयम न रख सकने के कारण उसमें अपूर्व उत्साह और बल-विक्रम का संचार हो जाता है। जो काम, अच्छे हों या बुरे, सामान्यावस्था में उसकी सामर्थ्य से बाहर प्रतीत होते हैं, आवेश की मनोस्थिति में वह उन्हें सहज

---

८३. वही, पृ० १७५।

८४. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ७७।

८५. Ruch, 'Psychology and Life', p 160:
"Mere knowledge of the external situation confronting an individual does not always permit accurate prediction of what emotional response he will make."

८६. Ibid, p. 166:
"Under the impetus of emotion, men and animals are able to perform feats that would be impossible for them under normal conditions."

में ही कर डालता है।[८७] इस प्रकार, आवेशपूर्ण स्थिति में मनुष्य की उन्नति और अवनति दोनों के बीज छिपे रहते हैं।[८८]

आवेगज आचरण की उपादेयता : उपन्यास में

वस्तु जगत के व्यक्तियों की भांति औपन्यासिक पात्र भी आवेश में आकर बहुत कुछ कर बैठते है, अन्तर केवल इतना ही है कि यहा पात्रो का ऐसा करना सप्रयोजन होता है। कुशल उपन्यासकार कुछ भी निरुद्देश्य नही करता और फिर प्रेमचन्द जैसा उपन्यासकार, जो उपन्यासों की रचना ही सामाजिक उद्देश्य[८९] से करता हो, ऐसा क्यों करेगा ? अपने पात्रो की उत्तेजना का प्रेमचन्द भरपूर लाभ उठाते हैं— कथानक को गति देने में, पात्रों के चरित्र को विकास की ओर ले जाने, उनके अप्रत्यक्ष गुणावगुणों के प्रकाशन, अन्य पात्रों का दम्भ-स्फोट करने और पात्रों की आत्महत्या कराकर कथानक को समेटने में।

(क) चरित्र-विकास के लिए

अपने पात्रों की आवेगज मनोस्थिति में प्रेमचन्द उनसे ऐसी क्रिया-प्रतिक्रियाये कराते है जो उन्हें जीवन के नए मोड पर ला खडा करती है और उनके मार्ग को कंटकाकीर्ण बनाकर उन्हे पग-पग पर जीवन की यथार्थताओ से सघर्ष करने के लिए विवश कर देती हैं। उस संघर्ष में वे जितना धैर्य दिखाते हैं उतना ही उनके चरित्र में निखार आता जाता है। 'प्रतिज्ञा' का नायक अमृतराय रामनाथ के भाषण से उत्तेजित होकर उसकी चुनौती को स्वीकार कर लेता है और 'युवक मंडल के ताज की रक्षा करता हुआ' 'वैधव्य के भँवर में पडी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्त्तव्य के पालन'[९०] का व्रत ले लेता है। उसकी यह प्रतिज्ञा उसके तथा प्रेमा के मीठे स्वप्नों पर पानी फेर देती है और उन्हें जीवन की कठोर वास्तविकता से ला टकराती है। आवेश में आकर गजाधर ने सुमन को घर से निकाल दिया और वह मानिनी भी घर से निकल पड़ी[९१], आहत सिहनी की तरह गरजती हुई— 'क्या तुम्हीं मेरे अन्न-दाता हो ? जहाँ मजदूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूँगी।' यदि सुमन घर से न

८७. Ibid. p. 166 :
"Even when very intense, emotions can either help or hinder us in various ways."

८८. Murray, 'Explorations in Personality', p. 89 :
"The objective manifestation (of emotion) is a compound of autonomic disturbances ('autonomes'), affective actones and the intensification or disorganisation of affective behaviour (motor and verbal)."

८९. मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० २२।

९०. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृ० ४

९१. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० ४८।

निकाली जाती अथवा न निकलती तो हमें उसका वह रूप कदाचित् ही मिलता जो 'सेवा-सदन' में उपलब्ध है। गजाधर और सुमन अलग-अलग हुए कि दोनो के जीवन ने नई दिशायें पकड़ी और उनके चरित्र का विकास हुआ।

इसी प्रकार, निर्मला के पिता की मृत्यु ने निर्मला के जीवन की रूपरेखा ही बदल डाली और उसे ऐसी परिस्थितियो में डाल दिया जिनमें वह घुल-घुलकर मर गई। यह सब निर्मला की माता कल्याणी के आवेशपूर्ण[९२] व्यवहार के कारण ही हुआ था। लेखक ने आगे चलकर यह बात और भी स्पष्ट कर दी है—"आप चाहें तो कल्याणी की उस घोर मानसिक यातना का अनुमान कर सकते है जो उसे इस विचार से हो रही थी कि मै ही अपने प्राणाधार की घातिका हूँ।[९३] रगभूमि की नायिका सोफिया आवेश में भरकर आग की लपटो में से एक युवक को बचा लाती है। वह युवक विनय था जिसके सम्पर्क में आते ही उसके जीवन का नक्शा बदल जाता है और उन दोनो का प्रेमी-प्रेमिका के रूप में विकास होने लगता है।[९४] अछूतों के मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन में गोलियाँ चलती देखकर कर्मभूमि की नायिका सुखदा का 'खून खौल उठा'[९५] और वह आवेशपूर्ण मनोस्थिति में बाहर कूद पड़ी। इस एक घटना ने सुखदा को कुछ से कुछ बना दिया, उसे स्वार्थ-साधन की सकीर्णता से निकालकर परहित-चितन की व्यापक भूमि पर ला खडा किया। उसके इस शुभ विकास का श्रेय उसकी किसी चारित्रिक विशेषता को नही। वह स्वयं प्रो० शान्ति-कुमार के आगे स्वीकार करती है : "जैसे किसी को क्रोध आ जाता है, उसी तरह मुझे वह आवेश आ गया। वह भी क्रोध के सिवा और कुछ न था।"[९६]

प्रेमचन्द के उपन्यासों से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ वह पात्रों की आवेशपूर्ण मनोस्थिति का प्रयोग उनके चरित्र को विकसित करने के लिए करते है।

(ख) अव्यक्त गुणावगुणों के प्रकाशन के लिए

मनुष्य के कई स्वाभाविक गुणावगुण उपयुक्त व अनुकूल वातावरण के अभाव में या राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक भय अथवा प्रलोभन के कारण अव्यक्त ही रह जाते हैं।[९७] परन्तु आवेश की मनोस्थिति में जब वह अपना संतुलन खो बैठता है और उसका चेतन मन उसके अवचेतन मन को दबाए रखने में असमर्थ

---

९२. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ९—१० ।
९३. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० १५ ।
९४ प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ३४-४३ ।
९५ प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० ११७ ।
९६. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० १३५ ।
९७. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 500.

हो जाता है तो अवचेतन मन में दबे हुए भाव वस्तुस्थिति की चिंता छोड़, सब प्रकार के भय-प्रलोभन की उपेक्षा कर, अपने वास्तविक रूप में फूट पड़ते हैं।[९८]

प्रेमचन्द ने पात्रों की इस प्रकार की मनोस्थिति का सदुपयोग किया है और उनके हृदय की परतों को खोलने का प्रयास किया है। सिपाहियों द्वारा पकड़े गये अपने पुत्र बलराज को देखकर 'प्रेमाश्रम' का मनोहर दोनों कांस्टेबलों को धक्का देकर बोला - 'छोड़ दो, नहीं तो अच्छा न होगा'।[९९] यहां हिताहित की पूर्णावहेलना करके मनोहर का पुत्र-स्नेह उसके चेतन हृदय के अंकुश को उठाकर उमड़ पड़ा। सामान्य मनोस्थिति में सिपाहियों का आतंक उसकी घिग्घी बांधे रखता। इसी प्रकार अपनी छोटी बहन विद्या के पति को हथियाने के अपराध पर गायत्री की अन्तरात्मा उसे निरन्तर कोसती रहती थी, पर विद्या के प्रति उसकी सहानुभूति कभी प्रकट नहीं हुई। परन्तु विद्या को मृत्यु-शय्या पर पड़ी देखकर एक दिन गायत्री का भगिनी-स्नेह उसके चेतन मन के सभी बांधों को तोड़कर बह निकला और वह सिर झुका कर चीख-चीखकर रोने लगी।[१००] गायत्री की-सी नारी का भगिनी-स्नेह आवेश में ही प्रकट हो सकता था। इसलिए, लेखक को उसे इस प्रकार की मनोस्थिति में लाना पड़ा।

'कायाकल्प' का नायक चक्रधर आदर्श नेता था, जिसने सिद्धान्तप्रियता की झोंक में कण्टकाकीर्ण मार्ग को स्वेच्छा से अपनाया था फिर भी आवेशपूर्ण मनोस्थिति में उसने धन्ना के भाई को अकारण इतनी मार लगाई कि वह उसके बाद मर गया, पर स्वस्थ न हो सका। बाद में चक्रधर को स्वयं अपने कुकृत्य पर ग्लानि[१०१] और आश्चर्य हुआ था। आवेशपूर्ण अवस्था में उसके अव्यक्त अवगुण को प्रकट करके प्रेमचन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि पद पाकर सबको मद हो जाता है।[१०२]

प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार के असंख्य स्थलों से भरे पड़े हैं, जहां उन्होंने पात्रों की आवेशपूर्ण स्थिति में उनके अप्रत्यक्ष गुणावगुणों का चित्रण करके उन्हें 'सु' और 'कु' के मिश्रित पुतले, गुणदोषयुक्त मानव, के रूप में उपस्थित किया।

---

९८. Ruch, 'Psychology and Life', p. 163 :

"......Many painful emotions experienced during childhood are very early repressed from consciousness but continue to influence behaviour and adjustment all through life."

९९. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ८६।

१००. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३३६।

१०१. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', ३२६।

"आज उन्हें अनुभव हुआ कि रयासत की बू कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है। कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता, चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है।"

१०२. वही, पृ० ३२४।

(ग) अन्य पात्रों के दम्भस्फोट के लिए

वस्तुजीवन में हम प्रायः आपस में एक-दूसरे के ऐसे रहस्यों को जानते होते हैं, जिनके खुल जाने से अनर्थ हो जाए। उन भेदो को प्रकट करने का विचार करते ही हम अपने हानि-लाभ की बात सोचकर ऐसा करने से रह जाते हैं। पर जब कभी हम उत्तेजित होकर अपना संतुलन खो चुकते हैं तो हमें अपने हिताहित की चिन्ता नही रहती और हम परिणाम की चिन्ता छोड़ उन रहस्यों का उद्घाटन कर देते हैं। प्रेमचन्दजी भली प्रकार से जानते थे कि शोषण की चक्की में पिसते चले जाने वाले लोग शोषकों से अनभिज्ञ नहीं, उनमें शोषकों का भण्डा फोड़ने की शक्ति भी है, पर ऐसा करने में अपनी भलाई कम और हानि अधिक देखकर वे रक्त के घूँट पीकर रह जाते हैं।[१०३] वे जानते हैं कि "जब दूसरे के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवो के सहलाने में ही कुशल है।"[१०४] पर यह कैसे हो सकता था कि प्रेमचन्द शोषकों की कलई खोलने से रुक जाते। इसलिए उन्होने यदाकदा शोषित पात्रों को आवेश की मनोस्थिति में लाकर, उन्हें कुछ समय के लिये एकदम निडर बनाकर, उनसे शोषकों का दम्भस्फोट करवाया है।

'गोदान' में जब होरी की गाय को विष देने की पड़ताल करने पुलिस गाँव में आई और होरी गाँव के मुखियों की सलाह से ऋण लेकर दरोगा की पूजा करने चला तो धनिया ने आवेश में एक झटके के साथ अँगोछा उससे छीन लिया, गाँठ कच्ची होने के कारण खुल गई और सारे रुपये ठनाठन जमीन पर गिर पड़े, और धनिया नागिन की भाँति फुँकार कर उठी : "ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता··· ···घर के प्राणी रातदिन मरे और दाने-दाने को तरसे, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अंजुरी भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने। ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत।" धनिया की ऐसी आवेशभरी हुँकार को सुनकर दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया पर वह इतनी जल्दी हार मानने वाला न था, खिसियाकर बोला : "मुझे ऐसा मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिये खुद गाय को जहर दे दिया।" धनिया ने हाथ मटकाकर उसे निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया : "तुम्हारी तहकीकात में यदि यही निकलता हो, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारी अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है; दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात है।[१०५] वह केवल दारोगा पर ही चोट करके न रह गयी, उसने नेताओं को भी करारी ठोकर लगाई, जब वे रुपये उठा रहे थे : "हम बाकी चुकाने के पच्चीस रुपये

---

१०३. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ६६ : "हमारा सिर जमींदारों के पैरों तले रहता है, ऐसे देवता को खुश रखने में ही हमारी भलाई है।"

१०४ प्रेमचन्द, 'गोदान', पृ० २।

१०५. वही, पृ० १८६।

मागते थे किसी ने न दिए। आज अंजुरी भर रुपये ठनाठन निकाल दिए। सब जानती हूँ। बाट-बखरा होने वाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले।"[१०६] धनिया एक बार उत्तेजित तो हो गई कि उसने अगली-पिछली सारी कसर निकाल ली। आवेश में उसने वह कर दिखाया जिसका सामान्य स्थिति में विचार करके भी वह काप उठती।

'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा सदा अपने पति की दबैल रही थी, पर जोश में आकर वह पति के क्रोध की चिता छोड़ भरी सभा में घुसकर मन्च पर से सबको फटकार देती हुई हुल्लडबाजी पर काबू पा लेती है और पति की ओर संकेत करके गरज उठती है: "यदि किसी ने इस सभा में विघ्न डालने का प्रयत्न किया तो उसके इस काम को हेय समझती हूँ।"[१०७] सामान्य स्थिति में वह यह सोच भी नही सकती थी कि उसमें इतना साहस है। चक्रधर का पिता वज्रधर भी रियासत के रेजिडेंट मि० जिम के प्रति अपना आक्रोश आवेश में ही प्रकट कर सका था: "मि० जिम, मैं तुम्हें आदमी समझता था, परन्तु तुम पत्थर निकले। मैंने जितनी तुम्हारी खुशामद की, यदि ईश्वर की करता तो मोक्ष पाजाता।"[१०८] अपने होश में वह मि० जिम को कभी ऐसी डाँट नही सुना सकता था।

(घ) पात्रों से आत्महत्या कराकर कथानक को समेटने के लिए

प्रेमचन्द के उपन्यास आत्महत्याओं से भरे पड़े हैं। आश्चर्य होता है कि अपनी समस्त रचनाओं में अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन करने वाला लेखक बिना किसी प्रकार के संकोच के, अपने उपन्यास के कथानक को समेटने भर के लिए निरपराधी पात्रों का गला घोंट देता है।

प्रेमचन्द के किसी पात्र का जब विकास रुक जाता है और वह कथानक के या किसी अन्य पात्र के विकास में बाधक होने लगता है और लेखक की समझ में नहीं आता है कि उसका क्या किया जाए तो उससे पीछा छुडाने के लिए वह उससे आत्महत्या करा देता है। ऐसा करवाने के लिए लेखक उसे धीरे-धीरे ऐसी मनोस्थिति में ले आता है कि वह अपनी जीवन-व्यापी पराजयों तथा असफलताओं के लिए किसी अन्य को दोषी न ठहराकर अपने को ही उत्तरदायी मानने लगे। इस प्रकार अपने प्रति ग्लानि का भाव उसमें इतना भर जाता है कि वह अपने आपको संसार पर व्यर्थ का बोझ समझने लगता है और किसी समय आवेश की तरंग में, निराशा के गहनतम क्षण में, अपने जीवन का अन्त कर लेता है।

---

१०६. प्रेमचन्द, 'गोदान' पृ० १८६।
१०७. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृ० ८८।
१०८. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृ० १६१।

सेवासदन में, सुमन का पिता कृष्णचन्द्र जब तक अपनी बदनामी का मूल कारण सुमन को ही समझता रहा, तब तक वह आत्महत्या की नहीं, बल्कि सुमन को मार डालने की बात सोचता रहा, पर ज्यों ही उसका दृष्टिकोण बदला और वह अपने को ही सब कुछ के लिए दोषी ठहराने लगा, वह उत्तरोतर आत्म-ग्लानि से भरता गया और आत्महत्या के रूप में प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार होता गया।[१०९] गजाधर के प्रति उसके अन्तिम शब्द विचारणीय हैं—"मैं अब बहुत दिन न जीऊँगा। और कभी अभागिनी सुमन से तुम्हारी भेंट हो जाए तो कह देना कि मैंने उसे क्षमा किया। उसने जो कुछ किया उसका दोष मुझ पर है, आज से दो दिन पहले तक मैं उसकी हत्या करने पर तुला हुआ था, पर ईश्वर ने मुझे इस पाप से बचा लिया।"[११०] गंगा में डूब मरने से पहले ज्ञानशंकर की मनोस्थिति भी इसी प्रकार की हो जाती है। वह कहता है: 'मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं, यह सब मेरे प्रारब्ध की कूट लीला है। मैं समझता था, मैं स्वयं अपना विधाता हूँ.........पर अब मालूम हुआ, मैं इसके हाथों का खिलौना था।'[१११]

अन्तर्मन का चित्रण

वस्तु-जगत के व्यक्तियों की भाँति उपन्यास के पात्रों के मन में भी अनेक ऐसी ग्रन्थियाँ पड़ी होती हैं, जिन्हें खोले बिना उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता। उनमें से कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें वे समझते या पहचानते तो होते हैं, पर उनके अनैतिक, असामाजिक या किसी अन्य रूप में लज्जास्पद होने के कारण उनका उल्लेख नहीं कर पाते और उन्हें हृदय में छिपाए सदा मानसिक यातना भोगते रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक मानसिक उलझनें ऐसी भी होती हैं, जिनके अस्तित्व को तो वे महसूस करते हैं पर उनके वास्तविक स्वरूप को जान सकना उनकी सामर्थ्य से बाहर होता है। मनोवैज्ञानिक की तरह उपन्यासकार भी अपने पात्रों की चारित्रिक गुत्थियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता है।

---

१०९. Murray, 'Explorations in Personality' p. 586-587 :

"When an individual experiences frustration, in so far as he does not allocate responsibility for the unhappy occurrence in an objective way ..... he may react with emotions of guilt and remorse and tend to condemn himself as the blameworthy object."

Ruch, 'Psychology and Life', p. 483-484 :

"At times, the process of displacement has the extreme result of causing aggression to be turned against the self, instead of against substitutes in the environment. This is particularly evident in suicide."

११०. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० २२७।

१११. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३६७।

अचेतन प्रेरणाओं का चित्रण

अपने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रेमचन्द भी विभिन्न मनःस्थितियों में अपने पात्रों में उठ रही विचारों की तरंगों, उनकी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों द्वारा उत्पन्न अंत संघर्ष, उनकी गुप्त इच्छाओं तथा महत्त्वाकाक्षाओं, उनके भाव-जगत् के सुख-स्वप्नों आदि का चित्रण करते हुए या पात्रों से करवाते हुए उनके हृदय में पैठते जाते हैं और यदा-कदा उनके बाल्यकाल की ऐसी घटनाओ का उल्लेख भी कर देते हैं, जिन्होंने उनके हृदय-पटल पर एक स्थायी छाप लगा दी हो ऐसी छाप जो उनके चरित्र-विकास में विशेष रूप से योग देती रही हो। पात्रों का मनश्चित्रण करते समय प्रेमचन्द कभी तो सर्वज्ञ बनकर उनके मन में हो रहे उतार-चढ़ाव का परिचय कराने लग जाते हैं, मानो वह उनके हृदय-क्षेत्र में आसन जमाकर वहा का आँखों देखा हाल अपने पाठकों के लिए 'रिले' कर रहे हों, और कभी स्वयं पाठकों और पात्रो के बीच में से हटकर उन्हें अपने आप अपनी मनोव्यथा कहने देते हैं—स्वगत कथनों के रूप में। असह्य मनोवेदना के कारण कोई पात्र सो नही पाता और आधी रात के समय खाट पर लेटे-लेटे अपने मन की लगाम ढीली छोड़ देता है, विगत जीवन की उसकी याद ताजा हो उठती है और वह अपने आप से बातें करता हुआ किसी उधेड़-बुन में लग जाता है, जिसमें उसकी तात्कालिक उत्तेजनाओ के कारणों की चर्चा रहती है। पर इस शैली में प्रेमचन्द अधिक नही रमते। बहुधा वह इन दोनों शैलियों को मिला देते हैं। इसमें भी पात्रों से कम कहलाना और स्वय अधिक कहना उन्हें विशेष रुचिकर है। पात्रों की मनोदशा पर टीका-टिप्पणी किए बिना एक कदम भी आगे बढ़ सकना उनके लिए कठिन है। पात्रों की मनोदशा का मनमाना अर्थ लगाने की छूट वह पाठकों को नहीं देते।

दाम्पत्य जीवन की असफलता का विश्लेषण

यद्यपि आजकल के 'मनोवैज्ञानिक' कहे जाने वाले उपन्यासों की तरह प्रेमचन्द के उपन्यासों का लक्ष्य मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करना नहीं था, तो भी वह अपने पात्रों की अनेक असंगत प्रतीत होने वाली व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं की तह में गोता लगाकर उनके अव्यक्त प्रेरकों (लेटेंट मोटिव) को ढूँढने का प्रयत्न करते हैं। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द जब शोषित नारी की समस्याओं को उठाते हैं तो उनके दाम्पत्य जीवन की असफलता का मूल कारण अनमेल विवाह को ठहराते हैं। सुमन, निर्मला, मनोरमा, जालपा आदि उनकी सभी प्रमुख नायिकाओं की उलझनों का आरम्भ उनके अनमेल विवाह से ही होता है। वह उन्हें भारतीय आदर्श महिलाओं के मार्ग पर चलाते हुए उनमें पातिव्रत्य धर्म के प्रति निष्ठा कूट-कूटकर भर देते हैं और जब कभी भी उनकी प्रेम-भावना और कर्तव्य-भावना में द्वन्द्व होता है, पति के प्रति उनकी कर्तव्य-भावना की ही विजय होती है।

अपनी परिस्थितियों से समझौता करने के लिये इतना सचेष्ट होने पर भी यदि वे दाम्पत्य जीवन में सफल नही हो पाती तो क्यों ?

निर्मला—निर्मला को ही लें। माना कि दहेज-प्रथा के कारण उसका विवाह अधेड़ उमर के एक विधुर मुंशी तोताराम से हो गया, पर जब वह परिस्थिति की यथार्थता को बिना किसी प्रकार की आनाकानी के स्वीकार कर लेती है—सुमन की भाँति विद्रोह नही करती—और पति के प्रति अपने कर्तव्य को समझते हुए उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करती है और तोताराम भी चाहता है कि वह उस पर रीझे, तो कोई व्यक्त कारण नही दिखाई देता कि वह गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने में असफल रहे। पर होता ठीक इसके उलट है। भरसक चेष्टा करने पर भी वह अपने पति से प्रेम नही कर पाती और अपनी सौत के पुत्र मन्साराम से बचने की लाख कोशिश करने पर भी उसकी ओर खिंची चली जाती है। भला ऐसा क्यों ? उसका उत्तर ढूँढने के लिए प्रेमचन्द को उसके अवचेतन मन की परतें खोलनी पड़ी। उन्होंने बताया कि अपने अनजाने मे ही निर्मला वह कर बैठती है, जिसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। पति की अनुपस्थिति में वह प्रतिदिन निश्चय करती कि वह उससे प्रेम करेगी पर उसको देखते ही वह संकोच से दब जाती है। क्योंकि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी। अब उसकी अवस्था का एक व्यक्ति उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नही, सम्मान की वस्तु[११२] समझती है। उसको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी। पर उसकी अनुपस्थिति में "निर्मला जब वस्त्राभूषणों" से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौंदर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला-सी उठती। मन में आता उस घर में आग लगा दूँ। अपनी माता पर क्रोध आता, तोताराम पर क्रोध आता[११३]।

यहाँ निर्मला के रूप में प्रेमचन्द ने ऐसी मनोदशा का चित्र खीच दिया, जिन्हें मानसिक नपुंसक (साइकिक इम्पोटेंट) कहते है। ऐसी मनोस्थिति में व्यक्ति अपने पति अथवा पत्नी को पिता अथवा माता के रूप में देखने लगता है और पूर्वसंस्कारवश उनसे यौन-सम्बन्ध निषिद्ध मानते हुए उनसे दूर भागता है। ऐसे लोगों का दाम्पत्य-जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। इस प्रकार के पुरुष व स्त्री, जिनकी सेक्स भावना घर पर तृप्त नही होती वेश्या वा पर-पुरुष से यौन-सम्बन्ध गाँठने की ओर प्रवृत्त

---

११२. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ३९।
११३. वही, पृ० ४०।

होते हैं, क्योंकि उन्हें वे माता-पिता की कोटि से बाहर मानते हैं।[११४] निर्मला के मन्साराम की ओर सहसा खिंच जाने का कारण भी कदाचित् यही था। पूर्व-संस्कारों के कारण वह तोताराम से तो भागती रही पर उसकी अतृप्त सेक्स भावना ने अपनी तृप्ति के लिए मन्साराम को, जो उसकी अपनी उमर का था, पर उसका अपना नहीं सौत का लड़का था, ढूँढ निकाला। मन्साराम के प्रति अपने मन को दूषित भावना से दूर रखने की भरसक कोशिश करने पर भी उसे अपने पास देखकर उसका हृदय फूला नहीं समाता था।[११५]

सुमन- दाम्पत्य जीवन में सुमन की असफलता का कारण भी प्रेमचन्द ने उसके अवचेतन मन में संचित बाल्यकाल के संस्कारों में ढूँढा है। सुमन लाड़-प्यार में पली थी। उसके उदार पिता ने उसकी सुख-सुविधाओं का विशेष ध्यान रखा था। इसलिए, पिता के प्रति उसका लगाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया था। पितृ-स्नेह से वंचित होने पर यह स्वाभाविक ही था कि वह अपने पति से उसी प्रकार के स्नेह और उदारता की आशा करती। उसका विवाह हुआ गजाधर से, जिसे पत्नी की अपेक्षा रुपये से अधिक प्यार था और जो स्वभाव से ही कृपण था। सुमन का अवचेतन मन अपनी तृप्ति के लिए गजाधर में वही गुण ढूँढने लगा जिनके कारण उसका पिता उसे अपनी ओर आकृष्ट किए हुए था,[११६] पर वहाँ उसे एक भी ऐसा गुण न मिला। इसलिए, उसके चरित्र-विकास में पहली ग्रन्थि तो वहीं से पड़ गई। गजाधर की कृपणता से उसे विशेष चिढ़ हो गई थी[११७]। फिर भी सुमन उससे समझौता करने की कोशिश करती रही। पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसकी इस पतिनिष्ठा का उसके पति के निकट कोई मूल्य नहीं, बल्कि वह दब्बू समझ कर उसको और दबाने में अपनी बड़ाई समझता है, तो उसकी विद्रोह-भावना जाग

११४. Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 100 :
"This parent image is the cause of many causes of impotence called psychic impotence because in the wife the husband's Unconscious senses a member of the mother-sister class, with whom on account of the incest barrier, it is impossible to experience the consummation of the sex act. For the same reason, it is the cause of frigid wives. And impotence, and frigidity in themselves are recognised as furtile breeding grounds for marital disharmony."

११५. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० १२८।

११६. Fielding, 'Self Mastery through Psycho-analysis', p. 95-96 :
"In every human male, from the moments of its earliest impressions, there begins to form a mental image of one woman usually the mother, or her substitute – who is closely concerned with the task of nourishing and catering to the wants of the infant. The female child is similarly influenced by the father images—which may involve brother, grandfather or other male relatives."

११७. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० २१।

उठी। वेश्या भोली से अपनी अवस्था की तुलना करने पर तो मानो उसकी आँखें खुल गई। उसने देखा उसके पति और उसके समाज की दृष्टि में पतिव्रता स्त्री की अपेक्षा वेश्या का मूल्य अधिक है। पर यह क्यो? स्वतन्त्र मनन द्वारा इस प्रश्न का उत्तर वह इस प्रकार पाती है: "वह (वेश्या) स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ है। उसकी दुकान खुलती है, इसलिए ग्राहको की भीड़ है। मेरी दुकान बन्द है, इसलिए कोई खड़ा नही होता। वह कुत्तों के भौंकने की परवाह नही करती, मैं लोकनिन्दा से डरती हूँ।"[११८] मनुष्य सदा उसी प्रकार का व्यवहार करने की ओर प्रवृत्त होता है, जो स्पष्ट रूप में उसे अधिक से अधिक पुरस्कृत करा दे। पर जिस समाज में सदाचार तो किसी गिनती में न लाया जाये और दुराचार पुरस्कृत किया जाए, वहाँ दुराचारियों को ही बढ़ावा मिलेगा।[११९] सुमन ने जब यह देखा कि पतिव्रता नारी के त्याग और तपस्या की महता का गान करने वाला समाज उसकी पूर्ण अवेहलना करता है, और उल्टे कुलटाओं को सम्मान देता है, तो उसका दिल खट्टा हो गया। यहीं से उस में उच्छृंखलता का बीजारोपण हुआ।

इस प्रकार प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि निर्मला, सुमन आदि नायिकाओ के दाम्पत्य जीवन की असफलता के कारण उनकी विवाहित जीवन की परिस्थितियों में ही नही, बाल्यावस्था में उनके मन पर पड़े सस्कारों में भी निहित थे। संस्कार ग्रहण करने की दृष्टि से बाल्यकाल के प्रथम पाँच वर्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते है।[१२०] इस अवसर पर बालक के मन पर जो सस्कार एक बार पड़ जाते है, वे बड़े होकर चेतन मन द्वारा भले ही भुला दिये जायँ, पर अवचेतन मन पर उनके इतने गहरे अक जमे रहते हैं कि उनके अनजाने में ही वे उसके चरित्र को दिशा-विशेष की ओर विकसित करते रहते है।[१२१]

किशोरावस्था का चित्रण

शैशव का अन्तिम चरण और यौवन का प्रथम चरण—किशोरावस्था—किसी

---

११८. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० ४२।

११९. Ruch, 'Psychology and Life', p. 593:
"People behave in ways that give them the greatest apparent rewards. If the conditions surrounding the growing child reward delinquent behaviour and frustrate legally accepted behaviour, delinquency will result."

१२०. Fielding, Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 20:
"The first five years of our lives, for instance, are the most furtile in receiving impressions and gaining new experience. It is by far the most impressionable period of life"

१२१. Ibid. p, 20:
".....psycho-analysis has shown that the very impressions which we have forgotten, leave behind the deepest traces in our mental life and become determining for our whole later development."

भी युवक या युवती के जीवन में एक मार्मिक काल होता है, क्योंकि इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते वे लोग पूर्णरूपेण पुरुष वा स्त्री बन चुके होते हैं और दूसरे सेक्स के प्रति उनकी 'सेक्स' भावना अनायास ही जाग उठी होती है। एक ओर दूसरे सेक्स के प्रति आकर्षण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और दूसरी ओर उन पर समाज-व्यवस्था तथा नैतिक भावना का अंकुश रहता है। इन दोनों प्रवृत्तियों में खूब संघर्ष होता है। एक उन्हें पाशविक तृष्णाओं की पूर्ति की ओर ले जाना चाहती है तो दूसरी उनके विरोध पर बल देती है। परिणामतः उनके हृदय में एक तूफान-सा मचा रहता है। लज्जावश या लोकनिन्दा के भय से उनकी भावनाएँ उनके हृदय के किसी कोने में छिपी पलती रहती है, पर ज्योंही उन्हें अपने प्रेम का उपयुक्त पात्र मिल जाता है और उन्हें विश्वास हो जाता है कि उनका प्रेम तिरस्कृत नहीं होगा, उनके प्यार की चिर-संचित स्रोतस्विनी लोकमर्यादा के समस्त बांधों को तोड़कर उमड़ पड़ती है।[१२२]

यद्यपि प्रेमचन्द का लक्ष्य रूमानी जीवन का चित्रण नहीं था, तो भी वह किशोरावस्था प्राप्त नायक-नायिकाओं की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हैं। विनय और सोफिया जैसे संयमी युवक-युवती को ही लें। दोनों के हृदय में समान रूप से आग लगी हुई है, पर कुछ तो संकोचवश, कुछ लोकनिन्दा के भय से और कुछ इस डर से कि कहीं उतावली में वे एक-दूसरे की दृष्टि में गिर न जायें, उनके भाव उनके होठों तक आकर रुक जाते हैं: "जब विनय और सोफिया दोनों ही को विदित होने लगा कि प्रेम को, जब वह स्त्री और पुरुष में हो, वासना से निर्लिप्त रखना उतना आसान नहीं, जितना कि उन्होंने समझा था··· दोनों एक-दूसरे की ओर दबी आँख से देख लेते थे, पर संकोचवश कोई बातचीत करने में अग्रसर न होता था। दोनों ही लज्जाशील थे पर दोनों ही मौन भाषा का आशय समझते थे"।[१२३]

कई बार युवक-युवतियाँ एक-दूसरे को समझने में भूल भी कर जाते हैं—जिस पात्र की ओर उनका प्रेम अनायास ही उमड़ पड़ता है, वह या तो पहले से ही किसी दूसरे की ओर प्रवृत्त होता है या इस पात्र की ओर प्रवृत्त नहीं हो पाता। कायाकल्प की नायिका मनोरमा चक्रधर को अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी जब यह पाती है कि उसके प्रेम को यथोचित आदर नहीं मिला और उसका प्रेम-पात्र किसी दूसरी ओर उलझा हुआ है, तब उसे बहुत दुःख होता है, पर वह करे क्या; प्रेम की दिशा मोड़ सकना

१२२. Landis, 'Adolescence and Youth', McGraw Hill, New York, 1952, p. 251 · "As one has experience in love-making, he learns to release his emotions fully only in situations where he is sure they will be returned. With increasing age and experience, complete release of emotions to another is always accompanied by caution lest one be hurt by the lack of reciprocation of the emotional experience,"

१२३. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० १०५।

उसकी सामर्थ्य से बाहर है। वह मन में कहती है : "मैंने अपने मन के भाव उससे अधिक प्रकट कर दिए, जितना मेरे लिए उचित था। मैंने बेशर्मी तक की, पर तुमने मुझे न समझा या समझने की चेष्टा ही न की। अब तो भाग्य मुझे उसी ओर लिए जा रहा है जिधर मेरी चिता बनी हुई है।"[१२४] इन पंक्तियों से मनोरमा की मनोव्यथा का अनुमान लगाया जा सकता है। चक्रधर से प्रेम के प्रतिदान का कोई स्पष्ट सकेत न पाने पर कदाचित् निराशावस्था में ही उसने राजा विशालसिह से विवाह करने की स्वीकृति दे दी थी।

युवक और युवतियाँ एक दूसरे पर किन्ही अगाध प्रेरणाओ के कारण ही मुग्ध हो जाते हों, यह बात नही। वे एक दूसरे पर लट्टू इसलिये भी होते हैं कि वे एक दूसरे की प्रधान मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा करते है या कम से कम ऐसा करते प्रतीत होते हैं।[१२५] विनय और सोफिया को ही लें। विनय पर उसकी माँ का कठोर नियत्रण रहा। उसे वह माँ की नाराजगी के डर से भले ही सहता रहा हो,[१२६] वास्तव में, वह उससे दूर भागने के प्रयत्न में रहा।[१२७] इसलिए उसे ऐसी लडकी की आवश्यकता थी जो उसकी माता की-सी कठोर न होकर विनीत होती, जिसे देखकर उसे अपनी माँ की याद न आती।[१२८] सोफिया में उसे ये गुण मिल गए और वह सोफिया पर उत्तरोत्तर मुग्ध होता गया।[१२९] सोफिया भी अपनी माँ के कठोर

---

१२४. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० २१८।

१२५. Hepner, 'Psychology Applied to Life and Work', Prentice Hall, New York, 1950, p. 261 :

"One of the first discoveries about marriage on the part of the psychological investigation is the fact that a boy and girl do not fall in love as a result of deep unfathomable forces. They fall into love with each other because each answers, or appears to answer, some of the dominant psychological needs of the other."

१२६ प्रेमचन्द, 'रगभूमि', पृष्ठ ३१७।

"विनय सोचता है : उससे मेरे चित्त की अवस्था छिपी नही है। वह उस अन्तर्द्वन्द्व को जानती है मेरे हृदय में जो इतना भीषण रूप धारण किये हुए है। एक ओर प्रेम और श्रद्धा है तो दूसरी ओर अपनी प्रतिज्ञा और कर्त्तव्य; माता की अप्रसन्नता का भय और लोकनिन्दा और लज्जा।"

१२७. वही, पृष्ठ २९६ : 'विनय को अपनी माता की कठोरता प्रिय न थी।'

१२८. Hepner, 'Psychology Applied to Life and Work', p, 261 :

"Some persons react to an early environmental influence by antagonism towards it This is particularly evident in the case of a mother's domination of her son. One son may rebel against his mother's over-attentiveness .. and want a mate who reminds him very little of his own mother."

१२९. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ३३६।

"विनय इन्द्रदत्त से कहता है : सोफी के लिए मै सब कुछ कर सकता हूँ। मेरा आत्म-सम्मान मेरी बुद्धि, मेरा पौरुष, मेरा धर्म सब कुछ प्रेम के हवन-कुण्ड में स्वाहा हो गया है।"

व्यवहार से व्यथित थी, वह अब तक स्नेह से वंचित और उपेक्षिता ही रही थी, पर विनय का ध्यान अपनी ओर खिचता देख उसकी इस भावना की तृप्ति होती गयी और वह उत्तरोत्तर उस पर मुग्ध होती गयी[१३०] और इसके निकट पहुँचती गई। दूर से तो वह विनय की केवल अच्छाइयों को ही देख पाई थी, पर ज्यों-ज्यों वह उसके निकट पहुँचती गई, विनय पर से उसका विश्वास उठता गया,[१३१] यहां तक कि बाद में उसे विश्वास हो गया कि विनय से उसका दाम्पत्य जीवन सुखी न बन सकेगा[१३२] और इच्छा होने पर भी वह उसके साथ विवाह के जीवन मे बंधने से कतराती रही।

ये मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रेमचन्द ने जान-बूझकर रखे हों या उनके व्यापक, गहरे अनुभव के आधार पर उनका समावेश अनायास ही हो गया हो, पर कहना न होगा कि इनके समावेश से पात्रों के प्रेम-विकास की स्वाभाविकता बढ़ गई है। इसी प्रकार मनोरमा द्वारा अपना सर्वस्व अर्पित किया जाने पर भी कायाकल्प का चक्रधर अपनी माता के साथ एकात्मीकरण (आइडेन्टीफिकेशन) के कारण उसे पूर्णरूपेण स्वीकार न कर सका और जीवन भर वह अहिल्या, जिसमे उसे अपनी माता के बहुत से गुण घर-गृहस्थी मे लीनता आदि मिल गए थे, तथा मनोरमा के बीच ही भटकता रहा; इनमें से वह न तो किसी को पूरी तरह छोड़ सका और न ही किसी को पूरी तरह अपना सका।

अन्तर्द्वन्द्व

प्रेमचन्द के औपन्यासिक पात्रों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियां आती हैं जो किसी भी मनुष्य के मन में घोर संघर्ष को जन्म दे सकती है, पर उनमें उतना तीव्र अन्तर्द्वन्द्व नहीं छिड़ता जितने की उस परिस्थिति में आशा की जा सकती थी।[१३३] उनके पात्रों को बहुधा स्वार्थपरता और परार्थचिता, उदारता और संकीर्णता, कर्त्तव्य-परायणता और कामनापूर्ति आदि परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में से एक को अपनाना पड़ता है, पर एक तो उनमें आत्मविश्वास की भावना और निर्णय करने की शक्ति इतनी प्रबल है और दूसरे पाप-पुण्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि के

---

१३०. वही, पृष्ठ ४२७।

"जब विनय अपनी माता के कठोर पत्र से घबराया हुआ होता है, तब सोफी उसे समझाते हुए कहती है : मै उनसे (रानी जाह्नवी से) तुम्हारी प्राण-भिक्षा मागूंगी, फिर तुम्हें माग लूंगी।

१३१. Hepner, 'Psychology Applied to Life and Work', p. 270.

१३२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५१३।

१३३. रामरतन भटनागर, 'कलाकार प्रेमचन्द', यूनीवर्सल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ ३५० :

"इसमें सन्देह नहीं कि दुर्बल चरित्रों को अपनी रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए भी प्रेमचन्द सबल चरित्रों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं और उन्होंने उनके निर्माण में अपनी प्रतिभा का सारा बल लगा दिया है।"

सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ इतनी सुलझी हुई हैं कि उन्हें किसी भी परिस्थिति में, वह कितनी ही गम्भीर क्यो न हो, अपना पथ निश्चित करने में देर नही लगती । वह पथ-श्लाघ्य हो या निद्य, यह दूसरी बात है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति, समाज, जीवन और उनके तत्त्वों के मूल्य इतने सुस्पष्ट हैं कि उनके चेतन मन में न तो सन्देह और शका के लिए कोई स्थान रहता है और न ही तज्जनित सघर्ष के लिए। इसलिए उनके चेतन मन में द्वन्द्व नही उठता। उठता भी है तो अधिक देर नही रहता और वे अपने लिए मार्ग निश्चित कर लेते है, भले ही उनके अवचेतन मनके किसी कोने में गहरे बैठे हुए सस्कार उन्हे निर्णीत पथ से बिल्कुल विरोधी दिशा मे ले जाये। प्रेमचन्द का प्रयत्न सदा यह रहा है कि उनके चरित्र पोज़िटिव हो।[१३४]

अन्तर्द्वन्द्व का अभाव

मानसिक व्यग्रता के पर्याप्त कारण विद्यमान होने पर भी पात्रो के मन में द्वन्द्व न उठना और उठना भी तो नाममात्र, कई बार उन्हें अस्वाभाविक-सा बना देता है। 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा जब अपने प्रेमी अमृतराय के, जिस पर वह जी-जान से लट्टू है, विधवा से विवाह करने का निश्चय कर लेने पर उसके मित्र प्रो० दाननाथ से विवाह करने के लिए बाध्य हो जाती है, तो जीवन की ऐसी विकट समस्या भी उसे व्यग्र नही कर सकी। उसके मन में द्वन्द्व नही छिड़ता कि वह क्या करे, अपितु झट अपना मार्ग निश्चित कर लेती है कि वह प्रो० दाननाथ से जिसे वह प्रेम नही करती, विवाह कर लेगी क्योकि उसका प्रेम उसके कर्त्तव्य के अधीन है।[१३५] विवाह के पश्चात् भी अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आईं कि कोई और स्त्री होती तो घुल-घुलकर मर जाती, पर प्रेमा विचलित तक नही होती। एक बार जब उसके प्रेमी तथा पति की प्रतिद्वन्द्विता अपनी चरम-सीमा को छू जाती है, तब वह थोड़ी देर के लिए विचलित अवश्य होती है, पर शीघ्र ही वह इस निश्चय पर पहुँच जाती है कि 'प्रेम पति के लिए है, पर भक्ति सदा अमृतराय (प्रेमी) के साथ रहेगी।'[१३६]

'सेवासदन' की नायिका सुमन के जीवन में जितने उत्थान-पतन आए उतने कदाचित ही प्रेमचन्द की किसी अन्य नायिका के जीवन में आये होगे, पर वह गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति में भी नही घबराती। यहाँ तक कि पति द्वारा घर से निकाली जाने पर भी उनके मन में किसी प्रकार का सघर्प नही छिडता, बल्कि वह अपने पति को अकडकर उत्तर देती है · "हाँ, यों कहो कि मुझे रखना नही चाहते। मेरे सिर पाप क्यो लगाते हो ? क्या तुम्ही मेरे अन्नदाता हो, जहाँ मजदूरी करूँगी वहीं पेट

१३४ प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४१।
१३५. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ३८।
१३६ वही, पृ० ८२।

पाल तुँगी ।[137] घर से चलते-चलते भी वह इसी प्रकार सोचती है : "वह अब मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहते, तो फिर उन्हें क्यों मुँह दिखाऊँ ? क्या संसार में सब स्त्रियों के पति होते हैं ?"[138] बाद में वह वेश्या बनी और हटी, पर न तो वेश्या-वृत्ति स्वीकार करते समय उसमें कोई अन्तर्द्वन्द्व उठा और न ही उसे छोड़ते समय। वह अजीब धातु की बनी हुई नारी थी। जीवन के विभिन्न और सम्भावित मोड़ ग्रहण करते समय उसके मन में संघर्ष उठाकर और दो परस्पर विरोधी मार्गों में से एक को चुनने में उसकी घबराहट तथा आत्म-गौरव और लोक-लाज की उसकी भावनाओं में द्वन्द्व, दिखाकर लेखक उसे अधिक मानवी बना सकता था, पर ऐसा हुआ नहीं;[139] बिना किसी हिचकिचाहट के उसका निर्णय आत्मगौरव के पक्ष में ही होता रहा।

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा केवल धर्मभीरुता के कारण विदेश से लौटे अपने पति का मुख नहीं देखना चाहती। एक क्षण के लिए भी उसकी पति-भक्ति तथा धर्म-भावना में संघर्ष नहीं उठा, क्योंकि उनका निश्चय तो पहले से ही किया-कराया रखा था कि 'वह अपने प्राणों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोक-निन्दा का सहन करना, उसके लिए असम्भव था।'[140]

प्रेमचन्द की समस्त शोषित नायिकाओं में निर्मला का स्थान सर्वोच्च है पर वह भी जीवन की प्रत्येक परिस्थिति से समझौता कर लेने का ऐसा सिद्धान्त बना लेती है कि उसमें मानसिक संघर्ष उठने का कोई अवसर ही नहीं आता "जो होना था, हो चुका। अधर्म करके अपना परलोक क्यों बिगाड़ती। पूर्व-जन्म में न जाने कौन से ऐसे कर्म किये थे जिसका यह प्रायश्चित करना पड़ा।"[141] यद्यपि उसका अवचेतन मन उसे अनजाने में ही मन्साराम की ओर ले जाता रहा, चेतन मन में उसने सदा पति के प्रति अपने कर्त्तव्य को ही प्राथमिकता दी थी।

गबन के नायक रमानाथ को लें। जालपा के सम्मुख अपनी अमीरी की डींगें मारते तथा बहानेबाजी करते समय, रुपये का गबन करते समय, घर से भागते समय कभी तो उसके मन में द्वन्द्व छिड़ना चाहिए था, पर नहीं प्रत्येक परिस्थिति में उसका मार्ग पहले से ही निश्चित हुआ पड़ा था। वह बिना किसी मानसिक संघर्ष

१३७. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृष्ठ ४८।

१३८. वही, पृष्ठ ४९।

१३९. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' : पृष्ठ ४८।

"(परिवर्तन की प्रत्येक स्थिति में) प्रेमचन्द ने उसके (सुमन के) हृदय के द्वन्द्व और उसके मस्तिष्क की हलचल का चित्रण नहीं किया है। ऐसा इसलिए भी हुआ है कि वे चरित्रचित्रण से अधिक सामाजिक समस्याओं में अभिरुचि रखते थे।"

१४०. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२४।

१४१. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृष्ठ २०५।

के आगे बढ़ता गया। पहली बार उसमें अन्तर्द्वन्द्व तब छिड़ा जब कि वह पैरौल पर छूटकर सैर करने के लिए गया था और रास्ते में उसने जालपा को फटी-पुरानी तथा मैली-कुचैली धोती पहने सिर पर मटका उठाए देखा था। उसमें भी उसकी चिन्ता ही अधिक व्यक्त हुई है और अन्तर्द्वन्द कम।[१४२]

इस प्रकार, प्रेमचन्द के पात्र कुछ सिद्धान्तों को अपना लेते है और जीवन भर उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते रहते हैं। यह उनके विकसिततम उपन्यासो के नायकोतक के बारे में भी कहा जा सकता है। गोदान का नायक होरी उपन्यास के आरम्भ में ही सिद्धान्ततः यह मान लेता है कि जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवो को सहलाने में ही कुशल है,[१४३] और जीवन भर उसके अनुसार ही चलता रहता है। ऐसी स्थिति में उसमें अन्तर्द्वन्द्व छिड़ने का प्रश्न ही नही उठता।

चरित्रचित्रण की नाटकीय प्रणाली

अपने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रेमचन्द प्रत्यक्ष प्रणाली को तो अपनाते ही हैं, साथ ही साथ नाटकीय प्रणाली द्वारा भी उनके चरित्र के अनेक रूपों को प्रकाश में लाते जाते है। ऐसा करते हुए वह अपनी ओर से वर्णन, विश्लेषण या टीका-टिप्पणी आदि कुछ न करके स्वय बीच में से निकल जाते हैं और पात्रों के चारित्रिक गुणावगुणों को उनके जीवन की विविध घटनाओं, उनके कथोपकथनो, अन्य पात्रो पर पडे उनके प्रभावों और उसके आधार पर की गयी उनकी टीका-टिप्पणी के रूप में उनके चारित्रिक गुणावगुणों को व्यक्त होने देते है। डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखे अपने एक पत्र में उन्होने यह बात स्पष्ट भी की है : "मैं कथानक का संगठन इस प्रकार करता हूँ कि उसके द्वारा मानवीय चरित्र के सुन्दर और स्वस्थ अंगो की अभिव्यंजना हो सके। यह प्रक्रिया बड़ी उलझी हुई होती है। उसमें मुझे कभी किसी व्यक्ति से प्रेरणा मिलती है, कभी किसी घटना से, कभी किसी स्वप्न से"।[१४४]

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

उपन्यास-रचना में प्रेमचन्द का मूलोद्देश्य चरित्रचित्रण तो था नही, पर फिर भी अपने लक्ष्य, अर्थात् समाज का यथार्थ चित्रण, की पूर्ति के लिए उन्हें सबल पात्रों की आवश्यकता पड़ी। उन सबल पात्रो के समूचे जीवन को केन्द्र बनाकर उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओ का निर्माण किया, जिनसे उनका चरित्रोद्घाटन भी होता जाए

१४२. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ ३०३।
१४३. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २।
१४४. डा० मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना',।

ग्रौर साथ-साथ समाज के विविध रूपों का चित्रण भी होता चले। उनके उपन्यास अनेक ऐसी घटनाओं से भरे पड़े है जिनका समावेश उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र प्रकाशन के लिए किया है। अनेक घटनाएँ तो पात्रो के चारित्रिक गुणों को इस स्वाभाविकता से व्यक्त करती है कि शायद बडे से बड़े वर्णन, मनोविश्लेषणात्मक चित्रण तथा कथोपकथन भी उनकी उतनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति न कर पाते। उन्होंने घटनाओ का प्रयोग पात्रो के चरित्र को विकास की ओर ले जाने के लिए, उनके विभिन्न चारित्रिक गुणों के प्रकाशन के लिए तथा उनकी तात्कालिक मनोस्थिति की ओर सकेत करने के लिए किया है।

नाटकीय प्रणाली को अपनाने पर भी प्रेमचन्द ने अपनी विशेषता बनाए रखी है। पाठकों को उन घटनाओं का मनमाना अर्थ लगाने की स्वतत्रता वह नही देते। इसलिए चरित्र उद्घाटन करने वाली प्रत्येक घटना का वर्णन करने के बाद निष्कर्ष निकालते हुए यह भी स्पष्ट कर देते है कि घटना-विशेष का उल्लेख उन्होंने किस उद्देश्य से किया है।

(क) चरित्र-विकास के लिए

उपन्यास के आरम्भ में ही प्रेमचन्द अपने प्रमुख पात्र—नायक-नायिका के जीवन में कुछ-एक घटनाएँ घटित करके उन्हें इस मोड़ पर ले आते हैं जहाँ से उनके चरित्र का विकास उस दिशा में किया जा सके जो लेखक को अभीष्ट हो। एक-दो घटनाएँ ही पात्र का उस मूल समस्या से साक्षात्कार करा देती हैं जो उत्तरोत्तर जटिल होती हुई ऐसी परिस्थितियों को जन्म देती जाती है, जिनमें वे जीवन भर उलझे रहते हैं। 'प्रतिज्ञा' के आरम्भ में ही पूर्णा के पति वसन्तकुमार की मृत्यु कराकर, उन्हें जल समाधि देकर, उसे विधवा बना देते हैं। विधवा होने पर वह कमलाचरण के पिता की आश्रिता होकर उनके घर में आ जाती है और तभी से वह उनके परिवार के लिए और अपने लिए भी एक समस्या बन जाती है—ऐसी समस्या जो उपन्यास के अन्त तक नहीं सुलझ पाती। 'सेवासदन' की नायिका सुमन का चरित्र-विकास जिस दिशा में मिलता है, वह केवल एक घटना के कारण सम्भव हुआ था—उसके पिता का कैद होना। उसका पिता दरोगा कृष्णचन्द्र घूँसखोरी के अभियोग में न पकड़ा गया होता तो न उसका गजाधर जैसे व्यक्ति से अनमेल विवाह होता और न ही उसे दाम्पत्य जीवन का परित्याग करके वेश्या-वृत्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता। इस एक घटना से लेखक ने उसके चरित्र-विकास को अभीष्ट दिशा दे दी है।

इसी प्रकार यदि निर्मला का पिता न मरता तो दहेज न दे सकने के कारण उसका विवाह विधुर मुंशी तोताराम से न होता और न ही वह विमाता के रूप में हमारे सामने आती। निर्मला के पिता की मृत्यु की घटना द्वारा ही लेखक उसे ऐसी परिस्थितियों में डाल देता है जो उसके चरित्र को एक अतृप्त पत्नी और विमाता के

रूप में विकसित करती रहती है। 'रंगभूमि' में भी देखिए ! सोफिया माँ से लड़कर घर से बाहर निकल भागी थी। कौन जानता था कि वह कहाँ जाएगी, पर अचानक आग की दुर्घटना में विनय नामक एक युवक को बचाने के बाद वह उस परिवार के सम्पर्क में आ गई और वही से विनय और सोफिया का विकास प्रेमी-प्रेमिका के रूप में होने लगा। 'कर्मभूमि' की नायिका सुखदा के चरित्र का विकास भी मदिर वाली घटना के कारण हुआ था। आवेश में आकर एक बार जो वह अछूत सत्याग्रहियों पर लाठियाँ पड़ती देखकर उस आन्दोलन में कूद पड़ी कि समाज-सेवा उसके जीवन का मुख्य अंग बन गया जिसके लिए पहले वह अपने पति को कोसा करती थी।

(ख) चरित्र के विविध रूपों के प्रकाशन के लिए

कई बार प्रेमचन्द छोटी-छोटी घटनाओं के समावेश से ही पात्रों के विभिन्न चारित्रिक गुणों का चित्रण बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से कर देते हैं। वह पात्रो को किसी परिस्थिति विशेष में डाल देते हैं और उस समस्त परिस्थिति का और उसके प्रति पात्र की प्रतिक्रिया का इस ढंग से वर्णन करते हैं कि घटना के साथ-साथ पात्र के चरित्र का एक नवीन रूप भी उद्घाटित हो जाता है।

'निर्मला' उपन्यास में साँप वाली छोटी सी घटना बड़ी सुन्दरता से तोताराम की पोल खोल देती है। निर्मला को प्रभावित करके अपनी ओर खीचने के लिए तोताराम उसे अपनी बहादुरी की अनेक गप्पें सुनाता रहता था। पर एक दिन अचानक उनके घर में कही से साँप निकल आया। साँप का नाम सुनते ही तोताराम के होश उड़ गए। वह पकडो-मारो का शोर तो मचाता रहा पर स्वयं बाहर निकलकर नही आया। आया तो तब जब मन्साराम साँप को एक ही वार से समाप्त करके उसे हाकी पर लटकाए चला आ रहा था। इस एक ही घटना से तोताराम की कायरता और मन्साराम की वीरता व्यक्त हो जाती है और साथ ही उन दोनों के चरित्र की तुलना भी हो जाती है।

'सेवासदन' में सुमन द्वारा पद्मसिह को स्वर्ण कंगन लौटाने की घटना का वर्णन करके लेखक पाठकों पर उसके चरित्र की पवित्रता की धाक बैठा देता है कि वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी उसने वेश्याओं के हथकण्डों को नही अपनाया था। 'कायाकल्प' में चक्रधर द्वारा धन्नासिह के भाई की पिटाई वाली घटना के समावेश से लेखक उसके चरित्र-विकास में आए एक नए मोड़ की ओर पाठको का ध्यान दिला देता है। इस घटना ने चक्रधर तक को यह मानने के लिए बाध्य कर दिया कि धन और पद के घमण्ड ने उसकी भी मति भ्रष्ट कर दी थी।

गोदान में भी दमड़ी बंसोह की और हीरा के घर की तलाशी वाली घटनाओ द्वारा लेखक होरी के स्वभाव के दो विभिन्न रूपो का दिग्दर्शन करा देता है। वही होरी जो बाँसों के सौदे में कुछ-एक पैसो के लिए अपने भाई हीरा से धोखा करना चाहता था, उसके घर छोड़कर चले जाने पर बिना किसी इच्छा से उसकी खेती का

सारा काम ही नही करता, प्रत्युत् जब पुलिस उसकी तलाशी लेने आती है तो आबरू बचाने के लिए रुपए उधार लेकर थानेदार को घूँस तक देने के लिए तैयार हो जाता है।

(ग) तात्कालिक मनोस्थिति के चित्रण के लिए

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र घटनाओं का समावेश अपने पात्रों की तात्क्षणिक मनोस्थिति के चित्रण के लिए भी करते रहते है। वेश्यावृत्ति छोड़ते समय सुमन ने अपने ग्राहकों में से एक की दाढ़ी जला दी, एक के मुँह पर रोगन पेंट कर दिया। इस घटना के उल्लेख द्वारा प्रेमचन्द ने उसकी उस समय की मनोस्थिति का बड़ा सजीव चित्रण किया है। उससे वेश्यालय के वातावरण तथा वहा के व्यक्तियों —ग्राहकों के प्रति सुमन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में अपने पुत्र बलराज को पकड़े हुए देखकर मनोहर द्वारा सिपाहियों को धक्का दे देने की घटना से मनोहर की तत्कालीन आवेशपूर्ण मनोदशा का उद्घाटन हो जाता है। 'गबन' में रामनाथ के भाग जाने वाली घटना में उसकी कायरता तथा पलायन-वृत्ति मुखरित हो उठी है। 'वरदान' में कमलाचरण द्वारा अपने सारे पतग फाड़ देने तथा कबूतरों को उड़ा देने वाली घटना में विरजन की दृष्टि में अपने को ऊँचा उठाने की उसकी प्रवृत्ति अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित हो उठती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रों के कथोपकथन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का यह सिद्धान्त रहा है कि 'वार्तालाप केवल रस्मी नही होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य जो किसी चरित्र के मुँह से निकले उसे पात्र के मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए।' इसलिए पात्रों की प्रत्येक वार्तालाप द्वारा उन्होंने यदि उनके चरित्र के किसी न किसी अंग या रूप के चित्रण की चेष्टा की हो और इस प्रयत्न में उनके पात्रों के कथोप-कथन कभी स्वाभाविकता से अधिक लम्बे हो गए हो और उनमें से भाषण या उप-देश की गंध भी आने लगी हो तो आश्चर्य की बात नहीं। उनके उपन्यासों में कई संवाद तो ऐसे हैं कि उनमें भाग लेने वाले प्रत्येक पात्र के चरित्र के किसी न किसी अंग का उद्घाटन तो हो ही जाता है, साथ ही उन सब के चरित्रों का तुलनात्मक परिचय भी मिल जाता है। प्रेमचन्द बहुधा किसी पात्र के किसी विशेष गुणावगुण के प्रकाशन के लिए ही संवाद की रचना करते हैं, मानो अन्य पात्र उसे बातों में उलझाकर या उकसाकर किसी समस्या के बारे में उसका दृष्टिकोण या किसी विशेष परिस्थिति में उसकी प्रतिक्रिया को जानने के प्रयत्न में हों।

संवादात्मक शैली से प्रेमचन्द ने एक और कार्य भी लिया है, जो उनकी अपनी विशेषता है। संवादों द्वारा वह केवल एक पात्र या उसमें भाग लेने वाले सभी पात्रों की ही तत्कालीन मनोस्थिति का उद्घाटन नही करते, प्रत्युत् उसमें समूचे वर्ग, जाति

या समाज की तत्कालीन वृत्ति, उसमें व्याप्त जागरण की लहर या उसके चरित्र की अधोगति स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो उठती है। वहाँ लेखक का ध्यान संवाद द्वारा किसी एक या अनेक पात्र के चरित्र-उद्घाटन की ओर न होकर समूचे समाज के किसी चारित्रिक गुण की अभिव्यक्ति की ओर होता है।

चरित्र का तुलनात्मक परिचय

संवादो द्वारा प्रेमचन्द परिस्थिति विशेष में पात्रों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तो कर ही देते हैं, साथ ही उनके उस दृष्टिकोण के प्रेरक चारित्रिक गुणावगुणों का तुलनात्मक परिचय भी करा देते हैं। प्रेमचन्द ने इस रूप में संवादों का खूब प्रयोग किया है। 'निर्मला' उपन्यास के आरम्भ में ही नायिका के माता-पिता का गरमा-गरमी में हुआ संवाद एक ऐसी घटना को तो जन्म देता ही है, जिससे उपन्यास के कथानक को गति मिली और नायिका के चरित्र को विकास के लिए मार्ग भी, साथ ही उससे दोनों—कल्याणी तथा उदयभानु की—गर्म प्रकृति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार का उष्णरक्त वाला दम्पत्ति सेवासदन में मिलता है—सुमन और गजाधर। घर छोड़ते समय, अपने पति के प्रति सुमन के शब्दों में—'क्या तुम ही मेरे अन्नदाता हो ? जहाँ मजदूरी करूँगी वहीं पेट पाल लूँगी······क्या संसार में सब स्त्रियों के पति होते हैं ?'[१४५] में उसका उग्र स्वभाव निखर पड़ता है। स्वभाव की वैसी ही उग्रता निर्मला की माता कल्याणी के इन शब्दो में भी स्पष्ट हो सकती है : 'तुम्हारा घर तुम्हें मुबारक रहे, मेरे लिए पेट की रोटियों की कमी नही······ईश्वर की सृष्टि में असंख्य प्राणियो के लिए जगह है, क्या मेरे लिए नहीं।'[१४६] सुमन और कल्याणी तो तल्ख स्वभाव वाली थीं ही, पर जब उन्हें पति भी उसी प्रकार गर्म प्रकृति के मिल गए तो उनकी गृहस्थी चैन से न चल सकती थी और न चली। ये दोनों सवाद उपन्यास के कथानकों को तो गति देते ही हैं साथ ही संवाद में भाग लेने वाले दम्पति के स्वभाव की उग्रता को भी स्पष्ट कर देते हैं।

इसी प्रकार निर्मला उपन्यास में जब मोटेराम शास्त्री बाबू भालचन्द के पास उनके पुत्र तथा निर्मला के विवाह की बात आगे बढाने के लिए जाता है तो उस समय भालचन्द और रंगीली के सवाद में[१४७] लेखक बडी सुन्दरता से पति-पत्नी के चरित्र की तुलना उपस्थित कर देता है। स्पष्टवादिनी रगीली यह कह चुकने के बाद कि 'साफ बात करने से सकोच क्या ? हमारी इच्छा है, नही करते। किसी का कुछ लिया तो नही है' जब निर्मला की माँ का करुणापूर्ण पत्र पढ़ती है तो पसीज उठती है। उसका पसीज उठना लेखक ने उसके इन शब्दो में कितनी मार्मिकता से व्यक्त

१४५. प्रेमचन्द, 'सेवासदन' पृ० ४८-४९।
१४६. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ९-१०।
१४७. वही, पृ० २३-२४।

किया है : 'अभी ब्राह्मण बैठा है न ?"। मालचन्द को, जो रंगीली के [illegible] पर रखकर बन्दूक चलाना चाहता था, हृदय में उमड़ी करुणा को भाप अपना पैंतरा यों बदलना पड़ा, "तुम्हारे ही कारण मुझे अपनी बात खोनी पड़ी। अब तुम फिर रंग बदलती हो। यह तो मेरी छाती पर मूँग दलना है। आखिर तुम्हें मेरे कुछ तो मान-अपमान का विचार करना चाहिए।" इस संवाद में जहा रंगीली की स्पष्टवादिता दयार्द्रता तथा वाकपटुता का पता चलता है, वहा उसके पति मालचन्द की नीच प्रवृत्ति--धनलोलुपता का भी विशेष परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार 'गबन' में जालपा से विवाह पर दिए हुए आभूषण कैसे वापिस लेने चाहिएँ, जब इस समस्या पर रमानाथ तथा दयानाथ में वार्तालाप होता है तो उसमें पिता-पुत्र के परस्पर विरोधी स्वभावों का अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है। एक ओर बेटा है जो अपनी पत्नी से गहने वापिस माँगने की अपेक्षा रात को चोरी से उठा लाना अपने लिए सहज समझता है और दूसरी ओर उसका पिता है जो आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी घूस लेना प्रारम्भ करने के विचार तक को प्रश्रय नही देना चाहता। पिता और पुत्र के चरित्र में कितना महान् अ तर है। कर्मभूमि में अमरकान्त और सकीना के सवाद में[१४८] उन दोनों के चरित्र की तुलना कितने सुन्दर ढंग से हुई है। जहाँ अमरकान्त के इस कथन में 'क्यों न इसी वक्त हम और तुम कहीं चले जाएँ ?' उसकी वासना नग्न होकर नाच उठती है, वहाँ सकीना के इस उत्तर में उसके प्रेम की पवित्रता झलकती है 'नहीं, वह जाहिरा मुहब्बत है। असली मुहब्बत वह है, जिसकी जुदाई में भी विलास है, जहाँ जुदाई है ही नही, जो अपने प्यारे से एक हजार कोस दूर होकर भी अपने को उसके गले से मिला हुआ देखती है।' सकीना का यह उत्तर स्पष्ट प्रमाण है कि उसका प्रेम 'दूध के उफान की तरह नहीं कि आया और उबल पड़ा ; प्रत्युत् उसमें सागर की-सी गहराई है।'

इस प्रकार पात्रों के चरित्र-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का तुलनात्मक शैली में चित्रण करने के लिए प्रेमचन्द ने कथोपकथनों से खूब काम लिया है। कोरा विश्लेषणात्मक वर्णन पाठकों को ऊबा देता, पर संवादों से रोचकता निरंतर बनी रही है।

व्यक्ति पात्र का चरित्रचित्रण

प्रेमचन्द कई बार किसी एक पात्र के गुणावगुणों को प्रकाश में लाने के लिए या उसके चरित्र के विविध रूपों के चित्रण के लिए संवादों की रचना कर देते हैं। ऐसे संवादों में भाग तो दो या दो से अधिक पात्र लेते हैं, पर चरित्र-प्रकाशन उनमें से केवल एक का ही होता है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य पात्रों ने वार्तालाप का आरम्भ ही उस पात्र के उस गुणावगुण को उघाड़ने के लिए

---

१४८. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० १०४-१०५।

किया हो। 'रंगभूमि' में भैरो द्वारा सूरदास के घर को आग लगा देने पर मिठुआ और सूरदास में जो वार्तालाप होता है, वह इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है :—

"मिठुआ ने पूछा —'दादा' अब हम रहेंगे कहाँ ?'
सूरदास—'दूसरा घर बनाएँगे।'
मिठुआ—'और फिर कोई आग लगा दे ?'
सूरदास—'तो फिर बनाएँगे।'
मिठुआ—'और कोई सौ लाख बार लगा दे ?'
सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया—"तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे।"[१४६]

इस संवाद की रचना केवल यह दिखाने के लिए हुई कि सूरा बड़े जीवट का आदमी है; उसमें अटूट हिम्मत है। 'रंगभूमि' के आरम्भ में ही गनेश गाडीवान-सूरदास संवाद में भी सूरदास के चरित्र के कई रूप प्रकाश में आ जाते हैं। इसमें उसका मनमौजी स्वभाव तो व्यक्त होता ही है, उसके इन शब्दों में कि 'कोई ऐसी जगह बताओ, जहाँ धन मिले और भिखमंगी से पीछा छूटे' तथा 'घर वाली की कमाई खाकर किसी को मुँह दिखाने लायक भी न रहूँगा' में उसका आत्म-गौरव भाव पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हो उठा है।

इसी प्रकार 'निर्मला' के डा० सिन्हा का प्रथम परिचय हमें निर्मला से विवाह कराने के प्रश्न पर उसके और उसकी माँ के बीच हुए वार्तालाप[१५०] से स्पष्ट हो जाता है। उसके ये शब्द उसके चरित्र का दर्पण बन जाते हैं और उसमें उसका लालची स्वभाव झलक पडता है : "कही ऐसी जगह शादी करवाइये कि खूब रुपये मिलें ; और न सही एक लाख का तो डाल हो। वहाँ अब क्या रखा है। वकील साहब रहे ही नही। बुढ़िया के पास अब क्या होगा ·····मै जायदाद नहीं चाहता बस एक लाख नकद हो। या फिर कोई ऐसी जायदाद वाली बेवा मिले जिसकी एक ही लड़की हो।" माँ के यह कहने पर कि औरत चाहे कैसी हो, वह उत्तर देती है : "धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियाँ भी सुनाए तो चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है।" 'कर्मभूमि' में जब सुखदा जेल छोड़ने से पहले अमरकान्त से मिलने के लिए तैयार होती है, उस समय का सुखदा-सकीना-संवाद[१५१] बड़ा ही सुन्दर बन पाया है :—

सकीना—'मैं क्या संदेशा कहूँगी ? बहूजी आप इतना ही कह दीजिए—नैना देवी चली गई, पर जब तक सकीना जिन्दा है, आप उसे नैना ही समझते रहिए।"

---

१४६. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० १३५।
१५०. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० २६।
१५१. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० ४०२।

सुखदा ने निर्दय मुस्कान से कहा "उनका तो तुम से दूसरा रिश्ता हो चुका है।"

सकीना ने जैसे इस वार को काटा—"तब उन्हें औरत की जरूरत थी, आज बहन की जरूरत है।"

सुखदा ने सकीना को इस प्रकार की बातों में इसीलिए उलझाया था कि उसे उकसाकर उसके मन की बात जान सके। सकीना के उत्तर ने उसकी तसल्ली कर दी। सकीना के एक-एक शब्द में उसकी सहृदयता, नम्रता और वाकपटुता फूट पड़ रही है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के संवाद भरे पड़े हैं, जिनका निर्माण पात्रों के चरित्र के किसी विशेष रूप के उद्घाटन के लिए ही हुआ है।

जाति वा वर्ग की मनोवृत्ति का चित्रण

उपन्यासों में प्रेमचन्द का ध्यान व्यक्ति विशेष के चित्रण की ओर न रह कर तत्कालीन समाज के विभिन्न रूपों तथा उसकी प्रवृत्तियों की ओर रहा है। जहाँ वह किसी पात्र विशेष का चरित्र-चित्रण करते हैं, वहाँ वह पात्र भी प्रायः वर्ग प्रतिनिधि के रूप में ही हमारे सामने खुलता है। कई बार वह वर्ग-प्रतिनिधि के रूप में किसी एक पात्र को न लेकर एक से अधिक छोटे-छोटे पात्रों को लेकर संवादात्मक शैली में उस समाज या वर्ग की तत्कालीन मनोस्थिति का दिग्दर्शन करा देते हैं। यहाँ 'प्रेमाश्रम' के उस संवाद का उल्लेख किया जा सकता है जो कारिन्दों द्वारा गाँव के तालाब का पानी रोक देने की घटना की चर्चा करते हुए सुक्खु चौधरी और कादिर मियाँ में हुआ।[१५२] इस संवाद में इन दोनों द्वारा व्यक्त भावना केवल उनकी ही नहीं, समस्त गाँव की है। सुक्खु का यह कहना कि 'लाठी है किस दिन के लिए ?' और कादिर का उपकथन है कि 'किस के बूते पर लाठी चलेगी, गाँव में रह कौन गया, अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया,' और सुक्खु के प्रत्युत्तर 'पट्ठे नहीं हैं, न सही, बूढ़े तो हैं। हम लोगों की जिंदगानी किस काम आएगी,' में गाँव की पीड़ित तथा शोषित जनता में एक ओर तो बदले की आग सुलगती दिखाई देती है और दूसरी ओर उस पर पड़ी उनकी असहाय अवस्था की राख भी नजर आती है।

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

पात्रों की अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उनके विशेष चारित्रिक गुणावगुणों के प्रकाशन के साथ-साथ प्रेमचन्द दूसरे पात्रों पर पड़े उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रभाव को भी चित्रित करते जाते हैं। किसी पात्र के सम्बन्ध में अन्य पात्रों के विचार प्रकट करने के लिए तथा उन पर पड़े उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के

१५२. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० १९१।

सम-सामूहिक प्रभाव को व्यक्त करने के लिए, वह उसे अन्य पात्रो के बीच चर्चा का विषय बनाकर उनसे उस पर या उसके चरित्र के किसी विशेष अग पर टीका-टिप्पणी कराते रहते हैं। उस पात्र के वहाँ उपस्थित न होने के कारण अन्य पात्र उसके चरित्र के बारे में या चरित्र के किसी विशेष गुणावगुण के बारे में अपना स्वतंत्र मत प्रकट कर सकते हैं।

प्रशंसा

उन पात्रों की टीका-टिप्पणी कही मित्र-प्रशंसा अथवा शत्रु-निन्दा का रूप न ग्रहण कर ले, इसके लिए उनका प्राय: यह प्रयत्न रहा है कि टीका-टिप्पणी करने वाला या वाले तटस्थ हो, पर बहुधा जब कोई तटस्थ पात्र नही मिल पाता और उन्हें पात्र के किसी विशेष गुणावगुण की धाक बैठानी होती है तो वह प्रशंसात्मक टिप्पणी उस पात्र की अनुपस्थिति में उसके किसी शत्रु से करवाते है और निन्दात्मक मत उसके किसी हितु-सम्बन्धी या मित्र आदि का प्रकट करते है, जिससे उनके मत विश्वसनीय माने जायँ। जिस व्यक्ति की प्रशसा उसकी अनुपस्थिति में उसके शत्रु तक भी करें, उसके चरित्र में अवश्य कोई असाधारण गुण होगा। जो अपने सम्बन्धी और मित्रों तक की दृष्टि में भी गिरा हुआ हो, उसके चरित्र में जरूर कही कोई असगति होगी।

निष्पक्ष आलोचक

निष्पक्ष आदमी बहुत कम मिलते हैं, फिर भी 'निर्मला' के मोटेराम शास्त्री को इस रूप में निष्पक्ष कहा जा सकता है कि निर्मला की होने वाली सास, रगीली से न तो उसकी कोई शत्रुता थी और न ही कोई भाई-चारा। निर्मला के विवाह की बात टूट जाने पर भी वह वापिस लौटकर रगीली की प्रशंसा मुक्त कण्ठ से करता है: 'लड़के की माँ अलबता देवी थी। उसने पुत्र और पति दोनो ही को समझाया पर उसकी कुछ न चली।'[१५३] 'प्रेमाश्रम' का कादिर मियाँ अपने गाँव का निष्पक्ष नेता था। मनोहर की आत्मसम्मान की भावना ने उसे मोह लिया था। गौस खाँ की हत्या के अपराध में मनोहर के पकड़े जाने पर वह गाँव वालो से कहता है: 'हम सब के सब कायर हैं, वही एक मर्द है।'

शत्रु द्वारा प्रशंसा

इसी प्रकार, प्रेमचन्द के नायक-नायिकाओ के साहस और त्याग, धैर्य और मनोबल, सहृदयता और निस्वार्थ-भाव आदि की प्रशसा जब उनके शत्रुओं तक को करते पाते है, तो उनके गुणो की असाधारणता पर हमारा विश्वास जम-सा जाता है। 'रंगभूमि' मे सूरदास के धैर्य और त्याग का बखान उसके शत्रु तक करते है। जॉनसेवक को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि 'वह (सूरदास) बड़े जीवट का आदमी

१५३. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ११५।

है, आसानी से काबू में आने वाला नहीं।'[१५४] उसके चरित्र के जननायकत्व की महत्ता को मि० क्लार्क तक मानता है। राजा महेन्द्रप्रताप से उसकी बातचीत के बीच यह बात प्रकट हो जाती है : 'हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही (सूरे जैसे) मनुष्यों से है जो जनता के हृदय पर शासन करते है।'[१५५] सोफिया से रुष्ट रहने पर भी रानी जाह्नवी विनय के प्रति उसकी सहृदयता को पहचानने में नहीं चूकती : 'मैं अपनी सकीर्णता के कारण सोफिया की कितनी ही उपेक्षा करूँ, पर वह सती है, इसमें अगुमात्र भी सदेह नही।'[१५६] 'गबन' की नायिका जालपा के चरित्र की महानता को उसके पति रमा की वेश्या जौहरा तक मान गई। वापिस लौटकर वह रमा से कहती है : "मैने बड़े-बड़े काइयाँ और छँटे हुए शोहदों और पुलिस अफसरों को चपरगट्ट बनाया है, पर उनके (जालपा के) सामने जैसे मैं भीगी बिल्ली बनी हुई थी।"[१५७] इन पात्रों की प्रशसा उनके शत्रुओं तक को करते देख उनकी सच्चरित्रता पर पाठकों का विश्वास जम जाता है।

मित्र द्वारा निन्दा

प्रेमचन्द को जब अपने किसी पात्र के चारित्रिक दोषों को सिद्ध करके उसके प्रति पाठकों का घृणा-भाव जागृत करना होता है तो उसके बारे मे वह उनके शत्रुओं का मत प्रकट करना उतना आवश्यक नही समझते जितना कि उनके सम्बन्धियों या मित्रों का। उनके बारे में वह यह बताना अत्यावश्यक समझते है कि वे पात्र, अपनों तक की दृष्टि में गिरे हुए हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लेखक को अपने पात्रों के दोषों के बारे में उनके हितु-सम्बधियों की राय का स्वयं अपने शब्दों में ही वर्णन करना होता है, क्योंकि ऐसी सम्मतियाँ उनके हितैषियो के अपने मन मे ही सुरक्षित रहती हैं, किसी अन्य पर टीका-टिप्पणी के रूप में प्रकट नहीं हो पाती ; कारण ऐसी बाते करना निन्दा करने के बराबर समझा जाता है, और निन्दा मित्रों की, की नही जाती। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर के बारे में उसका बचपन का मित्र ज्वालासिंह सोचता है : 'इस मनुष्य में बुद्धि, बल और दुर्जनता का कैसा विलक्षण समावेश हो गया है।'[१५८] उसकी अपनी पत्नी विद्या को 'पति की संकीर्णता पर खेद होता था, लेकिन कुछ और कहते डरती थी कि कहीं उनकी दुष्कामना और भी दृढ़ न हो जाय।'[१५९] 'रंगभूमि' के विनय की प्रेमिका सोफिया का भी जो उसके लिए निरन्तर यातनाएँ सहती रही थी, उस पर विश्वास नही जमता था। 'उसे भय था कि कदाचित् विवाह के पश्चात् उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय न हो।'[१६०] वह विनय के ढुलमुल स्वभाव से परिचित हो गयी थी।

इस प्रकार पात्रों के चरित्र के बारे में उनके मित्रों-सम्बन्धियों आदि की गुप्त धारणा जान लेने पर उनके चरित्र की हीनता में हमें संदेह नहीं रहता।

१५४. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० २१८।
१५५. वही, पृ० ८६३।
१५६. वही, पृ० २८१।
१५७. प्रेमचन्द, 'गबन', पृ० ३१२।
१५८. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३४।
१५९. वही, पृ० ३०।
१६०. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ५१३।

जयशङ्कर 'प्रसाद'

परिचयात्मक विवेचन

जयशंकर 'प्रसाद' मूलतः कवि थे,[1] प्रकृत्या स्वछन्द और उन्मुक्त। उनके अन्य सभी रूप आनुषंगिक हैं। इसलिए उनकी किसी भी साहित्य-कृति को, वह नाटक, उपन्यास, कहानी आदि कुछ भी हो, उनकी काव्यकृतियों में रखकर ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है। जीवन की कठोर सत्यता की अनुभूति और तज्जनित घोर निराशा जो पहली वार उनके काव्य-संग्रह 'झरना' में झलकी और उत्तरोत्तर बल पकड़ती हुई[2] 'आँसू' और 'कामायनी'[3] में चरम-सीमा को छू गई, उसकी कसक उनके 'कंकाल'[4] की नस-नस में व्याप्त है। 'कंकाल' प्रसाद की अन्य कृतियों से भिन्न कोई असफल[5] प्रयोग नहीं, उनके दर्शनानुकूल मानव-कंकाल के उद्धार की ओर पहला कदम है।

---

१. (क) नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', भारती-भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००४, पृ० ९३-९४।
(ख) इलाचन्द्र जोशी, "प्रसाद जी की कथा-साहित्य और कंकाल", 'कल्पना', फरवरी १९५१ :
"प्रसादजी प्रधानतः कवि थे। इसलिए अपनी जिन रचनाओं में वह काव्यात्मक भावना अधिक प्रस्फुटित करने में प्रयत्नशील रहे है, उनमें एक मोहक सुन्दरता भरने में सफल हुए है और जिनमें वह जीवन के यथार्थ की ओर अधिक झुके है, उनमें उन्हें इतनी सफलता नही मिल पाई है।"

२. प्रसाद, 'आँसू', भारती-भण्डार, इलाहाबाद, ७वाँ सस्करण, सं० २००३, पृ० १४।
"जो घनीभूत पीडा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।।"

३. प्रसाद, 'कामायनी', दर्शन सर्ग :
"यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लगा रही
मतवाला यह सब समाज है।।

४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८४-८६।

५. (क) श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृ० २३८-२३९।
"कंकाल में चित्रित जीवन एकांकी है···· 'कंकाल' की यह त्रुटि सम्भवतः स्वयं प्रसाद को भी खटकी और इसलिए उनकी 'तितली', इस अँधेरी दुनिया से उडकर खुली हवा और प्रकाश में आई। ······सम्भवतः प्रेमचन्द जी के ग्रामीण चित्रों की मनोहरता देखकर प्रसाद जी भी इस लोभ का संवरण न कर सके।"
(ख) प्रभाकर माचवे, "हिन्दी उपन्यास और चित्रलेखा", 'वीर अर्जुन', १७ नवम्बर, १९४७।

कंकाल में व्यक्तिवाद

जीवन की तिक्त अनुभूतियों ने समाज के प्रति प्रसाद के विश्वास को झँझोड़ कर उन्हें जॉन[६] मिल की भांति व्यक्तिवादी बना दिया था। समाज की प्रचलित मान्यताओं, उसके निर्धारित मूल्यों तथा विधि-निषेधों के प्रति उन्हें घोर अनास्था हो गई थी।[७] उन्हें विश्वास हो गया था कि अपनी रूढ़िबद्ध धारणा के वशीभूत समाज जिस वर्ग को उच्च, मान्य और आदर्श समझकर प्रतिष्ठित किए हुए है, वह सच्ची मनुष्यता से कोसों दूर है और अपने पूर्व-ग्रह के कारण वह जिसे गन्दा-सड़ा और निकृष्ट समझकर बहिष्कृत किये हुए है, उसमें अभी मनुष्यता शेष है।[८] अपने इसी विश्वास को व्यक्त करके छिन्नाधार संघर्ष-पीड़ित मानव-प्राणियों में स्वस्थ चेतना जगाने के लिए 'कंकाल' की रचना हुई। इसलिए 'कंकाल' का मुख्य विषय ये मानव-कंकाल बने। प्रेमचन्द की कोरी उपदेशात्मकता को न अपनाकर प्रसाद ने व्यंग्यात्मक शैली से काम लिया और कथानक को ऐसा रूप दिया जिससे रूढ़िबद्ध जातीय-प्रतिष्ठा की पोल खुले और साथ ही इस निष्कासित वर्ग के सतत संघर्षमय जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण द्वारा यह दिखाया जा सके कि उन्हें उनकी इस दशा तक पहुँचाने वाले उस तथाकथित उच्च वर्ग के स्वार्थपूर्ण कुकृत्य ही हैं।

ढुलमुल पात्र

इस प्रकार के कथानक को निभाने के लिए प्रसाद को एक तो ऐसे पात्रों की आवश्यकता पड़ी जिनका अस्तित्व ही समाज-व्यवस्था के लिए भारी खतरा समझा जाता हो। विजय, तारा तथा मोहन जैसी जारज सन्तानें, यमुना की-सी अविवाहित मातायें, गुलेनार जैसी बाल वेश्यायें, लतिका के समान धर्मच्युत-स्त्रियां, घंटी की-सी अज्ञात कुल-शील छोकरियाँ इत्यादि, समाज की दृष्टि में घृणित समझे जाने वाले, ऐसे ही मानव-प्राणी हैं जो जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर गिरते-पड़ते असंख्य नारकीय यातनायें भोगते रहते हैं और जिनकी आहों-कराहों के प्रति उदासीनता का भाव बनाये रखना समाज अपने लिए गौरव की बात समझता है। प्रसाद ने इन लोगों का इनके गुण-दोषों सहित चित्रण किया है, प्रेमचन्द की भांति इनमें

६. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', पृ० ४२।

७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७०।

"जिन्हें आवश्यकता नहीं, उन्हें बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए......जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है,...... वे मनुष्य कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।"

८. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६०।

"किशोरी, मैंने खोज कर देखा कि मैंने जिसे सबसे बड़ा अपराधी समझा था वही सब से अधिक पवित्र है।"

कोरी आदर्शवादिता फूँकने का प्रयत्न नही किया। इस वर्ग की विवशताओं के प्रति प्रसाद की पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी इसमें से कोई पुरुष-पात्र धीरोदात्त नायक के रूप में विकसित न हो सका और न ही कोई स्त्री पात्र सती-साध्वी नायिका के रूप में। लेखक ने उनके विकास में कृत्रिमता न लाकर उन्हें उनके स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार ही दुर्बल और ढुलमुल रहने दिया है। इसलिए वे 'प्रेमचन्द के कृत्रिम आदर्शवादी नायक-नायिकाओ की अपेक्षा अधिक सजीव और जीवन के अधिक निकट हो सके है।'[९]

शोषक वर्ग

दूसरी प्रकार के पात्र प्रसाद ने उस वर्ग में से चुने जो समाज में सदा से उच्चासन ग्रहण किये हुए हैं—अपनी योग्यता या गुणो के आधार पर नही, बल्कि प्रचलित समाज-व्यवस्था की त्रुटियों से अनुचित लाभ उठाकर—और दीन-हीन असहाय प्राणियो का जोंक के समान रक्तशोषण करके उन्हे ककाल बनाये जा रहा है। गुरुडम[१०] की आड़ में व्यभिचार फैलाने वाले धर्म के ठेकेदार मठाधीश-महन्त निरजन, यन्त्र-तन्त्र-विद्या की धाक बैठाकर लड़की से लड़का बना सकने की दुहाई देने वाले ठग रामदेव, 'परोपदेशपाण्डित्यम्' के सिद्धान्त वाले समाज-सुधारक-जाति-सेवक मगल, झूठे प्रेम-जाल फैलाकर अबलाओ के धन और सतीत्व दोनो पर हाथ साफ करने वाले धन-लोलुप श्रीचन्द, अपनी कन्या की विवशतापूर्ण स्थिति समझे बिना उसके सतीत्व पर सन्देह करके उसके लिए समाज के द्वार बन्द कर देने वाले तारा के पिता इत्यादि का निर्माण इसी रूप में हुआ। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या ईसाई सब के सब वासना की वेगवती धारा में बहे चले जा रहे हैं, यह दिखाने के लिए लेखक को लतिका के पीछे पागल हुए फिरने वाले धार्मिक बिशप साहब, कलामूर्तियों के नाम पर कोमलांगणा मानव-मूर्तियो की टोह में रहने वाले बाथम साहब, सोने-चाँदी के कुछ सिक्कों की चमक दिखाकर अबला नारियो का, उनके कुलशील की चिन्ता किये बिना, सतीत्व नष्ट करने वाले मिरजा जैसे कई पात्रों की अवतारणा हुई।

आर्थिक शोषण नहीं

यद्यपि प्रेमचन्द के पात्रो की तरह 'ककाल' के पात्रो के भी 'शोषक' और 'शोपित' नाम से दो भेद किए जा सकते है, तो भी यहाँ यह बताना अप्रासगिक न होगा कि प्रेमचन्द के औपन्यासिक पात्रो की भाँति इस उपन्यास में केवल आर्थिक शोषण को ही शोषण नही समझा गया। इस उपन्यास के कई शोपित पात्र आर्थिक

---

९. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रसाद जी का कथा-साहित्य और कंकाल', 'कल्पना', फरवरी, १९५१।
१०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७८।

दृष्टि से तो काफी समृद्ध है। निरंजन द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण न था, प्रत्युत् वह नैतिक शोषण था। इसी प्रकार किशोरी, तारा और लतिका का क्रमशः निरंजन, मंगलदेव और बाथम द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण नहीं कहा जा सकता। उपन्यास के नायक विजय की समस्या भी आर्थिक न थी बल्कि यदि वह समाज-सम्मत रूढिबद्ध आचरण अपना लेता तो वह धनी-मानी सेठ बनकर ऐश करता होता, पर क्योंकि यह समाज के कृत्रिम सत्य का तिरस्कार करके व्यापक सत्य की खोज में निकल पड़ा, समाज ने चिढ़कर उसके मार्ग में ऐसे काँटे बिछा दिए कि उसका स्वाभाविक विकास न हो पाया। वास्तव में, कंकाल की मूल समस्या ही यह है कि समाज सभी को अपने कठघरे में बन्द करके व्यक्तित्वहीन बौने बनाए चला जा रहा है। यह बात कंकाल के पात्रों को इसलिए भी खटकती है कि वे अनपढ़ ग्रामीण नहीं, प्रत्युत् आधुनिक युग के जागरूक नागरिक हैं।

'तितली' में व्यक्ति की महानता

प्राचीन भारतीय आदर्शों से विमुख होकर चमकीली पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करने वालों कोभारतीय व्यक्तिगत साधना[११]की जीवनोपयोगिता दिखाने के लिए 'तितली' की रचना हुई। 'तितली' का लक्ष्य कंकाल के लक्ष्य से भिन्न नहीं। संस्थावाद की अनिवार्य बुराइयों से व्यक्ति की रक्षा के महान् लक्ष्य की पूर्ति की ओर कंकाल यदि पहला कदम है तो तितली[१२] दूसरा। कंकाल द्वारा समाज के रूढ़िबद्ध जातीय-दम्भ तथा कृत्रिम विधि-निषेधों पर गहरा व्यंग्य कसते हुए उसके प्रति जागरूकता फैलाने के पश्चात् व्यक्ति की शक्ति की अपरिमितता में दृढ़ विश्वास पैदा करने के लिए कठोर व्यक्तिगत साधना नितान्त आवश्यक थी। इसके लिए उन्हें एक ऐसे पात्र की जरूरत पडी जो संस्थावाद के आँधी-तूफानों के आगे पर्वत के समान अड़ जाय—गर्व के साथ अपना ललाट उन्नत किये, अपनी साधना में मस्त। सदा से ही उस कसौटी पर खरी उतरती आने वाली भारतीय नारी के रूप में तितली की अवतारणा हुई, जिसमें नारी और सतीत्व का प्राचीन भारतीय आदर्श मूर्त्त हो उठा।[१३] तुलना द्वारा इसका महत्त्व[१४] दिखाने के लिए पश्चिमी सभ्यता में पली अंग्रेज महिला शैली की रचना हुई, जो भारतीय सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने

११. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', पृ० १०४।

१२. प्रसाद, 'तितली', पृ० १०१ :

> "भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है; किन्तु उसका रहस्य है समाजवाद की रूढ़ियों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।"

१३. वही, पृ० २६७।

> "बहन शैला! संसार भर उनको (मधुबन को) चोर, हत्यारा और डाकू कहे; किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती।"

१४. शिवनाथ, 'प्रसाद-साहित्य का मूल स्वर', 'संगम' (प्रसाद स्मृति अंक), फरवरी, १९५१।

पर भी उस कड़ी साधना में न टिक सकी।[१५] इन दोनो के साथ ही सृष्टि हुई समाज की रूढ़िवादिता से आक्रान्त उस वर्ग की, जिसमें अनपढ़-अक्खड़-ग्रामीण मधुबन से लेकर बैरिस्टर-जमीदार इन्द्रदेव तक सभी संस्थावाद की चक्की में पिसे चले जा रहे हैं।

'तितली' में भी शोषितों की एक लम्बी लिस्ट है। मधुबन, तितली, इन्द्रदेव और शैला के अतिरिक्त बाल-विधवा राजकुमारी, बेटे-बेटी की चिन्ता में फँसी विधवा माता श्यामदुलारी, व्यसनी पती द्वारा चिरोपेक्षिता बीबी माधुरी, कानून और धर्म के ठेकेदारों के अत्याचारों से सताये हुए देवनन्दन, माधो, रामजस आदि असंख्य किसान, दूसरों की गृह-कलह का कुफल भोगने वाला निरपराधी नौकर रामदीन आदि कितने ही असहाय-निरुपाय लोग बिलखते दिखाई देते है। तितली में दूसरा वर्ग बना उन पात्रों का जो औरों की कमजोरियों से लाभ उठाकर उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध उकसाते-लड़ाते-भिड़ाते हुए अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। कानून को हाथ में लेकर मनमानी करने वाला तहसीलदार, गृह-कलह कराकर अपना काम निकालने वाला धूर्त ब्राह्मण सुखदेव चौबे, धर्म का ठेकेदार पाखण्डी महन्त, लेडी डा० के वेश में दूसरों के पतियों को हथियाने वाली अनवरी, चाँदी के टुकड़ों पर जान देने वाली वेश्या मैना आदि सस्थावाद के गन्दे जल से उत्पन्न ऐसी जोंकें हैं जो मानव का समूचा रक्त चूसकर उसे ठठरी बना देती है।

इरावती

समाज के बन्धनो से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने की ओर 'इरावती' तीसरा कदम है। मँझधार में फँसी समाज की नौका को किनारे लगाने के लिए साधना के चप्पू की आवश्यकता 'तितली' में स्वीकार कर लेने के बाद प्रसाद उस साधना का आदर्श संगठित करने की चेष्टा में इतिहास के अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्हे विश्वास था कि 'हमें गिरी दशा से उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल नही हो सकता'।[१६] प्रसाद ने इरावती में बौद्ध धर्म के पतन काल के चित्रण द्वारा दिखाने के लिए लेखनी उठाई कि "किस प्रकार समाज को सुन्दर बनाने के लोभ में (सुधार द्वारा) भगवान् तथागत द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ पथ को रूढ़ियो में बाँध देने से बनता-बनता चित्र विगड गया। हमारी अहिंसा हमारी हिंसा करने लगी, हमारा

---

१५. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६६, तितली, शैला से :

"बहन, तुम भूल तो नही कर रही हो ? तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढँककर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा को भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्रमाण है।"

१६. प्रसाद, 'विशाख' की भूमिका, प्रथम सस्करण, सन् १९२१।

प्रेम धर्म से द्वेष करने लगा और धर्म पाप बनता गया।"[१७] इस उपन्यास के लिए एक ओर तो चुनाव हुआ सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक रूढ़ियों के अंधभक्तों का। जीवन में आनन्दवाद को सर्वोच्च स्थान देते हुए उसकी साधना में सब कुछ वैध समझने वाला महाकाल के मन्दिर का ब्रह्मचारी तथा उसके शिष्य, मानव-जीवन में से आनन्द की भावना को उखाड़कर उसके स्थान में कारुण्य की स्थापना करने के प्रयत्न में मनुष्य को यन्त्रचालित कठपुतली बना डालने वाले भिक्षुणी-बिहार के असख्य अधिकारी, जराजर्जरित राज्य-व्यवस्था का अंध-भक्त पुष्यमित्र इत्यादि इसी वर्ग के पात्र हैं। दूसरी ओर सृष्टि हुई अग्निमित्र और इरावती के-से पात्रों की जो इन अंधभक्तों के विकृत धर्म और राजनीति का निरन्तर शिकार बनते आये हैं। संस्थावाद द्वारा उत्पन्न लोगों की विशेषताओं से लाभ उठाकर स्वार्थ साधने वालों का तीसरा वर्ग है, जिसमें मगधराज बृहस्पतिमित्र अग्रगण्य हैं। इनके अतिरिक्त एक स्वस्तिक दल है विद्रोहियों का जो बेजुबां पशुओं की भांति चुपचाप अत्याचार नहीं सहता और राज्य-व्यवस्था को उलटने के लिए नित्य नये षड्यन्त्र रचता रहता है। 'इरावती' में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्र हैं। पुष्यमित्र, अग्निमित्र बृहस्पतिमित्र और खारवेल ऐतिहासिक पात्र हैं और कालिन्दी, इरावती, धनदत्त, मणिमाला आदि कल्पित।

चयन-परिधि

इस प्रकार, प्रसाद ने विलासी राजाओं, स्वामिभक्त मन्त्रियों तथा सेना-नायकों धर्म के ठेकेदार महंतों, ब्रह्मचारियों, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, पादरियों, समाज के गण्य-मान्य नवाबों, रईसों, सेठों, समाज-सुधारकों-प्रचारकों आदि से लेकर समाज के घृणित-उच्छृंखल लोगों वेश्याओं, जारज संतानों, क्वारी माताओं, क्वारे पिताओं, चोर-उचक्के-गुण्डों, डाकुओं आदि तक सभी को अपने उपन्यासों के पात्रों के रूप में चुना। यद्यपि उनका चुनाव-क्षेत्र उतना व्यापक न था जितना कि प्रेमचन्द का, तो भी इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि जिन भी पात्रों को उन्होंने चुना उनके बारे में उन्हें पूरी जानकारी थी। उन्होंने अपने पात्र प्रधानतया उच्च और निम्न वर्ग में से चुने और वे भी नगर-निवासियों या नगरों से सटे हुए ग्रामों के निवासियों में से; मध्यवर्ग के प्रति उनकी विशेष रुचि न थी। इन दोनों वर्गों की कठिनाइयों और उनकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप से उनका परिचय घनिष्ठ था, विशेषत: उच्चवर्ग की खोखली आदर्शवादिता तथा उसके जातीय दम्भ से। इसीलिये वह उन पर तीखे व्यंग कस सके तथा उनकी पोल खोल सके।

प्रसाद उच्च वर्ग का चित्रण कर रहे हों या निम्न वर्ग का उनकी विशेष सहानुभूति सदा चिरोपेक्षिता-चिरशोषिता नारी-जाति से ही रही है, क्योंकि वह

१७. प्रसाद, 'इरावती' के आरम्भ में प्रकाशित 'प्रसाद' का संकेत पत्र।

जानते थे कि संस्थावाद के अनिवार्य अत्याचारों का शिकार सबसे अधिक नारी ही होती रही है। बेचारी तारा, घण्टी, तितली, मलिया, राजकुमारी, इरावती आदि की तो हस्ती ही क्या, किशोरी चंदा, श्यामदुलारी, माधुरी इत्यादि आर्थिक रूप से सम्पन्न नारियाँ भी शोषण से न बच पाईं। पुरुष निर्मित समाज में नारी भला बची भी कैसे रह सकती है।[१८] पर भारतीय नारी तो अमर है। दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विपरीत परिस्थितियों के आँधी-तूफानों में भी पर्वत के समान अड़ी-खड़ी रहने वाली नारी की मूक वेदना का चित्रण करते-करते प्रसाद की लेखनी बल पकड़ती जाती है और उनकी कला में उत्तरोत्तर निखार आता जाता है। पुरुष द्वारा शोषित रहने पर भी उसकी सच्ची सहायिका सिद्ध होने वाली नारी के चित्रण में प्रसाद 'प्रसाद' ही है कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार आदि किसी भी रूप में। तितली और यमुना (तारा) उनके उपन्यासों की अमर नायिकाएँ हैं। इरावती भी अमर वन गई होती यदि उसके सिर पर से उसके स्रष्टा प्रसाद का साया जल्दी न उठ जाता।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

जयशंकर 'प्रसाद' अपने पात्रों के नामों द्वारा उनके चरित्र-चित्रण की प्रणाली का इतना अधिक प्रयोग तो नही करते जितना प्रेमचन्द ने किया है, फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अपने औपन्यासिक पात्रों का नामकरण करते समय उनके सामने भी उन पात्रो के चरित्र के भावी विकास की रूपरेखा अवश्य रही होगी। 'प्रसाद' के अनेक पात्रों के नामों से भी उनके स्वभाव का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है। उनके जिन पात्रों के नामों से उनके चरित्र का परिचय मिलता है, उनमे से अधिकतर नाम साकेतिक हैं जो पात्रों के किसी गुणावगुण विशेष को ध्वनित करते है। कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिन्हे व्यंग्यात्मक कहा जा सकता है। उनके माध्यम से प्रसाद पाखण्डी पात्रो के सामाजिक रूप की खिल्ली उड़ाते हैं।

सांकेतिक नाम

साकेतिक नाम वे है जिनके माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्र की किसी उभरी हुई विशेषता की ओर या उनके जीवन-दर्शन की ओर सकेत करता है। ऐसे पात्रों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनके नामों की सार्थकता स्पष्ट होती जाती है। उनके 'ककाल' की किशोरी अवस्था में प्रौढ़ा होने पर भी मन से सदा किशोरी ही रही। लतिका अपने आरम्भिक जीवन में लता के समान बढ़ती गई और बाद में बाथम नामक एक अग्रेज़ व्यापारी से

---

१८. प्रसाद, 'ककाल', पृ० २७५।
"कोई समाज और धर्म स्त्रियो का नही बहन। सब पुरुषों के है। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर है।"

लिपट गई।[१६] व्रजबाला घण्टी की बोली घण्टी के समान सुरीली थी।[२०] बदन गूजर 'देह का इतना बलिष्ठ[२१] था कि बुड्ढा होने पर भी टाका डालने अकेला चला जाता था'। 'तितली' उपन्यास का इन्द्रदेव इन्द्र के समान ही आर्थिक रूप से सम्पन्न था, और श्यामलाल अपनी काली करतूतों की संख्या बढाता चला जाता था। उनके 'इरावती' उपन्यास की नायिका इरावती हर हाल में मस्त गजगामिनी ही रही। गोस्वामी कृष्णचरण तथा रामनाथ के नाम भी ऐसे हैं जो उनके जीवन-दर्शन को समझने में सहायता देते हैं। कृष्णाचरण ने कृष्ण-भक्तों का निवृत्ति-मार्ग[२२] अपनाया था तो रामनाथ ने राम-भक्तों का प्रवृत्ति-मार्ग।[२३]

व्यंग्यात्मक नाम

प्रसाद का 'कंकाल' दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था पर एक तीखा व्यंग है। यह व्यंग उसके कथानक तथा पात्रों के चरित्र-विकास से ही नहीं, उनके नामों तक से भी ध्वनित होता है। समाज के खोखले आदर्शों की दुहाई देने वाले पात्रों के नाम उनके उस रूप के द्योतक हैं, जो समाज के सामने व्यक्त है और जो उनके यथार्थ रूप से नितान्त भिन्न है। 'कंकाल' के निरंजन को समाज माया-मोह से मुक्त महात्मा के रूप में जानता है पर निरंजन इस बात को भली प्रकार से समझता है कि उसने 'भगवान की ओर से मुँह मोडकर मिट्टी के खिलौनों में मन लगा लिया है।[२४] मंगल देव समाज का मंगल करने के बहाने कइयों का अमगल कर बैठता है—विशेषतः तारा का[२५]। 'तितली' का सुखदेव चौबे ऊपर से तो अपने को लोगों के दुःख-सुख का साथी जताता[२६] है पर वास्तव में वह दूसरों के सुख का ही साथी बनता है, दुःख का नहीं। बीबी माधुरी आँखे तरेरे बिना किसी की ओर देखती नहीं[२७] मधुबन की बहन राजकुमारी जीवन भर अभाव से पीड़ित रहती है।[२८]

ऐसे नामों द्वारा 'प्रसाद' अपने पात्रों के चरित्र की किसी कमजोरी की खिल्ली उड़ाते हैं।

---

१९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १५७।
२०. वही, पृ० २३९।
२१. वही, पृ० १९२।
२२. प्रसाद, 'तितली', पृ० २८३।
२३. वही, पृ० १०१।
२४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६०।
२५. वही, पृ० १०६।
२६. प्रसाद, 'तितली', पृ० ९४।
२७. वही, पृ० ५७।
२८. वही, पृ० ९२।

स्वेच्छापूर्वक नाम-परिवर्तन में चरित्र-विकास

प्रसाद के कई पात्रों का जीवनपर्यन्त एक नाम नही रहा, बल्कि वह उनके जीवन में आये अनेक उत्थान-पतन के साथ समय-समय पर बदलता रहा है। 'कंकाल' के प्रारम्भ की तारा का वेश्या-जीवन का नाम गुलेनार पड़ा और वेश्यालय से निकलते ही वह फिर तारा बन गई और तब तक तारा ही रही जब तक कि उसने मंगल द्वारा तिरस्कृत होने पर नदी में कूदकर आत्महत्या का प्रयत्न नहीं किया। किशोरी के घर में नौकरी कर लेने के बाद वह यमुना बन गई और अत तक उसका नाम यही रहा। इसी प्रकार विजय भी ताँगे वाले उस गुण्डे की हत्या करके भागने के बाद 'नए' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'तितली' उपन्यास के आरम्भ की बंजो बाद में तितली बन जाती है और मधुवा का नाम मधुबन हो जाता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों या परिस्थितियों में पात्रों के नामों का बदलते रहना इतना महत्त्वपूर्ण नही जितना यह है कि उन पात्रो ने अपनी इच्छा से पुराना नाम बदलकर नया नाम ग्रहण किया। पात्रों द्वारा इस प्रकार इच्छानुसार नाम परिवर्तन जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण के परिवर्तन का भी द्योतक हो सकता है। किशोरी के घर में मंगल द्वारा पहचान ली जाने पर यमुना नामधारी तारा कहती है—'तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा हूँ।' और फिर उसे खबरदार करती हुई कहती है: "हमारा इसी में कल्याण है कि एक दूसरे को न पहचानें और न एक-दूसरे की राह में अड़ें।"[२६]

बदन गूजर के यहाँ शरण लेने पर अपना नाम 'नए' रखते ही मानों विजय के नए जीवन का सूत्रपात हुआ। कहा जा सकता है कि विजय ने अपने आप को छिपाने के लिए परिस्थितिवश नाम बदला, पर 'नए' नाम क्यो रखा। 'तितली' का मधुवन भी तो विजय की स्थिति में ही भागा था। उसने अपना नाम क्यों न बदल लिया; कदाचित् इसलिए कि सब कुछ झेलने पर भी जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण नही बदलता था। 'तितली' के मधुवा और बंजों ने एक राय होकर ही अपना नाम बदलकर मधुबन और तितली रखा था और इस नाम परिवर्तन के साथ ही उन दोनों का एक-दूसरे के प्रति दृष्टिकोण भी बदल गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद ने पात्रों के जीवन में हुए प्रधान परिवर्तनों का महत्त्व स्थापित करने के लिए पात्रों द्वारा नाम-परिवर्तन की प्रणाली को अपनाया जो हिन्दी-साहित्य में उस समय सर्वथा मौलिक थी।

पात्रों का प्रथम परिचय

वैसे तो जयशंकर 'प्रसाद' भी प्रेमचन्द के समान सभी प्रमुख पात्रों का प्रवेश उपन्यास के आरम्भ में ही करा देते हैं, पर पात्रों का प्रथम परिचय कराने का उनका

---

२६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८८।

ढंग कुछ ऐसा है कि कभी यह नहीं प्रतीत होता कि लेखक उनका परिचय कराने भर के लिए उन्हें उपन्यास के रंगमंच पर लाया हो। उनके पात्र उपन्यास में तभी प्रकट होते हैं जब उनके करने के लिए कोई आवश्यक काम होता है। लेखक उपन्यास के आरम्भ में ही कोई ऐसी घटना घटित करा देता है, जिसमें उन सब की उपस्थिति आवश्यक और स्वाभाविक हो जाती है। 'तितली' में शिकार खेलने और गुरुदेव चौबे का घुटना टूटने की घटना द्वारा वह रामनाथ, तितली, मधुबन, इन्द्रदेव, शैला, सुखदेव चौबे आदि प्रमुख पात्रों को बड़े स्वाभाविक ढंग से पाठकों के सामने ले आता है। 'इरावती' के भी प्रारम्भ में ही महाकाल के मन्दिर वाले उत्सव में इरावती, अग्निमित्र, बृहस्पतिमित्र, ब्रह्मचारी आदि प्रधान पात्रों को एक स्थान पर इकट्ठा करके उनका परिचय करा देता है। 'कंकाल' में भी वह उपन्यास के प्रथम दो परिच्छेदों में ही श्रीचन्द, किशोरी, निरंजन, मंगल, तारा, विजय आदि मुख्य पात्रों का परिचय करा देता है, यद्यपि घण्टी बाथम, लतिका, बदन गूजर, गाला आदि का प्रवेश विजय के जीवन-विकास के विभिन्न मोड़ों पर होता है।

संक्षिप्त एवं कलात्मक परिचय

अपने उपन्यासों के गौण पात्रों का तो प्रथम परिचय प्रसाद भी वर्णनात्मक शैली द्वारा ही कराते हैं और उन्हें उपन्यास के रंगमंच पर लाते समय उनकी आकृति, वेशभूषा तथा कभी-कभी पूर्वी इतिहास का भी परिचय करा देते हैं। पर बहुधा वह संक्षिप्त और कलात्मक होता है।

घण्टी को प्रसाद इस वाक्य के साथ उपन्यास में लाते हैं. "इतने में एक सुन्दर रमणी बालिका अपना हँसता हुआ मुख लिये भीतर आते ही बोली"।[३०] "बदन गूजर······ गाला का सत्तर बरस का बूढ़ा पिता है"[३१] ······ "गाला की वयस यद्यपि बीस के ऊपर है, फिर भी कौमार्य के प्रभाव से वह किशोरी ही जान पड़ती है"।[३२] पात्रों की आकृति और वेश-भूषा के बारे में भी वह विस्तार से न बताकर कला की कूची से छू भर देते हैं। बनारसी साड़ी का आँचल कन्धे पर से पीठ की ओर लटकाए, हाथ में छोटा-सा बैग लिये एक सुन्दरी के[३३] रूप में अनवरी के प्रथम दर्शन होते हैं। लतिका भी उपन्यास में सर्वप्रथम एक सफेद रेशमी धोती पहने आती है।

पात्रों के रंगरूप का वर्णन करते हुए प्रसाद उनके नखशिख के यथातथ्य वर्णन की ओर न प्रवृत्त होकर कवि-कल्पना और आलंकारिक भाषा का सहारा लेते

३०. प्रसाद, 'कंकाल,' पृ० १०१।
३१. वही, पृ० १९१।
३२. वही, पृ० १९१।
३३. वही, पृ० २८।

हुए उन्हे पाठक की कल्पना में साकार कर देता है। तारा के प्रथम प्रवेश पर उसके रंगरूप का वर्णन : "तारा सुन्दरी थी। होनहार सौन्दर्य उसके प्रत्येक अंग में छिपा था। वह युवती हो चली थी। परन्तु अनाघ्रात कुसुम के रूप की पंखुरियाँ विकसी थी"।[३४] घण्टी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते ···वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती···कभी अँगड़ाई लेती और कभी उँगलियाँ चटकाती।[३५] 'कंकाल'[३६] में बाथम, लतिका, गाला, बदन गूजर का ; 'तितली'[३७] में श्यामदुलारी, अनवरी, महंत का; 'इरावती'[३८] में अग्निमित्र आदि का प्रथम परिचय इसी प्रकार का है।

पर 'प्रसाद' अपने पात्रों तथा पाठको के बीच अधिक देर तक नहीं अड़े रहते, यहाँ तक कि पात्रो का परिचय कराते समय भी वह अपनी ओर से यथासम्भव कम ही कहते हैं। बहुधा वह वर्णनात्मक शैली को त्यागकर नाटकीय शैली को अपना लेते है। और बिना किसी भूमिका के अपने पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर ला खड़ा करते हैं। उपन्यास का प्रथम या दूसरा परिच्छेद खुलते ही उनके पात्र किसी परि-स्थिति विशेष में उलझे हुए दिखाई देते हैं। लेखक उनके बारे मे कुछ भी नहीं कहता, प्रत्युत् उन्हें स्वयं अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा पाठकों पर धीरे-धीरे खुलने देता है।

पात्रों का औत्यसुक्यवर्द्धक प्रवेश

'प्रसाद' अपने उपन्यासों के पात्रो का प्रवेश एकदम नही करा देते, प्रत्युत् उन्हें उपन्यास के पन्नो पर धीरे-धीरे इस प्रकार उभारते चले जाते है कि उनके प्रति पाठकों की उत्सुकता उत्तरोत्तर जागृत होती जाती है और साथ ही उनकी प्रथम भेंट भी अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव बन जाती है। उनके पात्रों की कभी तो पहले आवाज सुनाई देनी है, फिर उनकी छाया मूर्ति दिखाई देती है और ज्यों-ज्यों वह पास आती जाती है त्यों-त्यों क्रमशः उनकी आकृति वेशभूषा, रंगरूप, नख-शिख आदि स्पष्ट होते जाते हैं। तितली में सुखदेव चौबे और शैला का प्रथम प्रवेश इसी प्रकार से कराया गया है। पहले रात के अँधेरे में चौबे की कराहट कान में पड़ती है' ; "हाय राम इन काँटों में कहां आ फँसा।" और फिर शैला का 'बड़ा मधुर शब्द' "चौबेजी आप कहाँ है ?" फिर झाड़ियों के रौदे जाने का शब्द होता है और दो व्यक्तियों का बातें करते हुए थोड़ी दूर तक चलना, फिर जोर से धमाका और

---

३४ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१।
३५. वही, पृ० १०२।
३६. प्रसाद, 'कंकाल', १२१, १६१, १६२।
३७. प्रसाद, 'तितली', पृ० ३१, २८, १६०।
३८. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ६।

रमणी की चिल्लाहट। इनके आकार-प्रकार, रंग-रूप का तब तक ज़रा भी पता नहीं चलता जब तक कि वे रामनाथ की कुटिया के दिये के प्रकाश में नहीं आ जाते।[३९] इसलिए उनके पात्रों की प्रथम भेंट एक ही स्थान पर कई पन्नों में बिखरी रहती है। किशोरी का परिचय ७ पृष्ठों तक में फैला हुआ है।

अपने पात्रों का नाम भी प्रसाद प्राय. स्वयं नहीं बताते बल्कि पात्रों की पारस्परिक बातचीत में वह स्वयं प्रकट हो जाता है। चौबे के नाम का पता शैला के इस वाक्य से चलता है 'चौबेजी आप कहाँ हैं ?' शैला के नाम का परिचय हमें इन्द्रदेव की 'शैला ! शैला' !! की पुकार से मिलता है। बहुधा यह देखा गया है कि प्रसाद पात्रों का नाम बहुत देर बाद बताते हैं। रामनाथ का प्रवेश उपन्यास के सातवें पृष्ठ पर हो जाता है, पर उसका नाम पहली बार ३९वें पृष्ठ पर मिलता है।

पात्रों के प्रारम्भिक वार्तालाप और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा प्रसाद अपने पात्रों के चारित्रिक गुणावगुणों को तो प्रकाश में लाते ही हैं, साथ ही प्रथम भेंट के समय उन पात्रों के दूसरों पर पड़े प्रभाव का चित्रण करके वह उनके व्यक्तित्व की एक 'ऑब्जेक्टिव' झाँकी दे देते हैं। बृहस्पतिमित्र का परिचय कराते हुए--'रथी का डील-डौल साधारण था पर उसका प्रभाव असाधारण। उनके समीप से लोग हट जाते। ......नागरिकों का एक झुण्ड भी चला आ रहा था। किन्तु जाने क्यों उस रथी पर दृष्टि जाते ही जैसे सब सशंक हो जाते हैं, पथ छोड़ देते।'[४०] इसी प्रकार शैला के रूप सौन्दर्य का चित्रण स्वयं करने की अपेक्षा वह यह बता देते हैं कि प्रथम भेंट में रामनाथ, तितली, अनवरी आदि अन्य पात्रों को वह कैसे लगी।

वर्णनात्मक शैली

जयशंकर प्रसाद की औपन्यासिक शैली प्रधानतया नाटकीय रही है। पर कोई भी उपन्यासकार कोरी नाटकीय शैली से काम नहीं चला सकता; उसे वर्णनात्मक शैली का न्यूनाधिक सहारा लेना ही पड़ता है। प्रसाद ने भी यत्र-तत्र वर्णनात्मकता से काम लिया है, पर उनके वर्णनात्मक स्थलों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस शैली में उनकी विशेष रुचि नहीं। प्रायः उपन्यासकार पात्रों का प्रथम परिचय कराते समय, उनके नाम-धाम-काम का, उनके स्वभाव की कुछ-एक उभरी हुई विशेषताओं का तथा तत्पश्चात् उनके पूर्व-जीवन का परिचय कराते समय वर्णनात्मक शैली को अपनाया करता है, पर प्रसाद बहुधा इनके चित्रण के लिए भी, अपनी ओर से कुछ न कहकर पात्र के अपने मुख से या अन्य पात्रों से उनके कथोपकथन के बीच व्यक्त कराते हैं। फिर भी स्थिति का चित्रण करने के लिए, उस स्थिति में पड़े पात्रों की वेशभूषा, नखशिख तथा अनुभाव, भ्रूभंगिमा आदि के वर्णन के लिए और

---

३९. प्रसाद, 'तितली', पृ० १६।
४०. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १०।

उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के अंकन के लिए प्रसाद को वर्णनात्मक शैली से काम लेना पड़ा।

स्थित्यंकन

संक्षिप्त वर्णन

प्रसाद स्थिति का चित्रण उतने विस्तार से नही करते जितने विस्तार से प्रेमचन्द किया करते हैं। वह परिस्थिति-चित्रण में अधिक न उलझकर उसमें हो रही पात्रों की व्यक्ताव्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अंकन की ओर तेजी से बढ़ते हैं। 'कंकाल' के आरम्भ में ही कुम्भ के मेले में माता-पिता से बिछुड़ी तारा का घबड़ा कर इधर-उधर देखना और उसकी छलछलाती आँखें और छलकते हुए यौवन को देखकर एक कुटनी का उसके पास पहुँचकर उसकी संरक्षिका बन जाना आदि समस्त घटना का वर्णन पृष्ठ भर में करके लेखक उस स्थिति में व्यक्त मंगल की प्रतिक्रिया के अंकन की ओर बढ़ता है : "स्वयं सेवक मंगल चुप रहा, युवक बालक एक युवती बालिका के लिए हठ न कर सका। वह दूसरी ओर चला गया।[४१] उससे पहले किशोरी के गर्भवती होकर श्रीचन्द के साथ चले जाने की घटना का वर्णन सार रूप में केवल छ:-सात पंक्तियों में ही करते हुए वह बता देते हैं कि "देव निरंजन को समझा-बुझाकर फिर आने की प्रतिज्ञा करके किशोरी पति के साथ चली गई।"[४२]

किसी-किसी घटना की उनकी भूमिका इतनी संक्षिप्त होती है कि मानों वह किसी नाटकीय दृश्य का पूर्व संकेत हो। कुक्कुटाराम के भिक्षुणी विहार में इरावती की कठोर मानसिक यातनाओ का, हृदय से प्रेम की भावना के उन्मूलन के लिए उसे बाध्य किये जाने का चित्रण भी वे नाटकीय ढंग से, इरावती और दो नई शिक्षमा-णाओं के बीच संवाद कराकर करते हैं और उस संवाद से पहले नाटकीय संकेत के रूप में ये तीन वाक्य जोड़ देते हैं : "कुक्कुटाराम के भिक्षुणी-विहार के प्राचीर से सटे हुए एक लम्बे चक्रम पर, द्वार के भीतर से तीन भिक्षुणियाँ आ रही हैं। सूर्यास्त हो चला है। हल्का अंधकार फैलना ही चाहता है। उनमें आगे है इरावती, उसके साथ सम्भवत: दो नई शिक्षमाणा हैं"।[४३] इन वाक्यों में वर्तमानकालिक क्रियाओं का वैसा ही प्रयोग हुआ है, जैसा नाटकीय संकेतों में हुआ करता है। अगले वाक्य में ही प्रसाद संवाद आरम्भ कराते हुए क्रिया-रूप बदलकर भूतकालिक कर देते हैं : 'इरावती ने पूछा'।

---

४१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१।

४२. वही, पृ० २०।

४३. प्रसाद, 'इरावती', ततीय संस्करण, पृ० ३७।

व्यंजनात्मक चित्रण

प्रेमचन्द पहले स्थिति का क्रमबद्ध पूर्ण परिचय करा देते हैं और फिर उसमें पात्रों को डालते हैं, पर प्रसाद बहुधा ऐसा नहीं करते। वह स्थिति का समूचा चित्रण एक साथ न करके उसे धीरे-धीरे उसी क्रम से खोलते जाते हैं, जैसे-जैसे वह स्वयं पात्रों पर खुलती जाती है। इस प्रकार, पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर लाये बिना उसके चित्रपट के कोरे चित्रण में नीरसता की जो संभावना रहती है, वह प्रसाद के उपन्यासों में नहीं मिलती। प्रेमचन्द की तरह वह खाली औपन्यासिक रंगमंच पर स्वयं अकेले सूत्रधार का अभिनय नहीं करते रहते, प्रत्युत् पाठकों को प्रतीक्षा में रखे बिना मंच पर पात्रों का प्रवेश करा देते हैं और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ स्थिति की गम्भीरता की ओर भी संकेत करते चलते हैं। इसी कारण उनका स्थिति चित्रण कई पन्नों तक बिखरा रहता है। 'तितली' के आरम्भ में चौबे का घुटना टूटने वाली घटना में वह स्थिति का चित्रण कई पन्नों तक बीच-बीच में सूत्र-शैली द्वारा व्यंजित कराते चलते हैं। 'सन्ध्या गाँव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी...' बंजो दीप जलाने लगी......उस दरिद्र कुटीर के[44]......धांय धांय दो (का शब्द)। गंगातट के धड़ाके से मुखरित हो गया...वहाँ एक घिरा हुआ मैदान था[45]...... झाड़ियों के रौंदे जाने का शब्द हुआ......अंधकार के साथ-साथ सर्दी बढ़ने लगी।" प्रसाद के 'इरावती' उपन्यास का तो आरम्भ भी बिना किसी भूमिका के हुआ है। उपन्यास के खुलते ही पाठक अग्निमित्र को (जिसके नाम का बहुत बाद में पता चलता है) रंगमंच पर पाता है। बाद में पात्रों की बातचीत से संकेत मिलता है कि वह महाकाल के मंदिर में जा रहा है।[46] फिर केवल आध पृष्ठ[47] में स्थिति का प्रारम्भिक परिचय देकर उसमें पात्रों को डाल देते हैं और स्वयं मौन ग्रहण कर लेते हैं। तत्पश्चात् स्थिति के विकास का ज्ञान लेखक के वर्णन से नहीं, पात्रों के अनुभाव, भ्रू-भंगिमा तथा क्रिया-प्रतिक्रिया से ही हो पाता है।

प्रसाद ने जहाँ कहीं क्रमबद्ध वर्णन किया है, वहाँ भी वे वर्णन लम्बे न होकर पात्रों की प्रतिक्रिया के अंकन की ओर तीव्रगति से बढ़ते हैं, क्योंकि प्रसाद घटनाओं का निर्माण परिस्थितियों के चित्रण के लिए कम और विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों की प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति द्वारा उनकी शक्याशक्यता दिखाने के लिए अधिक करते हैं।

---

४४. प्रसाद, 'तितली', पृ० ६।
४५. वही, पृ० १०-१२।
४६. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ६।
४७. वही, पृ० १०।

आकृति-वेषभूषा-चित्रण

उपन्यास में पात्रों का आकृति वेशभूषा वर्णन, रीतिकालीन कवियो के नखशिख-वर्णन की भाँति कविरूढ़ियो के आधार पर तो नहीं होता, पर इस उद्देश्य से कि पाठकों की कल्पना में औपन्यासिक पात्र साकार होकर नाच उठें, उपन्यासकार के लिए उनकी आकृति, वेशभूषा, नखशिख आदि का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। जयशकर प्रसाद भी समय-समय पर अपने पात्रो की आकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल आदि का वर्णन करते रहते है, पर वह पात्रो के नखशिख के ब्योरेवार वर्णन में न उलझकर उनके अग-प्रत्यगों के, उनके व्यक्तित्व के, समसामूहिक[४८] प्रभाव के अंकन की ओर अधिक प्रवृत्त होते है। कंकाल के देवनिरंजन के प्रथम दर्शन से ही पाठक उसके व्यक्तित्व की महानता स्वीकार कर लेता है। एक विशिष्ट आसन पर एक बीस वर्ष का युवक हल्के रंग का काषयवस्त्र अ ग पर डाले बैठा था। जटाजूट नहीं था, कन्धे तक बाल बिखरे थे। आँखें संयम के मद से भरी थी। पुष्ट भुजाएँ और तेजोमय[४९] मुखमंडल से आकृति बडी प्रभावशालिनी थी।[५०] तितली में तहसीलदार का नखशिख वर्णन यदि अपेक्षाकृत विस्तार से मिलता है तो ऐसा उसकी कुटिलता को मुखरित करने के लिए ही हुआ है।[५१]

रूप सौन्दर्य का काव्यात्मक चित्रण

नारी पात्रों के रूप सौन्दर्य का चित्रण करते समय प्रसाद का कवि सजग हो उठता है और वह उन पात्रों के अग-प्रत्यंगों की सुघडता का ब्योरेवार वर्णन न करके कुशल चित्रकार के समान कल्पना की कूची से दो-चार बार छूकर ही अनुपम मुख-रेखाएँ उभार देते हैं। इतना ही नही, कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों लेखक अपनी उस रचना की रूप माधुरी पर स्वयं मुग्ध होकर एकाएक उस छवि को निहारने के लिए रुक गया है, और उसी मस्ती में प्रकृति से उपमाएँ बटोरने लगा है। मधुबन की बहन राजकुमारी की आँखो में तितली की मोहिनी

४८. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ४३।

"सबेरे उठते समय तारा ने मुस्कराते हुए पलॅग पर बैठकर दोनों हाथ सिर से लगाते हुए कहा—नमस्कार!

मगल ने देखा—कविता मे वर्णित नायिका जैसे प्रभात की शय्या पर बैठी है।"

४९. प्रसाद, 'कामायनी, चिता सर्ग में ध्यानमग्न मनु का चित्रण :

"अवयव की दृढ मास-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें संचार।"

५०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १०।

५१. प्रसाद, 'तितली', पृ० १२६।

मूर्ति गढ़ गई : 'उसकी काली रजनी सी उनींदी आँखें, लम्बा छरहरा शरीर, गोरी-पतली उँगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिंची हुई भौंएँ और छोटा-सा पतले अधरों वाला मुख, कानों के ऊपर से ही घुँघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थीं। उस की चौड़े किनारे की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था। वह सन्ध्या के निरभ्र गगन में विकसित होने वाली अपने ही मधुर आलोक से संतुष्ट एक छोटी सी तारिका थी।"[५२]

कई बार[५३] तो प्रसाद पात्र के अनाकर्षक परिधान की अवहेलना करके सीधे उसके खिलते हुए यौवन को आँखों में भर लेना चाहते हैं, गाला की माँ की आत्मकथा के मिर्जा के रूप में : "शबनम वस्त्र सँवारने लगी - आभूषणों में दो-चार काँच की चूड़ियाँ और नाक में नथ। मिर्जा ने देखा बालिका की वेषभूषा में कोई विशेषता नहीं, परन्तु परिष्कार था। उसके पास कुछ नहीं था वसन, अलंकार या भादों की भरी नदी-सा यौवन। कुछ नहीं, थी केवल दो-तीन कलामयी मुख-रेखाएँ...जो आगामी सौंदर्य की बाह्य रेखाएँ थी।[५४] अग्निमित्र को फाँसने में प्रयत्नशील 'इरावती' की कामुक कालिंदी की यह मुद्रा भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है : "चकित और सशंकित अग्निमित्र ने भीतर जाकर देखा : सुन्दर शय्या पर आधी लेटी हुई सुन्दरी जिसके रत्नालंकारों की प्रभा से आँखें झलमलाने लगी··· शिष्टाचारवश आँखें जमाकर वह उस सुन्दर मुख को देखता भी न था।"[५५]

विविध वेशभूषा में चरित्र-विकास के मोड़

किसी व्यक्ति की आकृति, वेशभूषा और उसकी प्रभावोत्पादकता सदा एक सी नहीं बनी रहती। जीवन की विभिन्न स्थितियों में मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है। प्रेमचन्द के से कई उपन्यासकार अपने पात्रों की 'हुलिया-नवीसी' प्राय: एक बार ही कर देते हैं और वह भी उपन्यास में उनके प्रथम प्रवेश के समय उससे उपन्यास के अन्त तक पाठकों की कल्पना में पात्रों का वही एक रूप बना रहता है। पर प्रसाद एक ही बार किसी पात्र की आकृति और वेशभूषा का परिचय देकर बस नहीं कर देते, प्रत्युत् जीवन के विभिन्न मोड़ों पर उनके पहनावे और रंगरूप के वर्णन में उनकी मानसिक अवस्था को व्यजित करते रहते हैं। 'कंकाल'[५६]

---

५२. प्रसाद, 'कामायनी', काम सर्ग :
"माधवी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा-सी।"

५३. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २०१, ९० ।

५४. वही, २०१ ।

५५. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ५१ ।

५६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१ ।

की नायिका तारा (यमुना) का उपन्यास में प्रवेश एक तरुणी के रूप में होता है : "तारा सुन्दरी थी। होनहार सौन्दर्य उसके प्रत्येक अंग में छिपा था। वह युवती हो चली थी परन्तु अनाघ्रात कुसुम के रूप की पंखुरियाँ विकसी न थी।" वेश्यालय में कुटनी के चुंगल में फँसे हुए उसे मंगल ने जिसरूप में देखा वह इससे भिन्न ही था : "एक षोडशी युवती सजे हुए कमरे में बैठी थी। पहाड़ी रूखा सौन्दर्य उसके गेहुएँ रंग में ओत-प्रोत है···बीच में मिली हुई भौहो के नीचे न जाने कितना अंधकार खेल रहा था। सहज नुकीली नाक···नीचे सिर किए हुए उसने जब इन लोगों को देखा··· उसकी बड़ी-बड़ी आँखों के कोने और भी खिंचे हुए जान पड़े। घने काले बालों के गुच्छे दोनों कानो के पास के कधो पर लटक रहे थे।...बाँए कपोल पर तिल...।"[५७]

वही तारा जब नदी में कूदकर आत्महत्या करने के लिए चली जा रही थी तब : "फटी धोती उसके अंग पर लटक रही थी। बाल बिखरे थे। बदन विकृत, भय का नाम नहीं। जैसे कोई यंत्रचालित शव चल रहा है।"[५८] अस्पताल की चारपाई पर पड़ी, प्रसव-वेदना से पीड़ित तारा की अवस्था शोचनीय थी : "उसका पीला मुख, धँसी हुई आँखें, करुणा की चित्रपटी बन रही थी।"[५९] किशोरी के साथ पहाड़ी यात्रा कर रही यमुना रूपी तारा विजय को बहुत सुन्दर लगी : "किशोरी ने उसे हठ करके गुलेनार की ओढ़नी दी थी। पसीने से लगकर उस रंग ने यमुना के मुख पर अपने चिन्ह बना दिए थे। वह बड़ी सुन्दर रंगसाजी थी···इस समय विलक्षण आकर्षण उसके मुख पर था।"[६०] जीवन की कठोर यातनाओ ने उसे कई रंग दिखाए और जीवन के प्रति उसे एकदम निराश कर दिया : "आलोक प्राथिनी यमुना (तारा) अपनी कुटीर में दीपक बुझाकर बैठी रही। उसे आशा थी कि वातायन और द्वारों से राशि-राशि प्रभात का धवल आनन्द उसके प्रकोष्ठ में भर जाएगा। पर जब समय आया, किरने फूटी, तो उसने अपने वातायनों झरोखों और द्वारों को रुद्ध कर दिया। वह चुपचाप पडी थी। उसके जीवन की अनन्त रजनी उसके चारों ओर घिरी थी।[६१] विजय के शव के पास बैठी तारा का अन्तिम रूप कितना करुणापूर्ण है : "मंगल ने देखा···एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उस का घूँघट आँसुओं से भीग गया है।"[६२]

प्रसाद ने यमुना (तारा) की ही विभिन्न झाँकियाँ नहीं दिखाई, प्रत्युत् तितली, इरावती, किशोरी, घंटी, मंगलदेव, निरंजनदेव, मधुवन, इन्द्रदेव,

---

५७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २४।
५८. वही, पृ० ५८।
५९. वही, पृ० ५९।
६०. वही, पृ० ९३।
६१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २७४।
६२. वही, पृ० २९९।

[illegible] आदि सभी पात्रों की मनन-मुद्रा के चित्रों द्वारा उनकी भिन्न भिन्न स्थितियों को ध्वनित किया है।[६३]

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति का चित्रण करते हुए जयशंकर प्रसाद उस बारे में तनिक भी संकेत नहीं करते कि उसमें पड़कर उनके पात्र या पात्रों की कैसी प्रतिक्रिया होगी। वह स्थिति का ब्योरेवार वर्णन नहीं करते, उसकी संक्षिप्त-सी भूमिका बाँधकर उसमें पात्रों को ला डालते हैं और धीरे-धीरे उन पर उसकी परिस्थिति को खोलते जाते हैं और उनकी मुखाकृति तथा अंग-प्रत्यंगों में होने वाले प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन के चित्रण द्वारा यह व्यक्त करते जाते हैं कि पात्र ने उस स्थिति को किस रूप में ग्रहण किया है, अर्थात् उस स्थिति का पात्र पर कैसा प्रभाव पड़ा है। पात्र के किसी स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और उसके प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले उसकी मनोस्थिति, उसमें हो रही हलचल को वह उसकी अंगभंगिमा, मुखमुद्राओं तथा उसकी अन्य कायिक चेष्टाओं के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त करते रहते हैं।

कायिक मुद्राएँ

'तितली' की अंग्रेज ललना शैला से प्रथम भेंट की प्रतीक्षा में माधुरी और अनवरी श्यामदुलारी के पास बैठी थी। बाहर पैरों का शब्द सुनाई पड़ते ही उनको जो घबराहट हुई, उसके वर्णन के लिए प्रसाद अपनी ओर से कुछ नहीं कहते। उन तीनों की मुद्राओं में जो भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ उसके चित्रण द्वारा ही वह उनकी घबराहट की सफल अभिव्यक्ति कर देते हैं: "तीनों स्त्रियाँ सजग हो गईं। माधुरी अपनी साड़ी का किनारा सँवारने लगी। अनवरी एक उँगली से कान के पास के बालों को ऊपर उठाने लगी, और श्यामदुलारी थोड़ा खाँसने लगी।"[६४] यहाँ प्रसाद घबराहट का नाम लिये बिना उसे व्यंजित करा देते हैं।

प्रसाद के वर्णन संक्षिप्त भले ही हों, उनमें एक सफल कवि की मूर्तिमत्ता की कमी नहीं। वह अपने पात्रों को उपन्यास के शुष्क पन्नों से उभारकर पाठकों के सामने साकार खड़ा कर देते हैं। उक्त प्रसंग में शैला और चौबे के साथ भीतर आये इन्द्रदेव के अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देते हुए श्यामदुलारी ने देखा कि 'वह गोरी मेम भी दोनों हाथों की पतली उँगलियों में बनारसी साड़ी का सुनहला

---

६३. उदाहरणार्थ—

घण्टी—'कंकाल', पृ० १०२, २३३।

तितली—'तितली', पृ० ७, ९०, १६७, २१६।

६४. प्रसाद, 'तितली', पृ० ४४।

आँचल दबाए नमस्कार कर रही है।'[६५] शैला की विनीत मुद्रा से श्यामदुलारी पिघल गई।

जब शैला मधुबन के बाप-दादों की डीह शेरकोट को बचाने के लिए इन्द्रदेव से सिफारिश कर रही थी तो पास बैठी अनवरी ने शैला के प्रति इन्द्रदेव के मन में सन्देह के बीज बोने के लिए जब शैला से यह कहकर—'मधुबन। हाँ, वही न, जो उसने रात को आपके साथ था'...उस पर तो आपको दया करनी ही चाहिए'—[६६] इन्ददेव की ओर भेद भरी दृष्टि से देखा, इन्द्रदेव को कितना जबरदस्त धक्का लगा होगा, इसका चित्रण प्रसाद अपनी ओर से कुछ कहे बिना केवल एक वाक्य में कर देते हैं : 'इन्द्रदेव कुर्सी छोड़ उठ खडे हुए।'[६७] इन्द्रदेव को लगी इस चोट को शैला ने भी भाँप लिया, जिसे प्रसाद ने शैला की निराश दृष्टि की ओर संकेत करके व्यक्त[६८] कर दिया।

अनुभावों द्वारा प्रतिक्रिया की पूर्व सूचना

पात्रों के परिसम्वाद में प्रसाद उनके कथोपकथन की ओर ही ध्यान नही देते, उनकी मुख-मुद्राओं के प्रत्येक परिवर्तन, उनके अग-प्रत्यंगों के प्रत्येक संचालन तथा उनकी प्रत्येक यत्नज तथा अयत्नज चेष्टा का अकन भी करते जाते हैं, क्योकि इनके अभाव में कथोपकथनो का ठीक-ठीक मूल्याकन कर सकना प्राय. असम्भव होता है। पात्रो के अनुभावो से उनकी भावी प्रतिक्रिया के बारे में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यमुना को देव-गृह से बाहर निकाल देने की बात को लेकर विजय और निरजन में जो खटपट हुई, उसमें निरंजन के विजय को सहसा 'नास्तिक ! हट जा' कहते ही विजय की कनपटी लाल हो गई, बरौनियाँ तन गई।[६९] पूर्व इसके कि उसकी उग्र प्रतिक्रिया प्रकट होती मगल स्थिति को भाँप कर विजय को वहाँ से खीचकर ले गया। इसी प्रकार मंगल के साथ गाड़ी में यात्रा करती हुई तारा को पहचानकर उसके पिता के मुँह का रंग घृणा और क्रोध से बदल गया : 'यात्री का (उसका) दम्भ उसके अधरों में स्फुरित हो रहा था।[७०] 'इरावती' में महाकाल के मन्दिर में बृहस्पतिमित्र के हस्तक्षेप के विरुद्ध ब्रह्मचारी अपनी पूर्ण मनुष्यता में तनकर खडा हो गया।[७१] और बृहस्पतिमित्र उसकी ओर देखने का

६५. प्रसाद, 'तितली', ५वाँ संस्करण, पृ० ४४।
६६. वही, पृ० ८५।
६७. वही, पृ० ८५।
६८. वही, पृ० ५८।
६९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७८।
७०. वही, पृ० ३६।
७१. प्रसाद, 'इरावती', पृ० २२।

साहग छोड़[७२] ऐंठा हुआ उद्धत भाव से दूसरी ओर देख रहा था।[७३] खारवेल के दूत के मुख से स्वर्ण की जिन मुर्ति की माँग सुनकर सम्राट वृहस्पति की 'भवे तनी, नथूने फड़के और वह तनिक संभल कर बैठ गए।'[७४]

साँकेतिक वर्णन

वर्णन में व्यंजकता

प्रसाद थे कवि, कम से कम शब्दों द्वारा गूढातिगूढ अर्थ को व्यंजित करने में सिद्धहस्त। उनकी यह प्रवृत्ति उनके उपन्यासों में भी लक्षित होती है। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थलों की कमी नहीं, जहाँ वे शब्दों की अभिधा शक्ति से काम न लेकर उनकी व्यंजना शक्ति से काम लेते हैं। ऐसे स्थलों पर अभिव्यक्ति में रमणीयता तो आ ही जाती है, साथ में वर्णनों में शालीनता भी आ जाती है और वे अश्लीलता के दोष से बच जाते हैं। 'तितली' में राजकुमारी के प्रथम परिचय के समय उनका वर्णन करते हुए वह कहते हैं: "उस स्त्री के अंग पर कोई आभूषण न था, और न तो कोई सधवा का चिह्न। था केवल उज्ज्वलता का पवित्र तेज, जो उसकी मोटी सी धोती के बाहर भी प्रकट था।'[७५] यहां 'उज्ज्वलता का पवित्र तेज' द्वारा लेखक उसके चरित्र की उज्ज्वलता को व्यंजित कर देता है। निरंजन को किशोरी के शरीर-समर्पण का वर्णन भी वह सांकेतिक ढंग से कर देता है: 'दुर्बल हृदय किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वक्ष पर अपना सिर टेक दिया।'[७६] 'किशोरी का मनोरथ पूर्ण हुआ,'[७७] कह कर वह उसकी गर्भावस्था की ओर संकेत कर देते हैं। तारा और मंगल के शारीरिक मिलन का वर्णन लेखक इस प्रकार करता है: 'सहसा मंगल ने उसी प्रकार सपने में बर्राते हुए कहा---मेरी तारा, प्यारी तारा आओ। उसके दोनों हाथ उठ रहे थे कि आँख बन्द कर तारा ने अपने को मंगल के अंक में डाल दिया······प्रभात हुआ······जंगले से पहली लाल किरणें तारा के कपोल पर पड़ रही थी। मंगल ने उसे चूम लिया। तारा जाग पड़ी, वह लजाती हुई मुस्कराने लगी। दोनों का मन हलका था।'[७८] 'दोनों का मन हलका था' द्वारा व्यंजित अर्थ इन शब्दों के अभिधार्थ से बहुत परे है। मंगल के उसे अकेली छोड़ भाग जाने पर तारा स्वगत कहती है—मंगल! भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शय्या

७२. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १२

७३. वही, पृ० १२।

७४. वही, पृ० २६।

७५. प्रसाद, 'तितली', ५वां संस्करण, पृ० ५२।

७६. प्रसाद, 'कंकाल', ७वां संस्करण, पृ० २०।

७७. वही, ,, पृ० २०।

७८. प्रसाद, 'कंकाल', ७वां संस्करण, पृ० ४६।

पवित्र है ।[७६] यहाँ 'शय्या की पवित्रता' की बात कहकर वह अपने गर्भ को मंगल का ही घोषित करती है ।

क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

आवेगज आचरण

सामान्य स्थिति में व्यक्त होने वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण भी प्रसाद सीधी वर्णनात्मक शैली में न करके उन्हें नाटकीय शैली में व्यक्त करते हैं । वर्णनात्मक शैली का प्रयोग वह तभी करते हैं जबकि पात्र कुछ बोल न पाते हों और उन स्थलो पर उनसे वार्तालाप करा देना अस्वाभाविक हो : जैसे पात्रों का ऐसा आवेगज आचरण जिसमें उनकी कायिक चेष्टाएँ ही व्यक्त हुई हों ।

'कंकाल' में विजय के घोड़े के बिदकने वाली घटना, जिसमें उसकी मंगल से प्रथम भेंट हुई थी, का आरम्भ तो प्रसाद नाटकीय शैली में कर देते हैं—"विजय ही तो है—"एक ने कहा—"घोड़ा उनके वश में नही है, अभी गिरना ही चाहता है'—दूसरे विद्यार्थी ने कहा ।" पर ज्यों ही स्थिति गम्भीर हो गई और किसी को बोलने के लिए कोई स्थान न रहा, वर्णनात्मक शैली को अपनाने के सिवाय उनके पास कोई चारा नहीं रहता : 'पवन से विजय के बाल बिखर रहे थे, उसका मुख भय से विवर्ण था । उसे अपने गिर जाने की निश्चित आशका थी । सहसा एक युवक दौड़ता हुआ आगे बढ़ा—बड़ी तत्परता से घोड़े की लगाम पकड़कर उसके नथुने पर उसने सबल घूँसा मारा और दूसरे क्षण वह उच्छृंखल अश्व सीधा होकर खडा हो गया··· यह एक सिनेमा का दृश्य था ।'[८०] यहाँ मंगल की आवेगज प्रतिक्रिया प्रकट होने से पहले का वर्णन नाटकीय शैली में करने का मोह प्रसाद सवरण नही कर सके हैं और दो विद्यार्थियों को सामने लाकर उनमें कथोपकथन करा देते हैं, यद्यपि वह वार्तालाप दो वाक्यो से अधिक नहीं बढ़ सकी है ।

नाटकीय प्रणाली के प्रति मोह

पात्रों की ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण जो आवेगज न होकर उनकी सूझ-बूझ का परिणाम हों, प्रसाद यथासम्भव नाटकीय शैली में ही करते हैं : पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन द्वारा, उनके स्वगत-भाषण के रूप में या बातचीत के बीच पात्रों के अपने मुख से कहलवाकर । 'तितली' में अपने पति श्यामलाल को अनवरी के साथ एकान्त में सुरापान करते देख माधुरी की जो संयत प्रतिक्रिया व्यक्त हुई, उसका वर्णन लेखक स्वयं न करके माधुरी के मुख से कराता है : "मैं तो उसका (अनवरी की बात का) उत्तर न देना चाहती थी परन्तु उसकी ढिठाई अपनी सीमा

७६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ५८ ।
८०. वही, पृ० ६४ ।

पार कर चुकी थी। मैंने कहा बड़ी अच्छी बात है, मिस अनवरी ! आप कब जाएँगी ? मैं अधिक कुछ न कह सकी। थाली रखकर लौट आई।"[८१] कंकाल में जब यमुना पुलिस द्वारा मुक्त कर दी गई और मंगल और निरंजन उसके समीप आ गए और वह रोने लगी, प्रसाद तब भी अपनी ओर से न कहकर यमुना की प्रतिक्रिया उसके मुख से ही प्रकट कराते हैं। उसने मंगल से कहा "मैं नहीं चल सकती",[८२] यद्यपि उसके पहले वर्णन के साथ लेखक अपनी ओर से एक वाक्य यह भी मिला सकता था कि उसने मंगल के साथ चलने से इनकार कर दिया। इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं जो स्पष्ट संकेत है कि प्रसाद नाटकीय शैली में ही अधिक रमते थे।

संक्षिप्त वर्णन

पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण प्रसाद लेखक के रूप में उत्तम पुरुष में करें या नाटकीय शैली में, इससे उनके चित्रण के आकार में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। दोनों ही अवस्थाओं में उनके चित्रणों पर संक्षेप की मोहर लगी रहती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक न होगा कि संक्षिप्त होने पर भी उनके वर्णनों में यह बात प्रकट नहीं होती कि लेखक उन वर्णनों में उदासीनता का भाव बनाये हुए है, यद्यपि नाटकीय शैली में किए गए उनके चित्रणों की तुलना में वे फीके पड़ते हैं। 'तितली' में महन्त के पास से रुपये उधार लेने गई हुई अपनी बहन राजकुमारी की चीख सुनकर मधुबन की जो आवेगज प्रतिक्रिया प्रकट हुई उसका वर्णन संक्षिप्तता और स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय है : 'वह पागल की तरह चिल्लाई ! दीवार के बाहर ही इमली की छाया में मधुबन खड़ा था। पाँच हाथ की दीवार लाँघते उसे कितना विलंब लगता; वह महन्त की खोपड़ी पर गरुड़-सा आ पहुँचा। उसके शरीर का असुरों का-सा पूर्ण बल उन्मत्त हो उठा। दोनों हाथों से महन्त का गला पकड़कर दबाने लगा। वह छटपटाकर भी कुछ बोल नहीं सकता था, और भी बल से दबाया। धीरे-धीरे महन्त का विलास-जर्जर शरीर निश्चेष्ट होकर ढीला पड़ गया।"[८३] इसी प्रकार कंकाल में बदमाश नवाब की हत्या करते समय विजय की आवेगज प्रतिक्रिया तथा दोनों के गुत्थमगुत्था होने का वर्णन हुआ है और यदि यह आकार में थोड़ा बड़ा है[८४] तो भी केवल इसलिए कि यहाँ विजय को अपने प्रतिद्वन्द्वी नवाब का मुकाबला करना पड़ा जबकि वहाँ मधुबन का प्रतिद्वन्द्वी था कायर-कामुक महन्त जिसने कोई प्रतिकार नहीं किया था।

---

८१. प्रसाद, 'तितली', पृ० १५६।
८२. प्रसाद, कंकाल', पृ० २६५।
८३. प्रसाद, 'तितली', पृ० १९७-१९८।
८४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १७८।

उपन्यासकार द्वारा टीका-टिप्पणी

उपन्यासकार प्रवचनकर्ता नहीं

"प्रेमचन्द की भाँति प्रसाद भी साहित्य से आशा रखते थे कि वह समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करे।"[८५] दुःख-दग्ध जगत् की कठोर यथार्थताओं तथा आनन्दपूर्ण[८६] स्वर्ग के मधुर स्वप्नों से अपने पाठको को परिचित कराने के लिए भी कदाचित् वह प्रेमचन्द से कम अधीर नहीं थे, पर यह सब होने पर भी उन्होने कभी भी प्रवचनकर्ता के रूप में प्रकट होकर पाठको पर अपनी मान्यताएँ लादने का प्रयत्न नही किया। वह जानते थे कि "सिद्धात से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता वन जाता है ····· और यथार्थवादी सिद्धात से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता ······ किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता ······ साहित्य इन दोनो की कमी को पूरा करने का काम करता है।"[८७] इसीलिए उनके उपन्यासों में प्रेमचन्द की सी लम्वी-लम्बी टीका-टिप्पणियाँ नही मिलती। एक कुशल नाटककार के समान—कुशल नाटककार तो प्रसाद थे ही—वह अपने को अलग रखते हुए अपनी धारणाओं और मान्यताओ को किसी एक या अनेक पात्रो के जीवन-दर्शन मे ही घुला-मिला देते थे और धीरे-धीरे उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं अथवा कथोपकथनो आदि के माध्यम से व्यक्त कराते रहते थे।

कंकाल में वह क्रमश तारा, विजय और गोस्वामी कृष्णशरण के मुख से अपने जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति कराते रहे।[८८] तितली मे पहले तो वे रामनाथ की वाणी में वोलते रहे और उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने तितली को अपना माध्यम बनाया।[८९] इरावती में ब्रह्मचारी, इरावती और अग्निमित्र के मुख से बोलते

८५-८७ प्रसाद, "यथार्थवाद और छायावाद", 'काव्य कला और अन्य निबन्ध', सं० २००१, पृ० ८८-८९।

८८. प्रसाद, 'कंकाल' यमुना (तारा) पृ० ५८ (पाप [illegible]। पुण्य किसका नाम—पुण्य कर रहा हूँ करने दो।)

विजय (पृ० ७८-८०) गोस्वामी कृष्णशरण (पृ० २८१-२८२)

८९.(क) प्रसाद, 'तितली', पृ० १०० १०२ (रामनाथ)।

(ख) वही, पृ० २५२ (तितली)।

"शैला की [illegible]। [illegible] ! [illegible] मैं बाबा जी की बेटी [illegible], [illegible] ।"

(ग) वही, पृ० २६६।

"अरे मधुबन, [illegible] ? बापू का उपदेश क्या [illegible] किया।"

रहे।[९०] इस प्रकार नाट्य शैली को अपनाने से एक तो उनके उपन्यासों के कथानक गतिशील रहे, दूसरे उनके पात्रों का चरित्र-विकास कभी रुकता हुआ नही दिखाई दिया और न ही उनके उपन्यासों में ऊबा देने वाली उपदेशात्मकता घुस सकी।

पात्रों के भावी विकास का संकेत

प्रसाद के उपन्यासों में ऐसे बहुत कम स्थल हैं जहां वह सीधे पाठकों के सामने आए हों। 'कंकाल' में गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में, परस्पर विरोधी दिशा में जाने वाले अपने कई पात्रों को इकट्ठा करके वह पहली बार निरावरण होकर पाठकों के सामने आते हैं : "पाठक आश्चर्य करेंगे कि घटनासूत्र तथा सम्बन्ध में इतने समीप के मनुष्य एकत्र होकर चुपचाप कैसे रहे ?"[९१] और लगभग एक पृष्ठ तक उनके प्रेरक कारणों पर प्रकाश डालते रहते हैं जो अत्यंत आवश्यक ही हो गया था, यद्यपि इस उद्धृत पंक्ति के बिना भी वह काम चला सकते थे। 'तितली' में अवश्य वह दो-चार बार अपनी कुछ एक स्थापनाएँ दे देते हैं जो उनके पात्रों के भावी चरित्र-विकास का आधार बनती हैं। चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में वह लिखते है : "संसार में अपराध करके प्रायः मनुष्य अपराधों को छिपाने की नित्य चेष्टा करते हैं। जब अपराध नही छिपते तब उन्हे ही छिपाना पड़ता है। और अपराधी संसार उनकी इस दशा से संतुष्ट होकर अपने नियमों की कड़ाई की प्रशंसा करता है। वह बहुत दिनों से सचेष्ट है कि संसार से अपराध उन्मूलित हो जाएँ। परन्तु अपनी चेष्टाओं से वह नए-नए अपराधों की सृष्टि करता जा रहा है।"[९२] यह मधुबन के कलकत्ता भागकर कोयला ढोने के काम पर लग जाने और बाद में वहाँ से भी लड़कर चम्पत होकर बीरू बाबू की गुण्डा मण्डली में मिल जाने का प्रसंग है। इसी प्रकार जीवन की कठोर यथार्थताओ से टकराकर बीबी माधुरी के अभिमान के चकनाचूर होने पर उनके शैला के प्रति स्नेहार्द्र होने के संदर्भ में प्रसाद अपनी एक और स्थापना रख देते हैं : "मानव हृदय की मौलिक भावना है स्नेह। कभी-कभी स्वार्थ की ठोकर से पशुत्व की, विरोध की, प्रधानता हो जाती है...... पर प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता ! बराबर बारंबार अपने को ठगाकर भी वह उसी के लिए झगड़ा करती है। झगड़ती है, इसलिए प्रेम करती है।"[९३] इसी प्रकार कुछ-एक स्थल और हैं जहाँ

---

९०. प्रसाद, 'इरावती', सं० २००६ :

(क). ब्रह्मचारी, पृ० २०-२१ ।

"मुझे अपनी आँखों से देखना होगा कि आर्यावर्त में कहीं पौरुष बच गया है।"

(ख) पृ० २२-५८, आनन्दवाद का समर्थन ।

९१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६६ ।

९२. प्रसाद, 'तितली', पृ० २३४ ।

९३. वही, पृ० २७२ ।

प्रसाद पाठकों के सामने सीधे आते हैं पर ऐसे स्थल केवल हृदय की भड़ास निकालने के अवसर पाने के प्रयत्न न होकर उनके पात्रों के भावी विकास के रेखा-चित्र बना जाते हैं।

विश्लेषणात्मक शैली

किसी व्यक्ति को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके परिपार्श्व को तथा परिपार्श्व के प्रति उसके व्यक्त—यत्नज या अयत्नज—आचरण को जान लेने भर से काम नही चलता, क्योकि मनुष्य का व्यक्त आचरण ही उसका समूचा चरित्र नही।[९४] मानव-चरित्र एक हिमनग (आईसबर्ग) है, जिसका केवल थोड़ा-सा नवमांश ही उसकी व्यक्त चेष्टाओं में प्रतिबिम्बित हो पाता है और शेष अव्यक्त रहकर उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित करता रहता है। इसलिए उस प्रेरक, पर अव्यक्त, चरित्र को जाने बिना मनुष्य के व्यक्त आचरण का मूल्यांकन भ्रामक हो सकता है।[९५] मानव-जीवन का यही एक रहस्य है जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य दूसरों के लिए, अनेक बार अपने लिए भी, पहेली बना रहता है। पर वस्तुजगत् की यह पहेली उपन्यासजगत् में सुलझ जाती है। अपने पात्रों का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका अन्तर्यामी तो होता ही है, उनका व्यक्ताव्यक्त आचरण चित्रित करने के लिए उसे वर्णनात्मक तथा नाटकीय दोनों प्रकार की प्रणालियों के प्रयोग की स्वतन्त्रता भी रहती है। नाटकीय प्रणाली द्वारा वह अपने पात्रों के व्यक्त आचरण में प्रतिबिम्बित होने वाले उनके चरित्र को अभिव्यक्त करता है और विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा उनके अव्यक्त चरित्र का चित्रण करता है, जो उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ से न तो व्यक्त हो पाता है और न ध्वनित ही।

मनोविलेश्षण की कमी

इस प्रकार वस्तु-जगत् में मानव-चरित्र का जो अंश अव्यक्त रहता है, उपन्यास में वह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतएव सशक्त वर्णन प्रणाली के अतिरिक्त उपन्यासकार की विश्लेषणात्मक प्रणाली की ओर जितनी अधिक प्रवृत्ति होगी, उतना स्पष्ट और सुसगत होगा उसके पात्रों का चरित्रचित्रण। जयशंकर प्रसाद के वर्णनों में मूर्तिमत्ता की अपूर्व योजना होने से उनके पात्रों का रग-रूप हमारे मानसपटल पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। पर जैसा कि हम पहले बता चुके है, पात्रो के मनोविश्लेषण की ओर न प्रवृत्त होने के फलस्वरूप उनके कई पात्र पहेली बनकर रह जाते हैं और उनकी कई क्रिया-प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाना कठिन हो जाता है। पात्रों के चरित्र-विकास की ऐसी अवस्थाओ में, जहाँ कि उनसे आशा की जा सकती थी कि वह उनकी तात्क्षणिक मनःस्थिति का विश्लेषण करते

९४-९५. Ruch, 'Psychology and Life', p 122.

हुए उनके मन में उठ रही परस्पर-विरोधी तरंगों द्वारा उत्पन्न संघर्ष का चित्रण करते, वह इसमें न उलझ कर नाटकीय या काव्यात्मक प्रणाली द्वारा उस संघर्ष की ओर संकेत भर करके आगे बढ़ जाते हैं।[९६] प्रेमचन्द के समान प्रसाद भी ऐसे स्थलों के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं। प्रेमचन्द निजी टीका-टिप्पणी द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का मोह न संवरण कर सके और प्रसाद का रुझान एक सफल नाटककार होने के नाते, नाटकीय शैली की ओर अधिक रहा। जब कभी वह मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ भी, उनके पात्रों ने उनकी एकाग्रता भंग कर दी, और पात्रों के चरित्र की जो गुत्थियाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही सुलझाई जा सकती थी, उनके लिए भी प्रसाद को नाटकीय प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा।

पात्रों की बहिर्मुखता

'कंकाल' के चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में 'आलोक प्रार्थिनी यमुना, अपनी कुटीर में दीपक बुझाकर' बैठी, उसने 'आँखें भी बन्द कर ली' 'उसके जीवन की अनन्त रजनी उसके चारो ओर घिरी थी', पाठक भी हृदय थामकर बैठ गया कि लेखक अब उसकी मन:स्थिति का विश्लेषण करेगा। पर, दुर्भाग्य से, 'लतिका ने जाकर यमुना का द्वार खटखटा दिया' और सारी एकाग्रता जाती रही।[९७] इसी प्रकार, सुखदेव चौबे के लिए जलपान का प्रबन्ध करने के प्रयत्न में 'तितली' की राजकुमारी अपनी निराश और अग्निमयी आँखों को घुमाकर जिधर ही ले जाती थी, अभाव का खोखला मुँह विकृत रूप से परिचय देकर जैसे उसकी हँसी उड़ाने के लिए मौन हो जाता। वह पागल होकर बोली—'यह भी कोई जीवन है।' यह पढ़कर पाठक आशा करने लगता है कि अब लेखक पात्र के मन में गोता लगाएगा, शायद वह लगाता भी, पर तभी 'क्या है भाभी ! मैं आ गया !'[९८]—कहते हुए चौबे ने घर में प्रवेश किया और राजकुमारी को अपने मन के कपाट बन्द करके बहिर्मुखी होना पड़ा।

इसी प्रकार के अनेक स्थल प्रसाद के उपन्यासों में मिलते हैं जहाँ उन्होंने मनोविश्लेषण के लिए उपकरण तो जुटाए, पर ठीक मौके पर उनका पूरा उपयोग करने से अपना हाथ खींच लिया।

---

९६. इलाचन्द्र जोशी, "प्रसाद का कथा-साहित्य और कंकाल", 'कल्पना', फरवरी, १९५१ :

"जो कवि कामायनी में मनु के भीषण अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में आश्चर्यजनक रूप से सफल रहा है, उसकी अन्तर्भाव विश्लेषणी प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता। फिर भी आश्चर्य ही है कि कंकाल का कोई भी पात्र उन्हें मनोविश्लेषण के योग्य नहीं जँचा, कोई भी परिस्थिति गम्भीर वातावरण उत्पन्न करने योग्य मालूम नहीं हुई।"

९७ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २७४।

९८. प्रसाद, 'तितली', पृ० ९२-९३।

अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण

किसी विशेष परिस्थिति में पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया उतना महत्त्व नही रखती, जितना कि उसके प्रेरक कारण।[९९] विभिन्न परिस्थितियों में तो पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है, समान परिस्थितियों में भी उनकी प्रतिक्रियाएँ अलग-अलग हो सकती हैं।[१००] पात्रों के चरित्र विकास में सगति ठहराने के लिए उन विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरक कारणों में एकसूत्रता लाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

असंगत प्रतीत होने वाले आचरण की प्रेरणाओं में संगति

कभी-कभी जयशंकर प्रसाद भी अपने पात्रों के व्यक्त आचरण के प्रेरक कारणों पर प्रकाश डाल देते हैं, विशेषतः तब जब किसी पात्र का आचरण एकदम अप्रत्याशित हो। 'कंकाल' के परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों वाले पात्रों का गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में पहुंचते ही आपसी वैर को भूल कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को शाँत भाव से देखते रहना असगत प्रतीत होने लगता है, पर शीघ्र ही लेखक स्वयं उनके इस अप्रत्याशित आचरण के कारणों पर प्रकाश डाल कर उनके व्यवहार में संगति बैठा देता है : लतिका और घंटी का वह मनोमालिन्य नहीं रहा, क्योंकि अब बाथम से इन दोनो का कोई सम्बन्ध नही रहा''''''यमुना के हृदय में मगल के व्यवहार की इतनी तीव्रता थी कि उसके सामने और किसी के अत्याचार परिस्फुट हो नही पाते थे। वह अपने दु:ख-सुख में किसी को साझीदार बनाने की चेष्टा न करती'.........इत्यादि।[१०१] 'तितली' के मधुबन की बाल-विधवा बहन राजकुमारी अपनी सच्चरित्रता के लिए गाँव भर में विख्यात थी, पर वह सुखदेव चौबे की फुसलाहट में कैसे आ गई। इसके लिए लेखक को चौबे के साथ उसके पुराने सम्बन्धों का उल्लेख करना पड़ा और चौबे की भेंट का उस पर जो प्रभाव पड़ा था, उसका चित्रण भी : 'उस दिन चौबे बिदा हुआ। किन्तु राजकुमारी के मन में भयानक हलचल हुई। संयम के प्रौढ़ भाव की प्राचीर के भीतर जिस चारित्र्य की रक्षा हुई थी, आज वह सधि खोजने लगा था।'[१०२] तत्पश्चात् लेखक उन सभी कारणों पर प्रकाश डालता है जिन्होंने मधुबन-तितली विवाह के प्रति उसके भावी विरोध को प्रेरित किया : "उधर हृदय में एक सन्तोष भी उत्पन्न हो गया था। वह सोचने लगी थी कि मधुबन की गृहस्थी का बोझ

---

९९. R. M. Maciver, 'Society', Macmillan, London, 1950, p. 35.

१००. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526.

१०१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६६।

१०२. प्रसाद, 'तितली', पृ० ६६।

उसी पर है। उसे मधुबन की कल्याण कामना के साथ उसकी व्यावहारिकता भी देखनी चाहिये। शेरकोट कैसे बचेगा और तितली से विवाह करके दरिद्र मधुबन कैसे सुखी हो सकेगा ? यदि तितली इन्द्रदेव की रानी हो जाती और राजकुमारी के प्रयत्न से, तो वह कितनी ·········।"[१०३]

मनुष्य का कथन इतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि उन शब्दों का अभिप्राय। उसके कथन की सार्थकता या निरर्थकता उसके अभिप्राय पर ही निर्भर करती है। तहसीलदार द्वारा इंद्रदेव के विरुद्ध उकसाई जाने पर 'तितली' की श्यामदुलारी जब स्थिति पर विचार करते-करते मौन हो गई तो उसके क्षोभ को ताड़ कर उसे कम करने के अभिप्राय से सहसा माधुरी ने कहा : "क्यों माँ क्या सोच रही हो·········ये लोग तो ऐसी व्यर्थ की बातें निकालने में बड़े चतुर हैं ही। तुम को तो यह काम पहले ही कर डालना चाहिये।[१०४] किन्तु क्या कर डालना चाहिये, उसे साफ-साफ माधुरी ने भी अभी नहीं सोचा था। "वह केवल मन बहलाने वाली कुछ बाते करना चाहती थी।"[१०५]

अन्तःप्रेरणाओं का भी 'आब्जेक्टिव' चित्रण

यथपि प्रसाद समय-समय पर अपने पात्रों की बहुरूपी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के पीछे छिपी उनकी प्रेरणाओं को भी प्रकाश में लाते जाते, पर बहुधा जाने या अनजाने उनके कई मुख्य प्रेरकों के बारे में या तो वह मौन धारण कर लेते हैं अथवा तीन-तीन परस्पर-विरोधी प्रेरकों की ओर संकेत मात्र करके आगे बढ़ लेते हैं। फलतः उनके कई पात्रों के चरित्र दुर्बोध बन गए हैं। 'कंकाल' की नायिका यमुना किन कारणों से विजय द्वारा की गई हत्या को अपने सिर पर ले लेने के लिए प्रेरित हुई थी, लेखक इस सम्बन्ध में उसकी मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने की बजाए अन्य पात्रों के परस्पर-विरोधी अनुमानों को, उनके 'आब्जेक्टिव' अध्ययन को, पाठकों के समक्ष रख कर नीरक्षीर विवेचन का काम उन पर छोड़ देता है। इस सम्बन्ध में गाला का मत है कि "वह स्त्री अवश्य उस युवक से प्रेम करती है, जिसने हत्या की।"[१०६] पर मंगल का मन सदैव इस विचार का प्रतिवाद करता रहा : "गाला ! पर मैं कहता हूँ कि वह उससे घृणा करती थी। ऐसा क्यों ! मैं न कह सकूंगा, पर है बात कुछ ऐसी ही।"[१०७] किशोरी को लिखे अपने पत्र में निरंजन उसके प्रेरक भाव को एक और रूप देता है : 'वही यमुना

---

१०३. वही, पृ० ९७।
१०४. प्रसाद, 'तितली', ५वाँ संस्करण, पृ० ७७-७८।
१०५. वही, पृ० ७७-७८।
१०६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २४४।
१०७. वही, पृ० २४४।

.........तुम्हारी दासी ! तुम जानती होगी कि तुम्हारे अन्न से पलने के कारण, विजय के लिए वह फाँसी पर चढ़ने जा रही थी और मैं......... जिसे विजय पर ममत्व था......दूर-दूर खड़ा धन से सहायता करना चाहता था।"[१०८] पर विजय और यमुना के बाद के सम्बन्ध-विकास को देखते हुए पाठकों को कदाचित् इनमें से एक मत भी पूर्णतः सत्य दिखाई न दे।[१०९]

नाटकीय प्रणाली

प्रसाद मूलतः उपन्यासकार नही थे। उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले वह हिन्दी साहित्याकाश में एक सफल कवि और नाटककार के रूप में जगमगा चुके थे। पर जीवन की यथार्थताओं के निकट जितना उपन्यास है उतना नाटक या कविता कहाँ ? इसलिए संस्थावाद की चक्की में निरंतर पिसते चले आ रहे मानव-कंकाल की मूक वेदना को मुखरित करने के लिए उन्हें साहित्य की इस विधा—उपन्यास—को भी अपनाना पड़ा।[११०] उपन्यास क्षेत्र में दूसरों की बढ़ती हुई कीर्ति को देखकर ही प्रसाद उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुए थे, ऐसा समझना उनके प्रति अन्याय करना होगा।[१११] प्रसाद उपन्यास की ओर झुके तो सही, पर उनके साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ—कविता और नाटक—उनका साथ न छोड़ सकीं और, जाने या अनजाने, उनके उपन्यासों पर हावी होती रहीं। पद्य का प्रयोग तो वह उपन्यासों में कर नही सकते थे, क्योंकि उपन्यास गद्य-साहित्य की एक विधा है, पर गद्य-काव्य के सुन्दरतम उदाहरणों से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं।

उपन्यासकार के नाते वह अपने उपन्यासों में प्रत्यक्ष (वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक) और अप्रत्यक्ष (नाटकीय), दोनों प्रणालियों का प्रयोग कर सकते थे, पर उनका रुझान नाटकीय प्रणाली की ओर ही अधिक रहा। 'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती' में नाटकीय प्रणाली का अधिकाधिक प्रयोग इस बात का

---

१०८. वही, पृ० २६० ।

१०९. वही, पृ० २६४ ।

"एक घण्टा बीता होगा कि एक स्त्री आई, उसने कहा—'भाई !'

"बहन ! ...कह कर विजय उठ बैठा।"

११०. प्रसाद, "यथार्थवाद और छायावाद", 'काव्य कला और अन्य निबन्ध', पृ० ८६ ।

"सॉंस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखाई देता है वह महत्त्व और लघुत्व (आदर्श और यथार्थ) दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य साहित्य ही बना।"

१११. श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास' पृ० १३६ :

"सम्भवतः प्रेमचन्द जी के ग्रामीण चित्रों की मनोहरता देखकर प्रसाद जी भी इस लोभ को संवरण न कर सके और उनकी कल्पना भी उसी ओर दौड़ पड़ी।"

स्पष्ट प्रमाण है। अपने औपन्यासिक पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उन्होंने उन सभी साधनों का प्रयोग किया है, जो एक सफल नाटककार को अपनाने पडते है। वर्णनात्मक शैली तो फिर भी उनके उपन्यासो में प्रचुर मात्रा में मिल जाती है, पर विश्लेषणात्मक शैली, जिसकी सहायता से उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्र की अनेक गुत्थियाँ सुलझाया करता है, उनके उपन्यासों में बहुत कम मिलती है। फलतः उनके पात्रों का चरित्र-विकास कई स्थानों पर दुरूह हो गया है।

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

चरित्रोद्घाटन और चरित्र-विकास

अपने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रसाद भी यत्रतत्र घटनाओं का आश्रय लेते हैं। अपने प्रमुख पात्रों का एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट लाने का काम वह घटनाओं से ही लेते हैं। इसी-लिए प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति प्रसाद के पात्र परस्पर परिचय के लिए किसी तीसरे पात्र की—यहाँ तक कि लेखक की भी—अपेक्षा नही रखते। कंकाल में विजय और मंगल की प्रथम भेंट घोडे वाली घटना द्वारा ही होती है। बड़ी तत्परता से उच्छृंखल घोड़े की लगाम पकड कर उसके नथनो पर एक सबल घूंसा जमा कर उसे शांत करते हुए विजय का हाथ पकड़ कर उसे धीरे से नीचे उतार लेने वाले युवक मंगल के प्रति विजय का रोम-रोम आभारी हो गया।[११२] इस घटना में मंगल की निडरता तो प्रकट हुई ही, इससे विजय और मंगल एक-दूसरे के सम्पर्क में भी आ गये और उनके जीवन-तंतु परस्पर उलझने लगे।

निरंजन द्वारा यमुना को देवालय से निकाल देने वाली घटना की रचना एक ओर तो निरजन के दम्भ को प्रकाश में लाने के लिए हुई और दूसरी ओर विजय और यमुना को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए।[११३] इसी प्रकार, गाला और मंगल का प्रथम परिचय मेले में उसे (मंगल को) सांड की जद से बचाने वाली घटना द्वारा हुआ, जिसके पश्चात् वे एक-दूसरे के जीवन में घुलते-मिलते गए।[११४] 'तितली' के आरम्भ में ही चौबे का घुटना टूटने वाली घटना द्वारा जहाँ तितली

११२. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ६४-६५।

११३. वही, पृ० ७६-७८ :

"यमुना की रोती हुई आँखें हँस पड़ी—उसने कृतज्ञता की दृष्टि से विजय को देखा। विजय भूल-भुलैयों में पड गया। उसने स्त्री की—एक युवती स्त्री की—सरल सहानुभूति कभी न पाई थी। उसे भ्रम हो गया जैसे बिजली कौंध गई हो।"

११४. प्रसाद, 'कंकाल', पृष्ठ २२० :

"विचारों में बौखलाए हुए मंगल ने अब पहिचाना······यह तो गाला है।······मंगल के हृदय में एक नवीन स्फूर्ति हुई। वह डग बढाकर गाला के पास पहुँच ही गया और घबराए हुए शब्दों में उसे धन्यवाद दे ही डाला। गाला भौचक्की-सी उसे देखकर हंस पड़ी।"

की सहज दयालुता का परिचय मिलता है, वहाँ इससे उपन्यास के प्रमुख पात्रो में सम्पर्क भी स्थापित हो जाता है।[११५] 'इरावती' के आरम्भ में महाकाल के मन्दिर में हो रहे नृत्य के समारोह में जहां बृहस्पतिमित्र की धृष्टता का परिचय मिलता है, और ब्रह्मचारी की निर्भीकता और स्वाभिमान की भावना भी व्यक्त हो जाती है वहाँ साथ ही उपन्यास के प्रमुख पात्रों में सघर्ष का सूत्रपात भी हो जाता है।[११६]

प्रसाद जिस प्रकार घटनाओ के समावेश द्वारा पात्रों के जीवन-तंतुओं को परस्पर उलझा कर उनके चरित्र को विकास की ओर ले जाते हैं, वैसे ही किसी एक या अनेक पात्रों का उपन्यास में काम पूरा हो जाने पर उन्हें किसी और घटना के समावेश द्वारा उसी प्रकार निकाल बाहर फेंकते है जैसे मक्खन में से बाल। कई बार तो उपन्यास के आरम्भ में जिन घटनाओं से वह चरित्रविकास का काम लेते हैं, उपन्यास के अत में उनसे मिलती-जुलती घटनाओं का प्रयोग पात्रों को उपन्यास के रंगमंच से हटाने के लिए करते हैं। 'तितली' के पूर्वार्द्ध में कुश्ती के अखाडे में हाथी के बिगड़ जाने वाली घटना[११७] द्वारा लेखक मधुवन और मैना को सम्पर्क में लाकर मधुबन की जीवन-दिशा को बदल देता है और उपन्यास के अंत में उसी से मिलती-जुलती घटना[११८] द्वारा तहसीलदार, वेश्या, मैना, पुजारी आदि को, उनकी आवश्यकता न रहने पर, हाथी के पावों तले रौंदवा देता है।

मनोव्यथा की अभिव्यक्ति

इसके अतिरिक्त प्रसाद पात्रो की मानसिक पीड़ा और एक-दूसरे के प्रतिअव्यक्त-दृष्टिकोण की ओर संकेत करने के लिए भी घटनाओं का निर्माण करते रहते हैं। कंकाल में यमुना और मंगल को अकेले बातें करते देख विजय को कितना धक्का लगा, इसका वर्णन विश्लेषणात्मक प्रणाली से न करके उपन्यासकार उसे विजय की बीमारी की घटना के रूप में अभिव्यक्त करता है। विजय की बीमारी में यमुना ने जिस लगन से उसकी सेवा-शुश्रूषा की उससे मंगल पर प्रकट हुए बिना न रहा कि वह विजय की ओर आकृष्ट है।[११६] इससे यमुना के प्रति उसके रुख में परिवर्तन आ गया। इसी प्रकार गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में यमुना की बेरुखी ने मंगल के हृदय को जो ठेस पहुँचाई थी वह उसके प्रचण्ड ज्वर के रूप में प्रकट हुई, जिसमें दिन-रात

११५. प्रसाद, 'तितली', पृ० १०-१८।
११६. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १०-१६।
११७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १७२।
११८. वही, पृ० २८१-२८२।
११९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८८, ८९-९०।

एक करके मंगल की सेवा करके उसके प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने का गाला को अवसर मिला।[१२०]

पात्रों के चरित्र-विकास की कोई एक अवस्था किसी घटना को जन्म देती है और इस प्रकार उद्भूत वह घटना उसके तथा अन्य संबन्धित पात्रों के जीवन को गति देती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

नाटकीय शैली की ओर प्रसाद के आवश्यकता से अधिक झुकाव ने उनके औपन्यासिक पात्रों को बातूनी बना दिया है। कई बार तो उनकी प्रगलभता इतनी बढ़ जाती है कि वे लेखक की बात को बीच में ही काटकर अपनी कहने लग जाते हैं। परिणामतः उनके उपन्यासों में बहुत से कथोपकथन तो नाटक की भाँति कथासूत्रों को जोड़ने और कथानक को गति देने के लिए ही होते है और उनका पात्रों के चरित्रोद्घाटन से कोई संबन्ध नही होता।

औपन्यासिक पात्र जन्म लेते ही तो उपन्यास में आ नहीं जाते। उपन्यास-जगत् में उन्हें तब तक नही लाया जाता जब तक कि वहाँ उनके करने के लिए कोई विशेष काम न हो। इसलिए उपन्यास में आने से पहले वे अपने जीवन के कई वर्ष बिता चुके होते हैं। उन्हें उपन्यास में पहली बार देखते ही उनका पहला जीवन-वृत्त जानने की जिज्ञासा होती है, जिसे उपन्यासकार प्रायः उनका प्रथम परिचय कराते समय संक्षेप में बता दिया करता है। पर प्रसाद इस काम का भार भी अपने पात्रों पर ही छोड़ देते हैं। कथोपकथन के बीच में उनके पात्र स्वयं ही अपनी जीवनगाथा सुनाने लग जाते हैं। किशोरी आदि का उपन्यास में पदार्पण करने के पूर्व का जीवन-वृत्त हमें उन्हीं के शब्दों में मिलता है। और तो और प्रसाद के बहुत से पात्रों के नाम तक का पता भी उनमें हो रहे कथोपथकनों से ही चलता है, लेखक उन्हें अलग से नहीं बताता।

इसके अतिरिक्त जब पात्र काफी देर गायब रहने के बाद पुनः उपन्यास में आते हैं तो इतनी देर वे कहाँ रहे और क्या करते रहे, इसका परिचय भी वे पात्र स्वयं देते रहते हैं।

चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं का चित्रण

उपन्यास में प्रथम प्रवेश के समय की पात्र की स्थिति से लेकर उसके उत्तरोत्तर विकास की विविध अवस्थाओं का चित्रण भी प्रसाद समय-समय पर उनमें हुए संवादों द्वारा कराते चलते हैं, जिससे जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में होनेवाले उलट-फेरों का परिचय मिलता रहता है।

---

१२०. वही, पृ० २६७-२७३।

अल्हड़—तितली को ही ले ! उपन्यास के आरम्भ में ही उसमें और रामनाथ में जो संवाद चलता है, उसमें उसका बालोचित औत्सुक्य स्पष्ट झलकता है : 'बापू ! उस अकाल में तुमने मुझे पाया था। लो, दूध पीकर मुझे वह पूरी कथा सुनाओ।'[१२१] इसके पश्चात् जब वह वय प्राप्त होकर बाल्य और यौवन की संधि पर पहुँच जाती है, तो कैसे वह मानिनी का रूप धारण करती जाती है :

> "तो क्या मैं तुम से रूठ रही हूँ ?"—चिढ़े हुए स्वर में तितली ने कहा।
>
> "आज न सही तो दो दिन में रूठोगी। उस दिन रक्षा पाने के लिए आज से ही परिश्रम कर रहा हूँ। नही तो सुख की रोटी किसे नहीं अच्छी लगती ?"
>
> तितली इस सहज हँसी से भी झल्ला उठी। उसने कहा—"नही······ नहीं, मेरे लिए किसी को कुछ करने की आवश्यकता नहीं।"[१२२]

संयत—विवाह के पश्चात् वह किस प्रकार एक उत्तरदायित्वपूर्ण महिला के रूप में जीवन को समझौता समझकर मार्ग में आनेवाले झाड़-झंखाड़ों से बचती हुई चलती है, यह पं० दीनानाथ की कन्या के विवाह के अवसर पर उसकी राजकुमारी से हुई भेंट के बीच विदित होता है। कहाँ तो आग उगलती हुई राजकुमारी और कहाँ सयत तितली :

> "मैं कौन हूँ इसकी ? यह सिरचढ़ी तो स्वयं ही दूल्हा खोजकर आई है। भला इस दिखावट की आवभगत से क्या कार्य ?"
>
> राजकुमारी का स्वर बड़ा तीव्र और रूखा था। "अब तो आ गई हूँ जीजी"—तितली ने हँस कर कहा।
>
> कुछ युवतियों ने उसकी बात पर हँस दिया···तितली भौंचक सी अपने अपराध को खोजने लगी। फिर उसने साहस एकत्र किया और पूछा—
> "जीजी, मेरा अपराध क्षमा न करोगी ?"[१२३]

दृढ़ और अडिग—जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर उसके मधुर स्वप्न भले ही बिखर गए हों, पर उसका धैर्य नही टूटने पाया था, प्रत्युत् वह पर्वत के समान अडिग बनी रही थी। इन्द्रदेव की सहायता को ठुकराकर तितली के लौट आने पर जब राजकुमारी ने उससे पूछा कि मुकदमे में क्या हुआ ? उस समय के उसके प्रशाँत और दृढ़ उत्तर में स्वावलम्बन की भावना ओतप्रोत दीखती है :

> "पता नहीं लगा। और न तो उनके आए बिना मुकदमा ही चलता है। तब तक हम लोगों को मुंह सीकर तो रहना नहीं होगा, जीजी ! जीना तो

१२१. प्रसाद, 'तितली', पृ० ८।

१२२. वही, पृ० १०४।

१२३. प्रसाद, 'तितली', पृ० १६२।

पड़ेगा ही, जितनी साँसें आने-जाने को है, उतनी बराकर ही रहेगी। फिर यह क्या हो रहा है ?"—कहकर उसने गौ को हाँकते हुए अपनी छोटी सी गठरी रख दी।

"आग लगे ऐसे पेट में, जीकर ही क्या होगा। भगवान् मुझे उठा ही लेते, तो क्या उनको कोई अपराध लगता ! मैं तो······"

"मैं भी तुम्हारी सी बात सोचकर छुट्टी पा जाती जीजी ! पर क्या करूँ मैं ऐसा नहीं कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा और जो कुछ वे दे गए हैं, उसे सभाल कर उनके सामने रख देना होगा।"[१२४]

तितली और शैला के बीच समय-समय पर जो संवाद लेखक ने कराए हैं, उनमें तो उस पतिनिष्ठ भारतीय नारी का आदर्श मूर्त हो उठा है : "बहन शैला। ससार-भर उनको चोर हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मै जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसलिए मै कभी उनसे घृणा नही कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए, सन्तुष्ट है।"[१२५]

ममतामयी : समाज के सम्मुख 'वज्रादपि कठोर' भारतीय नारी माँ के रूप में कैसे 'कुसुमादपि कोमल', ममतामयी बन जाती है। निर्दय समाज से अकेले टक्कर ले सकने की क्षमता रखनेवाली तितली यह जानकर कि समाज ने उसके पुत्र के मन में भी उसके सतीत्व के बारे में सदेह उत्पन्न कर दिया है, करुणा-विह्वल हो उठती है। मोहन के प्रति उसके शब्दों में आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा पडा है :

"कह भी ! मुझे जीते जी मार न डाल ! मेरे लाल ! पूछ ! तुझे डर किस बात का है ? तेरी माँ ने ससार में कोई ऐसा काम नही किया है कि तुझे उसके लिए लज्जित होना पड़े।"[१२६]

इस प्रकार तितली ही क्यों यमुना, घण्टी, शैला, इरावती, विजय, मंगल, इन्द्रदेव, मधुबन आदि के चरित्र-विकास की विभिन्न अवस्थाओं और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में होनेवाले परिवर्तनो की झाँकी समय-समय पर हुए उनके कथोपकथनो में मिलती रहती है।

अवचेतन की अभिव्यक्ति

बड़े यत्न से दबाकर रखे हुए भाव कई बार सहसा अजाने में निकले हुए शब्दों में मुखरित होकर व्यक्ति का भण्डा-फोड़ देते हैं। प्रसाद के पात्र कई बार, इस तरह, अनायास ही पाठकों के सम्मुख खुलकर उन्हें आश्चर्यचकित कर देते है। शैला

१२४. वही, पृ० २३१-२३२।
१२५. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६७।
१२६. प्रसाद, 'तितली', पृ० २९२।

वाट्सन की ओर आकृष्ट थी, यह तो वाट्सन भी जानता था, पर शैला इस मार्ग पर इतनी दूर निकल आई होगी, इसकी उसे आशा नही थी। नौका-विहार करते समय वाट्सन से अत्यत साधारण वार्तालाप के बीच शैला के मुख से निकले एक वाक्यॉश ने शैला को एकदम निरावरण करके वाट्सन के सामने नग्नरूप में ला खड़ा किया :

"वाट्सन ने हसी से कहा—"शैला ! तुम तो गंगा स्नान करने सवेरे नही आती। फिर कैसी हिन्दू ?"

शैला ने हंसकर कहा—"तुम भी प्रति रविवार गिरजे में नहीं जाते, फिर कैसे ईसाई ?"

"तब तो न तुम हिन्दू और न मै ईसाई !"

"बस केवल स्त्री पुरुष," सहसा शैला के मुख से अजाने में निकल गया। वाट्सन ने चौक कर उसकी ओर देखा। शैला झेंप-सी गई।"[१२७]

इस प्रकार इस स्थल पर पाठक भी चकित हुए बिना नहीं रहता। वह कभी भी यह नही सोच सकता था कि शैला पर से रामनाथ की शिक्षा का रग इतनी जल्दी उतर जाएगा।

भावाभिव्यक्ति में व्यंजकता

कोई व्यक्ति अपने कथोपकथन में सदा ही पूर्णरूपेण खुल जाता हो, यह बात नही। कई बार उसके अन्दर तो बहुत कुछ भरा होता है और वाहर उबल पड़ना भी चाहता है, पर अनौचित्य के भय से, हानि-लाभ के किसी अन्य भाव से, वह अपने आंतरिक भावों को बाहर आने से बलपूर्वक रोकता है। इस प्रकार उसके कथोपकथन में उसकी तत्कालीन मनोदशा का उतना अंश ही प्रकट हो पाता है जो उसके रोके से न रुका हो। ऐसे स्थलों पर उपन्यासकार बड़े संकट में पड़ जाता है। यदि वह औचित्य का ध्यान रखे बिना अपने पात्रों के आंतरिक भावो को उनके अपने मुख से व्यक्त कराता है, तो अस्वाभाविकता का दोष आने की संभावना रहती है और यदि वह उसे पूरी तरह से खुलने नही देता तो चरित्र दुरूह बन जाता है। प्रसाद ने ऐसे स्थलों पर बड़ी कुशलता से ऐसे कथोपकथन कराए है, जिनसे उनके आतरिक भाव व्यंजित तो हो उठते हैं, पर पूरी तरह खुलते नही। 'तितली' में इन्द्रदेव और शैला के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के लिए अनवरी और माधुरी के बीच जिस संवाद में सधि हुई थी, इस दृष्टि से वह उल्लेखनीय है :

"माधुरी ने भीतर के कमरे की ओर देखते हुए उसके मुंह पर हाथ रख दिया और कहने लगी—"प्यारी अनवरी ! क्या इस चुडैल से छुटकारा पाने का कोई उपाय नही ?"

१२७. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६२।

"कुब्वर साहब इससे व्याह कर लें तो तुम्हारा क्या ?"
"ऐसा न कहो अनवरी।"
"तुम्हारी माँ तो फिर तुमको ही······"
"ऊंह तुम क्या बक रही हो !"
"अच्छा तो मैं कुछ दिन यहाँ रहूँ तो······"
"तो रहो न मेरी रानी······"[१२८]

इस छोटे-से संवाद में अनवरी ने माधुरी की नब्ज़ पकड़ ली, पर माधुरी प्रकट में कैसे स्वीकार कर लेती कि उसका आशय यही है। लेखक उसके अंतिम दो कथनों से संधि-भाव व्यंजित करा देता है : 'ऊँह ! तुम क्या बक रही हो' इस संवाद का प्राण है और इसमें भी 'ऊँह' की ध्वनि। अंतिम कथन तो 'रहो न मेरी रानी ······' इस बात की पुष्टि भर करता है।

व्यंजना द्वारा प्रणय-निवेदन

ऐसे संवादों को भी, जो प्रेमी-प्रेमिका के बीच में प्राय: हुआ करते हैं, प्रसाद ने व्यजना के प्रयोग से न केवल अश्लीलता के दोष से बचा लिया है, बल्कि इस प्रकार उन्हें और भी स्वाभाविक और सजीव बना दिया है। प्रेमिका पर पहली बार प्रेम-ज्ञापन करते समय प्रेमी को बड़ी कठिनाई होती है। कुछ तो स्वाभाविक संकोचवश और कुछ इस भय से कि न जाने उसकी प्रेमिका उसके प्रणय-निवेदन को किस रूप में ग्रहण करे, वह प्रत्येक शब्द तौल-तौलकर निकालता है और वह भी स्पष्ट रूप से नहीं।

विजय-यमुना

विजय द्वारा यमुना पर प्रथम बार प्रेम-ज्ञापन प्रसाद ने व्यंजना-शक्ति द्वारा ही कराया है :

"यमुना, है बड़े आश्चर्य की बात ! पहाड़ी के इतने ऊपर भी यह जल-कुण्ड सचमुच अद्भुत है। परन्तु मैंने और भी ऐसा कुण्ड देखा है—जिसमें कितना ही जल पिएँ, वह भरा ही रहता है !"

"सचमुच ? कहाँ पर विजय बाबू ?"

"सुन्दरी के रूप का कूप"—कहकर विजय यमुना के मुख को उसी भाँति देखने लगा जैसे अनजान में ढेला फेंककर बालक चोट लगानेवाले को देखता है।

"वाह विजय बाबू ! आजकल साहित्य का ज्ञान बढ़ा हुआ देखती हूँ!"—

---

१२८. वही, पृ० ३३-३४।

कहते हुए यमुना ने विजय की ओर देखा—जैसे कोई बड़ी बूढ़ी, नटखट लडके को संकेत से झिड़कती हो।

जिस प्रकार व्यंजना द्वारा विजय ने प्रेम-ज्ञापन किया उसी प्रकार व्यंजना द्वारा ही यमुना ने उसका उत्तर दे दिया, जिसे सुनकर 'विजय लज्जित हो उठा।[१२९]

प्रणय के क्षेत्र में मधुबन और तितली में जो संधि हुई थी, वह भी व्यंजना द्वारा ही हुई थी : "......जब वह लौटने लगी, तो मधुबन ने कहा—अच्छा, फिर आज से मै रहा मधुबन और तुम तितली। यही न?"[१३०]

कालिन्दी-अग्निमित्र

षड्यत्र द्वारा अग्निमित्र को आमन्त्रित करके भी कालिन्दी स्पष्ट शब्दों में प्रणय निवेदन न कर सकी और साकेतिक भाषा का आश्रय लेने पर विवश हो गई :

"......कालिन्दी तूने मुझे यहाँ क्यों बुलाया, अपना अर्थ स्पष्ट कहो। मै अधिक नही ठहर सकता।"

"हाँ देव! स्त्री का मुँह कुछ बातों के लिए बन्द रहता है, यह क्या आप नही जानते?"

'......तिस पर भी तुम चाहे कुछ हो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ, यह तो तुम्ही को बताना होगा।'

"मेरी विपत्ति अभी तक नही समझ सके निष्ठुर! मैंने जिस दिन से गंगामन्दिर पर तुमको......।"

"चुप रहो कालिन्दी, मैं स्त्रियों के प्रेम का रहस्य नही समझ पाया ......जाने दो मैं प्रणय के स्वाध्याय में असफल विद्यार्थी हूँ। दूसरी कोई बात हो तो कहो।"

जब कालिन्दी ने देखा कि अग्निमित्र निरतर टालता चला जा रहा है तब कही जाकर वह अधिक स्पष्ट शब्दो में बोली...

"......मगध के विश्वविश्रुत नन्दराज का रक्त मेरी धमनियों में है। मै कुमारी हूँ, समझा। मैं तुम्हारे प्रणय के उपयुक्त हूँ। भिक्षुणी इरावती से कही अधिक......"[१३१]

ऐसे स्थलों पर प्रसाद के संवाद लम्बे और ढीले न होकर बड़े चुस्त और

---

१२९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ९५।

१३०. प्रसाद, 'तितली', पृ० ३६।

१३१. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ५२-५३।

सजीव होते है। सक्षिप्त होते हुए भी वे पात्रों के मन में मच रही तात्क्षणिक उथल-पुथल को सफलतापूर्वक व्यंजित कर देते हैं।

प्रसाद की सीमा

सवाद कितने ही सफल हों, हैं तो वे संवाद ही। पात्र की तत्कालीन मनः-स्थिति की वे आंशिक अभिव्यक्ति ही कर सकते हैं। नाटक में तो, नाटककार की मजबूरी देखते हुए, इतने से ही संतोप किया जा सकता है, पर उपन्यासकार से तो यहाँ तक भी आशा रखी जा सकती है कि वह पात्रो के मानसिक द्वन्द्वों की शतप्रतिशत अभिव्यक्ति करा दे। मंजे हुए नाटककार होने के कारण प्रसाद इन सवादों द्वारा पात्रों के विकास की विभिन्न अवस्थाओ की झाँकी दिखा सकने में भले ही सफल हुए हों, पर उपन्यास के लिए यह पर्याप्त नही। उपन्यास की वास्तविक समस्या तो पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना है। इसलिए, उसे तो यह भी चित्रित करना होता है कि उसके पात्र चरित्र-विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक क्यों, कब और कैसे पहुँचे। पात्रों के चरित्र-विकास में क्यों, कब और कैसे का उत्तर देना अकेले नाटकीय प्रणाली की सामर्थ्य से बाहर है। यह तो विश्लेषणात्मक प्रणाली के बूते का ही काम है। पर क्योंकि प्रसाद का रुझान नाटकीय प्रणाली की ओर ही अधिक रहा और विश्लेपणात्मक प्रणाली को तो उन्होने छुआ ही, इसलिए यदि वह अपने पात्रों के भीतरी मनोभावो की तीव्रता, उनके भीतर उठनेवाले तूफानों और विद्रोही भावनाओं के चित्रण में असफल रहे हो तो इसे नाटकीय शैली की असफलता ही समझना चाहिए। प्रसाद यदि नाटकीय तथा विश्लेषणात्मक प्रणालियों में सामंजस्य बैठा लेते—उन जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक के लिए यह कठिन न था—तो उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रथम श्रेणी का होता। ऐसा न करने से उनके कई पात्रो का चरित्र-विकास दुरूह हो गया है।

डायरी द्वारा चरित्रचित्रण

तितली में इन्द्रदेव की मनोव्यथा का चित्रण प्रसाद ने डायरी द्वारा किया है। इन्द्रदेव एक अंतर्मुखी पात्र है। 'ऊपर से शीतकाल की नदी के जमे हुए जल की कठोरता धारण किए रहने पर भी उसके भीतर का तरल जल ठाठें मारता रहता है।'[१३२] वह अपने परिपार्श्व के प्रति उदासीन हो, यह बात नहीं। अपने आसपास के षड्यन्त्रपूर्ण वातावरण के प्रति वह जागरूक है, अपने को दूसरों के विरोध का लक्ष्य बना पाकर उसके मन में प्रतिक्रिया भी प्रबल हो उठती है, पर जीवन के प्रति उसके ढुलमुल दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न उसकी पलायनवृत्ति बाहर के संघर्ष को उसके भीतर समेट लाती है। उसे संसार में कोई भी ऐसा नही दीखता जिसे विश्वास-पात्र मानकर वह अपना दिल खोल सके। वह भीतर ही भीतर घुलता रहता है—अपने

१३२. प्रसाद, 'तितली', पृ० १२१।

वातावरण से घिरा हुआ बेबस—खोया-खोया सा। ऐसी स्थिति में यदि वह डायरी के पन्नों पर अपनी मनोव्यथा उंडेलकर हल्का न हो जाता तो पागल हो गया होता। 'उन्माद का पूर्व लक्षण विस्मरण तो उसमें प्रकट हो ही गया था।'[१३३]

इन्द्रदेव जैसे पात्र की मानसिक हलचल को प्रसाद अन्य पात्रों से उसके कथोपकथन द्वारा तो व्यंजित करा नही सकते थे, क्योंकि उससे अस्वाभाविकता आ जाने का डर रहता। विश्लेषणात्मक प्रणाली की ओर जो ऐसे पात्रो की मानसिक गुत्थियों को प्रकाश में लाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त रहती है, उनका झुकाव नही था। इसलिए उन्होंने डायरी का ही आश्रय लिया। इन्द्रदेव की यह डायरी उसके हृदय का दर्पण है, जिसमें उसके मन पर पड़े हुए वे सभी संस्कार जो शैला, तितली और अनवरी के बारे में उसकी मानसिक हलचल का कारण बने थे और जिन्हें वह अनौचित्य के भय से शायद कभी भी प्रकट न कर पाता, प्रतिबिम्बित हुए दीखते हैं।

"वह तितली बन कर मेरे हृदय में शैला नही बनी रहेगी। तब तो उस दिन तितली को ही जैसा मैने देखा वह कम सुन्दर न थी।"

".........मैं स्वीकार करता हूँ कि संसार की कुटिलता मुझे अपना साथी बना रही है। वह मित्र-भाव तो शैला का साथ न छोड़ेगा। किन्तु मेरी निष्कपट भावना····जैसे मुझ से खो गई है। मुझे संदेह होने लगा है कि मैं शैला को वैसा ही प्यार करता हूँ, या नहीं।"[१३४]

इन्द्रदेव यदि डायरी न लिखता तो उसके हृदय में हो रहे इन परिवर्तनों का पता न चल पाता और यह कभी प्रकाश में ही न आता कि प्रेम के क्षेत्र में भी वह उतना ही ढुलमुल है जितना दुनियादारी में।

इन्द्रदेव की डायरी में लिखित अन्य पात्रों के आचरण के सम्बन्ध में उस की टीका-टिप्पणी जहां लेखक (इन्द्रदेव) के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, वहां उन पात्रों के चरित्र को भी व्यक्त करती है, तथा उनके विकास पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। माधुरी के बारे में इन्द्रदेव लिखता है.........'मेरी बहन! उसे कितना दुःख है। किन्तु अब देखता हूं कि वह मुझ से स्नेह और सांत्वना की आशा करने वाली निरीह प्राणी नहीं रह गई है, वह तो अपने लिए एक दृढ़ भूमिका चाहती है। मेरा पतन······तब तो हृदय व्यथित हो जाता है।'[१३५] अनवरी की छवि उसके मन में समा गई है, फिर भी वह उसके रूप की कृत्रिमता को पहचानने में नहीं चूकता : 'बाहर से चंचल और भीतर से गहरे मनोयोगपूर्वक प्रयत्न करने वाली चतुर स्त्री है।···हसते-हंसते अपने यौवन से भरे हुए अंगों को, लोट-पोट होकर असावधानी से, दिखा देने का अभिनय करती है; और काम में आकर कुछ कह देने के बहाने हँसकर लौट जाती है।'[१३६]

---

१३३. वही, पृ० ११६।
१३४. प्रसाद, 'तितली', पृ० १२०।
१३५. वही, पृ० ११७।
१३६. प्रसाद, 'तितली', पृ० ११६।

डायरी अपने श्रेष्ठ रूप में लेखक पात्र के अपने शब्दों में लिपिबद्ध उसका चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) भी हो सकती है। पर उपन्यास के लिए यह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त पात्र के चेतनाप्रवाह से कही अधिक उपयोगी होती है। पात्र के चेतना प्रवाह का, उसके मन की चारदीवारी में सीमित रहने से उसका प्रभाव किसी अन्य पात्र पर नहीं पड़ सकता। पर डायरी जहाँ एक ओर लेखक-पात्र के विकास पर प्रकाश डालती है, वहां वह जिस किसी अन्य पात्र के हाथ में पड जाए उसके भावी आचरण को भी प्रभावित कर सकती है। इन्द्रदेव का इन शब्दों के साथ—"तो तुमने पढ़ लिया ? अच्छा ही हुआ"[१३७]—डायरी को फाड़ डालना और फिर कभी डायरी लिखने का नाम न लेना एक स्पष्ट सकेत है कि कदाचित् शैला तक अपनी मनोव्यथा पहुंचाने के लिए उसे यही एक उपाय सूझा हो। किसी और तरह से शैला के सम्मुख अपना दिल खोल सकने की हिम्मत तो उसमें थी नहीं।

पत्रों द्वारा चरित्रचित्रण

प्रसाद ने पत्रो द्वारा पात्रो के चरित्रोद्घाटन की शैली को भी अपनाया है। 'कंकाल' के अन्त में निरजन का किशोरी को लिखा पत्र उपन्यास के कथानक की बिखरी हुई कड़ियो को ही नही जोड़ता, निरंजन, किशोरी तथा यमुना के चरित्र-विकास की कई गुत्थियों को भी खोलने में सहायक होता है और साथ ही उसके लेखक निरंजन की तत्कालीन विकासावस्था को भी चित्रित कर देता है।

अंतःप्रेरणाओं का चित्रण

गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में जाने को निरंजन किन कारणों से प्रेरित हुआ था, यह सारे उपन्यास में पहली बार इस पत्र से ही ज्ञात होता है। निरंजन लिखता है : "मैने उसकी (यमुना की) सहायता करनी चाही और लगा था कि निकट भविष्य में उसकी सांसारिक स्थिति सुधार दूं इसलिए मैं भारत संघ में लगा, सार्वजनिक कामो में सहयोग करने लगा।"[१३८] विजय के प्रति निरंजन का ममत्व तो समझ मे आ सकता है, पर यमुना के प्रति उसके पहले कठोर व्यवहार को देखते हुए यह तब तक समझ में नही आता कि उसके प्रति उसे इतनी ममता कैसे हो गई, जब तक पाठक निरंजन के पत्र की इन पक्तियों तक नहीं पहुंचता : "मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने दोनों को खो दिया। अपने दोनों पर तुम हंसोगी, किन्तु वे चाहे मेरे न हों तब भी मुझे ऐसी ही शंका हो रही है कि तारा की माता रामा से मेरा अवैध सम्बन्ध अपने को अलग नहीं रख सकता।"[१३९]

---

१३७. वही, पृ० १२२।
१३८. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६०।
१३९. वही, पृ० २६०।

इतना ज्ञानवान और संयमशील होकर भी निरजन को अपने भ्रष्टाचरण से घृणा क्यो नही हुई, इसका उत्तर भी निरंजन स्वयं देता है कि वह अपने प्रत्येक कुकृत्य का, मनोविज्ञान के शब्दों में, युक्तीकरण (रैशनलाइजेशन) कर लिया करता था; अपने मन में उसे उचित सिद्ध कर लिया करता था : 'पवित्र होने के लिए मेरे पास एक सिद्धांत था। मै समझता था कि धर्म से, ईश्वर से, केवल हृदय का सम्बन्ध है, कुछ क्षणों तक उसकी मानसिक उपासना कर लेने पर वह मिल जाता है। इन्द्रियों से, वासनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नही।'[१४०] यमुना का उल्लेख करते हुए वह जहाँ अपनी भूल स्वीकार करता है वहां यमुना के चरित्र की उज्ज्वलता का भी बखान किए बिना नही रहता : 'किशोरी। मैने खोज कर देखा कि मैंने जिसको सबसे बड़ा अपराधी समझा था, वही सबसे अधिक पवित्र है।'[१४१] निरंजन के चरित्र विकास में, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में, संसार की तिक्तानुभूतियों ने जो एक महान् परिवर्तन ला दिया था उसकी व्यजना भी उसके पत्र द्वारा हुई है : 'न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है। पर क्षमा में भगवान् की शक्ति है।...सबके क्षमा के लिए वह महाप्रलय करता है...उसी महाप्रलय की आशा में मै भी किसी निर्जन कोने में जाता हूँ, बस···बस !''[१४२]

इसी प्रकार, 'तितली' में नन्दरानी द्वारा शैला को लिखा गया पत्र जहा नारी की स्वतंत्रता के बारे में पाश्चात्य आदर्श के प्रति नन्दरानी के दृष्टिकोण को उपस्थित करता है, वहा भारतीय नारी के पदचिह्नो पर चलने के उसके कृत्रिम प्रयास की भी पोल खोल देता है।

स्वप्न और दिवास्वप्न

जयशंकर प्रसाद ने कहीं-कही अपने पात्रों के स्वप्नो और दिवास्वप्नों द्वारा उनके अवचेतन मन में गहरी धंसी हुई असामाजिक वासनाओं को और उन द्वारा उत्पन्न आंतरिक तनावो को, जो उनकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं को गुप्त रूप से प्रेरित करते है, प्रकाश में लाकर उनके चरित्र विकास में पड़ी अनेक गॉठों को खोलने का प्रयत्न किया है।[१४३] फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिको की धारणा है कि स्वप्नों व दिवास्वप्नो में मनुष्य प्राय: अपनी चेतन या अचेतन आकांक्षाओं को तृप्त किया करता

१४०. वही, पृ० २८६।
१४१. वही, पृ० २६०।
१४२. वही, पृ० २१०।
१४३. Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 49 :
"Dreams often reflect changes in our attitude towards life in general, and persons and things in particular, as well as our innermost desires and secret cravings—unconscious".

है,[१४४] इसलिए किसी व्यक्ति के स्वप्न की समुचित व्याख्या द्वारा उसके चरित्र के अव्यक्त अंश तक पहुँचा जा सकता है।[१४५]जब कोई वासना अपने असामाजिक और अनुचित स्वभाव के कारण होने वाले लोकापवाद के डर से अभिव्यक्ति पाने से बचकर चेतन मन से निकल कर अचेतन मानस में धंस जाती है तो वह बार-बार स्वप्नों में व्यक्त हुआ करती है।[१४६] और यदि वह वासना इतनी कुत्सित होती है कि अपने नग्नरूप में वह स्वप्न तक में भी ग्राह्य नही हो सकती हो तो वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट न होकर प्रतीकों के सहारे रूप बदल कर प्रकट हुआ करती है।

गुप्त इच्छाओं का प्रकाशन

'ककाल' का मंगल तारा को वेश्यालय से छुड़ा लाने के पश्चात् व्यक्त में तो उससे बहन का नाता रखता रहा पर भीतर ही भीतर वह उसे अपनी हृदयेश्वरी बना चुका था और चाहता था कि उससे विवाह कर ले। लोकनिन्दा के डर से तथा तारा की दृष्टि में गिर जाने के भय से वह अपनी आंतरिक इच्छा को प्रकट करने का साहस नहीं कर पाता था। फलतः उसका आंतरिक तनाव बढ़ता गया और एक रात वह स्वप्न में बर्रा उठा :

> 'कौन कहता है कि तारा मेरी नहीं है ? मैं भी उसी का हूं। तुम्हारे हत्यारे समाज की मैं चिंता नहीं करता। वह देवी है। मैं उसकी सेका करूंगा ···नही-नही, उसे मुझसे न छीनो।[१४७]

और इस प्रकार तारा पर उसकी आंतरिक इच्छा प्रकट हो गई। इस स्वप्न में उसकी वासना ही व्यक्त नहीं हुई, प्रत्युत् सुषुप्तावस्था में तारा को आलिंगन के

१४४. (क) Ruch, 'Psychology and Life', p. 529.
(ख) Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis, p. 37.
"The dream is always the fulfilment of a wish or craving of the unconscious."

१४५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 112 :
"The psycho-analysts have long held that dreams were symbolic expressions of inner tensions and that extensive personality interpretation was possible by way of the study of dream through free association."

१४६. F. Alexander, 'The Medical Value of Psycho-analysis', 1932, p. 79 :
"Everything contradictory to the ruling tendencies of the conscious personality, to its wishes, longing and ideals, and everything which would disturb the good opinion one likes to have of one-self is apt to be repressed ·····One of the symptoms of repressed emotion is symbolization, the representation of unconscious thoughts in acceptable forms in dreams' art."

१४७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ४५-४६।

लिए निमन्त्रित करके उसने तारा की वासना को भी जगा दिया। फिर जो कुछ हुआ उससे इन दोनों की जीवन-दिशा ही बदल गई।

अचेतन आशंकाओं की अभिव्यक्ति

ठीक विवाह वाले दिन जब मंगल गंगा स्नान करने गया तो लौटा ही नहीं और सब लोग उसकी प्रतीक्षा करके निराश हो चले गए, तारा का हृदय धक-धक करने लगा। वह रोने को हो रही थी पर मंगल में रोना नहीं चाहिए—वह खुल कर न रो सकी।[१४८] मंगल उसे इस प्रकार निराश्रय छोड़ जाएगा, यह तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी। पर उसके अवचेतन मन में ऐसी आशंका जरूर विद्यमान थी जो उसके स्वप्न में रूप बदलकर प्रतीकों द्वारा प्रकट हुई। उसने जो स्वप्न देखा[१४९] उसमें झूले का पुल प्रतीक बना मंगल से विवाह की उसकी आशा का, सामाजिक अड़चनों ने विकृत रूप धारण किया भयानक पर्वत और खड्डों का। तारा सम्भल-सम्भल कर चल रही थी कि उसके आशा रूपी पुल पर उसकी चाची नन्दो बिजली बनकर कड़की और वह पुल टूट गया।

हिन्दू जाति के थोथे कर्मकाण्ड के प्रति विजय की घोर अनास्था उसके अवचेतन मानस तक में ऐसा घर कर गई थी कि वह स्वप्न में भी उसकी प्रामाणिकता के बारे में बहस करने लग गया था।[१५०]

इसी प्रकार लतिका का बाथम और घण्टी के गुप्त प्रेम के बारे में संदेह उसके स्वप्न में अभिव्यक्त हुआ: '.........बाथम एक सुन्दर हृदय की आकाँक्षा सा सुरुचिपूर्ण यौवन का उन्माद......प्रेरणा का पवन......मैं लिपट गई......क्रूर ... निर्दय......मनुष्य के रूप में पिशाच...... मेरे धन का पुजारी......व्यापारी...... चापलूसी बेचनेवाला। और यह कौन ज्वाला घण्टी......बाथम असहनीय......... और !'[१५१] और फिर जब वह बाथम की निर्लज्ज कपटता की बात सोचती हुई व्यथित हो रही थी, तो उसकी अर्धचेतनावस्था में वही स्वप्न प्रतीकों द्वारा विकृत रूप में प्रकट हुआ : 'वह आँखें बन्द किये थी, डर से खोलती न थी। उसने मेष-शावक और शिशु का ध्यान किया। शावक को गोद में लिये शिशु प्यार कर रहा है। परन्तु यह क्या......यह क्या......वह त्रिशूल सी कोई विभीषिका उसके पीछे खड़ी है ! ओह, उसकी छाया मेष-शावक और शिशु दोनों पर पड़ रही है'।[१५२]

मधुबन जब तितली और राजकुमारी को गाँव में निराश्रय छोड़, स्वयं छिप

---

१४८. वही, पृ० ५४।
१४९. वही, पृ० ५४-५५।
१५०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ६७।
१५१. वही, पृ० १५७।
१५२. वही, पृ० १५८।

कर अपने दिन काट रहा था, तब उसे यह आशंका निरंतर साल रही थी कि उसकी अनुपस्थिति में इन्द्रदेव और चौबे तितली और राजकुमारी पर डोरे डालेंगे; उसे डर था कि वे कहीं उन धूर्तों के पंजे में न फँस जाएँ। उस रात जब वह मैना को हाथी से बचाकर घर लाया था और उसने अपने द्वार पर चौबे को आवाजें लगाते पाया था, तभी से राजकुमारी के चरित्र पर उसे संदेह हो गया था। यद्यपि वह संदेह आगे न बढ़ा था, तो भी वह उसके अवचेतन मन में कहीं गहरे जा धँसा था और अब अवसर पाकर वह परिवर्द्धित रूप में तितली को भी उसी में समेटे[१५३] स्वप्न में प्रकट हुआ, जिसमें तितली और इन्द्रदेव के विवाह की पुरानी चर्चा, राजकुमारी और चौबे का अपवाद, महंत की हत्या आदि उसके मन पर जमे हुए कई संस्कार घुलमिल-कर विकृत रूप में प्रकट हुए।

इस प्रकार प्रसाद स्वप्न और दिवास्वप्नों द्वारा पात्रों के चरित्र-विकास में पड़ गई गाँठों को ही खोलने का प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत् उनके सहारे अन्य संबन्धित पात्रों के चरित्र-विकास को भी गति देते रहते हैं।

गीत

कुछ-एक स्थलों पर प्रसाद ने गीतों द्वारा भी पात्रों की तात्क्षणिक मनोव्यथा को अभिव्यजित किया है। गाने का अवसर प्राप्त होने पर पात्र अपनी मनोदशा के अनुकूल ही कोई गीत छेड़ देता है और उसकी किसी एक कड़ी को पकड़कर बार-बार गाने लगता है, मानो उसकी व्यथा को बाहर आने के लिए वह एक मार्ग मिला हो और उसकी आवृत्ति से उसे शाँति और संतोष मिल रहा हो।

मनोव्यथा का चित्रण

'कंकाल' में शबनम—गाला की नानी—ने प्रथम भेंट में मैं मिर्जा के सामने जो गाना गाया वह मानो कोरा गाना न होकर उसके अपने हृदय की पुकार भी था :

पसे मर्ग मेरी मज़ार पर जो दिया किसी ने जला दिया,
उसे आह ! दामने बाद ने सरेशाम ही से बुझा दिया ![१५४]

'इसके आगे जैसे शबनम को भूल गया था। वह इसी कड़ी को बार-बार गाती रही। उसके संगीत में कला न थी, करुणा थी।'[१५५] इस गीत द्वारा वह मिर्जा तक अपनी पुकार पहुँचाने में सफल हो गई। तभी तो रहमतुल्ला के सारंगी रखते ही मिर्ज़ा जैसे स्वप्न से चौका और उसने देखा—'सचमुच सध्या से ही बुझा हुआ स्नेह-विहीन दीपक सामने पड़ा है। मन में आया उसे भर दू'।[१५६] इस गीत में जहाँ

१५३. प्रसाद, 'तितली', ५वां सं०, पृ० २२७-२२८।
१५४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २०३।
१५५. वही, पृ० २०३।
१५६. वही, पृ० २०४।

एक ओर शबनम का हृदय बोल उठा है, वहाँ इस गीत ने मिर्जा को भी इस स्थिति में अनुकूल प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार प्रसाद ने इस गीत से चरित्रोद्घाटन और चरित्र-विकास दोनों ही प्रकार का काम लिया है।

प्रेम-ज्ञापन : कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे विजय को हारमोनियम बजाते देख घण्टी ने उसके पास जाकर जो गाना गाया उसमें उसने मानो विजय को मोह लेने की अपनी इच्छा की ही अभिव्यक्ति की हो :

पिया के हिया में पड़ी है गाँठ
मैं कौन जतन से खोलूँ ?
सब सखियाँ मिलि फाग मनावत,
मैं बावरी सी डोलूँ ॥[१५७]

इस गीत द्वारा घण्टी ने विजय पर अपना प्रेम ज्ञापित कर दिया। इस गीत ने वही काम किया जो घण्टी उससे लेना चाहती थी : "मादकता थी उसके लहरीले कण्ठस्वर में, और व्याकुलता थी विजय की परदों पर नाचने वाली उंगलियों में। वे दोनो तन्मय थे।"[१५८]

गीत के साथ एकात्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन)

इसी प्रकार, तितली में पं० दीनानाथ की कन्या के विवाह से लौटते समय राजकुमारी के कानों में मैना के गीत के बोल......"लगे नैन बालेपन से"[१५९] पडते ही उसके पाँव रुक गए और वह बुधिया की बात को मान अंधेरे में बहुत सी स्त्रियों के पीछे घूंघट खीचकर खड़ी हो गई। राजकुमारी को लगा कि मैना के गीत में उसका अपना हृदय बोल रहा है, उसके भी तो बचपन से ही चौबे से नैन लगे हुए थे। 'उसने विह्वल होकर कहा—'बालेपन से !' साथ ही एक दबी साँस उसके मुँह से निकल गई।[१६०] एक हिन्दू विधवा की मनोव्यथा दूसरों के गाए हुए गीतों को सुनकर भरी हुई आहों और बहाए हुए आँसू के रूप में ही निकल सकती है, वह स्वय तो गा सकती नहीं, गाना उसके लिए वर्जित जो हुआ।

इस प्रकार, प्रसाद ने गीतों द्वारा जहाँ एक ओर पात्रों की मनोकामना को व्यंजित किया है, वहाँ उनसे पात्रों के चरित्र-विकास का काम भी लिया है। गीतों द्वारा निकली पात्रों की मनोव्यथा अन्य पात्रों पर प्रभाव डालकर उनके भावी आचरण को प्रेरित करती है।

---

१५७. वही, पृ० ११३।
१५८. प्रसाद, 'कंकाल', ५वां संस्करण, पृ० ११३।
१५९. प्रसाद, 'तितली', पृ० १७०।
१६०. वही, पृ० १७१।

भगवतीचरण वर्मा

परिचयात्मक विवेचन

भगवती चरण वर्मा उपन्यासों को कहानी का एक विकसित रूप मानते हैं और यह आवश्यक समझते हैं कि "उपन्यास का आधार एक पुष्ट और सुन्दर कहानी हो।"[1] उपन्यास के कहानी तत्त्व के प्रति उदासीन तो प्रेमचन्द भी नहीं थे, पर उनके लाख चेष्टा करने पर भी उनके उपन्यासों की कथावस्तु में थोड़ी-बहुत शिथिलता तो रह ही जाती थी; परिस्थिति-चित्रण की लय में उनके कथानक की एकता को हर बार बह जाना पड़ता था। वर्माजी की 'चित्रलेखा' यदि हिन्दी साहित्याकाश में आते ही जगमगा उठी थी, तो उसका एक कारण यह भी था कि पाप-पुण्य की समस्या को उसके वास्तविक स्वरूप में रखने के प्रयत्न के साथ-साथ उसके कथानक के पुष्ट तथा सुन्दर बनाने में भी लेखक ने कसर नहीं छोड़ी थी। वर्माजी के उपन्यासों में इन दोनों गुणों के समाहार के कारण उन्हें "प्रेमचन्द का संशोधित संस्करण"[2] भी कहा गया है।

सिद्धान्त-शरीरी पात्र

प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाँति वर्माजी के उपन्यास भी समस्यामूलक हैं, यद्यपि उनके उपन्यासों की समस्याएँ प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्याओं से नितांत भिन्न हैं। समस्याओ के उद्घाटन के लिए वर्मा जी सुसंगठित और सुन्दर कथानक रचते हैं और उसके आसपास पात्रों का एक जमघट लगा देते हैं। पात्रों को वह

---

१. भगवतीचरण वर्मा, "साहित्य एक साधना है" (भगवतीचरण वर्मा : 'एक भेंट), 'साप्ताहिक, हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३।

२. देवराज उपाध्याय; "टेढ़े-मेढ़े रास्ते : एक समीक्षा", 'प्रतीक' (इलाहाबाद), सं० १—ग्रीष्म।

स्वतन्त्र रूप से विकसित होने की छूट नही देते, अपितु नियति के विधान[3] का डण्डा दिखाकर स्वय उनके नियामक बन जाते हैं और उन्हे पूर्वनिर्धारित दिशा में इस प्रकार मोड़ते रहते हैं कि समस्या के सभी पक्षो पर प्रकाश पड़ता चला जाए। वर्माजी का विश्वास है कि "मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नही है, वह केवल साधन है।"[4] इसीलिए उनके पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में अनेक बार एकसूत्रता नहीं आ पाती और लेखक द्वारा समाधान भी बहुधा बौद्धिक ही रह जाते हैं। उनके सभी मुख्य पात्र सिद्धाँत-शरीरी हैं।[5] उपन्यास में वे जिस सिद्धाँत को लेकर पदार्पण करते है उसके अनुरूप ही उनके औपन्यासिक जीवन का, जो एक-दो-तीन वर्षो तक ही सीमित होता है, विकास होता है। वर्माजी के उपन्यास उनके पात्रो के समूचे जीवन को चित्रित न करके उसके स्वल्पांश को ही लेते हैं।

निवृत्तिमार्गी बनाम प्रवृत्तिमार्गी पात्र

"पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है ?"[6] इस समस्या को लेकर वर्माजी के प्रथम उपन्यास "चित्रलेखा" की रचना हुई। समस्या के सही रूप तक पहुँचने के लिए एक ओर ज़रूरत पड़ी युवा योगी कुमारगिरि की, जिसमें यौवन और विराग ने मिलकर एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है और जिसका दावा था कि उसने संसार की समस्त वासनाओं पर विजय पा ली है।[7] और दूसरी ओर निर्माण हुआ भोगी सामंत बीजगुप्त का, जिसके हृदय में यौवन की उमंग है और आँखों में मादकता की लाली, जिसे ईश्वर पर विश्वास नहीं तथा आमोद-प्रमोद ही जिसके जीवन का साधन है और लक्ष्य भी।[8] परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के इन दोनो पात्रों के चरित्र के समूचे गुणावगुणो को व्यक्त कराने के लिए सृष्टि हुई पाटलिपुत्र की सर्वसुन्दरी तथा परम विदुषी नर्तकी चित्रलेखा की, और इस काम में उसके सहायकों

३. (क) भगवतीचरण वर्मा; "साहित्य एक साधना है," 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३ :

"बात कुछ आपको अजीब-सी लगेगी, लेकिन इधर कुछ दिनों से में नियतिवादी बन गया हूँ।"

(ख) वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० २५० :

"चमेली ने बात काटकर कहा—'अस्वस्थ रहा भी कब तक जा सकता है सेठ, नियति के विधान के खिलाफ कौन लड सकता है, कौन लड सका है ?"

४. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वां संस्करण, पृ० २०८।

५. भगवतीचरण वर्मा, "साहित्य एक साधना है", 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३ :

"उसमें ('टेढे-मेढे रास्ते में') राजनीतिक आदर्शवाद पर ही चरित्रो का विकास हुआ है।"

६. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वां संस्करण, पृ० ५।

७. वही, पृ० ७।

८. वही, पृ० ७।

के रूप में अवतारणा हुई वयोवृद्ध सामंत मृत्युंजय तथा उनकी अल्हड सुन्दरी, पर लज्जाशील, कन्या यशोधरा की और बीजगुप्त के सेवक श्वेतॉक की। महाप्रभु रत्नाम्बर तथा उनका दूसरा शिष्य विशालदेव कथानक में खप नही पाते और अलग थिगली से दीखते रहते हैं—केवल यह निष्कर्ष लादने के लिए कि मनुष्य न पाप करता है और न पुण्य, वह केवल वही करता है जो उसे करना पड़ता है। फिर पाप और पुण्य कैसा ? वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।[९]

वर्माजी के दूसरे उपन्यास 'पतन' की समस्या उसके नाम से ही ध्वनित हो जाती है। उपन्यास भर में लेखक कही भी पतन की सुनिश्चित परिभाषा नहीं देता अपितु उसके प्रकाशन के लिए प्रतापसिंह, रणवीर, भवानीशंकर, सुभद्रा (गुलशन), सरस्वती, गुलनार आदि कुछ-एक स्त्री-पुरुष पात्रों को चुन लेता है और उनके पारस्परिक यौन सम्बन्धों के औचित्यानौचित्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करता हुआ पतन की समस्या को छूता है। प्रताप सिह का निर्माण वासना के कीड़े[१०] के रूप में हुआ है, वह प्रेम तो किसी से नही करता, यहाँ तक कि गुलनार से भी नहीं, जिसने उसके लिए घर के सब आराम छोडे और उसे बचाने के प्रयत्न में अपने पिता की कटार का निशाना बन गई—पर स्त्री-पात्रों को भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोडता। वह तीव्र गति से पतन की ओर बढ़ रहा है। यद्यपि रणवीर और सुभद्रा के यौन सम्बन्ध में भी लेखक पतन देखता है,[११] भले ही वे एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, और सरस्वती के परपुरुष सम्बन्धों की चर्चा भी वह बार-बार उठाता है,[१२] तो भी भवानीशंकर के पतन के सम्बन्ध में उसने अनायास ही जो कहा है "नरक से निकल कर वह फिर नरक में आ पड़ा, इसीको पतन कहते हैं। बुराइयों को जानते हुए भी बुराइयों को आलिंगन करना पड़ता है, यह मनुष्य की कमजोरी है"[१३] इस दृष्टि से वह 'पतन' के पात्रों की कमज़ोरी उनकी ही नहीं, मनुष्यमात्र की कमजोरी ठहराता है, जिसमें पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। यह उपन्यास लेखक के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है।

निराश प्रेमी : एक मनोवैज्ञानिक 'केस'

जिस समस्या को लेकर वर्मा जी के अगले उपन्यास 'तीन वर्ष' की रचना हुई है, वह है— प्रेम का स्वरूप और विवाह से उसका सम्बन्ध।[१४] इस उपन्यास के

---

९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० २०८।
१०. वर्मा, 'पतन', द्वितीयावृत्ति, १९४९।
११. वही, पृ० २३६।
१२. वही, पृ० १७५, २२५-२२६।
१३. वही, पृ० २२५।
१४. वर्मा, 'तीन वर्ष', चतुर्थावृत्ति, सं० २००५, पृ० ५३-५४।

नायक के रूप में सृष्टि हुई है अनाथ, पर आदर्श विद्यार्थी, रमेश की जो अपने मित्र की आर्थिक सहायता से तथाकथित उच्च और सभ्यतम नागरिकों में विचरने तो लग जाता है, पर अपने पौराणिक सस्कारो के कारण इस आधुनिकतम सभ्यता के मूल्यों को समझने में धोखा खा जाता है। वह प्रेम को ईश्वरीय और दो आत्माओं का बन्धन मानता है।[15] उसका विश्वास है कि प्रेम में ही संसार स्थित है; प्रेम अनादि है, प्रेम अनन्त है तथा प्रेम ही मनुष्यों का प्राण है।[16] रमेश के प्रेम के आलम्बन के रूप में अवतारणा हुई उस तथाकथित उच्च वर्ग की युवती प्रभा की, जिसके लिए प्रेम अथवा विवाह का अन्त धन है,[17] जो प्रेम को भौतिक सम्बन्ध[18] से अधिक और कुछ नही समझती और उसे विवाह का आधार नहीं मानती।[19] उपन्यास के कथानक में कुँवर अजितकुमार की उपयोगिता इतनी ही है कि वह रमेश को आर्थिक सहायता देकर प्रभा की आखों में चढ़ा देता, अन्यथा वह शायद ही रमेश की ओर ध्यान देती, पर लेखक ने इस पात्र पर दार्शनिकता का आरोप करके उसे अपनी मान्यताएँ व्यक्त करने का माध्यम भी बना लिया है। इससे उसका रूप विकृत होने लगता है और वह अन्त में सभी पात्रों का अभिभावक बन बैठता है।

प्रेम के क्षेत्र से रमेश को इतनी निराशा हुई कि वह अपना संतुलन खो बैठा और उन्मादावस्था[20] की ओर बढ़ने लगा। उसकी अनुभूतियों की समस्त पीड़ा उसके चेतन मानस से निकलकर उसके अचेतन मन में धसने लगी। इस अवस्था में यदि लेखक उसे कानपुर न ले जाता तो वह पागलखाने में या जेल में पड़ा सड़ता[21] इसलिए निर्माण हुआ विनोद और उसके आवारा साथियों का, जो दिन भर शराब पी कर लेटे रहते हैं और रात भर रण्डियों के कोठों पर मारे-मारे फिरते है। रमेश इस नए समाज में ही खप सकता था। इस समाज के साथ ही रचना हुई सरोज की, जो वेश्या होने पर भी रमेश की पूजा करती थी, उसे देवता की तरह मानती थी। पूर्व अनुभूतियों की कटुता में रमेश ने इसे समझने में भी गलती की। वह सरोज के प्रेम को भी एक ढकोसला समझता रहा।[22] पर सरोज ने जिसे रमेश वेश्या ही

---

१५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ५४।

१६. वही, पृ० ५४।

१७. वही, पृ० १०१।

१८. वही, पृ० १३७।

१९. (क) वही, पृ० १३८।

"बिलकुल स्पष्ट है। रमेश, मै प्रेम को विवाह का आधार नही मानती।"

(ख) वही, पृ० १३९।

"हम दोनों एक दूसरे से प्रेम करते है, इतना काफी है और सदा करते रहेंगे। विवाह की क्या आवश्यकता है?"

२०. वही, पृ० १९७।

२१. Andre Tridon, 'Psycho-analysis and Love', p. 39.

२२. 'तीन वर्ष', पृ० २३२।

समझता रहा, न इस से अधिक, न इससे कम,[२३] अपने प्राणों की आहुति देकर सिद्ध कर दिया कि उसका प्रेम रुपयों का गुलाम नहीं ;[२४] वह देना ही जानता है, लेना नहीं और विवाह के प्रति उदासीन है, कदाचित् इसलिए कि वह वेश्या थी और वेश्या से विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता।

अहंवादी पात्र

वर्मा जी के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की समस्या है—सम्मिलित परिवार व्यवस्था का पतन, और उसकी शैली है व्यंग्यात्मक। व्यंग्यात्मकता उपन्यास के कथानक तक ही सीमित नहीं रही, प्रत्युत वह पात्रों के चरित्र-विकास में भी निहित है। उपन्यास का सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि इसके पात्रों का विनाश—रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, मनमोहन, झगड़ू मिश्र, विश्वम्भर दयाल, वीणा में से किसी को ले लें—उनके अपने हाथों ही हुआ, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। वर्मा जी ने कथानक को ऐसा रूप दिया है जिस से एक ओर तो यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार अपने स्थितिपालक 'कान्जर्वेटिव' मुखिया की अहम्मन्यता से एक बना-बनाया सम्मिलित परिवार वर्ष भर में ही विच्छृंखलित हो कर बिखर जाता है और दूसरी ओर संक्राँतिकाल (सन् १९३०) की राजनीतिक उलझनों, धार्मिक भावनाओं तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी हो जाए।

इस उपन्यास के नायक के रूप में अवतारणा हुई ताल्लुकेदार रामनाथ तिवारी की, जो उस संक्रन्ति-काल के ताल्लुकेदारों तथा सम्मिलित परिवार के मुखियों का एक साथ प्रतिनिधित्व करता है। वर्माजी ने इस पात्र में इन दोनों वर्गों के समस्त गुण-दोषों का समाहार कर दिया है। सारे उपन्यास में रामनाथ ही एक ऐसा पात्र है जिस पर लेखक ने सबसे अधिक ध्यान दिया है। रामनाथ "पत्थर के उस शृंग की भाँति अड़ा खड़ा है जिसकी जड़ से विरोधी लहरों के बार-बार टकराने से उसके आस-पास का सब कुछ बह गया है, वह अपनी अहम्मन्यता में अडिग है।[२५] उसे केवल एक बात का मोह है और वह है—'अपनी, अपनी आत्मा का, अपने सिद्धाँत का।'[२६] उसे विश्वास है कि 'जो कुछ मैं करता हूं वही ठीक है, जो कुछ मैं सोचता हूं, वही सत्य है।'[२७] इसलिए वे सभी मार्ग जिन पर उसके अपने लड़के तथा दूसरे लोग चल रहे हैं, उसकी दृष्टि में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' हैं। रामनाथ के साथ ही साथ लेखक रच डालता है, उसके सिद्धांत-शरीरी पुत्रों दयानाथ, उमानाथ, तथा प्रभानाथ को जो क्रमशः कांग्रेस, कम्युनिस्ट तथा क्राँतिकारी पार्टियों के सदस्य हैं। यद्यपि

२३. वही, पृ० २३४।
२४. वही, पृ० २६८।
२५. ठाकुरप्रसाद सिंह, "टेढे-मेढ़े रास्ते : समीक्षा" 'समाज', ३ जुलाई, १९४७।
२६. वर्मा, "टेढ़े-मेढे रास्ते", द्वितीय संस्करण, पृ० ३००।
२७. वही, पृ० ३००।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक सिद्धांतों के अनुकरण से इनके बाह्यरूप अलग-अलग दीखते हैं, वास्तव में, अपने पिता के चरित्र का अभिन्न अंग—उसकी अहम्मन्यता—इन तीनों में यथावत् विद्यमान है[२८] और वह अनायास ही उनके आचरण को प्रभावित किए हुए है। रामनाथ तथा उसके पुत्रों दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ में अहम्मन्यता की मात्रा आवश्यकता से अधिक है, तुलना द्वारा यह दिखाने के लिए झगड़ू मिश्र, मार्कण्डेय, ब्रह्मदत्त तथा वीणा की सृष्टि हुई। पिता रामनाथ के मुकाबिले में झगड़ू मिश्र की रचना हुई और ताल्लुकेदार रामनाथ के मुकाबिले में डी० एस० पी० विश्वम्भर दयाल की। वास्तव में, रामनाथ को झकझोर देनेवाले यही दो पात्र थे।[२९] इनके प्रवेश करते ही उपन्यास में जान आ जाती है।

धन के पिशाच के गुलाम

वर्मा जी का उपन्यास 'आखिरी दाँव' जिस समस्या पर आधारित है, वह है धन के पिशाच द्वारा उत्पन्न विकृति।[३०] आज के युग में सम्मान और शक्ति के भी धन में ही एकाकार हो जाने से धन का पिशाच सब को गुलाम बनाए हुए है और समझता है कि 'हर आदमी की कीमत है, इसकी भी और उसकी भी। बस केवल खरीदार चाहिए—खरीदार।'[३१] फलतः समाज के सभी मूल्यों की प्राप्ति के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धन के पीछे अन्धाधुन्ध दौड़ लगाते हुए मानव स्वयं भी विकृत हो गया है।

---

२८. वर्मा, 'टेढ़े-मेढे रास्ते', पृ० ४३० और ४६० पर दयानाथ से मार्कण्डेय कहता है—

"मैं जानता हूँ दया कि तुममें अहम्मन्यता है; उतनी ही अधिक, जितनी तुम्हारे पिता में अथवा अन्य भाइयों में।" (पृ० ४३०)

"दयानाथ! तुममें अहम्मन्यता है, कठोर और कुरूप;.........तुम्हारी हर हरकत में, तुम्हारे हर काम में, दूसरों के साथ तुम्हारे बरताव में, तुम्हारी अहम्मन्यता का जबर्दस्त पुट रहता है।" (पृ० ४६०)

२९. वही, पृ० ४३९।

(क) "रामनाथ मुस्करा पड़े, 'आपकी प्रार्थना है, मिसिर जी! आपने मुझे अजीब परिस्थिति में डाल दिया। पर आपकी बात मैं नहीं टालूँगा।" (पृ० ३७)

"उसी समय झगड़ू रामनाथ तिवारी के ऊपर लेट गये। पचासों लाठियाँ झगड़ू पर पड़ीं।" (पृ० ३७९)

(ख) "रामनाथ अच्छी तरह समझ गये कि विश्वम्भरदयाल से अधिक बात करना बेकार है, वे जानते थे कि उस पुलिस अफसर से वे पराजित हुए।" (पृ० ४३९)।

३०. वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० २३८:

"हम सब पैसे के गुलाम है, धन हमारा ईश्वर है, हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य है; न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन ही है।

३१. वही, पृ० ४७।

इस उपन्यास के नायक के रूप में रचना हुई है रामेश्वर की, जो धनी बनने की चेष्टा में अपनी गाँठ के भी ५०० रु० तथा अपनी समस्त चल और अचल सम्पत्ति जुए में हारकर गाँव छोड़ने के लिए विवश हो जाता है। दूसरी ओर सृष्टि हुई नायिका चमेली की, जो उसके धन और यौवन दोनो पर आँख रखनेवाले रतनू के झाँसे में आकर घर से गहने, कपडे, नगदी चुरा, उसके साथ बम्बई भाग जाती है। वहाँ रतनू उसका माल चट करके उससे वेश्यावृति कराना चाहता है और वह वहाँ से जान छुडाने के प्रयत्न में पुलिस के चक्कर में पड़ जाती है, जहाँ से रामेश्वर उसे पहचानकर छुड़ा लाता है और दोनो का जीवन एक दम्पति के रूप में आरंभ होता है। दोनों कुछ देर अपनी मेहनत की कमाई से पेट भरकर निश्चिन्त और स्नेहपूर्ण जीवन बिताते हैं, पर इसी बीच लेखक धन के पिशाचो का निर्माण कर देता है—सेठ शिवकुमार और शीतलप्रसाद के रूप में, जिन्हें चमेली, रामेश्वर को बचाने के लिए, पहले अपना शरीर और बाद में आत्मा भी बेचने के लिए विवश हो जाती है।[३२] एक बार जब दोनों एक-दूसरे को बचाने के प्रयत्न में धन के पिशाच के हत्थे चढ़ गए[३३] तो लाख जोर मारने पर भी उसके चंगुल से छुटकारा न पा सके।[३४]

'ऐक्स्ट्रा' पात्र

उपर्युक्त प्रधान पात्रों के अतिरिक्त वर्माजी अपने उपन्यासों में चलचित्रों के 'ऐक्स्ट्रा' लोगों की भाँति अनेक पात्र विशेष अवसरों के लिए भी इकट्ठे कर लाते हैं, बड़ी रुचि और विस्तार से एक-एक का परिचय कराते हैं, और अवसर बीत जाने के बाद उन्हें शीतघर (कोल्ड स्टोरेज) में रखकर भूल जाते हैं और कभी उनका नाम तक भी नही लेते। 'चित्रलेखा' में सामंत मृत्युंजय के घर यशोधरा के जन्म-दिवस पर आमत्रित लोग, सम्राट् चन्द्रगुप्त की सभा; 'तीन वर्ष' में अजित तथा प्रभा के जन्मदिवसों पर हुई पार्टियो में अभ्यागत, रमेश के कमरे में जमनेवाली बैठकों में भाग लेनेवाले उसके सहपाठी; कानपुर में विनोद और उसके आवारा दोस्त; 'टेढ़े-मेढे रास्ते' में कांग्रेस, कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी दल की बैठकों में भाग लेने वाले राजनीतिविशारद, साहित्य-गोष्ठियो के कविगण; 'आखिरी

३२. वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० १८५।

३३. वही, पृ० २३८:

"जिसके पास पैसा है, वह सब कुछ खरीद सकता है, रूप, यौवन, शरीर, आत्मा। सब बेच रहे है अपने को, धन के पिशाच के हाथों, चमेली, हम दोनों भी अपने को उस पिशाच के हाथों बेच चुके है।"

३४. वही, पृ० २७३:

"चमेली खून से लथपथ पड़ी थी—रामेश्वर के आने पर उसने आँखें खोली—नही बचा सकी, न तुम्हें और न अपने को।"

दाँव' में फिल्म कम्पनी के कार्यकर्ता आदि कितने ही ऐसे पात्र हैं, जिनपर लेखक की शक्ति और समय तथा उपन्यास का कलेवर व्यर्थ में ही व्यय हुआ है।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

चरित्रानुरूप नाम

अपने पात्रों का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका सर्वज्ञ होता है। उपन्यास में पदार्पण करते समय की पात्रों की विकासावस्था से तो वह परिचित होता ही है, उनके भावी चरित्र-विकास से भी वह अनभिज्ञ नहीं होता। इसलिए पात्रों का नाम रखते समय वह जाने या अनजाने उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नही रहता और पात्रों के नामों द्वारा भी उनकी वैयक्तिक विशिष्टताओं को अभिव्यंजित कर देता है।[३५] इस रूप में, भगवतीचरण वर्मा भी अपवाद नहीं कहे जा सकते। उनके पात्रों के नामों में ही उनकी आकृति-प्रकृति की झलक मिल जाती है। कई पात्रों के तो नाम और चरित्र में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध प्रतीत होता है और यह बता सकना कठिन हो जाता है कि नाम के आधार पर चरित्र बना है या चरित्र-विकास के आधार पर नाम रखा गया है।

अजित—'तीन वर्ष' का कुँवर अजितकुमार—नाम अजित है तो वह रहा भी अजित ही। जब तक वह उपन्यास में रहा कोई उसे हरा न सका—न बाहुबल से और न बुद्धि-बल से। यहाँ तक कि रमेश उसपर गोली चलाकर भी उसे हरा न सका। उसने 'अनुभव किया कि अजित उससे बहुत ऊँचा है'।[३६] अजित की तर्कना-शक्ति के आगे बैरिस्टर सर कृष्ण भी हार मानकर कह उठते हैं: "मै आपके तर्कों को काट नही सकता।"[३७] ससार में निराश प्रेमियो की सख्या बढ़ानेवाली नटखट लीला भी अजित को मान गई: "अजित! उफ, तुम बड़े भयानक जादूगर हो, तुम से पार पाना असम्भव है।"[३८]

विनोद—'तीन वर्ष' के प्रथम खण्ड में रमेश का अभिन्न मित्र था अजित और दूसरे खण्ड में उसका साथी बना विनोद। विनोद ने भी अपना नाम सार्थक करने में कोई कसर न छोड़ी थी; जैसा नाम वैसा काम। उसका सिद्धाँत था कि 'मौज करो और प्रसन्न रहो। मौज करना ही जीवन है।'[३९]

---

३५. Wellek: 'The Theory of Literature', London, 1949, p. 226-27:
"The simplest form of characterization is naming. Each appellation is a kind of vivifying, animating and individuating."

३६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १५९।

३७. वही, पृ० १०६।

३८. वही, पृ० ७६।

३९. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १५५।

दीवाना—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र हिन्दी के कवि दीवानाजी अपने सम्भाषण से—'मेरे स्वागत का भार इन छोकड़ों पर छोड़ कर आप बड़े आदमियो की खातिर-दारी में चल दिए ? जरा तमीज सीखिए[४०]—ही अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर देते हैं और फिर उनकी आकृति और वेश-भूषा तो शक के लिए कोई जगह ही नही छोड़ती : 'कुरता पहने और तहमद बांधे, नंगे सर और नंगे पैर। बाल बड़े-बड़े, दाढ़ी मूंछ साफ।'[४१]

शशिप्रभा—कवयित्री शशिप्रभा ने भी साहित्याकाश में नवीन ग्रह की भाँति एक दिन अचानक उदय होकर अपना नाम अर्थपूर्ण बना दिया था।[४२]

इस प्रकार के पात्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो लेखक ने पहले इनकी रूपरेखा बना ली हो और फिर उसके अनुकूल ही उनका नाम रखा हो।

व्यंग्यात्मक नाम

व्यंग्यचित्रों से तो वर्माजी के उपन्यास भरे पड़े हैं। उनकी व्यंग्यात्मक शैली और भी प्रखर हो जाती है जब वे किसी महफिल, टी-पार्टी, डिनर, कवि-गोष्ठी या राजनीतिक बैठक में भाग लेने वाले व्यक्तियों का रस लेकर परिचय कराने लगते हैं। व्यंग्य उन पात्रो की वेश-भूषा तथा आकृति-प्रकृति तक ही सीमित नहीं रहता, उनके नामों तक से भी व्यजित होता है। 'तीन वर्ष' के दूसरे खण्ड में वेश्या प्रभा के यहां लगी महफिल में मुंशी उल्फतराय[४३] को देखकर तो उनके नाम की सार्थकता पर विश्वास हो जाता है, पर उनके साथ ही ठाकुर शेर सिह का नाम सुनकर जरा आश्चर्य होता है, जो उनकी मूंछें और थल-थल बदन[४४] को देखकर तथा उन्हें रमेश के दुर्व्यवहार से डर कर सबसे पहले भागता[४५] देख दूर हो जाता है कि यह बीसवी शताब्दी के शेरसिह है और वह भी शहर के पालतू। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वर्मा जी ने हिन्दी के साहित्यकारों के व्यंग्य चित्र दिए हैं। व्यंग्य उन पात्रों के आकार प्रकार से ही नही उनके नामों से भी ध्वनित होता है। कविवर विलासीजी ने अपना उपनाम विलासी इसलिए रखा है कि वह अधिकांश स्त्रियों के ट्यूशन करते हैं और स्त्रियों के ट्यूशन उन्हें इसलिए मिल जाते थे कि उनकी काली और भद्दी शक्ल-सूरत पर स्त्रियों के पिता-पतियो को पूरा भरोसा था।[४६] नाटे कद के पतले दुबले नरकंकाल-से आलोचक महाशय का नाम रखा गया है 'परम सुख'।[४७] पके

४०. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', द्वितीय संस्करण, पृ० २३७।
४१. वही, पृ० २३७।
४२. वही, पृ० २५०।
४३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १७०।
४४. वही, पृ० १७२।
४५. वही, पृ० १७३।
४६. वर्मा 'टेढे-मेढे रास्ते', पृ० २३४।
४७. वही, पृ० २३५।

हुए बालों पर खिज़ाब लगाए, बड़े-बड़े दांतों वाली, पक्के रंग की तन्दुरुस्त पर अधेड़ उमर की कवयित्री का नाम है मृणालिनी।[४८] यहाँ लेखक उनका सुन्दर नाम रख कर मानो उनकी आकृति-प्रकृति और वेश-भूषा की खिल्ली उड़ा रहा हो।

विकासारम्भ के द्योतक नाम

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रों के कई नाम ऐसे है जो उपन्यास में पदार्पण करते समय के पात्रों के चरित्र की किसी उभरी हुई विशेषता को व्यजित करते हैं, यद्यपि आगे चलकर वे विकास की एक नई दिशा पकड़ लेते हैं। 'टेढ़े-मेढे रास्ते', के झगड़ू मिश्र के प्रथम दर्शन यद्यपि एक झगड़ालू ब्राह्मण के रूप में होते है[४९] और रामनाथ तिवारी भी उसे एक झगड़ालू भाई के रूप में ही जानता रहा,[५०] पर उस का विकास दूसरी दिशा में हो रहा था, जिसकी चरमावस्था थी झगड़ा मिटाने के लिए उसका प्राणोत्सर्ग।[५१] इसी प्रकार यद्यपि 'तीन वर्ष' की लीला का प्रथम परिचय—संसार में निराश प्रेमियो को संख्या बढ़ाने वाली[५२]—इस रूप में कराया गया है कि मानो केवल मनोरंजन के लिए प्रेम करके वह अपने नाम 'लीला'[५३] को सार्थक कर रही हो, पर अजित के सम्पर्क में आने के बाद वह प्रेम को गम्भीरता पूर्वक लेने लग गई थी, यह इलाहाबाद छोड़ते समय गाड़ी में बैठी हुई लीला की मुखाकृति से जाना जा सकता है।[५४] 'चित्रलेखा' के आरम्भ का योगी कुमारगिरि जो कौमार्य में गिरि के समान उन्नत और अडिग था, 'संयम जिसका साधन था और स्वर्ग जिसका लक्ष्य',[५५] बाद में वासना का गुलाम बन जाता है। इसी प्रकार, बीजगुप्त जो पहले बीज-प्रकृति का उपासक था, 'ईश्वर के बारे में जिसने कभी सोचा नही था तथा आमोद और प्रमोद ही जिसके जीवन का लक्ष्य था',[५६] बाद में भोगी से योगी हो जाता है। बीजगुप्त का सेवक श्वेतांक भी, जिसका हृदय उपन्यास के आरम्भ में एक ऐसी साफ-सुथरी स्लेट के समान था जिस पर अभी कोई संस्कार रूपी अक्षर नही बने थे—यदि थे भी तो केवल श्वेत अंक ही—'जो तब अबोध था, संसार में

४८. वही, पृ० २३६।
४९. वही, पृ० १३४।
५०. वही, पृ० ३६५।
५१. वही, पृ० ३७६।
५२. 'तीन वर्ष', चतुर्थावृत्ति, पृ० ६२।
५३. रामचन्द्र वर्मा, 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर', नागरी-प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, सं० २००२, पृ० ११०४।
५४. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ६४।
५५. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वां संस्करण पृ० ७।
५६. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वां संस्करण, पृ० ७।

उसने अभी-अभी पदार्पण किया था',[५७] वही अनाड़ी उपन्यास के समाप्त होते-होते एक सफल प्रेमी के रूप में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि भगवतीचरण वर्मा ने पात्रो के नामकरण द्वारा भी उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है।

पात्रों का प्रथम परिचय

भगवतीचरण वर्मा उपन्यास के आरम्भ में ही सभी प्रमुख पात्रों का प्रवेश नहीं करा देते हैं। पहले तो वे उन्हीं पात्रों को लेते हैं, उपन्यास की कथा को चालू करने के लिए जिनका होना आवश्यक हो। फिर कथानक को गति देने के लिए तथा नायक-नायिका के विविध रूपों को प्रकाश में लाने के लिए समय-समय पर नए पात्रों का प्रवेश कराते जाते हैं। उनके कई प्रमुख पात्रों की अवतारणा उपन्यास के बीच में कथा के विकास की विभिन्न आवस्थाओं में हुई है और उनके आते ही उपन्यास को गति मिली, अन्य पात्रों में जान-सी आ गई और नायक-नायिका के चरित्र ने विकास की एक नई दिशा ग्रहण की। 'चित्रलेखा' में यशोधरा का प्रथम परिचय तब कहीं जाकर मिलता है जबकि उपन्यास ८१वें पृष्ठ पर चला जा रहा होता है। उसके आते ही कथानक में चुस्ती आ जाती है और चित्रलेखा, बीजगुप्त, श्वेतांक और कुमारगिरि में आतरिक और बाह्य तनाव बढ़ जाता है। 'तीन वर्ष' में विनोद उपन्यास के दूसरे खण्ड में आता है, नायक रमेश के विकास की नई दिशा के अनुरूप वातावरण बनाने के लिए; और सरोज जिसने अपनी तपस्या से नायक के पूर्वग्रह को झकझोर दिया, पहली बार पृष्ठ १८५ पर दिखाई देती है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के रंगमंच पर उमानाथ, झगड़ू मिश्र, वीणा, मनमोहन आदि का आगमन भी कथा-विकास की विभिन्न अवस्थाओ में हुआ है और उनके आने से नायक रामनाथ के चरित्र के विविध रूप प्रकाश में आए हैं। नायक की टक्कर के दूसरे पात्र डी० एस० पी० विश्वंभरदयाल का, जिसने उपन्यास में गति और रोचकता ला दी और जिसका लोहा रामनाथ को भी मानना पड़ा, तब प्रवेश हुआ जब उपन्यास के ३८४ पृष्ठ भरे जा चुके थे। 'आखिरी दाँव' में भी सेठ शिवकुमार और शीतलप्रसाद नायिका के जीवन में नए मोड़ ला देने के लिए समय-समय पर प्रकट हुए हैं।

आरम्भिक उपन्यास

वर्माजी के उपन्यासों में एक बात खटकनेवाली भी है और वह यह है कि उनके कई प्रमुख पात्रों के उपन्यास में पदार्पण करने से पहले ही अन्य पात्रों की

५७. वही, पृष्ठ १६।

परस्पर बातचीत में उनकी चर्चा छिड़ जाती है और उनके बारे में इतनी अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है कि उनके प्रति विशेष उत्सुकता नहीं रहती। 'चित्रलेखा' में महाप्रभु रत्नांबर और उनके शिष्यों की बातचीत में कुमारगिरि और बीजगुप्त की आकृति और उनके आचार-विचार का इतना विस्तृत परिचय मिल जाता है कि उनके बारे में जानने के लिए कुछ शेष रहता ही नही। 'पतन' में सुभद्रा के 'गुलशन'-रूप में प्रथम दर्शन पृष्ठ ६४ पर होते हैं, पर पृष्ठ ९ से १७ तक अन्य पात्रो की बातचीत में उसकी जो चर्चा होती रही है उससे इसके प्रथम दर्शन में कोई विशेष रुचि नहीं रहती।

अनावश्यक लम्बा प्रथम परिचय

वर्माजी अपने पात्रों का प्रथम परिचय बहुधा स्वयं उत्तम पुरुष में कराते हैं। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में तो पात्रों का प्रथम परिचय इतना अनावश्यक बौद्धिक विस्तार लिये होता है कि वह नीरस तो बन ही जाता है, पात्र के चरित्रोद्घाटन में उसकी उपयोगिता भी नगण्य ही रहती है। 'चित्रलेखा' में कुमारगिरि का परिचय लेखक "कुमारगिरि योगी था।" इन शब्दो से आरम्भ करता है और सवा पृष्ठ तक सैद्धातिक तर्क-वितर्क करके अपने आरम्भिक शब्दो को सिद्ध करता हुआ इस वाक्य के साथ समाप्त करता है: "और इसलिए कुमारगिरि योगी था।"[५८] 'पतन' के प्रथम परिच्छेद में नवाब वाजिदअलीशाह का प्रथम परिचय इतिहास-ग्रंथ के विवरणो की सी शुष्कता, अनावश्यक विस्तार और विश्लेषण लिये हुए है। 'सन् १८५१ ई० की बात है' से उसका आरम्भ होता है और बीच-बीच में "नवाब.........दुर्भाग्यवश अपने कुल के अन्तिम शासक थे", "नवाब साहब में अपने पूर्वजों की सी योग्यता न थी, इतिहास और उनका पतन यह बतलाता है", "किंवदंतियाँ हैं कि नवाब साहब ने···" "लोगों का कहना है कि वे", के-से वाक्यांश[५९] आ-आकर उसे इतिहास-ग्रंथों का विवरण बना देते हैं। आश्चर्य होता है कि नवाब वाजिदअलीशाह जैसे पात्र में, जिसका कथानक तथा पात्रों के विकास में कोई विशेष योग नहीं, लेखक व्यर्थ में क्यों उलझ रहा है।

अतिशयोक्तिपूर्ण परिचय

वर्माजी ने कही भी पात्रों का काव्यात्मक परिचय न कराया हो, यह बात नही। जब कभी भी वह इस ओर प्रवृत्त हुए तो रीतिकालीन पद्धति पर अतिशयोक्ति-पूर्ण नखशिख वर्णन पर उतर पड़े जो आज के युग में वैसे ही अनोखा प्रतीत होता है। 'पतन' में गुलनार का प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ है: 'गुलनार सुन्दरी थी।

५८. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ २५।

५९. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १९।

उसका मुख चन्द्रमा की भाँति निर्मल था, शायद उससे भी अधिक............जिस समय वह चलती थी........मतवाले-से-मतवाले हाथी उसकी मतवाली चाल पर शर्मा जाते थे...जिस समय वह बोलती थी...मानो कोयल पंचम स्वर में कूक रही हो"[६०] इत्यादि ।

प्रौढ़ उपन्यास

यह तो हुई वर्माजी की आरम्भिक रचनाओं में पात्रों के प्रथम परिचय की बात । पर धीरे-धीरे उनका प्रथम परिचयात्मक विवरण प्रेमचन्द की आदर्श शैली को—"किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलियानवीसी की जरूरत नही। दो-चार वाक्यो में मुख्य-मुख्य बाते कह देनी चाहिएँ"[६०क]—पकड़ने लगता है। चार-छः वाक्यो में ही वह पात्रों की आकृति-प्रकृति की कुछ-एक उभरी हुई विशेषताएँ बता कर आगे बढ़ जाते है। 'आखिरी दाँव' के आरम्भ में रामेश्वर का परिचय इसी सारगर्भित शैली में हुआ है : "रामेश्वर को सारा गाँव काका कहता था। छरहरे बदन का लम्बा-सा आदमी, नि शक और मस्त, ढलती हुई जवानी। मुँह पर एक अजीब तरह की कोमलता थी, बालों में एक अजीब तरह की चमक थी। खिचड़ी मूंछ लेकिन अच्छी तरह से छटी हुई, घुटी हुई दाढी। चाल में लापरवाही से भरी हुई ऐंठ, स्वर में मीठी-सी उपेक्षा की दृढ़ता। रामेश्वर की अवस्था करीब पैतालीस वर्ष थी।"[६१] ऐसा ही राधा का प्रथम परिचय है : "राधा काफी शौकीन थी, और वह मकान की अन्य स्त्रियों से अलग रहने में अपनी शान समझती थी.........अवस्था लगभग सत्ताईस-अट्ठाईस साल की थी और उसका शरीर फैलने लगा था। अति से प्रपीड़ित यौवन अब ढलने की अवस्था में आ गया था, राधा का सम्मान रूप के बाजार में कम हो गया था......।"[६२]

औपचारिक परिचय

वर्माजी के अधिकाश पात्र उच्च वर्ग में से है और आए दिन क्लबो, पार्टियों, मीटिगों, डिनरों में इकट्ठे मिलते रहते है जहाँ एक व्यक्ति नपी तुली शब्दावली में उन्हे एक-दूसरे से परिचित कराता है। ऐसे अवसरों पर पात्र को लेखक की अपेक्षा नही रहती और वह संक्षेप में पात्रो के नख-शिख और वेश-भूषा वर्णन द्वारा उसे आकार देकर छोड जाता है और उपन्यास का कोई पुराना पात्र उसका हाथ पकड़ कर उसे दूसरे पात्रों के सामने ले आता है। 'तीन वर्ष' में उपन्यासकार लीला को

६०. वही, पृष्ठ ४३ ।
६०. (क) प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८ ।
६१. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ १ ।
६२. वही, पृष्ठ ३० ।

आकार देकर उस कमरे में धकेल देता है जहाँ प्रभा, रमेश और अजीत बैठे थे। सबने उस "दुबली और लम्बी युवती को देखा। उसका रंग गोरा, मुख लम्बा, होठ पतले-पतले और लाल, नाक लम्बी और उठी हुई, आँखें बडी-बडी और मत्था नीचा था।" प्रभा ने झट उठकर उसका स्वागत किया और इस प्रकार उसका परिचय कराया : "मिस लीला विशाल क्रास्थवेट में मेरे साथ पढ़ती थी और आजकल लखनऊ में पढ़ रही हैं। एक बात और बता दूँ, लीला ने संसार में निराश प्रेमियों की सख्या बढ़ाने का काफी काम किया है, और इसके लिए मै इन्हें मैडल देने वाली हूँ।"[६३] इसी प्रकार के औपचारिक परिचय के लिए लेखक सर कृष्ण कुमार को आकार देकर उसकी लडकी प्रभा के हवाले कर देता है : "सर कृष्णकुमार अध्यक्ष मझोले कद के और दोहरे बदन के आदमी थे। वे अधेड़ कहे जा सकते थे, क्योंकि उनके सिर के बाल सफेद पड़ने वाले थे। डाढ़ी मूंछ साफ और सिल्क का सूट पहने हुए थे। उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थी, और माथा चौड़ा······रंग गोरा था और मुख पर एक स्वाभाविक लाली थी।"[६४] अजित के जन्म-दिवस पर आमन्त्रित लोगों का परिचय भी अजित ही कराता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में लेखक ने इसी प्रकार हिल्डा का निर्माण कर दिया और उमानाथ उसे पकड़कर उपन्यास के रगमच पर लाया : 'करीब पन्द्रह मिनट बाद उमानाथ एक स्त्री के साथ वापस आया। स्त्री यूरोपियन थी और उसकी अवस्था लगभग तीस वर्ष की रही होगी, वह सुन्दरी कही जा सकती थी; उसकी आँखें गहरी नीली थी, और उनमें चमक थी; उसका चेहरा लम्बा और कठोर और बाल लम्बे-लम्बे तथा अस्त-व्यस्त थे।"[६५] कामरेड मॉरीसन तथा 'आखिरी दॉव', के सेठ शीतलप्रसाद को भी आकार देकर लेखक उन्हे पात्रो के हवाले कर देता है।

अनौपचारिक परिचय भी

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रों का प्रथम परिचय बहुधा औपचारिक ही रहा है। जब उनके पात्र उपन्यास जगत् में पहुँचते हैं तो अधिकांश के साथ लेखक स्वय गाइड के रूप में आता है या किसी पुराने पात्र को उसके साथ कर देता है। फिर भी उनके कुछ-एक पात्रों का प्रथम प्रवेश अनौपचारिक ढंग से हुआ है। लेखक पहले स्थिति का निर्माण कर लेता है और फिर उसमें पात्र को डाल देता है और अपनी ओर से कुछ कहे बिना स्थिति के चित्रण द्वारा उस स्थिति में पात्र की क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा उसे खुलने देता है। उपन्यास के रगमंच पर उन पात्रो के जब सर्वप्रथम दर्शन होते हैं तो वे स्थिति में इतने उलझे मिलते हैं कि उसमें व्यक्त

६३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ६२।
६४. वही, पृष्ठ ४३।
६५. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ६४।

हो रही उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और किसी बात पर ध्यान ही नही जाता, यहाँ तक कि उनकी आकृति और वेश-भूषा की ओर भी नही। स्थिति के साधारण होने पर ही लेखक उनका कुछ परिचय देता है, यद्यपि उससे पहले उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर उनकी चारित्रिक विशेषताओं का अनुमान हो चुका होता है। 'टेढे-मेढ़े रास्ते' में डी० एस०पी० विश्वम्भरदयाल का प्रवेश इसी प्रकार होता है : "लेकिन उसी गाड़ी के सैकण्ड क्लास में एक और आदमी था, जो इस काण्ड को बड़े कौतूहल से देख रहा था। प्रभानाथ और मनमोहन के भागने के साथ ही उसने अपने रिवाल्वर से उन दोनों की ओर फायर किया।"[६६] गोलियों की बौछार शान्त होने पर लेखक उसका परिचय कराता है : "जिस आदमी ने ये दो गोलियाँ चलाई थी, उसका नाम विश्वम्भरदयाल था और वह पुलिस डिपार्टमेंट में था······।"

वीणा के प्रथम दर्शन भी लगभग इसी स्थिति में होते है : '(प्रभानाथ) ने देखा कि उसकी मोटर के सामने करीब पाँच गज की दूरी पर एक युवती पिस्तौल ताने खड़ी है···प्रभा ने कार रोक दी। युवती ने झपटकर कार का बाईं ओर वाला दरवाजा खोला और वह प्रभानाथ की बगल में बैठ गई।"[६७]···जब स्थिति की गम्भीरता कम हुई तब प्रभानाथ ने कनखियों से उस युवती की ओर देखा : 'वह करीब बीस या बाईस वर्ष की बंगाली युवती थी और उसके मुख पर कठोरता थी। उसकी आँखें नीले चश्मे से ढकी थीं—युवती मझोले कद की थी और उसका रंग गेहुआँ था और यदि वह कुरूप न थी तो वह सुन्दर भी न थी।'[६८]

'तीन वर्ष' में विनोद[६९] और वेश्या सरोज[७०] दोनों का परिचय अनौपचारिक ढंग से हुआ है। यहाँ लेखक पात्र और पाठको के बीच में नहीं अड़ता और स्थिति-विशेष में पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा उन्हें एक दूसरे पर खुलने देता है।

पूर्वग्रहपूर्ण परिचय

वर्माजी के उपन्यासों में पात्रों का प्रथम परिचय बहुधा पक्षपातपूर्ण रहा है। उनके प्रथम परिचय में प्रेमचन्द की शैली के सभी गुणों और दोषो का समाहार हुआ है। ये परिचयात्मक विवरण चुस्त और सारगर्भित तो हैं, पर निष्पक्ष एक भी नहीं। पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया दिखाए बिना उनके चारित्रिक गुणावगुणों का उल्लेख पूर्वग्रह का द्योतक है, जिसके प्रभाव से पाठक भी बच नहीं पाते। 'आखिरी दाँव'

---

६६. वही, पृष्ठ ३८५।
६७. वही, पृष्ठ ६३।
६८. वर्मा, 'टेढ़े-मेढे रास्ते', पृ० ६४।
६९. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १५१।
७०. वही, पृष्ठ १८५।

के सेठ शिवकुमार के प्रथम परिचय में ही उनके प्रति लेखक की घृणा व्यक्त हो जाती है। 'शिवकुमार लखपती था, लेकिन वह लखपती बना था अपने उचक्केपन से। जाल, फरेब, बेईमानी—इन सब गुणों में वह पारंगत था। समाज में वह बड़ा शरीफ आदमी गिना जाता था।'[७१]

पात्रों के प्रति वर्माजी का पूर्वग्रह और भी प्रबल हो उठता है, जब वह पार्टियों, सभाओं आदि के रूप में एक साथ दर्जनों पात्रों का प्रवेश कराकर बड़ी रुचि से उनके व्यंग्यचित्र बनाने लग जाते हैं। 'तीन वर्ष' में कुंवर अजितकुमार के जन्म-दिन पर आमन्त्रित राजा रामप्रताप सिंह, ठाकुर केशरीनारायण, कुंवर रिपुदमन सिंह लाला अम्बिकाप्रसाद सिंह आदि[७२] के तथा परमा के कोठे पर लगी महफिल में मुन्शी उल्फतराय, ठाकुर शेरसिंह, लाला नौरतनदास[७३] के परिचयात्मक विवरण में लेखक ने उनकी खूब खिल्ली उड़ाई है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' तो ऐसी व्यंग्यात्मक परिचयमालाओं से भरा पड़ा है। उपन्यास के आरम्भ में ही लेखक दयानाथ के घर हो रही कांग्रेसियों की मीटिंग के रूप में एक साथ दस पात्रों का प्रवेश करा देता है और एक-एक करके उनका परिचय कराने लगता है। किस पात्र के प्रति लेखक की सहानुभूति है और किसके प्रति नहीं यह उनके परिचय के ढंग से पता चल जाता है—"पाँचवें सज्जन का नाम वासुदेव था। वासुदेव कौन है ? कहाँ का रहने वाला है ? उसकी जाति क्या है ? यह कोई नहीं जानता।"[७३क] "छठे सज्जन का नाम मौलाना हामिद अली ···उनके हृदय में दया थी···करुणा थी। और वह समझते थे कि 'मनुष्य', मनुष्य पहले है और हिन्दू-मुस्लिम बाद में।" "डा० हीरालाल सातवें सज्जन थे। कानपुर नगर में उनकी डाक्टरी उनकी योग्यता से कहीं अधिक उनके कांग्रेस के नेता होने के कारण चलती थी।···मंत्री होने का सपना देखा करते थे।"

प्रो० किशोर और रानी शशिप्रभा के घर हुई कवि-गोष्ठियों के रूप में भी लेखक दर्जनों साहित्यकारों का व्यंग्यात्मक परिचय कराता है और पात्रों पर व्यंग्य कसने की धुन में प्रायः यह भूल जाता है कि उसके ऐसा करने से न तो उपन्यास का कथानक आगे बढ़ पाता है और न ही उसकी मीटिंग या गोष्ठी की कार्यवाही, जिसके सदस्यों के परिचय में वह उलझ जाता है। ऐसे परिचयों की स्वाभाविकता और उपादेयता संदिग्ध है, क्योंकि इनमें से बहुत-से पात्रों के तो फिर कभी दर्शन ही नहीं होते कि उनके क्रिया-कलापों के साथ उनके बारे में प्राप्त जानकारी का मिलान किया जा सके। ऐसी स्थिति में पाठक लेखक के पूर्वग्रह को मानने को बाध्य हो जाता है।

---

७१. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ३१।
७२. 'तीन वर्ष', पृष्ठ ३०।
७३. वही, पृष्ठ १७०।
७३. (क) 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १८-१९।

अनुभाव–चित्रण

यदि किसी साधारण व्यक्ति से भी यह पूछा जाए कि वह दूसरों की मुख-मुद्राओ को देखकर उनकी तात्कालिक मन:स्थिति के बारे में कुछ बता सकता है या नहीं, तो वह झट से 'हाँ' कह देगा।[७४] स्थिति-विशेष में पड़ जाने के पश्चात् और प्रतिक्रिया के व्यक्त होने से पहले किसी व्यक्ति के चेहरे के बदलते हुए रंग, उसकी भ्रू-भंगिमा तथा विभिन्न शारीरिक मुद्राओं के आधार पर उसकी तात्कालिक मनोदशा, स्थिति के प्रति उसके रुख और निकट भविष्य में प्रकट होने वाली उसकी प्रतिक्रिया का काफी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, इस दावे की सत्यता स्वीकार करने से पहले यह मानना होगा कि उस व्यक्ति की व्यक्त चेष्टाएँ या अनुभाव आदि सहज-स्वाभाविक हैं, न कि बनावटी।[७५] पर बहुधा होता इसके विपरीत है। मनुष्य सामाजिक पशु है। मूलत: वह पशु है, पर समाज में विचरते हुए उसे पग-पग पर अपने असामाजिक पशुत्व को बलपूर्वक दबाकर उस पर सामाजिक मनुष्यत्व[७६] का आरोप करना पड़ता है जो अनैसर्गिक होता है। इस आरोपित मनुष्यत्व को स्वाभाविक और नैसर्गिक समझकर उसके आधार पर लगाया गया अनुमान भ्रामक सिद्ध होता है। जितना अधिक कोई सभ्य और सामाजिक होगा, उतना अधिक उसका व्यवहार आरोपित होगा और उतना ही अधिक कठिन होगा उसके व्यक्त व्यवहार से उसकी आतरिक भावनाओं का ठीक-ठीक पता लगा सकना।

अनुभावों का अभिनय

भगवतीचरण वर्माजी के अधिकांश पात्र समाज के उच्च और सभ्य-वर्ग में से हैं। शेष ऐसे है जो स्वयं चाहे उच्च वर्ग से न हों, पर उच्च वर्ग से उनका नित्यप्रति का घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण उस वर्ग के रंग-ढंग, रहन-सहन, तौर-तरीको आदि को अपनाए हुए हैं। "बड़े आदमियों में 'मूव' करने के लिए उन्हे यह सब-कुछ करना पड़ता है।"[७७] उनके पात्र आए दिन क्लबो, पार्टियों, डिनरों, सभा-

७४. Ruch, 'Psychology and Life', p. 177 :

"In popular thought we have been inclined to believe that every emotion has some highly distinctive facial and vocal expression, and that the emotional reaction of other persons may be identified mainly by these clues."

७५. Ross Stagner, 'Psychology of Personality', p. 224 :

"The effective states, pleasantness, unpleasantness, excitement and depression, in their original and unmodified form lead directly to reflex movements of an expressive nature."

७६. Ibid, p. 225 :

"So-called 'civilizing' of the emotion."

७७ महावीर अधिकारी, "भगवतीचरण वर्मा", 'आजकल', जून, १९५१ पृष्ठ १७ पर उद्धृत वर्मा जी के शब्द।

सोसाइटियों आदि में एक-दूसरे से मिलते रहते है। जब भी वे आपस में मिलते हैं तो वे अपनी भ्रू-भगिमा और मुखमुद्रा के एक-एक परिवर्तन, नख से लेकर शिख तक की वेश-भूषा की एक-एक सिलवट तथा बातचीत के एक-एक शब्द द्वारा मानो दूसरों से कह रहे हो : 'हाँ, मैं तैयार हूँ।' कुछ एक आवेशपूर्ण क्षणों को छोड़कर जब कि लाख रोकने पर भी उनका आवेगज आचरण फूट पड़ता है,[७८] वर्माजी के पात्र अपने परिवेश तथा उसमें अपने स्तर (स्टेटस) के प्रति इतने जागरूक रहते हैं कि वे अपने प्रत्येक स्वाभाविक आचरण को जिसके उस स्थिति में उलटा पड़ने की या मनोवाछित प्रभाव डालने में बाधक होने की सम्भावना हो, बलपूर्वक दबाकर उस पर बनावटी, पर स्थित्यनुकूल, आचरण के आरोप का एक भी अवसर खोने देना नहीं चाहते। उनका प्रयत्न यही होता है कि दूसरों को उनके व्यक्त व्यवहार में वही भाव प्रतिबिम्बित मिलें, जो वास्तविक चाहे न हों, पर जिन्हें वे उनपर प्रकट करना चाहते है।[७९] इसलिए उन पात्रों के व्यक्त अनुभाव, उनकी विविध मुद्राओं तथा अंगप्रत्यंगों के संचालन आदि के माध्यम से उनके हृदय की थाह लेना और उनकी अव्यक्त प्रेरणाओं का अनुमान लगा सकना अत्यंत कठिन हो जाता है, क्योंकि उसके लिए उनके चेतन-मन और तज्जनित बनावटी आवरण के पीछे झाँकना होता है।[८०] चित्रलेखा, चमेली, लीला, प्रभा, वीणा आदि के बारे में जो अभिनय करना भी जानती हैं, और भी कठिन हो जाता है।[८१]

---

७८. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 225 :

"There is evidence which suggests that, even when the process of training has gone to such an extent that verbal expressions of emotion have been eliminated, there may be an unconscious, unrecognized gesture which reveals the emotional state tothe observer."

७९. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 465 :

"One set of determinants pertains to the special adaptive performance prescribed by the task in hand ....The resulting action is purposive, skilful, voluntary, and specific in reference to the demands of the occasion and to the special tension created."

८०. Ibid., p. 467 :

"Any deliberate attempt to disguise expression markedly inhibits its individual character. Extreme examples of such attempts are the poseur, the mimic, the character actor and the forger, who make conscious efforts to divest the performance completely of the spontaneous forms of expression. In these instances voluntary determinants predominate to such an extent that the naive personal idiom is altogether suppressed."

८१. Ibid, p. 467 :

"To perceive the individuality of expressive behaviour it is, then, necessary to look beyond the specific intent of the act, beyond conscious control and the manifestations of convention and skill."

(L. Clages in 'Der Geist als Widersacher der Seele').

चित्रलेखा—सामंत मृत्युंजय के यहाँ, यशोधरा के जन्म-दिवस पर आमंत्रित महिलाओं द्वारा दी गई कटु-व्यंग्यपूर्ण बधाई का उत्तर जब चित्रलेखा ने उससे भी अधिक कटुता में दिया : "अपने सौदर्य के बल से अभिमानिनी स्त्रियों को अपना स्वागत कराने के लिए बाध्य करनेवाली को बधाई की आवश्यकता नहीं", तो महिलाएं इतनी भौचकी-सी रह गईं कि एक ने दूसरी की ओर देखा और दूसरी ने तीसरी की ओर। बात जिस तीव्रता से कही गई थी, उससे बीजगुप्त को भी भय हुआ कि चित्रलेखा का, बहुत सम्भव है, अपमान हो। उसने पूछा : 'क्या बात है।' यह सुनते ही चित्रलेखा का क्रोध से लाल मुख एकदम शाँत हो गया, 'कुछ नहीं आपस में हंसी हो रही थी।' उस समय चित्रलेखा हस रही थी। यशोधरा चित्रलेखा के इस भाव-परिवर्तन पर मुग्ध हो गई, बीजगुप्त के जाने के बाद उसने चित्रलेखा से कहा, 'बहिन, तुम लोक-व्यवहार में बहुत कुशल हो।' 'तभी तो इतनी प्रभावशालिनी हूँ'—चित्रलेखा हंस पड़ी, चित्रलेखा की हास्य-ध्वनि झंकृत हो उठी और उसमें वातावरण की समस्त कटुता लुप्त हो गई।"[८२]

लीला—'तीन वर्ष' की लीला विशाल ने इलाहाबाद में दो-तीन दिन और रुकने की बात पक्की कर लेने पर भी जब अचानक घोषणा करके कि वह उसी रात गाड़ी से चली जाएगी सबको चकित कर दिया तो अजित ने लीला की ओर देखा, दोनों की आखें चार हुईं। तभी अपने रुदन को दबाने के लिए लीला खिलखिलाकर हँस पडी—"मिस्टर अजित, मैं स्वयं अपने लिए पहेली हूं। आपका आश्चर्य करना स्वाभाविक ही है।"[८३]

चमेली—'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली स्टूडियो में आने के पहले दिन ही, जब रामेश्वर द्वारा सेठ शिवकुमार और राधा के पास छोड़ दी जाती है और सेठ राधा को भी कमरे से बाहर चले जाने का संकेत करता हुआ कहता है—'राधा, तुम रिहर्सल में चलो, अपनी कम्पनी की हीरोइन से मुझे कुछ बातें करनी हैं, उसे कुछ बातें बतलानी है'; तो राधा ने चमेली की ओर इस आशा से देखा कि वह या तो उसे जाने से रोकेगी या फिर उसके साथ ही रिहर्सल में जाने का आग्रह करेगी, पर उसे चमेली के मुख पर 'एक अजीब तरह का सूनापन मिला; किसी भी प्रकार की भावना उसे चमेली के चेहरे पर न मिली, न हर्ष, न क्रोध, न विषाद।'[८४] भीतर से भरी हुई होने पर भी चमेली अपनी समस्त आंतरिक हलचल को दबाकर शाँत बैठी थी, जिस रूखी व्यंग्यात्मक मुसकराहट से उसने मौन तोड़ा वह इस बात की परिचायक है।—'हाँ, सेठ। तुम मुझसे बातचीत करना चाहते थे न। यहाँ तक ले आए हो और मैं चली आई हूँ। बड़े प्रसन्न हो रहे होगे अपनी सफलता पर।'[८५]

---

८२. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ८४-८५।

८३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ९२।

८४. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ ९७।

८५. वही, पृष्ठ ९८।

इसी प्रकार, पिकनिक के समय, वृक्षों के एक झुरमुट में अपने साथ असहाय अवस्था में बैठी चमेली को मदिरा पिलाने के लिए शीतलप्रसाद ने जब दोबारा आग्रहपूर्वक थरमोस का गिलासनुमा ढक्कन बढ़ाया तो "उसका हाथ मुलायमियत के साथ हटाते हुए चमेली ने कहा—'नही, आप ही पीजिए।' इस समय वह बड़ी कठिनाई से अपने को संयत किए बैठी थी। उसके अन्दर जो क्रोध और ग्लानि थी, वह उसे बड़े प्रयत्न के साथ अन्दर दबाए थी।"[८६]

भाव प्रदर्शन

ऐसे स्थलों से वर्मा जी के उपन्यास भरे पड़े हैं, जहां उनके पात्र अपने भीतर के तूफान को सफलतापूर्वक दबाकर बनावटी हाव-भाव दिखाने लगते है। यही नहीं, हृदय में कोई भाव न होने पर भी वर्मा जी के पात्र दूसरो को प्रसन्न करने के लिए या उन पर वांछित प्रभाव डालने के लिए स्थित्यनुकूल भाव मुख पर ले आते हैं। प्रभा के घर पहली भेंट के बीच उसके ड्राइंग रूम में बैठे अजित ने जब उससे कहा : मिस अध्यक्ष मेरे सिगरेट पीने में आपको कोई आपत्ति तो न होगी, तो आत्मीयता दिखाने के लिए 'किंचित् क्रोध का भाव प्रदर्शित करते हुए'[८७] (उसके भीतर कोई भाव न था) प्रभा ने कहा : 'कुंवर साहेब ! यदि आप मुझे मिस अध्यक्ष न कह कर केवल प्रभा कह सकें तो अच्छा हो। हम सब मित्र हैं फिर आपस में यह तकल्लुफ क्यों ?' इसी प्रकार प्रभा के यहां जब नारी समस्या पर बातचीत हो रही थी तो हिन्दू समाज में स्त्रियों के स्थान के बारे में बोलते हुए सर कृष्ण ने जब कहा कि'··· जहां लोग स्त्री और पुरुष के अधिकारों को समझने लगे हैं, डाइवोर्स की आवश्यकता प्रतीत की जाने लगी है। पर अधिकांश हिन्दू स्त्री को सम्पत्ति ही समझते हैं, तो अजित के मुख से अचानक ही निकल पड़ा, और दुर्भाग्यवश मैं उन हिन्दुओं में से एक हूँ।' उसकी बात सुनते ही सर कृष्ण के हाथ से सिगरेट छूट पड़ी, प्रभा इतने ज़ोर से चौंकी कि गिरते-गिरते बची और रमेश ने शरबत का गिलास मेज पर रख दिया।[८८] अजित की बात ने उन लोगो को कदाचित् ही इतना धक्का लगाया होग जितना कि उन्होंने प्रदर्शित किया।

'आखिरी दॉव' में चमेली के फ्लैट पर लगी एक महफिल में जब रामेश्वर ने किशोर से एक कविता सुनाने के लिए अनुरोध किया और चमेली ने उसके प्रस्ताव का अनुमोदन किया तो 'किशोर ने जरा शरमाते हुए, जरा अनखाते[८९]हुए पहले तो कहा, 'कविता, इस वक्त तो मेरा गला ठीक नहीं है' और फिर गला साफ करके कविता

---

८६. वर्मा, 'आखिरी दॉव', पृष्ठ २०१।

८७. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ३८।

८८. वही, पृष्ठ १०३-१०४।

८९. 'वर्मा, 'आखिरी दॉव', पृष्ठ १२०।

सुना भी दी : 'सजनी तेरा अभिसार करूँ।' किशोर का वह सारा आचरण बनावटी ही था। डिनरो, पार्टियो सभा-सोसाइटियों में तो वर्मा जी के पात्रों का बनावटी आचरण अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है।

पूर्णतः कृत्रिम अनुभाव सम्भव नहीं

हृदय के मचलते हुए भावों और उमडते हुए आवेगों को इस प्रकार थाम लेना कि व्यक्त चेष्टाओं में उनकी झलक भर भी न मिल सके, कुशल अभिनेताओं के बस का भले हो, साधारण व्यक्ति के बस का कदापि नही। वर्मा जी के पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। पात्रों के लाख रोकने पर भी कई बार उनके मनोभाव उनकी व्यक्त चेष्टाओं में एक बार तो झलक दिखा ही जाते हैं, फिर चाहे वे संयत ही क्यों न हो जायँ।[९०] पूर्व उद्धृत प्रसंग में, चित्रलेखा का मुख भी एक बार तो क्रोध से लाल हो ही गया था,[९१] बाद में चाहे उसने अपनी व्यवहार-कुशलता से बात बिगड़ने से बचा ही ली। 'पतन' उपन्यास के आरम्भ में आधी रात के समय गंगा के किनारे अकेले टहलते हुए रणवीर को जब प्रताप सिंह सहसा पुकार उठा—'रणवीर तुम पहले से ही यहा आ पहुंचे', तो उसका मुंह पीला पड़ गया। फिर भी उसने अपने मनोभावों को दबाते हुए हसकर कहा[९२]—'भाई साहब, अब न कहिएगा कि आप वक्त के पाबन्द हैं।

जिस वर्ग से भगवतीचरण वर्मा ने अपने अधिकाश पात्र चुने हैं और जिस प्रकार के वातावरण में वे पलते और बढ़ते-फूलते हैं, वहाँ लोगों को अपने सहज-स्वाभाविक आचरण को दबाकर अवसर के अनुकूल बनावटी हाव-भाव दिखाने पड़ते हैं—कई बार भयवश और कई बार प्रलोभनवश। पर कोई भी आचरण न तो समूचा बनावटी हो सकता है और न ही पूरा सहज-स्वाभाविक। इसलिए उनके व्यवहार में कभी तो बनावट की प्रधानता आ जाती है और कभी नैसर्गिकता की।[९३] तभी तो लेखक को बार-बार बताना पड़ता है कि पात्र के हाव-भावों में बनावट की मात्रा कितनी है। जहां वह कुछ नहीं बताता वहा पात्रो की चेष्टाएँ स्वाभाविक मानी जानी चाहिएँ, ऐसा उसकी शैली से ध्वनित होता है।

९०. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 215 I

९१. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ २५।

९२. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ ५-६।

९३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 467 :
"No single act of behaviour can be designated exclusively as expressive and none as non-expressive. Every act has both an adaptive (zweck massing) and an individual or stylistic (ausdruck lick) character."

स्थित्यंकन

औपचारिक स्थितियां

किसी मनुष्य के व्यक्त आचरण में प्रतिबिम्बित उसकी विशिष्टताओ के आधार पर उसके चरित्र के बारे में काफी-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, पर व्यक्ति का आचरण अपने आप नही फूट पडता, प्रत्युत् उसे प्रेरित करने के लिए सदा किसी न किसी स्थिति की वह बाह्य हो अथवा मानसिक, अपेक्षा रहती है।

भगवतीचरण वर्मा भी अपने उपन्यासो में अनेक स्थितियो का निर्माण करते हैं और उन्हे इस क्रम से अपने पात्रों के जीवन में लाते जाते है कि उनके सयोग से धीरे-धीरे पात्रों के विविध रूप खुलते जायें। वर्माजी के लगभग सभी उपन्यासों की पृष्ठभूमि (सेटिग) बड़े-बड़े नगर हैं और उनके अधिकाश पात्र या तो स्वयं समाज के उच्च और सम्पन्न वर्ग में से हैं और या फिर उच्च वर्ग के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाने से उसके रहन-सहन तथा सामाजिक मूल्यों को अपनाए हुए हैं। नगरो का यह उच्च वर्ग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण सुख-सुविधा से भरपूर तो है ही, मान और प्रतिष्ठा के उच्चासन पर भी है। इसके अतिरिक्त गावों के सम्पन्न परिवारो तक को भी जिन सामाजिक रीति-नीतियों का पालन करना पड़ता है, नगरों में बिरादरी प्रथा के शिथिल हो जाने से इस प्रकार का कोई भी अंकुश उन लोगो पर नहीं रहता। उनका जीवन होता है—स्वच्छन्द और उन्मुक्त, लोकलाज की चिंता से मुक्त। धन और समय दोनों की उनके पास कमी नही रहती, बल्कि समस्या यह होती है, उसे कहा और कैसे लगाया जाए। वे लोग आए दिन डिन्नरो, पार्टियों, वर्षगांठों, कवि गोष्ठियो, विवाद-सभाओं आदि का आयोजन करते रहते है। एक-दूसरे से उनकी मुलाकात अचानक भेट (चास एनकाउण्टर) रूप में नही होती, प्रत्युत् पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर होती है और वहां उनका पारस्परिक परिचय भी, यदि पहले न हुआ हो, औपचारिक ढंग से हुआ करता है। इसलिए वर्मा जी के उपन्यासो की अधिकाश स्थितियां औपचारिक ही होती हैं। उन स्थितियों में उनके पात्र आजाने में नही फसते, प्रत्युत् उनके लिए पहले से ही तैयार होकर आते हैं। इन बैठको तथा समारोहो पर यद्यपि 'लेबल' तो वर्षगांठों, साहित्यिक समाजों, राजनीतिक दलों की बैठकों, आदि के लगे रहते हैं, पर इन का आयोजन संयोजको द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से होता है—वह उद्देश्य औरो के साथ किसी विशेष व्यक्ति को बुलाकर उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में ला, अपना उल्लू सीधा करने से लेकर दूसरो पर अपने अधिकार, विद्वत्ता और सौदर्य की धाक बैठाने आदि तक चाहे कुछ भी हो। इस प्रकार की दो-चार बैठको में आने-जाने से ही पात्रो में आपसी रोमास पलने आरम्भ हो जाते है, उनमें प्रतिद्वन्द्विता बढने लगती है और उनके जीवनततु एक-दूसरे से उलझने लगते हैं।

चरित्र-विकास के लिए

"चित्रलेखा" की अधिकांश स्थितियां जिन में पड़कर पात्रों का चरित्र धीरे-धीरे प्रकाश में आता है, औपचारिक ही हैं। उसमें पात्रों की एक दूसरे से अचानक भेंट नही हो जाती। सभी पात्र स्थिति से भिड़ने के लिए तैयार हो कर आते हैं। यशोधरा की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में मृत्युंजय के यहां उत्सव का आयोजन और अन्य सामंतों के साथ बीजगुप्त का निमंत्रित किया जाना तथा चित्रलेखा को नर्तकी की अपेक्षा भद्र-महिलाओं में स्थान दिया जाना, ऊपर से साधारण प्रतीत होने पर भी सोद्देश्य था। वृद्ध मृत्युंजय यशोधरा के लिए वर खोज रहे थे और एकाएक उनकी दृष्टि बीजगुप्त पर पड़ चुकी थी। उसे यशोधरा के निकट लाने के लिए ही यह समस्त आयोजन था। इसी प्रकार महाराज चन्द्रगुप्त की सभा के औपचारिक वातावरण में ही चित्रलेखा कुमारगिरि पर मुग्ध हुई थी। उन दोनों समाजों से ही चित्रलेखा और कुमारगिरि तथा यशोधरा और बीजगुप्त के जीवन एक-दूसरे से उलझने लगे थे।

'तीन वर्ष' के पूर्वार्द्ध की सभी स्थितियां औपचारिक हैं। रमेश और प्रभा का प्रथम परिचय अजित ने औपचारिक ढग से कराया और उसके बाद उनकी सभी पारस्परिक भेटे औपचारिक ही रही हैं। प्रभा और रमेश की किसी भी अनौपचारिक भेंट का चित्रण इस उपन्यास में नही मिलता। रमेश प्रभा के प्रेमपाश में अधिकाधिक उलझता जा रहा है, इस बात का पता रमेश और अजित की समय-समय पर बात-चीत से ही प्राप्त होता है, रमेश और प्रभा अनौपचारिक रूप से प्रेमालाप करते समूचे उपन्यास में कहीं नही मिलते। लीला और अजित तथा लीला और अविनाश का पारस्परिक परिचय भी औपचारिक रूप से होता है। पर ऊपर से औपचारिक और सामाजिक प्रतीत होने पर भी इन समाजों, गोष्ठियों, डिनरों के पीछे आयोजन-कर्ताओं का एक विशेष उद्देश्य झलके बिना नहीं रहता है। प्रभा की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में सर कृष्ण के यहां हुए उत्सव में अजित और लीला तथा प्रभा और रमेश को एक दूसरे के निकट आने का एक अच्छा अवसर मिल गया। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' भी राजनीतिक बैठकों, साहित्यिक गोष्ठियों, प्रीतिभोजों आदि से भरा पड़ा है, जिनमें पात्र मीटिग में प्रस्तुत विषय को छोड़ कर व्यक्तिगत मामलो पर ही एक-दूसरे से उलझ पड़ते है।

स्थित्यंश पर कैमरे का फोकस

औपचारिक स्थितियों की सूचना वर्मा जी के पात्रो को पहले से ही मिल जाती है। उनके पाठकों को तो कई बार इससे भी पहले मिल जाती है। तभी वे उनमें अजाने नहीं आ फंसते, प्रत्युत् उनके लिए पूरी तरह से तैयार होकर आते हैं। यशोधरा की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में मृत्युंजय के घर हो रहे उत्सव के लिए चित्रलेखा

को बीजगुप्त के माध्यम से पहले ही निमन्त्रण मिल चुका था और क्योंकि इससे पहले वह उच्च कुलों के उत्सवों में केवल नर्तकी की स्थिति में ही जाने की अभ्यस्त थी, उससे यह सम्भावना छिपी न थी कि 'कुलीन स्त्रियां' उसका अपमान कर बैठें। सम्बन्धित पात्रों को स्थिति विशेष में डालते समय वर्मा जी स्थिति का, आसपास के वातावरण का, लम्बा-चौडा वर्णन न करके स्थिति के उसी पक्ष को लेते है, जिसका उन पात्रों से सीधा सम्बन्ध होता है। मृत्युंजय के यहां हो रहे उत्सव पर वहां की सजधज, चहल-पहल तथा अन्य सामन्तों की ठाठ-बाट के चित्रण में न उलझ कर बीजगुप्त और चित्रलेखा पर ही अपना कैमरा 'फोकस', किए रखते हैं। उनके रथ से उतरते ही उन्हें उचित स्वागत और आदर के साथ बैठाया जाता है। इसके बाद लेखक एक-एक करके चित्रलेखा, बीजगुप्त, यशोधरा, मृत्युंजय और बाद में आए योगी कुमारगिरि की ओर अपना कैमरा घुमाता जाता है। कई बार तो ऐसा लगने लगता है, इन लोगों के सिवा इस उत्सव में और कोई है ही नही—और यदि हैं तो गूंगे होगे। 'तीन वर्ष' में सर कृष्ण के यहां प्रभा की वर्षगाठ के उपलक्ष्य में हुए डिनर की भी सूचना पात्रों को पहले ही मिल जाती है और वे स्थिति के लिए तैयार होकर आते हैं। डिनर के व्यौरेवार वर्णन में न उलझकर, प्रत्युत चार-पाच पक्तियो में ही उसका संक्षिप्त परिचय देकर—'रविवार आया, सर कृष्ण के यहां......दावत थी। नगर के प्रमुख नागरिक आमन्त्रित थे, प्रबन्ध पाश्चात्य ढग पर किया गया था। प्रभा अपने मेहमानों के साथ व्यस्त थी...'। लेखक शेष सब को भूलकर अपना ध्यान लीला, रमेश और अजित की पर केन्द्रित कर लेता है और उन्हें मेहमानो की भीड़ में से निकालकर लायब्रेरी में ला बैठाता है। इस प्रकार देखते है कि लेखक कही भी अनावश्यक विस्तार के मोह में नही पड़ता।

अपसाधारण (ऐबनौर्मल) स्थितियाँ

यद्यपि भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों की अधिकाश स्थितियाँ पूर्व-निर्धारित तथा औपचारिक हैं, तो भी उनमें आकस्मिक तथा अपसाधारण स्थितियों की भी कमी नही। औपचारिक स्थितियो के लिए उनके पात्र पहले से ही तैयार रहते है पर इन आकस्मिक तथा असाधारण स्थितियो में वे अपने अजाने में ही फँस जाते हैं। पहले से तैयार रहने के कारण औपचारिक स्थितियों में पड़ने पर उनके पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके हाव-भाव, उनके आचार-व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती है। पर इन आकस्मिक स्थितियों में उनका सहज स्वाभाविक आचरण फूट पड़ता है। उनके पात्रों का वास्तविक रूप इन स्थितियों में ही खुल पाता है, यद्यपि इनके प्रति व्यक्त होने वाली उनकी प्रतिक्रिया का अनुमान लगाना असम्भव-सा ही होता है। मानसिक सतुलन खो बैठने पर पात्रों के भीतर जो तनाव (टैन्शन) पैदा हो जाता है उसे निकास-मार्ग देने के लिए ही लेखक ने इन असाधारण स्थितियों का समावेश किया है।

'तीन वर्ष'—'तीन वर्ष' के पूर्वार्द्ध में नायक रमेश के भीतरी जीवन में कोई

तनाव नही था। पूर्वार्द्ध का अन्त होते-होते प्रभा द्वारा उसके विवाह-प्रस्ताव के ठुकराए जाने पर रमेश अपना मानसिक सतुलन खो बैठता है और उसके भीतर एक गाठ पड़ जाती है, जिसे खोलने या कम-से-कम ढीली कर देने के लिए उत्तरार्द्ध में असाधारण स्थितियों का समावेश हुआ। सरोज वेश्या से उसकी प्रथम भेट इसी प्रकार की स्थिति में हुई, वह पूर्वनिश्चित न होकर एक अचानक भेट ही थी। परिस्थिति की माँग होने पर भी रमेश के व्यवहार में किसी प्रकार की कृत्रिमता नही मिलती। रमेश की तत्कालीन मन.स्थिति देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि वह क्या कुछ कर डालेगा। कुछ भी हो इस स्थिति में पडने से उसका भीतरी तनाव कुछ ढीला अवश्य हुआ। 'प्रयाग छोड़ने के बाद उसका वह पहला दिन था, जब उसने अपने हृदय को कुछ हलका पाया।'

चित्रलेखा—'चित्रलेखा' के अन्तिम चरण में भी लेखक कुछ एक ऐसी असाधारण स्थितियों का निर्माण कर देता है, जिनके कारण एक ओर चित्रलेखा क्रोध में आकर कुमारगिरि को अपना शरीर सौंपकर उसकी वासना का साधन बन जाती है और दूसरी ओर घोर निराशा में बीजगुप्त पहले स्वार्थवश यशोधरा से विवाह करने का निश्चय कर लेता और फिर श्वेताङ्क के प्रस्ताव को सुनकर केवल यशोधरा के आकर्षण को ही नही छोड़ देता अपितु श्वेताङ्क से उसका विवाह कराने के प्रयत्न में अपनी समस्त सम्पत्ति और सामंत की पदवी भी उसके लिए त्याग देता है। इस प्रकार एक-दूसरे के प्रति गलतफहमी के कारण दोनों के मन में जो एक जबर्दस्त तनाव पैदा हो गया था, उसके लिए निकास-मार्ग मिल जाता है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वीनापुर के निरीह किसानों की स्थिति देखकर मनमोहन के मन में जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका निकास रामसिह की हत्या में हुआ। मनमोहन के मानसिक तनाव का अदाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि वीणा के कमरे में पहुँचकर भी वह उसे नही देखता और बाद में उसे देखकर चौंकते हुए कहता है : 'क्षमा कीजिए, मैंने आपको देखा नही था। मैं आपके अस्तित्व को और आपके ही अस्तित्व को नही, स्वयं अपने अस्तित्व को भूला हुआ था।'

क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

व्यक्ति के डील-डौल, उसकी वेश-भूषा तथा हाव-भाव के आधार पर लगाया गया अनुमान बहुधा भ्रामक सिद्ध होता है। किसीने कदाचित् इसीलिए कहा है कि 'राह पिया जाने या वाह पिया जाने'; अर्थात् किसी रास्ते की कठिनाइयों को वह जानता है जो उस रास्ते से हो आया हो और इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बारे में वही ठीक-ठीक जानता है जिसका उससे कभी पाला पड़ चुका हो। मनुष्य व्यवहार से पहचाना जाता है। व्यवहार से मनुष्य पहचाना तो जरूर जाता है पर एक-बार के व्यवहार से नही। किसी व्यक्ति का व्यवहार सदा एक-सा नहीं रहता। विभिन्न

स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का प्रकट होना तो साधारण बात है, पर कई बार दो समान स्थितियों में एक ही व्यक्ति की अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ होती देखी जाती हैं। इसलिए किसी व्यक्ति का प्रथम भेंट के समय का व्यवहार हमारे हृदय-पटल पर जो छाप छोड़ जाता है, उसकी जाच करने के लिए जीवन की विविध स्थितियो में उसकी प्रतिक्रियाओ का अध्ययन करना पड़ता है।[९४]

चरित्रोद्‌घाटन

भगवतीचरण वर्मा अपने पात्रों के विविध रूपों का उद्‌घाटन करने के लिए अपने उपन्यासों में अनेक प्रकार की स्थितियों का निर्माण करते रहते हैं और उन स्थितियों में पात्रों को इस प्रकार डालते हैं कि उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ अपने-आप प्रतिबिम्बित होती चलें।

अजित—पिस्तौल की आवाज सुनकर जब बोर्डिंग हाऊस के लड़के 'क्या हुआ, क्या हुआ' कहते 'तीन वर्ष' के नायक रमेश के कमरे में घुस आए तो रमेश की गोली द्वारा घायल होने पर भी अजित ने मुस्कराहट की ओट में सचाई को छिपाते हुए कह दिया : "बड़ी खैर हो गई। क्या बताऊँ, पिस्तौल का सेफ्टी बिगड़ा हुआ था, और मुझे यह मालूम न था। मैं उसे देख रहा था कि अचानक गोली छूट गई।"[९५] अजित यदि चाहता तो सच-सच बताकर रमेश को फाँसी के तख्ते पर लटकवा देता, पर उसकी इस प्रतिक्रिया से यह स्वतः ही प्रकट हो गया कि वह अपने घातक रमेश का कितना हितचिंतक था। उसकी इस प्रतिक्रिया के बाद उसके इस कथन में सार दिखाई देने लगता है : "पर एक बात समझ लो, रमेश, मैंने जो कुछ किया, सद्भावना से प्रेरित होकर किया···मैंने जान-बूझकर तुम्हारा अहित नही किया।"[९६] यदि लेखक चाहता तो अजित को गोली लगने से मरवा भी सकता था—इस घटना के बाद तो वह उपन्यास में मर-सा ही जाता है—पर तब उसकी वह उदारता न प्रकट हो पाती जो उसने रमेश को बचाकर दिखा दी।

झगड़ू—राजनीतिक कलाबाजियों से अनभिज्ञ 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के अनपढ़ ब्राह्मण झगड़ू की आत्मा कितनी सजग थी, यह रामनाथ के विरुद्ध बानापुर के लोगों के सशस्त्र विद्रोह के प्रति उसकी प्रतिक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। यह जानते हुए भी कि ज्यादती रामनाथ की है, हिंसा को रोकने के लिए वह उसपर लेट गया और उसे बचाने के प्रयत्न में अपनी जान तक न्यौछावर कर दी।[९७]

महालक्ष्मी—उमानाथ के लाख गिड़गिड़ाने पर भी रामनाथ ने उसे देश से

---

९४. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 33.

९५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४४।

९६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४५।

९७. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ३७९।

बाहर भाग निकलने के लिए रुपया देने से यह कहते हुए साफ इन्कार कर दिया : "उमा जाओ यहाँ से। तुम समाज के सबसे भयानक शत्रु हो—जाओ मेरे सामने से—जाओ।" ज्यो ही उमानाथ मर्माहत होकर निकलता है, लेखक उस स्थिति में उसकी पत्नी महालक्ष्मी को डालकर उसकी प्रतिक्रिया के माध्यम से उसके चरित्र की परमोज्ज्वलता को प्रकाश में लाने के इस अवसर का लाभ उठाता है : "वह कमरे से बाहर निकला और उसने देखा कि महालक्ष्मी खड़ी है। महालक्ष्मी ने भर्राए हुए स्वर में कहा 'मेरे साथ आइए।' उमानाथ चुपचाप महालक्ष्मी के साथ भीतर अपने कमरे में चला गया। उमानाथ को बिठलाकर महालक्ष्मी ने अपनी अलमारी खोली। अलमारी में से उसने गहनों का बक्स निकाला—और वह बक्स उसने उमानाथ के सामने रख दिया। उसने कहा—'मैंने आपकी और दद्दुआ की बातें सुनीं। मेरे पास कुल दो हजार रुपये हैं—बाकी मेरा गहना है, यह सब आप ले जाइए'—और उमानाथ ने देखा कि लक्ष्मी उसके चरणों को पकड़े हुए रो रही है।"[६८] महालक्ष्मी की इस प्रतिक्रिया में उसकी पतिभक्ति साकार हो उठी और पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में पथ-भ्रष्ट उमानाथ को भी यह स्वीकार करना पड़ा—'महालक्ष्मी ! तुम स्त्री नहीं हो, देवी हो।'

रामेश्वर—इसी प्रकार 'आखिरी दाँव' के आरम्भ में रामेश्वर जब पहले-पहल चमेली को सिपाही के चगुल से छुड़ाकर घर ले आया था तो ऐसी आशंका हो सकती थी कि वह भी उसे अपनी वासनापूर्ति का साधन बनाएगा, पर पहली रात ही चमेली को कमरे में अकेली सुलाकर स्वयं मूसलाधार वर्षा की बौछारों की चिन्ता छोड़, बाहर बरामदे के फर्श पर ही बिस्तर करके दीवार के साथ बैठे-बैठे सारी रात बिताते दिखाकर लेखक उसके आचरण में उसकी सच्चरित्रता प्रतिबिम्बित कर देता है।[६९]

आवेगज आचरण

तात्क्षणिक मनोदशा का चित्रण

पात्रों की प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएं तभी झलकती हैं, जब वे प्रकृतिस्थ हों। पर जब वे आपे से बाहर हुए हों तो उनकी उस समय की आवेगज प्रतिक्रिया उनके स्वभाव की किसी विशिष्टता को न प्रकट करके उनकी तात्कालिक मनोदशा का ही उद्घाटन करती है।

रमेश—'तीन वर्ष' के नायक रमेश के पहले आचरण को देखकर उससे यह कभी भी आशा नही की जा सकती थी कि वह अपने सच्चे मित्र अजित के प्राण लेने

६८. वही, पृष्ठ ५४०-५४१।
६९. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ २४।

पर उतारू हो जाएगा। उसके इस दुस्साहस से यह प्रकट होता है कि जब उसने अजित पर गोली चलाई तब वह प्रकृतिस्थ नही था। उन्मादावस्था में ही उसने ऐसा किया। पिस्तौल की आवाज ने ज्योंही उसके उन्माद को तोड़ा, वह बेहोश होकर गिर पड़ा। अजित को भी उसके उन्माद का तभी पता चला जबकि गोली उसके बायें हाथ से रगड़ती हुई निकल गई—'रमेश, तुम इतने बड़े पागल हो जाओगे यह मैं न जानता था।'[१००]

वीणा—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में रामनाथ ने दो अवसरो पर बंगाली लड़की वीणा को घर से बाहर निकल जाने के लिए कहा। दोनों बार वीणा की प्रतिक्रिया भिन्न रही। पहली बार जो रामनाथ ने चिल्लाकर कहा—'जाओ यहाँ से, इसी समय मेरे घर से निकल जाओ'[१०१] तो उसकी इस चिल्लाहट की प्रतिक्रिया में वीणा ने मानो आग उगली—'इस तरह चिल्लाना आपको शोभा नहीं देता—मैं स्वयं जा रही हूँ। विश्वासघातियों के घर का अन्न खाकर मैंने अपने को अपवित्र कर लिया है—इसका प्रायश्चित्त करना होगा न।'[१०२] परन्तु दूसरे अवसर पर जब रामनाथ ने क्रोध से भरे पहले से भी कड़े शब्दों में कहा—'चुप रहो, और जाओ यहाँ से चुड़ैल कहीं की। अब मुझे अपना मुँह मत दिखाना'[१०३] तो गाली सुनने पर भी, वीणा ने अनायास ही झुक-कर रामनाथ की चरणधूलि अपने मस्तक पर लगा ली।[१०४] वीणा की इन दोनों प्रति-क्रियाओं में उसकी मन:स्थिति बोल उठती है।

चमेली—काण्ट्रैक्ट पर हस्ताक्षर हो चुकने के बाद जब सेठ शिवकुमार ने 'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली के हाथ में चार हजार का चैक पकड़ा दिया तो उसकी (चमेली) की "आंखो में आसू आ गए",[१०५] और उसने 'अनजाने में ही'[१०६] अपने को समर्पित कर दिया: 'सेठ·········आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया, मैं उसे जन्मभर न भूलूँगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[१०७] आश्चर्य होता है कि ये वाक्य उसी चमेली के हैं, जिसने राधा के यहाँ शिवकुमार को बुरी तरह लथाड़ते हुए कहा था: 'सेठ! तुमने मुझे राधा की तरह रण्डी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुंह से निकाली तो जीभ खीच लूंगी',[१०८] केवल इतना कहा ही नही था, अपितु राधा को धक्का देकर वह कमरे

१००. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४४।
१०१. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ४९३।
१०२. वही, पृष्ठ ४९३।
१०३. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ५०३।
१०४. वही, पृष्ठ ५०३।
१०५. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ १००।
१०६. वही, पृष्ठ १०१।
१०७. वही, पृष्ठ १०१।
१०८. वही, पृष्ठ ४३।

के बाहर भी निकल गई थी। उसकी तब की प्रतिक्रिया उसके चरित्र की विशिष्टता —रामेश्वर से अनन्य प्रेम की द्योतक थी पर इस समय का उसका समर्पण भी रामेश्वर को बचाने के लिए रुपये मिलने पर मिली उसकी मनस्तुष्टि का ही परिचायक है— इससे बढ़ कर कुछ नही—सेठ शिवकुमार ने उसका अर्थ चाहे कुछ भी लगाया हो।

उपन्यासकार द्वारा टीका-टिप्पणी

उपन्यास जीवन का दर्पण है। यही नहीं, प्रत्येक अच्छा उपन्यास एक जीवन-दर्शन भी होता है। जीवन के प्रति उपन्यासकार का अपना एक दृष्टिकोण रहता है, जो उसके उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाने के लिए अधीर रहता है। वैसे तो उपन्यास में नाटकीय और अनाटकीय दोनों प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण होने से उपन्यासकार को यह सुविधा रहती है कि वह नाटकीय या वर्णनात्मक प्रणालियों में से जब जिसे चाहे अपना सकता है,[१०९] पर उपन्यास-जगत् के कोमल मायाजाल को बनाए रखने और उसमें पाठक को भरमाए रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे लेखक के अस्तित्व का—इस तथ्य तक का भी कि वह उपन्यास पढ़ रहा है—आभास न होने दिया जाए,[११०] और लेखक पाठक तक जो कुछ पहुचाना चाहता है उसे उपन्यास की घटनाओं, पात्रों के कथोपकथनो तथा उनकी क्रिया-प्रतिक्रियायो के माध्यम से ध्वनित करा दे, अन्यथा वस्तु-जगत् के लेखक को देखते ही पाठक के कल्पना-चक्षुओं के आगे से उपन्यास-जगत् लुप्त हो जायगा और वह धड़ाम से वस्तु-जगत् में आ गिरेगा।[१११] सिद्धांततः यह जानते हुए भी जीवन की विविध स्थितियो में प्राप्त लेखक के अनुभव और उनके आधार पर जीवन और जगत् के बारे में बने हुए उसके विश्वास और मान्यताएँ अनायास ही अपने नग्न रूप में फूट पड़ते हैं, लेखक उनके प्रकाशन का मोह संवरण नही कर सकता और पाठकों के सामने सीधा आकर टीका-टिप्पणी करने लग जाता है।

प्रतिक्रिया की पूर्वसूचना

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में भी ऐसे स्थलों की कमी नहीं, जहां वह सीधे पाठकों के सामने आकर किसी स्थिति-विशेष पर, पात्रों की किसी क्रिया-प्रतिक्रिया पर या उसपर प्रकाश डालने के लिए, अथवा उनके जीवन में आनेवाले मोड़ो की पूर्वसूचना देने के लिए अपनी ओर से टीका-टिप्पणी आरम्भ कर देते हैं। पात्रों को किसी स्थिति में डालने से पहले उस स्थिति का चित्रण तो उपन्यासकार को करना

१०९. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.

११०. Ford, 'Joseph Conrad : A Personal Remembrance', 1924, p. 186.

१११. A. A. Mendilow, 'Time and the Novel', 1952, p. 101-102 :
"The merest hint of the author's existence is sufficient to burst the delicate bubble of illusion."

ही होता है, पर वर्माजी कई बार स्थिति के चित्रण से पहले ही एक ऐसी टिप्पणी जोड़ देते हैं, जिसमें उस स्थिति के बारे में उनका अपना दृष्टिकोण ही नहीं रहता, प्रत्युत् उसमें पड़नेवाले पात्र के साथ लेखक के एकात्मीकरण (आइडेन्टीफिकेशन) कर लेने से उस पात्र की भावी प्रतिक्रिया की पूर्वसूचना भी मिल जाती है।

प्रभानाथ—'टेढे-मेढे रास्ते' में उनकी इस प्रकार की एक टिप्पणी तीन पृष्ठों तक में फैली हुई है। प्रभानाथ को कलकत्ता ले जाकर वीणा से उसकी आकस्मिक भेंट कराने से पहले उस नगर के बारे में उनकी अपनी टिप्पणी में उसके प्रति उनका अपना जो दृष्टिकोण है—'ऐश के सभी सामान इस नगर में मौजूद हैं, और यह ऐश मनुष्य मानवता का गला घोंटकर, कर रहा है। इस नगर में शान्ति नहीं है, यहां जो कुछ है, वह आज का पिशाच है और उस पिशाच में गुलाम बनाने की प्रबल अभिलाषा है'[११२]—उसके अनुरूप ही उनके पात्र प्रभानाथ की प्रतिक्रिया भी प्रकट होती है: 'प्रभानाथ को कलकत्ता अच्छा नहीं लगा...कलकत्ता की दानवता ने उस भोले नवयुवक की आत्मा पर एक प्रहार-सा किया।'[११३] कितना अच्छा होता यदि लेखक कलकत्ता के बारे में अपनी ओर से कुछ न कहकर अपने इस युवक पात्र की नगर के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में ही व्यक्त करता।

सिद्धांत-व्याख्या

पात्रों के चरित्र-विकास की किसी दिशा-विशेष के कारणों (प्रेरकों) पर प्रकाश डालने के लिए वर्माजी अनेक बार पहले किसी व्यापक सिद्धान्त की व्याख्या में एक टिप्पणी जोड़ देते हैं—जो कथानक में अलग ही एक थिगली सी दीखती रहती है[११४]—और फिर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि इस सिद्धांत के अधीन ही उस पात्र के जीवन-विकास ने वह दिशा ग्रहण की। चित्रलेखा तथा कुमारगिरि के जीवन-सूत्रों के आपस में उलझ जाने के कारणों पर प्रकाश डालता हुआ लेखक पहले एक सिद्धांत का उल्लेख करता है: "कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जो दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करके उसे दबा देते हैं और उसको अपना दास बना लेते हैं।"[११५] और फिर उस सिद्धांत को चित्रलेखा पर लागू कर देता है: "चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था......और कुमारगिरि अपने को रोक न सका।"[११६]

११२. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ६०-६२।

११३. वही, पृष्ठ ६३।

११४. Mendilow, 'Time and the Novel', p. 102.

"It is true that fiction does not, and cannot, and should not, if it could, reproduce life photographically, it must comment on it and interpret it. But the comment must be implicit in the whole; it must flower up from within, not be stitched on from without. A purple patch is stll a patch."

११५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ १४६।

११६. वही, पृष्ठ १४६।

'पतन' के रणवीर में सुभद्रा से प्रेम करने के सम्बन्ध में जो अतर्द्वन्द्व छिडा उसका चित्रण आरम्भ करने से पहले ही लेखक तीन पृष्ठों की अपनी एक टिप्पणी जोड़ देता है—'कहा जाता है कि प्रेम अंधा होता है, और इस कथन में सत्य की एक बड़ी मात्रा है......प्राय. देखा गया है कि प्रेम और कर्तव्य में बड़ा तुमुल युद्ध होता है। एक-दूसरे के मार्ग पर बाधा की भांति खड़ा रहता है, और इसके कारण है।'[११७] कारणों पर प्रकाश डालता हुआ लेखक प्रेम और अंतरात्मा के विश्लेषण में उलझ जाता है और चौथे पृष्ठ पर जाकर कही रणवीर के मानसिक संघर्ष का चित्रण आरम्भ करता है : 'रणवीर की अंतरात्मा और उसके प्रेम में युद्ध होने लगा......'[११८]

जुए की जिस लत के कारण 'आखिरी दाँव' का नायक रामेश्वर सब कुछ हारकर बम्बई आया, उसकी प्रेरणा उसे क्यों और कैसे मिली, इसपर प्रकाश डालने के लिए लेखक प्रसंग से पूर्व ही एक टिप्पणी जोड़ देता है, जिसमें उस स्थिति के प्रति लेखक का अपना दृष्टिकोण ही व्यक्त नहीं होता, उसके पात्र की प्रतिक्रिया भी उसी सिद्धांत के अधीन व्यक्त होती है : 'गृहस्थी और गरीबी में वैर है, लेकिन गरीबों के लिए वह अभिशाप है। गृहस्थी तभी जमाई जा सकती है जब पास में सम्पत्ति हो, रुपया-पैसा हो.........और रामेश्वर सोचने लगा कि रुपया पैसा आवे कहाँ से ? पन्द्रह बीघे की खेती से तो इतना रुपया नहीं आता था कि वह कुछ बचा सके। खेती के अलावा उसे रुपया पैदा करने के लिए कुछ और उपाय करना आवश्यक था।'[११९]

दार्शनिक टिप्पणियाँ

अपने आरम्भिक उपन्यासों में वर्माजी नया परिच्छेद शुरू करते हुए पिछले परिच्छेद में छोड़े कथासूत्र को एकदम नहीं पकड़ लेते, प्रत्युत् उसका आरम्भ एक दार्शनिक टिप्पणी से करते हैं, जिसमें किसी एक व्यापक सिद्धांत के उल्लेख द्वारा अपने किसी पात्र-विशेष के चरित्र-विकास की भावी दिशा की ओर संकेत कर देते हैं। 'चित्रलेखा' के नायक बीजगुप्त के जीवन में यशोधरा के आ जाने से उसे जो मानसिक यातना झेलनी पड़ी, उसकी ओर संकेत करता हुआ लेखक परिच्छेद के आरम्भ में ही एक दार्शनिक टिप्पणी जोड़ देता है : 'दिन के बाद रात, और रात के बाद दिन। सुख के बाद दु:ख, और दु.ख के बाद सुख.........यही परिवर्तन का नियम है। संसार परिवर्तनशील है, मनुष्य उसी संसार का एक भाग है।

---

११७. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १५५-१५७।
११८. वही, पृष्ठ १५८।
११९. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ ४-५।

बीजगुप्त मनुष्य था—उसने सुख देखा था, उसके लिए दुःख को देखना भी आवश्यक था।'[१२०]

इसी प्रकार चित्रलेखा के जीवन में जो क्रांति मची और जिसके कारण वह नष्ट हो गई, उसकी ओर संकेत करने के लिए लेखक ने उपन्यास के आठवें परिच्छेद के आरम्भ में जो टिप्पणी लिखी है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है—अपनी दार्शनिकता के कारण : 'महासागर के शांत वक्षःस्थल पर भयानक झझावात उठाने के पहिले एक घोर निस्तब्धता छा जाती है, उस समय वायुमण्डल उत्तेजित हो उठता है और सारा वातावरण भावी क्रांति की आशंका से शून्य-सा हो जाता है। उसके बाद ? वायु के प्रचण्ड झोंके·········लहरों का ताण्डव नर्तन तथा विप्लव-गायन·········और उसके बाद ? अग्नि के शोले—और विनाश।'[१२१] इतना कुछ लिख चुकने के बाद जाकर लेखक कहीं पिछले परिच्छेद में छोड़े कथासूत्र को पकड़ता है—'चित्रलेखा का रथ बीजगुप्त के द्वार पर रुका······'[१२२]

उपन्यासकार द्वारा इस प्रकार की टीका-टिप्पणी एक तो उपन्यास के कथा-प्रवाह तथा चरित्र-विकास में गतिरोध ला देती है और दूसरे, अनेक बार आवश्यकता से पहले ही पात्रों के जीवन में आनेवाले अगले मोड़ों की पूर्वसूचना देकर उनके प्रति उत्सुकता के भाव को कम कर देती है। पर इनसे भी अधिक अखरनेवाली बात यह है कि इस प्रकार की टीका-टिप्पणियों से पाठक प्रायः झुंझला जाया करता है। इन टिप्पणियों में उसे यह ध्वनि मिलती है कि लेखक उसे कल का बच्चा समझे बैठा है जो बार-बार प्रकट होकर उपन्यास की विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों के चरित्र-विकास की विविध दिशाओं की व्याख्या करने लग जाता है, मानो पाठक निरा बुद्धू हो और लेखक की इस टीका-टिप्पणी के अभाव में कुछ भी न समझ सकता हो।[१२३] उसे यह भी खटकने लगता है कि इन टीका-टिप्पणियों के रूप में उपन्यासकार अपनी मान्यताएँ और अपने विश्वास लादना चाहता है मानो वह पाठकों को किसी स्वतंत्र निर्णय पर पहुँचने ही न देना चाहता हो।

पाठकों के सामने सीधा आने की यह प्रवृत्ति वर्माजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। उनकी उपन्यास-कला में प्रौढ़ता आने के साथ-साथ उनकी यह प्रवृत्ति स्वतः ही दबती गई है। 'पतन' के नायक रणवीर और

१२०. वर्मा, चित्रलेखा', पृष्ठ १२६।

१२१. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ७३।

१२२. वही, पृष्ठ ७३।

१२३. Charles Lamb in his letter dated 30th January, 1801 to Wordsworth 'Time and Novel', p. 101 :

"An intelligent reader finds a sort of insult in being told, 'I will teach you how to think upon this subject.' This fault, if I am right, is in a ten thousand worse degree in Sterne and many...They set out with assuming their readers to be stupid,"

'तीन वर्ष' के नायक रमेश को, उन्हे वासना-पूर्ति का साधन वनाने के लिए क्रमशः सरस्वती और परमा द्वारा किए गए प्रयत्नों को विफल बनाने में, लगभग एक-सी ही स्थिति का सामना करना पड़ा, उनकी प्रतिक्रियाएँ भी लगभग समान ही रही, फिर भी उनके चित्रण में काफी अंतर आ गया है—वर्माजी की उपन्यास-कला के विकास होने के कारण। 'पतन' में लेखक तीन-चार पंक्तियों में ही स्थिति को गम्भीर बना देता है : 'सरस्वती आगे-आगे थी और रणवीर पीछे। द्वार पर जाकर वह रुकी—रणवीर भीतर चला गया। सरस्वती ने झपटकर भीतर से द्वार बन्द कर लिये, रणवीर चौंक उठा। सरस्वती अर्धनग्नावस्था में पलंग पर बैठ गई······उसने रणवीर का हाथ पकड़ लिया।'[१२४] रणवीर के प्रश्न पर कि 'सरस्वती, यह क्या ?' वह हंस पड़ी, सारा कमरा उस हंसी के उतावलेपन से गूंज उठा। पर एकाएक वह गम्भीर हो गई। उसने कहा—'रणवीर तुम इस समय जानते हुए भी मुझसे बन रहे हो।'[१२५]इस स्थिति में रणवीर की प्रतिक्रिया क्या हुई होगी, इस बात को उठा कर—'रणवीर सरस्वती के इस व्यवहार के लिए प्रस्तुत न था'—लेखक बीच में ही बहक जाता है और दर्शन और मनोविज्ञान की बातें करने लगता है : 'यौवन और उल्लास, ये दो सदा साथ रहते हैं······व्यभिचार के दो कारण होते हैं—समाज और प्रकृति।······प्रकृति दूसरा कारण है और यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य की प्रकृति का विश्लेषण करना बड़ा कठिन है······"[१२६] और इसीमें डेढ़ पृष्ठ से भी अधिक भर देने के पश्चात् रणवीर की प्रतिक्रिया का वर्णन करना आरम्भ करता है और उसे कुछ एक पंक्तियों में समाप्त भी कर देता है : "रणवीर ने सरस्वती की ओर देखा। एक बार उसका चित्त विचलित हुआ, दूसरे ही क्षण उसने अपने को रोक लिया—'जानती हो तुम प्रकाशचन्द की स्त्री हो।'[१२७]

इस प्रकार की स्थिति का सामना 'तीन वर्ष' के नायक रमेश को भी करना पडा था और उसकी प्रतिक्रिया भी लगभग वैसी ही हुई थी जैसी कि रणवीर की। शरीर समर्पण के लिए अधीर वासनामयी परमा को उसे भी कहना पड़ा था—'परमा, तुम विनोद की हो[१२८] और उसके हठ करने पर वह यह कहता हुआ तेजी के साथ जीने से नीचे उतर गया था—'तुम होश में नहीं हो, परमा···विनोद मेरा मित्र है, यह याद रखना।'[१२९] समान होने पर भी इन दोनों की प्रतिक्रियाओं में अंतर है। 'तीन वर्ष' तक पहुंचते-पहुंचते वर्माजी की शैली मंज चुकी थी। इसीलिए यहाँ न तो

---

१२४. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १४४।
१२५. वही, पृष्ठ १४४।
१२६. वही, पृष्ठ १४५।
१२७. वही, पृष्ठ १४६।
१२८. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १८०-१८१।
१२९. वही, पृष्ठ १८१।

मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों की नीरस चर्चा है और न ही अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने का मोह।

वर्माजी के प्रौढ़ उपन्यासों में जगत् और जीवन के जटिल विषयों पर दार्शनिक चर्चाएँ न चली हों या उनमें से कोई जीवन-दर्शन न प्रस्फुटित हुआ हो, यह बात नहीं। प्रत्युत् उनके प्रौढ़ उपन्यासों में यह सब-कुछ अधिक मात्रा में ही मिलेगा। फिर भी वहाँ यह भली प्रकार से खप गया है, क्योंकि उनमें लेखक सीधा पाठकों के सामने आता नहीं, अपितु उन तक जो कुछ भी पहुँचाना चाहता है, उसे उपन्यास की घटनाओं, पात्रों के कथोपकथन या उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ध्वनित करा देता है।

अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण

जब पात्र या तो निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने लगें अथवा कथानक की माँग को स्वीकार करके अपनी प्रकृति और स्वभाव के विपरीत आचरण आरम्भ कर दें और उपन्यासकार उनके इस स्वभाव-विरुद्ध विकास के सबल और तर्कसगत कारण उपस्थित न कर पाए, तब पात्रों के चरित्रचित्रण में शिथिलता आ जाया करती है। पात्रों के चरित्र की स्वाभाविकता उनके विविध आचार-व्यवहार की समानरूपता पर इतना निर्भर नहीं करती, जितना कि उनके पीछे काम करनेवाली प्रेरणाओं (मोटिव्ज़) की एकसूत्रता पर, जिसके अभाव में समूचा चरित्रचित्रण असंगत दिखाई देगा।[१३०] जब पाठक किसी पात्र को उसकी प्रकृति के विपरीत कार्य करते हुए देखता है या उसके चरित्र-विकास को एक ऐसी दिशा ग्रहण करते देखता है जो उसके स्वभाव से मेल न खाती हो, तो उसके चरित्रचित्रण में उसे कृत्रिमता नज़र आने लगती है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार यदि पात्र के इस परिवर्तन के लिए ठोस कारण उपस्थित नहीं करता और उन्हें उनकी पहली प्रेरणाओं के अनुकूल नहीं सिद्ध कर पाता तो पात्र का चरित्रचित्रण खटकने लगता है। भगवतीचरण वर्मा के औपन्यासिक पात्र अनेक बार अपनी प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते दीखते हैं। साधारण पात्र ही नहीं, उनके उपन्यासों के नायक-नायिकाओं तक में भी बहुधा यह बात खटकने लगती है। जहाँ वह एक-दूसरे के विरुद्ध जाने वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरकों में एकसूत्रता दिखा सके हैं, वहाँ तो उनका चरित्रचित्रण बहुत सुन्दर बन गया है।

चरित्र-विकास में संगति

रामनाथ : उनके उपन्यास 'टेढे-मेढे रास्ते' का नायक रामनाथ कहाँ तो अपने बड़े बेटे दयानाथ को कांग्रेस से अलग कराने के लिए एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगा देता है और उसके न मानने पर उसे घर से बाहर निकालकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद

१३०. Haines, 'Living with Books', p 526.

तक कर लेता है : 'तुम सिद्धाँत की आड में मुझे गालियाँ दे रहे हो, मै तुम्हारा मुंह तोड़ दूंगा। मै तुम से साफ कहे देता हूँ—या तो तुम चौबीस घण्टे के अन्दर कांग्रेस छोड़ दो या फिर मेरे यहाँ पैर मत रखना।'[१३१] उसे अपना अंतिम निर्णय सुनाते हुए रामनाथ ने कहा था : "आज से जब तक मैं जीवित हूँ, तुम इस घर में अपना पैर न रख सकोगे।"[१३२] दूसरी ओर जब श्यामनाथ उससे अनुमति माँगता है कि वह दयानाथ से जेल में मिलकर कोशिश करे कि वह कांग्रेस से अलग हो जाए, क्योंकि उसके ऐसा आश्वासन देने पर वह उसे जेल जाने से बचा सकेगा तो चेहरे पर रूखी मुस्कराहट लाकर रामनाथ साफ कह देता है : 'नहीं, श्याम।'[१३३] रामनाथ की इन परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओं के प्रेरको में एकसूत्रता लाकर लेखक पहले ही उससे दयानाथ को कहलवा देता है : 'देखता हूँ, सरगर्मी के साथ कांग्रेस का काम तुम कर रहे हो······जानते हो, तुम मेरे नाम को, मेरे कुल को कलंकित कर रहे हो,[१३४] यही भाव प्रेरक था दयानाथ के प्रति उसके इतने कठोर व्यवहार का। जेल जाने के भय से दयानाथ कही माफी माँग अपने कुल को कलंकित न कर दे, यह भावना काम कर रही थी रामनाथ द्वारा श्यामनाथ के इस सुझाव को ठुकराने में कि दयानाथ को मनाकर उसे कांग्रेस से अलग करा दिया जाए। रामनाथ के स्वाभिमान को नहीं सहन था कि दयानाथ "इतना ऊपर चढ़कर अपने को एकदम गिरावे",[१३५] इससे उसके कुल-गौरव को ठेस पहुँच सकती थी।

क्रांतिकारियों से रामनाथ को कोई सहानुभूति न थी, बल्कि वह उन्हें देशद्रोही समझता था। उनके मरने में उसे कोई दुःख नहीं था। इस बारे में वह कहता भी है : "जो जैसा करेगा, वैसा भोगेगा···भोगें···मरें···छः नही छः सौ आदमी मरें···वे कीड़े हैं, हमें उनकी चिंता क्यों हो।"[१३६] क्रांतिकारियों के प्रति इतना कठोर होते हुए भी रामनाथ अपने पुत्र प्रभानाथ के प्राणों की बाजी लगाकर उन सबको बचा लेता है। रामनाथ के इस असंगत प्रतीत होनेवाले आचरण की अंतःप्रेरणा पर प्रकाश डालते हुए उपन्यासकार यह बताने में नहीं चूकता कि रामनाथ ने अपने पुत्र के प्राणों की आहुति क्रांतिकारियों के बचाने के लिए नहीं, प्रत्युत् अपने कुल को कलंकित होने से बचाने के लिए दी थी। 'विश्वासघातियों के घर का अन्न खाकर मैंने अपने को अपवित्र कर लिया···इसका प्रायश्चित्त करना होगा,'[१३७] वीणा के इन शब्दों ने उसकी सारी अहम्मन्यता, उसका सारा आत्म-गौरव हिला दिया। उसके पुत्र

१३१. 'टेढे-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १४।
१३२. वही, पृष्ठ ३४।
१३३. वही, पृष्ठ १४३।
१३४. वही, पृष्ठ १०-११।
१३५. वही, पृष्ठ १४३।
१३६. वही, पृष्ठ ४६३।
१३७. वही, पृष्ठ ४६३।

के लिए दुनिया 'विश्वासघाती' शब्द का प्रयोग करेगी, यह जानकर वह काँप उठा था।

चमेली—वर्माजी के उपन्यास 'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली को सेठ शिवकुमार ने जब स्वार्थवश फुसलाकर फिल्म लाइन में ले जाना चाहा था और उसके लिए पेशगी के रूप में सौ-सौ के पाच नोट भी उसकी ओर बढ़ाए थे तो वह तड़प उठी थी : "सेठ, तुमने मुझे राधा की तरह रंडी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुंह से निकाली तो जीभ खींच लूंगी।'[138] उसी चमेली को जब हम काण्ट्रेक्ट पूरा करके सेठ से चार हज़ार का चैक पाने पर यह कहते हुए पाते हैं: 'सेठ, तुम इतने भले हो, मैने यह सोचा न था। आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया, मैं उसे जन्म भर न भूलूंगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[139] तो उसके इन शब्दों पर सहज में विश्वास नहीं हो पाता। चमेली की इन दो परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओं में एकसूत्रता लाते हुए लेखक पहले ही कह देता है : "चमेली को यह अनुभव हो रहा था कि वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल विनाश के गर्त में खिंच रही है, उसके चारों ओर विनाश है, लेकिन वह कहीं भाग नही सकती—भागने के सब रास्ते बन्द हैं। उस स्टूडियो में वह रुपयों के लिए आई है; उसे चार हजार रुपये लेने ही होगे। अब उसके पास केवल दो दिन का समय है।'[140] जिस रामेश्वर के प्रति अपार श्रद्धा और प्रेम के कारण चमेली ने शिवकुमार को लथाड़ा था, उसी रामेश्वर को जेल जाने से बचाने के लिए सेठ से चार हजार रुपया पाकर वह गद्-गद हो उठी थी 'उसके हृदय से भार हट गया था और वह अब प्रसन्न थी।'[141] उसी मन:स्थिति में सेठ के प्रति आभार प्रकट करते हुए उसके मुख से ये शब्द निकल गये थे।

चरित्र-विकास में असंगति

वही चमेली जिसने एक रात पहले सेठ शीतल प्रसाद को जली कटी सुनाकर अपने घर से बाहर निकाल दिया : 'तुम प्रेम की बात मत करो—वासना के कीड़े। तुम क्या जानो कि प्रेम क्या होता है······यह रुपया पाने के लिए तुम अपनी आत्मा तक धन के पिशाच के हाथ बेच चुके हो। तुम घृणित हो, तुम नीच हो, तुम शैतान हो।'[142] अगले दिन सेठ शिवकुमार के सुझाव देने पर वह उसे स्टूडियो में निमन्त्रित करने के लिए तैयार हो जाती है। इन दोनों परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओं

---

१३८. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ ४३।
१३९. वही, पृष्ठ १०१।
१४०. वही, पृष्ठ ९९।
१४१. वही, पृष्ठ १०१।
१४२. वही, पृष्ठ २४१।

में सगति बैठाने के लिए लेखक कहता है कि उस रात रामेश्वर के उसे छोड़कर चले जाने के बाद वह आपे में न थी और इसलिए यह न समझ पाती थी कि किस आदमी से क्या बात कहनी चाहिए। पर अगले दिन 'सवेरे जब वह सोकर उठी, वह काफी स्वस्थ हो गई थी। उसकी स्मृति में यह घटना एक दु:स्वप्न मात्र थी।'[१४३] पर क्या रात वाली घटना इतने कम महत्त्व की थी कि सवेरे तक उसके मन पर से उसका समस्त प्रभाव जाता रहा होगा ?

इसी प्रकार, रामेश्वर की महानता के प्रति श्रद्धा होते हुए, उससे प्रेम होते हुए भी चमेली सेठ शिवकुमार तथा शीतलप्रसाद की वासनापूर्ति का साधन तक बन जाती है। उसकी इन दो परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाना कठिन हो जाता है। लेखक उसके इस आचरण का कारण रामेश्वर के शब्दों में यही बताता है : 'जिस के पास पैसा है, वह सब कुछ खरीद सकता है—रूप, यौवन, शरीर, आत्मा। सब बेच रहे हैं अपने को, धन के पिशाच के हाथों चमेली, हम दोनों भी अपने को उस पिशाच के हाथों बेच चुके हैं[१४४]......तू मेरी बनकर तभी रह सकती है जब मैं तेरा बन कर रहूं, लेकिन यह सम्भव नही। धन के पिशाच की गुलामी का पट्टा जो हम लोगों ने लिख दिया है।'[१४५]

पात्रों की क्रिया प्रतिक्रियाओं के पीछे काम करनेवाली उनकी प्रेरणाओं को वर्माजी कई प्रकार से प्रकाश में लाते हैं। यदि वह प्रतिक्रिया के प्रकट होने से पहले ही प्रेरक भाव को व्यक्त कर देना आवश्यक समझें तब तो अपनी तरफ से वर्णनात्मक शैली में उसका अंकन कर देते हैं। यदि प्रतिक्रिया के बीच में ही उसे बताना हो तो किसी दूसरे पात्र के मुख से कहलवा देते हैं। पर यदि वह प्रतिकिया हो चुकने के बाद बताना हो तो बहुधा उसी पात्र के मुख से स्वीकारोक्ति के रूप में कहला देते हैं।

अन्तर्द्वन्द्व

मानसिक संघर्ष का अभाव

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों के अधिकतर पात्र निश्चित धारणाओं को लेकर ही उपन्यासों में पदार्पण करते हैं और उपन्यास भर में उन्हें वैसे ही बनाए रखते हैं। जीवन के अनेक मोड़ों पर जब भी उनके सामने समस्याएं आती हैं और जब भी वे परस्पर-विरोधी मार्गों में से एक को अपनाने के लिए बाध्य होते हैं, उन्हें अपना मार्ग निश्चित करने में हिचकिचाहट नहीं होती। होती भी है तो वह बहुत देर तक रहती नहीं। अपने स्वभाव, गत अनुभव और मान्यताओं के आधार

---

१४३. वर्मा, 'आखिरी दॉव', पृष्ठ २४१-२४३।
१४४. वही, पृष्ठ २३८।
१४५. वही, पृष्ठ २३६।

पर वे शीघ्र ही अपने लिए मार्ग चुन लेते है। इसीलिए उनके पात्रों में मानसिक संघर्ष कम छिड़ता है और यदि छिड़ता भी है तो वह अधिक देर तक नही रहता।

रामनाथ—'टेढ़े-मेढे रास्ते' के नायक रामनाथ को ले। उसका सबसे बड़ा लड़का कांग्रेस के प्रभाव में आकर उसके हाथ से निकल गया, सबसे छोटे लड़के को उसकी क्रांतिकारी कार्यवाहियों के कारण फांसी मिल गई। उसके मंझले लड़के के पीछे, उसकी साम्यवादी सरगर्मियों के कारण पुलिस लगी हुई है, जिसकी लपेट से बचने के लिए वह देश से भाग जाना चाहता है और इसी सम्बन्ध में वह अपने पिता के पास आर्थिक सहायता की प्रार्थना लेकर आता है। उस समय रामनाथ अपनी अहम्मन्यता तथा अपने पुत्र की कुशलता में से एक को चुनने के लिए बाध्य हो जाता है। ऐसे अवसर पर यदि रामनाथ के स्थान पर कोई और व्यक्ति होता तो वह या तो अहम्मन्यता पर अपने पुत्र के जीवन को प्राथमिकता देता और यदि ऐसा न करके अपने पुत्र के जीवन की अवहेलना करने की बात सोचता तो वैसा करने के लिए तैयार होने में उसे अतुल मानसिक संघर्ष में से गुज़रना पड़ता। पर इस स्थिति में रामनाथ को कोई उलझन नही मालूम हुई, क्योंकि उसके निकट पुत्र का जीवन और अहम्मन्यता दोनों के मूल्य पहले से ही निश्चित थे जिनके अनुसार उसकी अहम्मन्यता पुत्र के जीवन से अधिक मूल्यवान ठहरती थी। इसीलिए बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के उसने अपने पुत्र को फटकार लगा दी : 'हम पूंजीपतियों को मिटाने के लिए तुम हमारा ही रुपया चाहते हो······और तुम समझते हो, मैं स्वयं विनष्ट होने के लिए तुम्हे शक्ति प्रदान करूँगा···तुम्हे रुपया दूँगा······उमा जाओ यहां से। तुम समाज के सबसे भयानक शत्रु हो···जाओ मेरे सामने से··· जाओ।[१४६]

रामेश्वर—'आखिरी दॉव' का नायक रामेश्वर जिस चमेली को अपनी कहने का दम भरता था, वह दूसरों को अपना शरीर बेचती फिरती थी। इस बात की उसे केवल खबर ही नहीं थी, बल्कि उसके मन में न तो कोई उथल-पुथल मची और न ही उसे किसी विशेष मानसिक संघर्ष में से गुजरना पड़ा। उसके स्थान पर यदि कोई और होता तो वह या तो किसी को मार देता और या स्वयं घुल-घुलकर मर गया होता। पर चमेली के प्रति वह जिस दृष्टिकोण को अपनाये हुए था, उसके अनुसार उसे चमेली से कोई शिकायत ही नही रहती थी। चमेली के प्रति अपने उस दृष्टिकोण को वह चमेली पर प्रकट भी कर देता है : 'हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य, न प्रेम है न भावना है--जो कुछ है वह धन है—हम दोनो में किसी को किसी से कोई शिकायत नही होनी चाहिए।[१४७] इस के अतिरिक्त रामेश्वर यह भी जानता था कि 'उसके

---

१४६ वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ५४०।

१४७. वर्मा, 'आखिरी दाव', पृष्ठ २३८।

पास आने से पहले वह रतनू सुनार के साथ भाग आई थी। आखिर चमेली पर उस को अधिकार ही क्या था ? और चमेली को उसने ही तो बाद में इस मार्ग पर प्रेरित किया था।[१४८]

मानसिक संघर्ष है भी तो बहुत कम

वर्माजी ने जहाँ कही पात्रों के मानसिक द्वन्द्व का चित्रण किया भी है, वहां वे दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों या भावनाओं के प्रति, जिनमें संघर्ष हो रहा हो पात्र का समान झुकाव या बिलगाव अधिक देर तक नहीं दिखा पाते, जिसके परिणामस्वरूप उनके पात्रों को अधिक देर तक अनिश्चितता की स्थिति में रहकर मानसिक यातना नहीं भोगनी पड़ती, उनके पात्र अपने मन में लम्बे-लम्बे युक्तिसंगत तर्क-वितर्क नहीं करते, प्रत्युत् एक-दो छलांगों में ही किसी विशेष निश्चय पर पहुँच-कर उस स्थिति से उभर आते हैं।

'चित्रलेखा' के ग्यारहवें परिच्छेद में लेखक सवा दो पृष्ठ तक में यह बताने के पश्चात् कि रातभर चित्रलेखा अपने विगत जीवन के बारे में क्या-क्या सोचती रही, उस सामयिक समस्या की ओर सकेत करता है, जिसने उसे उद्विग्न कर रखा था : 'चित्रलेखा कुमारगिरि से प्रेम करने लग गई, इस समय अपने प्रेम के आधार बीजगुप्त के रहते हुए।'[१४९] इसके बाद वह पात्र के मानसिक संघर्ष का चित्रण न करके उस स्थिति में किए गए उसके निश्चय और उस निश्चय तक पहुँचने के कारणों का उल्लेख कर देता है : 'पर मृत्युंजय के भवन के उत्सव की बात ने उसे साहस दिया, साहस के साथ उसे मनुष्यता को धोखा देने का एक बहाना भी दिया। उसने मन में कहा, 'बीजगुप्त को सुखी बनाना मेरा कर्त्तव्य है, उसे मुक्त कर देना ही मेरा महान् त्याग होगा और उसके जीवन को सार्थक बनाना होगा। मुझे बीजगुप्त को छोड़ देना ही पड़ेगा, सदा के लिए छोड़ देना पड़ेगा"[१५०]—मानो पात्र समस्या से उसके समाधान तक एक ही छलांग में पहुँच गया हो और लेखक का यह कहना निर-र्थक हो कि 'उस रात चित्रलेखा सो न सकी। वह इन्हीं बातों पर विचार करती रही,[१५१] और यदि वह न माने तो यह मानना होगा कि लेखक पाठकों से अपने पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व छिपा रहा है।

इसी प्रकार जब श्वेतांक ने बीजगुप्त से अनुरोध किया कि वह मृत्युंजय के सम्मुख श्वेतांक से यशोधरा के विवाह का प्रस्ताव रखे तो बीजगुप्त के मन में उथल-पुथल मच गई, क्योंकि वह स्वयं यशोधरा के पाणिग्रहण का निर्णय कर चुका था।

---

१४८. वही, पृष्ठ २३० ।
१४९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ६८ ।
१५०. वही, पृष्ठ ६८ ।
१५१. वही, पृष्ठ ६८ ।

श्वेतांक ने, इस प्रकार, बीजगुप्त को चित्रलेखा और यशोधरा में से पुनः एक को चुनने का अवसर दिया। इन दोनों के प्रति बीजगुप्त का समानाकर्षण अधिक देर न रहने पाया, और वह एक छलांग में ही निश्चय पर पहुँच गया : 'क्या मैं यशोधरा से प्रेम भी कर सकूंगा ? अभी मैं उद्विग्न हूँ—अभी अपने दुःख को दूर करने के लिए मैं यशोधरा से विवाह किए लेता हूँ। पर भविष्य में ? नहीं। मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं विवाह करूँ।'[१५२]

मानसिक संघर्ष का उल्लेख भर

वर्माजी के कतिपय पात्रों को अनेक बार ऐसी स्थितियों में से गुज़रना पड़ता है, जिनमें पड़कर उनके से व्यक्तियों में तीव्र मानसिक संघर्ष छिड़े बिना रह नही सकता, पर उनके पात्रों में उस समय या तो संघर्ष का नाम तक नही मिलता और यदि मिलता है तो लेखक संघर्ष का उल्लेख-भर करके पीछा छुड़ा लेता है, उसके चित्रण में नही उलझता।

रमेश—'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से प्रेम करता है और जानता है कि उसके बिना नही रह सकता, पर साथ ही वह इस बात को भी नहीं भूलता कि वह 'कितना असहाय और निरवलम्ब है।'[१५३] वह समझता है कि 'उसकी रईसाना ठाठ, जिसके कारण प्रभा उसकी ओर आकृष्ट हुई है, तभी तक कायम है जब तक अजित की उसपर कृपादृष्टि है।'[१५४] वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रभा से प्रेम करके वह विनाश की ओर बढ़ा जा रहा है। ऐसी स्थिति मे, जबकि उसे सर्वनाश और प्रेम में से एक को चुनना पड़ रहा हो, वह बड़ा बेचैन हुआ होगा। रमेश की यह बेचैनी अजित के साथ उसके कथोपकथन में भले ही बरबस प्रतिबिम्बित हो पड़ी हो, लेखक ने अलग से कही भी उसका चित्रण नही किया, सिवाय इसके कि एक बार वह उसके मानसिक संघर्ष की ओर संकेत करके आगे बढ़ जाता है : 'रमेश अप्रतिभ सा हो गया। कुछ देर तक वह चित्रलिखित-सा खड़ा रहा, उसके नेत्र शून्य में हृदय में मचे हुए द्वन्द्व का उत्तर ढूंढ रहे थे।'[१५५]

प्रभानाथ—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का प्रभानाथ उपन्यास के अंतिम चरण में एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहाँ उसे जीवन तथा मृत्यु में से एक का वरण करना पड़ जाता है। जीवन के साथ उसका नैतिक पतन बंधा होता है और मृत्यु के साथ बधा होता है उसका तथा उसके कुल का गौरव। ऐसी स्थिति में प्रभा के-से पात्र को किसी भी निश्चय पर पहुंचने से पहले घोर मानसिक यातना सहनी पड़ी होगी,

---

१५२, वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ १९४।
१५३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ९८।
१५४. वही, पृष्ठ ९८।
१५५. वही, पृष्ठ १००।

पर लेखक कही भी उसकी बेचैनी का चित्रण नहीं करता, पात्र के शब्दों में उसकी ओर सकेत मात्र करते ही अपने कर्तव्य की समाप्ति समझ लेता है : 'ददुआ। काका ने सरकारी गवाह बनने की अनुमति ले ली है······लेकिन तब से मेरे मन में एक भयानक अशांति भर गई है।'[१५६]

चमेली—'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली जानती थी कि वह दिनोंदिन पतन की ओर बढ़ रही है और उसका रामेश्वर उससे दूर जाकर पाप की ओर अग्रसर है। वह बार-बार रामेश्वर और धन में से एक को अपना लेने के लिए बल बटोरती है, पर रामेश्वर के साथ बन्धी गरीबी और धन के साथ गुंथे पतन से घबराकर वह अतिम निर्णय करने की बात को टालने के लिए स्थिति का विश्लेषण करने बैठ जाती है। पर वह विश्लेषण भी अधिक देर नहीं कर पाती; कोई-न-कोई आकर उसकी विचार-शृंखला तोड़ देता है[१५७] और लेखक को आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है। बहुत हुआ तो उसका एक-आध आतरिक द्वन्द्वात्मक कथोपकथन[१५८] ज्यों-का-त्यो रख दिया। इसके अतिरिक्त लेखक और कुछ नही करता।

अन्तर्द्वन्द्व का यदा-कदा सफल चित्रण

जहाँ कहीं वर्माजी पात्रों के मन में उठे परस्पर-विरोधी भावों की समान तीव्रता दिखाकर उनकी मानसिक अनिश्चितता को अधिक देर तक बनाए रख सके हैं, वहाँ उनके पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण बड़ा सजीव बन गया है। 'चित्रलेखा' का योगी कुमारगिरि रातभर सोचते रहने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाया कि वह आश्रम में आई हुई सुन्दरी चित्रलेखा पर विजय पाए या अपनी इन्द्रियो पर। योगसाधना और चित्रलेखा दोनों का उसके लिए समान आकर्षण बना रहा। दोनों में से किसी का भी पल्ला भारी न हुआ और वह अत में थक कर सो

१५६. वर्मा, 'टेढे मेढे रास्ते', पृ० ५०१-५०२।
१५७. वर्मा, 'आखिरी दॉव', पृ० २१५-२१६।
१५८. वर्मा, 'आखिरी दॉव', पृ० २१५-२१६।

"रामेश्वर ने जो मार्ग अपनाया है, वह भयानक रूप से खतरनाक है, चमेली इतना अनुभव कर रही थी—रामेश्वर, उसका रामेश्वर, सीधा-सादा, नेक और ईमानदार एकाएक अपराधी कैसे बन गया।"

और जैसे किसी ने चमेली से कहा, "तेरे कारण, तेरे पतन ने उसे पतित बना दिया है।' चमेली दांत कचकचाकर पूछ बैठी।

'लेकिन मेरे पतन का कारण तो वही थे। सब कुछ जानते हुए, समझते हुए, आखिर उन्होंने ही तो मुझे इस काम पर मेरी इच्छा के विरुद्ध भेजा था। माना कि जेल जाने से बचने के लिए उन्होंने यह सब किया, पर जेल जाने की नौबत तो उन्हें आ गई थी। उन्होंने अपराध किया था, वह अपराध तो मेरे कारण नही किया था।'

उसी समय नौकर ने कमरे में आकर कहा, 'राधादेवी आप से मिलना चाहती हैं।' चमेली ने मन-ही-मन राधा को अपना अकेलापन तोड़ने के लिए धन्यवाद दिया।'

गया।[१५९] 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के आरम्भ में ही दयानाथ के मानसिक द्वन्द्व का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। उसके पास केवल चौबीस घण्टे थे और उतने समय में उसे अंतिम रूप में निश्चय करना था कि वह अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहता हुआ कांग्रेस को अपनाये रखे और अपने पिता की समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर दे या सम्पत्ति के मोह में पड़कर कांग्रेस के चक्कर से अलग हो जाये। कांग्रेस को अपनाए रखने में उसे अपने बारे में तो कोई अड़चन न थी, पर वह यह निश्चय न कर पा रहा था कि अकेले अपनी इच्छा-अनिच्छा के अनुसार अपने दोनों लड़कों और पत्नी को कंगाल बना देना क्या उसके लिए उचित होगा।[१६०] तीन पृष्ठों तक उसका मानसिक संघर्ष चलता रहा और शायद आगे भी चलता रहता यदि उसकी पत्नी राजेश्वरी यह कहकर निश्चय-विशेष तक पहुँचने में उसकी सहायता न करती : 'मुझे जरा भी तकलीफ नहीं होगी। मुझको उसीमें सुख है, जिसमें तुमको है। अरे सुख-दुःख दोनों ही सहने के लिए तो आदमी पैदा हुआ है।'[१६१]

वर्माजी की उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ उनके पात्रो में जैसे-जैसे प्रौढ़ता आती गई, वैसे-वैसे जीवन और समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में स्थिरता और निश्चितता आती गई। फिर जब भी उन्हें जीवन के किसी मोड़ पर से परस्पर विरोधी भावों में से एक को चुनना पड़ा, उनके मूल्य पात्रो के मन में पहले से ही स्थिर होने के कारण, उन्हें निश्चय करने में देर न लगी। फलतः उनमें मानसिक संघर्ष की मात्रा उत्तरोत्तर कम होती गई।

उपन्यासकार 'रिपोर्टर' के रूप में

वर्माजी अपने पात्रों के अंतर्द्वंद्व की ओर संकेत भर कर रहे हों, या उसका अधूरा या पूरा चित्रण कर रहे हों, वह स्वयं पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं होते। 'रिपोर्टर' के रूप में बार-बार प्रकट होकर वह अपने पाठकों को उनकी इस लाचारी का आभास कराते रहते हैं कि पाठक पात्रों के मन की खिड़की में से झाककर उनमें हो रहे संघर्ष को अपनी आंखों नहीं देख रहे। बल्कि वे तो लेखक के पास एक ओर बैठे हुए हैं जो उस खिड़की में से झाँककर जो कुछ देखताहै उन्हें बताता जा रहा हे और वे उतना ही जान पा रहे है जितना लेखक उन्हे बता रहा है। खिड़की में से स्वयं झाँककर अपनी आँखो से सब कुछ देख लेने की लाख चेष्टा करने पर भी पाठक ऐसा नहीं कर पाता, क्योंकि लेखक खिड़की के सामने श्रेष्ठ स्थान ग्रहण किए हुए है और वहाँ से हिलने का नाम नही लेता।'[१६२]

१५९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० १५१-१५३।

१६०. वर्मा, 'टेढे मेढे रास्ते', पृ० २७-३०।

१६१. वही, पृ० ३०।

१६२. Edel, 'The Psychological Novel', (1900-1950), J. B. Lippincott, New York, 1956, 1st edn. p. 208

वर्माजी के उपन्यासों में उनके पात्रों के मन में उठ रहे विविध प्रकार क विचारों की गतिशील धारा नही मिलती, प्रत्युत् उसके स्थान पर मिलती है— उस धारा-प्रवाह के बारे में लेखक की 'रिपोर्ट', जो पाठकों को यह प्रतीति करा सकने में असमर्थ है कि वे पात्रों की मानसिक अनुभूतियों के क्षरण-प्रतिक्षरण के परिवर्तन को अपनी आँखो देख रहे हैं। ऐसी प्रतीति कराने की ओर कदाचित् लेखक का ध्यान भी नही रहा।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

मनुष्य परिस्थितियो का दास है या नही, इसपर भले ही दो मत हो पर इस तथ्य से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि कई बार एक ही घटना मनुष्य की जीवन-धारा बदल डालती है। जीवन-सरिता के बालू में बनाये हुए मनुष्य के अनेक किले घटना की बाढ़ में ऐसे बह जाते है कि उनका निशान तक शेष नही रहता। घटनाएँ मानव-चरित्र को प्रभावित ही नही करतीं, उसे व्यक्त करने मे योग भी देती हैं। सामान्यावस्था में मनुष्य जिस भेद को प्रकट होने से बचा लेता है, घटना की लपेट में आकर वह अपने आप प्रकाश में आ जाता है। मानव-जीवन मे घटनाए भले ही निरुद्देश्य घटित होती हों, पर उपन्यास में किसी घटना का समावेश निरुद्देश्य नहीं होता। उपन्यासकार भी बहुधा अपने पात्रो के चरित्र की विभिन्न अवस्थाओ के उद्‌घाटन तथा चरित्र-विकास के लिए घटनाओं का सृजन किया करता है।

भगवतीचरण वर्मा के औपन्यासिक पात्रो में भी घटनाओं का कम महत्त्व नहीं। आकस्मिक घटनाएं ही उन्हें एक दूसरे के सम्पर्क में लाकर उनके जीवन-सूत्रों को परस्पर उलझा देती है। उपन्यास के आरम्भ में ही वर्माजी कुछ एक ऐसी घटनाओं की शृंखला बाँध देते हैं कि उनके पात्र धीरे-धीरे एक-दूसरे के जीवन में आने लगते हैं। जंगल में रास्ता भूल जाने की घटना चित्रलेखा को योगी कुमारगिरि की कुटी में ले आई और इससे चित्रलेखा को कुमारगिरि की ओर आकृष्ट होने का अवसर मिला।[१६३] प्रथम भेट का यह आकर्षण शायद यही तक रह जाता, यदि चन्द्रगुप्त की सभा में कुमारगिरि से उसकी पुनः भेट न होती।[१६४] प्रथम घटना ने प्रेम का जो बीज बो दिया था उसे दूसरी घटना ने अंकुरित कर दिया और उनके जीवन-सूत्र एक-दूसरे से उलझने लगे। 'तीन वर्ष' के आरम्भ में ही प्रोफेसर के मरने की घटना ने रमेश और प्रभा को एक-दूसरे से बात करने और विस्तृत परिचय प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया[१६५] और वे दोनों एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हुए। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में पिस्तौल की आवाज़ों के बीच प्रभानाथ और वीणा की

१६३. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ३६।
१६४. वही, पृ० ५२।
१६५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ३६ तथा ४२।

अचानक भेंट हुई और दोनों एक दूसरे के प्रति आदर के भाव से भर गये।[166] यद्यपि इन घटनाओं द्वारा उनसे सम्बन्धित पात्रों के चरित्र की कोई-न-कोई विशिष्टता भी प्रकाश में आ जाती है पर यहाँ उनका समावेश मुख्यत: पात्रों को एक-दूसरे के सम्पर्क में लाना है।

पात्रों की मनोव्यथा के चित्रण के लिए भी वर्माजी ने अनेक बार घटनाओं का आश्रय लिया है। जब किसी पात्र की मनोव्यथा चरम सीमा को छू जाती है और उसे उस व्यथा में अपना कोई साझी नहीं मिलता जिससे बातचीत करके वह अपना मन हलका कर सके, तब उसका मानसिक दु:ख किसी घटना के रूप में उमड़ पड़ता है। रमेश के बारे में कभी विचार तक भी नहीं किया जा सकता था कि वह अपने आश्रयदाता मित्र अजित की हत्या करने पर उतारू हो जाएगा। उसका इस प्रकार का प्रयत्न बताता है कि प्रभा ने उसके प्रेम को ठुकराकर जो चोट लगाई थी, उससे वह अपना संतुलन खो बैठा था।[167] रमेश के सरोज को छोड़कर चले जाने के बाद सरोज के अचानक बीमार हो जाने की घटना का समावेश यह दिखाने के लिए हुआ कि रमेश के रूठकर चले जाने से सरोज के मन को कितनी गहरी ठेस पहुँची।[168]

इसके अतिरिक्त पात्रों के चरित्र की किसी विशिष्टता को प्रकाश में लाने के लिए भी लेखक ने घटनाओं का सृजन किया है। 'चित्रलेखा' में चन्द्रगुप्त की सभा में योगी कुमारगिरि की पराजयवाली घटना की अवतारणा जहाँ नर्तकी चित्रलेखा और योगी कुमारगिरि को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए हुई, वहाँ उससे चित्रलेखा के समृद्ध ज्ञानभण्डार और आत्मविश्वास का भी पता चलता है। महामन्त्री चाणक्य तक ने भी उसकी विजय को स्वीकार किया। 'नर्तकी चित्रलेखा! आज की विजय तुम्हारी रही।'[169] 'तीन वर्ष' में रमेश द्वारा अजित पर गोली दाग देनेवाली घटना जहाँ रमेश की तात्क्षणिक मन:स्थिति को व्यक्त करती है, वहाँ उससे अजित के चरित्र की महानता का भी उद्घाटन हो जाता है। गोली खाकर भी उसने धैर्य से काम लिया और झूठ बोलकर भी अपने हत्यारे मित्र रमेश को हत्या के अभियोग से बचा लिया।[170] उपन्यास के उत्तरार्द्ध में सरोज की बीमारी की घटना उसकी निष्कप-

१६६. वर्मा, 'टेढ़े-मेढे रास्ते' पृ० ६७।
१६७. वही, पृ० १४३-१४४।
१६८. वही, २४६-२५१।
१६९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ४६।
१७०. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १४४।

टता को प्रकाश में ले आती है कि वेश्या होकर भी रमेश के प्रति उसका प्रेम सच्चा था। उसे रमेश का रुपया नहीं चाहिए था—वह उसे चाहती थी, केवल उसे।[१७१] 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में बिल्ली वाली घटना के समावेश द्वारा वर्माजी ने साम्यवादी मौरिसन के चरित्र का बड़े सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया है। उसके मुख पर निशान तो पड़े थे हिल्डा के नाखूनों की खरोंचों के, पर इस सबके लिए मिसे सिमज़ की बिल्ली को दोषी ठहराकर उसने मिसेज़ सिम से पाँच सौ रुपये वसूल कर लिये।[१७२] इसी उपन्यास में रामनाथ की कोठी पर गाँववालों के आक्रमण वाली घटना से जहाँ भीड़ के पागलपन का परिचय मिलता है, वहाँ झगड़ू पण्डित की सहृदयता भी पूर्णरूप से सामने आ जाती है। अपनी जान गंवाकर भी उसने रामनाथ की प्राण-रक्षा की।[१७३]

वर्माजी के पात्रों के चरित्र-विकास में जब गतिरोध आ जाता है तो वे किसी घटना की अवतारणा द्वारा उसके जीवन में एक नया मोड़ ला देते हैं जिससे उसका विकास एक नई दिशा में होने लगता है। 'तीन वर्ष' का नायक रमेश दिन-रात प्रभा के ध्यान में ही मग्न रहता है और अजित उसे बार-बार चेताने का असफल प्रयत्न करता रहा। काफी समय तक यही स्थिति बनी रही, मानो उसका विकास वहीं रुक गया हो। तभी लेखक प्रभा द्वारा रमेश के विवाह-प्रस्ताव को ठुकरवाकर[१७४] उसके जीवन में उथल-पुथल मचा देता है और बाद में नगर छोड़ने पर विनोद से उसकी अचानक भेंट कराकर उसकी विकास-धारा को ही बदल डालता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण

वर्माजी के उपन्यास कथोपकथनों से भरे हुए होने पर भी उनमें पात्रो की चरित्राभिव्यक्ति करनेवाले कथोपकथनों की संख्या अधिक नही कही जा सकती। वैसे तो आरम्भ से ही वर्णनात्मक प्रणाली की अपेक्षा नाटकीय प्रणाली की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक रही है और उनकी उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ उनकी यह प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर बल पकड़ती गई है, पर उनके कथोपकथनों को कथानक को गति देने, स्थिति का निर्माण करने, समस्याओं पर प्रकाश डालने, राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक विषयों का विश्लेषण आदि अनेक ऐसे विषयों का बोझ ढोना पड़ता है, जिनका निर्वाह वर्णनात्मक प्रणाली द्वारा अपेक्षाकृत अच्छा हो सकता था। परिणामतः, उनके कथोपकथनों का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा रह जाता है जिसका उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

---

१७१. वही, पृ० २६८।
१७२. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० १०८-११०।
१७३. वही, पृ० ३७६।
१७४. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १३६।

भ्रामक कथोपकथन

वर्माजी के अधिकांश औपन्यासिक पात्र समाज के उच्च और सभ्य कहे जाने-वाले वर्ग में से हैं। ये क्लबों, पार्टियों, डिनरों, सभा-सोसाइटियों में ही एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और यहीं पर उन्हें किसी को प्रभावित करने या किसी से प्रभावित होने का अवसर मिलता है। जब भी ये लोग एक-दूसरे से मिलते हैं, उनका मिलना-जुलना औपचारिक होता है। इन औपचारिक भेंटों में वे अपनी मुख-मुद्रा के प्रत्येक परिवर्तन, नख से लेकर शिख तक की वेशभूषा की प्रत्येक सिकुड़न तथा बातचीत के प्रत्येक शब्द के प्रति जागरूक होते हैं। इसलिए उनके कथोपकथनमात्र के आधार पर उनका मूल्यांकन करने का अर्थ अपने-आपको धोखे में रखना होगा।

चित्रलेखा—चित्रलेखा को ही लें। वह अपने कथोपकथनों में अपने अन्तर को प्रतिबिम्बित होने से इतनी सफाई से बचा जाती है कि जिसने भी उसकी बात को सत्य मानकर उस पर विश्वास कर लिया उसीने धोखा खाया। कुमारगिरि की कुटिया पर उससे चित्रलेखा की जो प्रथम भेंट हुई और उस समय उनमें जो बातचीत हुई थी, उसके आधार पर बीजगुप्त को ऐसा लगा कि कुमारगिरि उसके और चित्रलेखा के बीच व्यवधान बन रहा है। उसने यह आशंका जब चित्रलेखा के सामने रखी तो उसने बड़ी कुशलता से उसे निर्मूल सिद्ध कर दिया—'प्रियतम ! कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है। उसकी आत्मा मर चुकी है····कुमारगिरि के जीवन का लक्ष्य है मस्ती का पागलपन। प्रियतम ! संसार में कोई भी व्यक्ति हम दोनों के बीच में नही आ सकता।'[१७५] बीजगुप्त चित्रलेखा की बात को उसके हृदय से निकली समझकर शकारहित हो गया और यहीं उसने पहली बार धोखा खाया। इस डर से कि कोरे कथोपकथन के पीछे जाकर कही पाठक भी चित्रलेखा के चरित्र के मूल्यांकन में चूक न जाएँ, उपन्यासकार अपनी ओर से यह जोड़ना नही भूलता कि 'चित्रलेखा ने बीजगुप्त को धोखा दे दिया पर वह अपने को धोखा न दे सकी, उसने मन ही मन कहा, पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है।'[१७६] कुछ समय बाद चित्रलेखा का अपने प्रति उदासीनता का भाव देखकर बीजगुप्त को पुनः शंका हुई और उसके पूछने पर उन दोनों में जो बातचीत हुई, उसमें फिर चित्रलेखा बीजगुप्त को ज़ोरदार शब्दों में झूठा आश्वासन दिला गई, 'नहीं, बीजगुप्त का अनुमान मिथ्या है। चित्रलेखा का प्रेम सागर की भाँति गम्भीर है, उसका बदलना असम्भव सा है।'[१७७]

रमेश—इसी प्रकार 'तीन वर्ष' के रमेश और प्रभा अपने कथोपकथनों में जो विश्वास व्यक्त करते हैं, उनका चरित्र उनके बिलकुल विपरीत सिद्ध होता है :

---

१७५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ३६।
१७६. वही, पृ० ३६।
१७७. वही, पृ० ७८।

प्रभा ने रमेश पर आंखे गड़ाकर कहा, 'सामाजिक अराजकता पर तो मैं विश्वास नही करती, पर इतना अवश्य मानती हूँ कि यौवन स्वयं अराजकता का दूसरा नाम है।'

प्रभा की आखों की आग के सामने रमेश सिहर उठा, आंखें नीची करते हुए उसने कहा, 'मैं तो यौवन की अराजकता मानने को तैयार नही हूँ। यौवन को मै केवल नियंत्रित आत्मविस्मृति तक मान सकता हूँ। इससे आगे बढ़ना, नियन्त्रण को तोड़ना···यह नीचे गिरना है, लक्ष्य-हीन जीवन है।'

प्रभा जोर से हँस पड़ी, 'मिस्टर रमेश, यौवन का प्राण है प्रेम और प्रेम में नियन्त्रण होना असम्भव है, प्रेम अराजक है।'[१७८]

यौवन को नियंत्रित आत्म-विस्मृति मानने पर भी रमेश नियत्रण नही रख पाता।

अजित—स्त्री रक्षिता है और पुरुष रक्षक है, वह जीवित रहने के लिए पुरुष पर अवलम्बित है—और यही पर स्त्री गुलाम है, वह पुरुष की सम्पत्ति है'[१७९] इस स्थापना के समर्थन में देर तक ज़ोरदार भाषण देने के बाद अजित का यह कथन : 'प्रभाजी, अभी जो कुछ मैंने कहा वह एक 'आरगूमेंट' था, उसका उत्तर भी मैं कभी आपको सुनाऊँगा। आप यदि बुरा मान गई हों तो मैं क्षमा माँग लेता हूँ, क्योकि मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता।'[१८०] और प्रभा के पुनः प्रश्न करने पर यह उत्तर कि 'मैं शायद किसी बात पर विश्वास नही करता', पाठक को भी चक्कर में डाल देता है और उसे अजित के इस कथन में सत्यता की एक झलक मिलने लगती है। इसी प्रकार 'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली रामेश्वर से झूठ बोलकर स्थिति को छिपाती हुई भी कहती है 'मैं तुमसे झूठ नहीं बोलू गी····इसमें बुरा मानने की कोई बात नही समझती'[१८१] जहाँ पात्र अपने कथोपकथनों द्वारा बड़ी चतुरता से सत्यता को सफलतापूर्वक छिपा लेते हैं, वहां संवादों द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन का प्रश्न ही नही उठता। वर्माजी के उपन्यास इस प्रकार के कथोपकथनों से भरे पड़े हैं।

प्रकृत कथोपकथन

कृत्रिम व्यवहार को छोडकर वर्माजी के पात्र जब किसी भी स्थिति में अपने प्रकृत रूप में प्रकट होते हैं तब उनके कथोपकथनों में उनके चरित्र का कोई-न-कोई अंग अनायास ही झलक पड़ता है।

अहम्मन्यता—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र दयानाथ ने जब अपने पिता रामनाथ को कांग्रेस को अपनाए रखने के अपने अन्तिम निर्णय से अवगत कराते हुए सोचने के

---

१७८. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ४१।
१७९. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १०७।
१८०. वही, पृ० १०६।
१८१. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० १४३।

लिए और समय लेने से इन्कार कर दिया तो उस समय पिता-पुत्र में जो कथोपकथन हुआ उसमें पिता-पुत्र के सम्बन्ध का आवरण त्याग उन दोनों की अहम्मन्यता नग्न रूप में व्यक्त हो उठी :

> "रामनाथ घूम पड़े, 'तो फिर अब मेरा निर्णय भी सुन लो। आज से जब तक मैं जीवित हूँ, तुम इस घर में पैर न रखोगे। तुम्हारी बीवी और बच्चे जब चाहे आ सकते हैं, लेकिन तुम नही। रही तुम्हारे अधिकारों की बात—उस पर मै विचार करूँगा। लेकिन इतना तै है कि मेरी जिन्दगीभर तुम्हें पाँच सौ रुपया गुजारा मिलता रहेगा। हर महीने यह रुपया तुम्हारे घर पर पहुँच जाया करेगा। तुम्हें यहाँ आने की कोई जरूरत नही। और जब यह रुपया पहुँचना बन्द हो जाये, तब तुम समझ लेना कि मै मर गया। तब तुम आ सकते हो।"
>
> दयानाथ उठ खड़ा हुआ, 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य। लेकिन यह पाँच सौ रुपया गुज़ारे की बात—इसमें से एक पैसे की भी मुझे जरूरत नहीं। आप समझते है कि आप स्वामी हैं, आप दाता हैं, आप समर्थ हैं; और मैं हीन हूँ, गुलाम हूँ, असमर्थ हूँ। आप गलती करते हैं। मैं गरीबी में रह सकता हूँ बिना उफ किये। मुझे आपके रुपये की कोई आवश्यकता नही—वह आप अपने पास रखे।' यह कहकर उसने रामनाथ के पैर छुए और वह तेज़ी के साथ कमरे के बाहर चला गया।"[१८२]

दयानाथ की पत्नी राजेश्वरी मे भी स्वाभिमान की मात्रा अपने पति से कम नही थी। दयानाथ के जेल चले जाने पर जब रामनाथ उसके बच्चों को घर ले जाने के लिए गया उस समय उसमें और राजेश्वरी में जो सवाद हुआ उससे राजेश्वरी के स्वभाव का यह रूप निखर पडा : "जिस घर में मेरे स्वामी का अपमान और निरादर हो, वहाँ मै आदर पाऊँ, वहाँ मै सुख से रहूँ, यह मेरे लिए लज्जा की बात होगी।"[१८३]

संयमशीलता—'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली को जब उसका रामेश्वर सेठ शीतलदास के बंगले से रंगरलियां मनाती हुई घसीट लाया तब दोनों के घर पहुँचने पर लेखक ने उन दोनों में जो सवाद कराया उसमें उनकी मनःस्थिति का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। चमेली अपना सतुलन खो चुकी और रामेश्वर संतुलन को बनाने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है :

> 'चमेली—'तुम मुझे दण्ड देने लाए हो यहाँ, दो दण्ड मुझे, ज़रा देखूँ तो तुम्हारी हिम्मत और ताकत। कौन-सा दण्ड देना चाहते हो···देखूँ—देखूँ।'

---

१८२. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृ० ३४।
१८३. वही, पृ० १४८।

रामेश्वर—'तू ठीक कहती है—दोष मेरा है। मैंने जुहू जाकर गलती की है, मैं जानता हूँ।'

रामेश्वर के इस स्वर से चमेली डर गई—उसने कहा, 'नहीं, नहीं, तुमने जो कुछ किया वह ठीक ही किया।'

रामेश्वर ने चमेली की बात काटकर कहा, 'चुप रह, मुझे अपनी बात पूरी कह लेने दे। हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा ईश्वर है, हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य ; न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन है। झूठ, अविश्वास, छल-कपट की दुनिया के हम लोग प्रधान नागरिक है, हम दोनों में किसी को किसी से कोई शिकायत न होनी चाहिए।'[१८४]

इसी चमेली पर जब सेठ शिवकुमार ने सर्वप्रथम जाल फैलाने की असफल चेष्टा की थी, उस समय चमेली ने जो प्रत्युत्तर दिया था, उसमें चरित्र की उज्ज्वलता की झलक थी—'सेठ ! तुमने मुझे राधा की तरह रण्डी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुँह से निकाली तो जीभ खीच लूँगी।'[१८५]

आवेगज कथन

पात्रों के अवचेतन मन में गहरे धसे हुए भावों को व्यक्त करने के लिए वर्मा जी उन्हें आवेगज स्थिति में लाकर फिर उन्हें बोलने का अवसर देते है। इस प्रकार पात्रों के कथोपकथन में वे भाव झलक पड़ते हैं, जिनको वे पात्र सामान्यावस्था में कभी भी न व्यक्त होने देते। ऊपर से रूखी दिखाई पड़नेवाली 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की क्रांतिकारी महिला वीणा के हृदय में भी किसी के प्रति कोमल भाव हो सकते हैं, इसका परिचय प्रभा के प्रति उसके आवेशपूर्ण शब्दों से ही मिलता है। बिना कोई कारण बताए ही वह कहती चली जाती है : 'नहीं मरने के लिए मैं हूँ—और सब हैं, लेकिन आप। आपके मरने का अभी समय नही है। आप अगर विपत्ति में पड़ जाएँगे तो मै नहीं रह सकूँगी—नहीं रह सकूँगी।'[१८६] 'आखिरी दांव' में चमेली जिस सेठ शिवकुमार की जीभ खीचने के लिए तैयार थी उसके प्रति आभार प्रकट करती हुई वह आवेशपूर्ण स्थिति में ही कह सकती थी : 'सेठ ! तुम इतने भले हो, मैंने यह न सोचा था। आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया है, मैं उसे जन्मभर न भूलूंगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[१८७]

---

१८४. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० २३८।
१८५. वही, पृ० ४३।
१८६. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० ९३।
१८७. वही, पृ० १०१।

वर्ग-चरित्र

वर्माजी के उपन्यासों में इस प्रकार के कथोपकथनों की भी कमी नहीं जो विभिन्न राजनीतिक दलों की बैठको, साहित्यिक गोष्ठियों आदि के नाना प्रकार के सदस्यो में आपस में होते हैं। उन कथोपकथनों में सदस्यो के व्यक्तिगत चरित्र पर चाहे प्रकाश न पडे, उन बैठकों में हुई बातचीत में एक समूह-चरित्र निखर आता है। इन संवादों में व्यक्ति-चरित्र चाहे न मिले, वर्ग-चरित्र का तो अच्छा उद्घाटन हो जाता है। उपन्यास 'टेढे-मेढ़े रास्ते' इस प्रकार के संवादों से भरा पड़ा है। उपन्यास के आरम्भ में ही दयानाथ के घर पर हुई कांग्रेस की बैठक में मार्कण्डेय के इस प्रस्ताव का भारी बहुमत से स्वीकृत हो जाना कि लोगों को रुपये देकर जेल जाने के काम पर नौकर रखा जाए'[१८८] पार्टी के उन सदस्यो के चरित्र-विकास की तत्कालीन अवस्था को प्रकाश में ला देता है। प्रस्ताव के पास हो जाने से पहले उसके पक्ष और विपक्ष में जो तर्क-वितर्क हुआ वह मानो उस पार्टी के मन की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष हो रहा था।[१८९] उमानाथ की विदेश-यात्रा के कारण प्रायश्चित्त कराने के लिए एकत्रित हुए निरक्षर भट्टाचार्यो की आपस में आवेशपूर्ण बातचीत उनके ज्ञान और सहिष्णुता का दिवाला निकाल देती है।[१९०] उमानाथ के लिए ब्रह्मदत्त द्वारा बुलाई गई बैठकों में हुए संवादों में श्रद्धा-विहीन अनियत्रितता निखर उठती है।[१९१] साहित्यिक गोष्ठियों में हुई चर्चाओं में, उनमें भाग लेनेवालों की विशिष्टताओं के अतिरिक्त साहित्यिकों का स्वभाव प्रतिबिम्बित मिलता है।[१९२] इस प्रकार, इन बैठकों तथा गोष्ठियों में हुए सवादों में प्रतिबिम्बित लोगों की अलग-अलग विशिष्टताएँ मिलकर उस संस्था या वर्ग का चित्र खड़ा करती है।

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

जिस प्रकार वस्तु-जगत् में जो लोग हमारे सम्पर्क में आते है, उनके सम्बन्ध में हमारी और हमारे सम्बन्ध में उनकी कुछ धारणाएँ बन जाती हैं, जो समय-समय पर अभिव्यक्ति पाती रहती हैं, उसी प्रकार औपन्यासिक पात्रो के भी एक-दूसरे के बारे में निश्चित मत बन जाते हैं और वे यदा-कदा उनकी टीका-टिप्पणी के रूप में प्रकट होते रहते हैं। किसी पात्र के समझने में उसके बारे में दूसरों की टीका-टिप्पणी काफी सहायक सिद्ध हो सकती है, यदि वह निष्पक्ष भाव से की गई हो। कोई टिप्पणी निष्पक्ष है या पक्षपातपूर्ण, यह परखने के लिए यह जानना

१८८. वही, पृ० २४।
१८९. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० २२-२६।
१९०. वही, पृ० १३०-१३७।
१९१. वही, पृ० २६३-२७२।
१९२. वही, पृ० २५०-२६२।

आवश्यक हो जाता है कि वह किस परिस्थिति में की गई है और उस समय आलोचक पात्र का आलोच्य पात्र से सम्बन्ध कैसा था, मैत्रीपूर्ण, वैमनस्यपूर्ण या दोनों में से कोई नहीं। और फिर यह भी कि जब टीका की गई, उस समय आलोच्य पात्र उपस्थित था या नहीं। किसी पात्र की उपस्थिति में उसके मित्र या सम्बन्धी द्वारा की गई प्रशंसा इतनी विश्वसनीय नहीं होती, जितनी कि उसकी अनुपस्थिति में उसके शत्रुओं द्वारा किया गया उसके किसी एक गुण का उल्लेख। इसी प्रकार, किसी पात्र की अनुस्थिति में उसके शत्रुओं द्वारा की गई निन्दा की अपेक्षा उसकी उपस्थिति में उसके किसी मित्र या सम्बन्धी द्वारा उसके किसी अवगुण का प्रकाशन अधिक विश्वसनीय होगा

निष्पक्ष मत

भगवतीचरण वर्मा के पात्र भी एक-दूसरे के बारे में अपने निश्चित मत रखते है और समय-समय पर उन्हें प्रकट भी करते है। पर यदि किसी विशेष कारण से वे अपनी राय को प्रकट करने में असमर्थ हों, उन्हें अपना मत प्रकट करने की हिम्मत न पड़े या उनकी राय माँगी गई हो, तो उपन्यासकार उनकी उस राय को व्यर्थ जाने नही देता, अपितु उसका मूल्य समझता हुआ स्वय अपने शब्दों में उसे पाठकों तक पहुँचा देता है, इसलिए कि उससे उसके पाठकों को सहायता मिल सके। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के आरम्भ में ही जब रामनाथ अपने छोटे लड़के प्रभानाथ को लेकर बड़े लड़के दयानाथ के यहाँ उसे डांट-डपट लगाने गया तब प्रभानाथ बड़ा उत्सुक था कि वह अपने पिता और भाई की बड़ी मजेदार मुठभेड देखेगा। वह इस मुठभेड़ को मजेदार क्यों समझता था, यह हमें लेखक बता देता है: 'वह अपने पिता को अच्छी तरह से जानता था। दोनों ही चरित्रवान तथा अपने-अपने विश्वासों पर दृढ़ थे, दोनों में ही स्वामित्व का भाव प्रबल था, किसी से दबना दोनों में से एक ने भी नहीं जाना।'[१६३] पाठक को इन दो पात्रो के बारे में प्रभानाथ की यह राय और भी विश्वसनीय प्रतीत होने लगती है, जब लेखक यह और बता देता है कि उन दोनों से उसका समान लगाव था: 'पिता पर उसकी ममता थी, बड़े भाई के प्रति श्रद्धा थी'[१६४] और इसे आधार मानकर ही वह आगे बढ़ता है।

रामनाथ के बारे में उसके छोटे भाई श्यामनाथ की धारणा भी लगभग ऐसी ही थी। प्रभानाथ जब उमानाथ को लेने कलकत्ता जा रहा था तो वह रास्ते में अपने चचा श्यामनाथ के यहाँ रुक गया। श्यामनाथ उसे दो-चार दिन रोक लेना चाहता था पर जब प्रभा ने बताया 'नही काका जी ददुआ (रामनाथ) ने लिखा है? आप तो अपनी सफाई देकर अलग हो जाएँगे, बीतेगी मेरे सिर पर' तब वह भी माथे

---

१६३. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० १०।
१६४. वही, पृ० १०।

पर हाथ लगाये कुछ सोचकर धीरे से बोले, 'अच्छी बात है। भइया का तो लाट-साहबी हुक्म चलता है। तो फिर कल ही सही।'[१९५]

'तीन वर्ष' के नायक रमेश ने वेश्या सरोज के कोठे पर बाँकेलाल से जो व्यवहार किया था उसे वह अपने लिए अपमानजनक समझकर रमेश से बहुत बुरा मान गया था। पर रमेश की अनुपस्थिति में उन दोनों के मित्र विनोद ने रमेश के बारे में अपनी राय व्यक्त की, उससे पाठक को रमेश की उस अवस्था को समझने में बड़ी सहायता मिलती है: 'बाँके बाबू! रमेश मनुष्य है, उसके पतन मे भी उसका स्वाभिमान है, उसकी अहम्मन्यता है। आप इस समय क्रोध में हैं, यदि शांतिपूर्वक आप इसपर विचार करेंगे, तो आप उसका आदर करेंगे, आपको उसपर दया आवेगी।'[१९६]

'तीन वर्ष' का पाठक जानता है कि अजित का प्रभा से न प्रेम है और न वैर। इसलिए जब रमेश को समझाने के लिए अजित प्रभा के बारे में कहता है कि 'प्रभा की दृष्टि में व्यक्तित्व का मूल्य नही है, उसकी दृष्टि में मूल्य है रुपये-पैसे का' पाठक को यह समझने में देर नही लगती कि रमेश को प्रभा की ओर से निराश होना पड़ेगा।[१९७]

वर्माजी के पात्र कई बार जब आलोच्य पात्र की उपस्थिति में ही उसे सम्बोधित करके उसके स्वभाव की किसी विचित्रता या त्रुटि का उल्लेख कर देते है और वह पात्र उनका खण्डन नही करता तो पाठक उस बात को ध्यान से सुनकर याद कर लेता है कि कदाचित् वह बाद में उसके काम आए। 'तीन वर्ष' के आरम्भ में अजित का जो रूप सामने आता है, पाठक को तो वह विचित्र लग ही रहा था, पर जब वह पात्रों को भी अजीत से कहते हुए पाता है कि वे उसे समझ नही पा रहे, तो उसे विश्वास हो जाता है कि अजित अज्ञेय है। पाठक लीला के इस कथन को छोड़ भी दे कि 'अजित, तुम्हें नही समझ पा रही हूँ, तुम मेरे लिए एक पहेली हो',[१९८] पर जब अजित का घनिष्ठ मित्र रमेश भी उसे समझने में असमर्थता प्रकट कर दे 'अजीत, तुम्हें मैं नही पहचान पा रहा हूँ'[१९९] तो वह इसकी सत्यता से कैसे इन्कार कर दे।

भ्रामक टीका-टिप्पणियाँ

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रो की एक दूसरे पर की गई कई टीका-टिप्पणियाँ ऐसी भी है कि यदि उनकी तह में छिपे आलोचक पात्र के प्रेरक

१९५. वही, पृ० ५९।
१९६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० २१२।
१९७. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १०१।
१९८. वही, पृ० ८७।
१९९. वही, पृ० ९९।

(मोटिव) को जाने बिना उन्हें ही आधार मानकर आगे बढ़ा जाये तो वे पथ-भ्रष्ट कर दें। बीजगुप्त के आशंका प्रकट करने पर कि कहीं कुमारगिरि उन दोनों के बीच में न आ पड़े तो उसे झूठा आश्वासन दिलाती हुई चित्रलेखा कहती है : 'प्रियतम ! कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है। उसकी आत्मा मर चुकी है।'[२००] पर पाठक जानते हैं कि कुमारगिरि के सम्बन्ध में चित्रलेखा की इस राय के पीछे उसका हृदय नही, केवल कपट-भाव काम कर रहा था।

कविता-गीत

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रों में से गीतकार तो केवल एक है—किशोर, पर उसके अतिरित अन्य पात्र भी यदा-कदा उमंग में आकर कोई गाना गुनगुनाने लग जाते हैं। किसी दूसरे के सुनाने के लिए वे ऐसा नहीं करते। वास्तव में होता यह है कि उनके हृदय की भावनाएँ उस गाने के रूप में फूट पड़ती हैं--वह गीत चाहे उनका अपना न होकर किसी अन्य का हो। ऐसी स्थिति में वे पात्र भले ही सायास आत्मनिवेदन न करें, उनके द्वारा गुनगुनाया हुआ गाना उनके हृदय की तत्कालीन भावनाओं को ध्वनित कर देता है।

भावाभिव्यक्ति

विजयसिंह—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में क्रान्तिकारी दल की एक गुप्त बैठक हो रही थी और मनमोहन किसी गम्भीर विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए भूमिका बना रहा था। सहसा उसके कानों में विजयसिह के एक गाने की गुनगुनाहट पड़ी और वह सहसा रुककर उसे गौर से सुनने लगा। विजयसिह की आवाज़ थोड़ी सी काँप रही थी। मनमोहन ही नही, सभी लोग मंत्रमुग्ध होकर उस गाने को सुन रहे थे। विजयसिह रुक गया, उसने एक ठण्डी साँस ली, फिर उसने मनमोहन की ओर देखा, 'क्यों, अपनी बात कहते-कहते रुक क्यों गये ?' मनमोहन ने झुँझलाकर कहा, "बात किससे करूँ ? तुम लोग सब के सब एक तरह की मस्ती में गर्क हो, भगवान् जाने इस मस्ती का अन्त क्या होगा ?" विजयसिंह और उसके साथियों में कितनी मस्ती भरी हुई थी और उनकी तत्कालीन मन.स्थिति क्या थी, इसका अनुमान उस गीत से लगाया जा सकता है, जिसे वह गुनगुना रहा था :

> "उर की लाली से मुख की कालिख धोलो—
> सर आज हथेली पर है बोली बोलो।"[२०१]

रामेश्वर—'आखिरी दाँव' उपन्यास के आरम्भ में ही उसका नायक रामेश्वर

---

२००. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ३६।
२०१. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', ।

अपने खेत से लौट रहा होता है। अनाज कट चुका था और उसी समय संयोग से शहर के एक व्यापारी ने आकर उसके खेत से ही उसका अनाज खरीद लिया था। रामेश्वर प्रसन्न था। उसकी टैट में पाँच सौ रुपये थे। होली का त्यौहार सर पर आ गया था। किस तरह वह अपने मित्रों को दावत देगा, भाँग छनेगी, नाच-गान होगा, रंग-गुलाल खिलेगा ········इन्ही विचारों में मग्न उसने अपने खेतों की मेड़ छोड़कर अपने गाँव में प्रवेश किया। गाँव में प्रवेश करते ही उसने अलाप भरी : "खेल री जी भर फाग, आँगन तोरे आये हैं साजन !"[२०२] और उस अलाप के साथ ही उसके हृदय की सारी मस्ती, समस्त आह्लाद गाँवभर में मुखरित हो गया।

किशोर—वैसे तो फिल्मी गीतकार किशोर का जो रूप हमें 'आखिरी दाँव' में मिलता है, उसी के आधार पर वह एक पथ भ्रष्ट युवक से अधिक नही ठहरता पर राधा और चमेली दो महिलाओं की उपस्थिति में उसने अपनी जो कविता गाकर सुनाई, उसमें तो उसका शोहदापन पूर्ण रूप से निखर उठता है :

'सजनी तेरा अभिसार करूँ।
जी में आता है मधुबाला हाला बन तुझको प्यार करूँ।
है आज हृदय में कुछ कंपन, है आज प्राण में कुछ क्रन्दन।
इस यौवन का मैं चुम्बन से, आलिगन से, शृंगार करूँ।'[२०३]

विनोद-रमेश—'तीन वर्ष' के पात्र रमेश और विनोद में प्रथम भेंट के समय ही प्रेम के विषय पर जो तर्क-वितर्क छिड़ा उसमें प्रेम के मार्ग की उच्चता दिखाने के लिए विनोद ने कबीर का यह दोहा उद्धृत किया :

'यह है मारग प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस चढ़ावे भुइँ परे ता पर राखे पाँव ॥'

और रामेश्वर ने उसके तर्क को काटने के लिए उससे विपरीत अभिप्राय-वाला कवि का ही यह दोहा पेश किया : 'तिरिया विष की खान।' इन पात्रों द्वारा दिये गये ये पद्यात्मक उद्धरण उन दोनों के उस समय के मानसिक झुकाव की ओर स्पष्ट सकेत है कि विनोद रमणी की ओर प्रवृत्त है और रमेश उससे घबराकर भाग रहा है।

पत्र

सहज स्वभाव से लिखे गये पत्रो में उनके लेखक की मन:स्थिति अनायास झलक पड़ती है। जब तक कि लेखक अपने मनोभावों को प्रकट होने से बचाने में विशेष रूप से प्रयत्नशील न हो, पत्र उसके मनोभावों का दर्पण बन जाता है।

---

२०२. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० १।
२०३. वर्मा, 'आखिरी दाँव'।

पत्र का उल्लेखभर

वर्माजी के उपन्यासों में पात्रो द्वारा लिखे गये पत्रों का उल्लेख तो यदा-कदा होता रहता है, पर बहुधा वह उल्लेखमात्र ही रह जाता है ! इलाहाब.द छोड़ते समय 'तीन वर्ष' के नायक रमेश ने अजित के नाम एक पत्र लिखा, यह बात तो लेखक हमें बता देता है, पर उस पत्र में क्या लिखा था यह बताने की लेखक कदाचित् कोई आवश्यकता नही समझता ।[२०४] 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त ने श्वेतांक के हाथ मृत्युंजय के पास जो पत्र भेजा था, लेखक उस पत्र को खोल कर पाठको के सामने नहीं रखता, श्वेतांक को बीजगुप्त के इस कथन में पत्र के विषय के बारे में संकेत भर कर देना पर्याप्त समझता है : 'श्वेताक मेरा कर्त्तव्य है कि अपने कटु शब्दों के लिए मृत्युंजय से क्षमा प्रार्थना करूँ ।[२०५]

जब कभी पात्र अपने लिखे पत्र के बारे में सकेत तक भी न करे और वर्माजी उसे पाठकों को बताना आवश्यक समझें तो वह अपने शब्दों में उस पत्र का विषय बता देते हैं । 'टेढ़े मेढे रास्ते' का दयानाथ जिस समय पुन' जेल जाने की तैयारी कर रहा था उसे मार्कण्डेय का एक पत्र मिला । लेखक उस पत्र को खोल कर तो पाठकों के सामने नही रखता पर उन्हें इतना जरूर बता देता है कि उसमें मार्कण्डेय ने अपने पिता की मृत्यु की सूचना दी थी ।[२०६]

लेखक द्वारा इस प्रकार पत्रों के उल्लेख मात्र से कथा-वस्तु के बिखरे सूत्र भले ही मिल जाते हों, पात्रों के चरित्र को समझने में उनसे कोई सहायता नही मिलती ।

मनःस्थिति का चित्रण

पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति को व्यक्त करने वाले पत्र वर्माजी के समूचे उपन्यास साहित्य में एक-दो ही मिलेंगे । वेश्या सरोज को छोड़ते समय 'तीन वर्ष' का नायक रमेश उसके नाम जो पत्र छोड़ गया था, वह रमेश द्वारा उस स्थान को छोड़ जाने के कारण को तो प्रकाश में ले ही आता है, साथ ही रमेश की उस समय की मनोदशा को भी व्यक्त कर देता है :

> "तुमने मुझ पर बड़ी कृपा की —इसके लिए धन्यवाद देता हूँ—तुम बड़ी अच्छी हो । तुम्हारे पास आत्मा है—विश्वास है । तुम्हें छोड़ते हुए मुझे दु.ख हो रहा है, पर क्या करूँ, विवश हूँ । और सरोज । पता नही, हम-तुम फिर कभी मिलेंगे भी ? शायद नही, इसीलिए अन्तिम बार विदा ।"[२०]

---

२०४. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १४८ ।
२०५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० १०६।
२०६. वर्मा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते' ।
२०७. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० २४५ ।

इसी प्रकार, रमेश को अपना आत्म-निवेदन पहुँचाने के लिए सरोज ने 'लीडर' में विज्ञप्ति के रूप में अपना जो पत्र छपवाया था, उसमें सरोज की मनोदशा तो प्रतिबिम्बित है ही, उससे सरोज के चरित्र की इस विशिष्टता पर भी प्रकाश पड़ता है कि वेश्या होने पर भी उसका रमेश से सच्चा प्रेम था, उस के लिए वह जान दे सकती थी .

> 'मैं मृत्यु-शय्या पर पडी हूँ। तुम्हें एक बार देखना चाहती हूँ, यही मेरी अन्तिम इच्छा है—और मै यह नही जानती कि कब तक ज़िन्दा रहूगी। अगर मरने से पहले तुमसे मिल सकती, तो सुख से मर सकूंगी।'[२०८]

भ्रामक पत्र

वर्माजी के उपन्यास 'टेढ़े-मेढे रास्ते' में एक पत्र ऐसा मिलता है जिसका 'मोटिव' समझे बिना उसके लेखक पात्र की भावनाओं का मूल्याकन करने में धोखा लग सकता है। वह पत्र है साम्यवादी नेता मोरिसन का जो उसने हिल्डा से छीना-झपटी करते समय अपने मुंह पर आई खरोचो के लिए मिस सिम की बिल्ली को उत्तरदायी ठहरा कर उससे ५०० रु० लेने के लिए लिखा था :

> "इस ख़याल से कि आपकी बिल्ली मरेगी, आप बेहोश हो गईं। इससे मुझे बहुत दुख हुआ, और इससे अधिक दुःख मुझे इस बात से हुआ कि आपकी नजर के सामने ही हजारों आदमी अधमरे, भूखे, प्यासे, तड़पते है और आप उन पर ध्यान नही देती; जबकि एक जानवर पर आप की इतनी ममता है कि उसके मरने के खयाल से ही आप बेहोश हो सकती हैं। बिल्ली मैं छोड़ देता हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इस बिल्ली पर रहम कर रहा हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं आप पर रहम कर रहा हूँ, आपक दुःखों को मैं देख नहीं सकता। रही मेरे खर्च की बात, उसकी चिन्ता न कीजियेगा— उसका मै किसी-न-किसी तरह इंतजाम कर लूंगा।"[२०९]

इस पत्र के आधार पर तो मौरिसन एक भोला-भाला देवता ही प्रतीत होगा, भले ही इस पत्र के पीछे काम कर रही उसकी नीयत को जान लेने पर उसके इस हथकंडे के प्रति घृणा का भाव जाग उठे।

---

२०८. वही, पृ० २४९।

२०९. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृ० १०९-११०।

वृन्दावनलाल वर्मा

परिचयात्मक विवेचन

प्रेरणा

लैसली स्टीफन की धारणा है कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यासों के घातक हैं। दूसरी ओर, इतिहासकार पालग्रेव का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के शत्रु होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास साहित्यकार और इतिहासकार दोनो में से किसी को भी संतुष्ट नही कर पाता, यदि इस कथन में कुछ भी सचाई है तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर उपन्यासकार प्रवृत्त क्यों होता है? हो सकता है कि कोई उपन्यासकार अपने उपन्यासों की कथावस्तु इतिहास से इसलिए लेता हो कि वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि पर अपने विश्वासों और मान्यताओं को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने की उसमें सामर्थ्य न हो। यह भी हो सकता है कि वह अतीत के किसी युग-विशेष की सभ्यता और संस्कृति से इतना अधिक प्रभावित हो कि अपने उपन्यासों के सहारे वह उसे फिर से लाना चाहता हो। या ऐसा भी हो सकता है कि उपन्यासकार से किसी ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति के प्रति इतिहासकारो द्वारा किया गया अन्याय सहा न गया और वह श्रद्धापूर्ण खोज के बल पर उसके प्रति न्याय करने की भावना से ऐतिहासिक उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुआ हो। वृन्दावनलाल वर्मा के अधिकाश उपन्यास इसी भावना से प्रेरित हुए है। उनको ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के पीछे यह दृढ़ विश्वास काम कर रहा है कि 'भारत का इतिहास लिखने वाले अंग्रेज लेखकों ने शोध के परिश्रम और विद्वत्ता के प्रवाह के साथ हम को न्याय नही दिया।'[1] वर्मा जी का कहना है कि 'हम उनकी श्रमशीलता और गहरी विद्वत्ता को नमस्कार कर सकते हैं, परन्तु उनके दृष्टिकोण पर हमारी भौंह तन जाती हैं।'[2] 'झाँसी की रानी' की रचना का मूलाधार उनका

१-२. वृन्दावन लाल, "ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण", 'नए पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३, पृ० ४४।

यह विश्वास है कि रानी स्वराज्य के लिए लड़ी, अंग्रेजों की ओर से झांसी पर शासन करते-करते जनरल रोज से विवश होकर नहीं। पारसनीस के अन्वेषणों को मूल्यवान मानते हुए भी वह उसके इस विचार से सहमत नही कि रानी का शौर्य विवशता की परिस्थिति में उत्पन्न हुआ था।[3] इस प्रकार, अपने ऐतिहासिक पात्रो के प्रति उपन्यासकार का पहले से ही एक स्थिर दृष्टिकोण[4] बन जाने से उनका चित्रण उतना ऐतिहासिक तथ्यो के बल पर नही हो पाता जितना भावना के तल पर। यह बात 'झाँसी की रानी' ही नहीं, न्यूनाधिक रूप में वर्मा जी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सामाजिक उद्देश्य

अतीत के चित्रण की ओर वर्माजी शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ही प्रवृत्त हुए हों, यह बात नही। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में, प्रेमचन्द की तरह वह भी एक आदर्श लेकर चले है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर खड़े होकर वर्तमान को समझने और सुधारने की चेष्टा भी उनके उपन्यासो में मिलती है, स्पष्ट उपदेशकता के रूप में चाहे वह व्यक्त न हुई हो। वर्माजी का विश्वास है कि 'ऐतिहासिक उपन्यास से पाठक को और लेखक से समाज को, कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिये। जनमत में दिव्यता की ओर ले जाने वाला सवेग यदि ऐसे उपन्यास के निर्मित्त द्वारा मिल जाए तो लेखक सफल हुआ।'[5] उन्होंने लिखा भी है कि 'यदि लेखक ने व्यक्ति के भीतर भरे पुरुषार्थ और सत्सिद्धान्त पर बलिदान हो जाने की शक्ति को जगा दिया तो इतिहास के प्रकाशमान तथ्यों की जैसी व्याख्या होनी चाहिये, वैसी व्याख्या हो गई। भूतकाल में देवताओं की लीलाएँ भी हुई है और राक्षसों की भी। आज भी हो रही हैं। उपन्यास-लेखक दोनो की व्याख्या रोचक ढंग से कर सकता है और करे, परन्तु पाठक अन्त में देवताओं के क्रिया-कलापों पर मुग्ध होकर रह जाए और राक्षसों की लीला का तिरस्कार उसका मन कर दे तो उपन्यास-लेखक ने इतिहास की सच्ची व्याख्या की।'[6] कदाचित् इसीलिये वह अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक पात्रो के चित्रण तक ही सीमित नहीं रहे, प्रत्युत् ऐसे पात्रों का निर्माण भी उन्होने किया है जिनके 'नाम काल्पनिक हैं, परन्तु जिनका इतिहास सत्यमूलक है।'[7] अनेक कालो

---

३. वृन्दावनलाल वर्मा, 'झांसी की रानी'—परिचय, द्वितीय आवृत्ति, १९४८, पृ० १।

४-६. वर्मा, 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण', 'नए पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३, पृ० ४४ :
"इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है, परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है।"

७. वर्मा, 'विराटा की पद्मिनी'—परिचय, तृतीयावृत्ति, सं० २००३, पृ० १४।

की सच्ची घटनाओ को उपन्यास में एक ही काल की घटना के रूप में संजोकर और अनेक व्यक्तियो के गुणावगुणो का एक ही पात्र में समाहार करके वर्माजी ने समाज की हृदय हिला देने वाली कहानी कही है। 'विराटा की पद्मिनी' के कुंजरसिह का दासी-पुत्र होने के कारण राज्य के उत्तराधिकार से वचित किया जाना, 'मृगनयनी' में लाखी और अटल के अंतर्जातीय विवाह का समाज द्वारा व्यापक विरोध, आदि अनेक समस्यायें हैं जो पाठको के हृदय को छू लेती है और जो आज भी पूरी तरह से सुलझ नही पाई। अतीत की कई ज्ञातव्य बातो से पाठको को प्रेरणा भी मिलती है। 'झासी की रानी' को ही लें। आज के युग में जब देशभर में साम्प्रदायिकता का बोलबाला है, पठानों के नेता गुलमुहम्मद के चरित्र से, जिसने रानी की लाश को किसी अंग्रेज का हाथ तक न लगने दिया था, पाठकों को प्रेरणा मिले बिना नहीं रह सकती। अग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दू-मुसलमानों ने एक-साथ मिलकर अपना रक्त बहाया था, यह जानकारी आज के युग के लिए अमूल्य है।

इतिहासकार का दृष्टिकोण

ऐतिहासिक उपन्यासकार को सबसे बड़ी कठिनाई होती है अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण में, क्योंकि पात्रों के लोकविख्यात और इतिहास-सम्मत रूप के विरुद्ध वह उनके चरित्र का विकास नही कर सकता। इतिहास उसकी कल्पना के पर काट डालता है और उसे अपने पात्रों के साथ मनमानी नही करने देता है। यह कठिनाई उस उपन्यासकार के लिए और भी बढ़ जाती है, जो उन्हे किसी पूर्व-निश्चित दृष्टि-कोण से चित्रित करने का व्रत ले चुका हो। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार के लिए दो ही रास्ते रह जाते हैं। या तो वह स्वतन्त्र खोज द्वारा अपने दृष्टिकोण के अनुकूल ऐतिहासिक सामग्री संकलित करे और उसकी प्रामाणिकता के आधार पर पात्रो के चरित्र का निर्माण करे और या फिर वह पात्रों के चरित्र के उस रूप के उद्घाटन पर बल दे जो इतिहास की पहुंच से परे रहकर उनके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहा हो अर्थात् वह पात्रों के बहिर्जगत् और उसमें व्यक्त उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया में न उलझा रहकर उनके अन्तर्जगत् और उसमें व्याप्त संघर्षो को पकड़ने की चेष्टा करे। अपने दृष्टिकोण का सफल निर्वाह तो उपन्यासकार इन दोनों रास्तों में से किसी एक पर भी चलने से कर सकता है, पर पहली प्रवृत्ति उसकी रचना को 'औपन्यासिक इतिहास' बना देती हे और दूसरी उसे 'ऐतिहासिक उपन्यास' बनाने में योग देती है।

बहिरंग चित्रण

वर्माजी के उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति ही अधिक रही है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की लम्बी-लम्बी भूमिकाओं के अतिरिक्त, जिनमें उन्होंने अपनी ऐतिहासिक

खोजों का उल्लेख किया है, उनका पात्रो के बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चरित्र-चित्रण की ओर अधिक झुकाव इस बात का परिचायक है कि चरित्र-चित्रण में उनका दृष्टिकोण इतिहासकार का अधिक रहा है और उपन्यासकार का कम। जैसा कि हम आगे देखेंगे वर्माजी का औपन्यासिक चरित्र-चित्रण सतही ढग का रहा है, जिसमें पात्रो का केवल व्यक्त—और वह भी सार्वजनिक, पारिवारिक नही—जीवन ही चित्रित हुआ, न कि अतरग (सब्जेक्टिव), व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक। इसीलिए, वह अपने पात्रों की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अचेतन या अवचेतन कारणों को नही पकड पाए। उदाहरणार्थ, वर्माजी के 'झाँसी की रानी' और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' को ले। दोनों उपन्यासों में लेखकों का उद्देश्य एक-सा रहा है—पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना। वर्माजी 'झांसी की रानी' उपन्यास के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि 'रानी का शौर्य विवशता की परिस्थितियों में उत्पन्न नहीं हुआ था'[८] अर्थात् वह जन्मजात था जो धीरे-धीरे विकसित होता गया। 'शेखरः एक जीवनी' में अज्ञेय भी 'मानवता के सचित-अनुभव के प्रकाश में जीवन की कार्य-कारण-परम्परा के सूत्र सुलझाने' में प्रवृत्त हुए हैं।[९] दोनों उपन्यासों में रचयिताओं के उद्देश्य में साम्य होते हुए भी उनके दृष्टिकोण के अतर के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में बहुत बड़ा अंतर है। वर्माजी सतह के ऊपर ही ऊपर रह जाते हैं और अज्ञेय उससे नीचे ही नीचे।

वर्माजी के चरित्रचित्रण की अधिकांश प्रवृत्तियाँ वही हैं, जो पात्रों के बहिरग चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकारो की रही हैं। यहाँ उनकी सभी प्रवृत्तियों का नही, केवल उन्ही का निरूपण किया जाएगा जिनको उन्होंने चरित्र-चित्रण का मुख्य रूप से माध्यम बनाया है।

देशकाल-परिस्थिति-चित्रण

पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के ठीक-ठीक मूल्यांकन के लिए उस परिस्थिति का ज्ञान तो वैसे ही आवश्यक होता है, जिनमें वह व्यक्त हुई हों, पर ऐतिहासिक उपन्यासों में पात्रों की परिस्थिति और देशकाल के चित्रण का महत्त्व और भी बढ जाता है। अन्य उपन्यासों के पात्र और उनकी परिस्थितियाँ अपने युग की, अतः परिचित, होने से पाठक के लिए उनका सकेत-भर पर्याप्त होता है, शेष की वह अपने अनुभव के आधार पर कल्पना कर लेता है। पर ऐतिहासिक उपन्यासों के पात्र, उनका युग और उसकी परिस्थितियाँ पाठकों से बहुत दूर और वर्तमान युग से भिन्न होने के कारण पाठक उन पात्रो के व्यक्त आचार-व्यवहार तथा क्रिया-कलापो को पूरी तरह नही समझ सकता जब तक उपन्यासकार उनके देशकाल और परिस्थिति का विस्तृत

८. वर्मा, 'झांसी की रानी'—भूमिका, पृ० ४।

९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी'—भूमिका, चतुर्थ संस्करण, १९५१, पृ० ५-१०।

चित्रण न करे। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने पात्रों के सीमित परिवेश का चित्रण करके ही नहीं रह जाता, प्रत्युत् उस काल के, उस जाति के, वर्ग और समाज के रीति-रिवाज, मनोवृत्ति और आर्थिक स्थिति का भी चित्रण करता हुआ पाठक को सुझाव देता है कि वह उनके संदर्भ में ही उसके कार्य-कलापों का मूल्य आँके।

समाज-चित्रण

वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यासों में स्थित्यंकन व्यापक चित्रपट पर नहीं करते। उनके स्थित्यंकन के केमरा का 'फोकस' पात्रों के अत्यन्त निकटवर्त्ती परिवेश तक, उनके आसपास के तंग घेरे तक ही, सीमित रहता है। इसलिए वर्माजी तत्कालीन जन-जीवन के अंतर में प्रवेश नहीं कर पाते, उनकी दौड़ राजमहलों, दरबारों और राजा-रानियों तक ही सीमित रहती है।

मृगनयनी—पर उनके 'मृगनयनी' और 'सोना' नामक उपन्यासों में यह बात नहीं खटकती। इन उपन्यासों में उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण व्यापक पृष्ठभूमि पर हुआ, जिससे प्रमुख पात्रो के चरित्रोद्‌घाटन के साथ तत्कालीन जन-जीवन का भी परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ वह स्थिति लीजिए जब राजा मानसिह रात को वेश बदलकर प्रजा का हाल देखने निकलता है और एक मज़दूर के घर का द्वार खटखटाता है। उपन्यासकार स्थित्यंकन इस प्रकार आरम्भ करता है :

> "भीतर वाले ने कॉखते-कूँखते उठकर टटिया खोल दी। बाहर वाला भीतर आ गया। उसके लम्बे-तड़ंगे शरीर और भारी-भरकम साफे को देखकर भीतर वाला डर गया। लम्बे-तड़ंगे ने टटिया के पास जूते खोल दिये और आग के पास आ बैठा। उसने झोंपड़ी में नजर पसारी। एक कोने में चकिया, इधर-उधर मिट्टी और काठ के बर्तन, पीतल की एक थाली, एक लोटा और कुछ नहीं।"[१०]

अपनी ओर से इतना लिखने के पश्चात् उपन्यासकार शेष वर्णन पात्रों पर छोड़ देता है। पाठकों को उस मजदूर परिवार की शोचनीय अवस्था का परिचय पात्रों के कथोपकथन से ही मिलता है :

> "मजदूर गिड़गिड़ाकर बोला, 'दाऊ, मेरी गाठ में कुछ नहीं है। गरीब हूँ। किसी बड़े घर को तक लो।'
>
> 'डरो मत। मैं चोर-उचक्का नहीं हूँ।'
>
> 'कौन हो ? कहाँ से आये हो ?'
>
> 'राई-नागदा गांव से आया हूँ।
>
> 'नागदा तो उजड़ गया है। राई में क्या करते हो ?'
>
> 'मजदूरी-किसानी। गूजर हूँ।'

---

१०. वर्मा. 'मृगनयनी', पृ० ३७३।

'गूजर ठाकुर तो हमारी रानी भी है। उन्ही के पास जा रहे हो क्या ?'

'नौकरी ढूँढने आया हूँ। रास्ता भूल गया हूँ। किले में कैसे जाऊँ ?'

'बतलाये देता हूँ। चलो बाहर, वहीं से दिखलाये देता हूँ।'

'कुछ खाने को है ?'

'अभी तो कुछ नहीं है। हमारे लिए ही नही है। इससे कहा कि पीस दे सो यह बहुत बीमार है। मै पीस नही पाऊँगा, क्योंकि बहुत भूखा हूँ।''[११]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि वर्माजी पात्रों के कथोपकथन से उपन्यास के कथानक को गति देने और पात्रो के चरित्र को उद्घाटित करने का काम ही नहीं लेते, प्रत्युत् कई बार स्थित्यंकन भी पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से ही करा देते हैं।

सोना—'सोना' में उपन्यासकार द्वारा वर्णित उस स्थिति का चित्रण देखिए जिसमें अनूप 'माई का घुड़ला' बनकर चंपत से सोना का चुराया हुआ बहुमूल्य हार निकलवा लेता है :

''भावना के साथ माता का भजन शुरू हुआ।

जैसे-जैसे भजन की गति बढी, लोगो को फुरेरी आने लगी। जिसके सिर देवता को आना था वह नामी देवता था। जनता उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगी। उस को 'माई का घुड़ला' कहते थे।

'माई का घुड़ला' यकायक कांपा, हिला और उसने दो-एक चीखें मारी। अनूपसिंह भी हिल उठा। हूकें मारने लगा। देवता आज दो के सिर आ रहा है। उनमें एक कुंवर साहब, राजा के सांढू। पहले तो डुंगरिया-निवासी जनता को भ्रम हुआ कि यह कोई दिल्लगी कर रहा है। फिर विश्वास हो गया कि राजदरबार में और देवता की बैठक में मसखरी नही कर सकता। सब लोग कौतूहल के साथ देखने लगे।

चंपत को अवसर मिल गया। उसने गाँठ पर गाँठ खोलनी आरम्भ की। वह समझता था कि उसको कोई नही देख रहा है, पर अनूपसिह साँस नीची-सी किए भी कुछ ताड़ रहा था। भाव आते-आते भी।

जिस नावते—माता के घुड़ला—को पहले भाव आया था उसकी कंपकंपी और हुंकारों के ऊपर भी अनूपसिह की हुंकारें उतरने लगीं। नावते की कुछ कम पड़ गई।

अनूप हुंकारें भरते-भरते, हाथ-पैर फेंकते-फेंकते लोटने लगा और नीचे

११. वर्मा, 'मृगनयनी', पृ० ३७३।

बिछी दरी की पर्तों को मुट्ठियो में बटोरने लगा। भजन की गति बहुत तीव्र हो गई थी।

अनूप एकाएक बैठ गया और चिंघाडें मारने लगा, आखें फटने सी लगीं।"[१२]

उपर्युक्त स्थिति-चित्रण से अनूप की बुद्धि-कुशलता का परिचय तो मिलता ही है, तत्कालीन जनता के धार्मिक विश्वासो का भी पता चल जाता है, जिन्हें जाने विना अनूप के तत्कालीन व्यवहार को पूरी तरह नही समझा जा सकता।

युद्ध-वर्णन

युद्ध-स्थल की विकट परिस्थितियो का चित्रण तो वर्माजी के सभी उपन्यासो में अत्युत्तम हुआ है। स्थानाभाव के कारण अधिक उद्धरण न देकर 'झाँसी की रानी' के अन्तिम युद्ध का एक अंश ही उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :

"अंग्रेजों ने थोड़ी देर में इन सबके चारो तरफ घेरा डाल दिया। सिमट-सिमटकर उस घेरे को कम करते जा रहे थे। परन्तु रानी की दुहत्थी तलवारे आगे का मार्ग साफ करती चली जा रही थी। पीछे के वीर सवारों की संख्या घटते घटते नगण्य हो गई। उसी समय तात्या ने रुहेली और अवधी सैनिकों की सहायता से अंग्रेजों के व्यूह पर प्रहार किया। तात्या कठिन से कठिन व्यूह में होकर बच निकलने की रणविद्या का पारंगत पण्डित था। अंग्रेज थोड़े-से सवारों को लालकुर्ती का पीछा करने के लिए छोड़कर तात्या की ओर मुड़ गए। सूर्यास्त होने में कुछ विलम्ब था।

लालकुर्ती का अखीरी सवार मारा गया। रानी के साथ केवल चार सरदार और उनकी तलवारें रह गईं। पीछे से कड़ाबीन और तलवार वाले दस-पन्द्रह गोरे सवार। आगे संगीन वाले कुछ गोरे पैदल।

रानी ने पीछे की तरफ देखा—रघुनाथसिंह और गुलमुहम्मद तलवार से अंग्रेज सैनिकों की संख्या कम कर रहे हैं। एक ओर रामचन्द्र देशमुख दामोदरराव की रक्षा की चिन्ता में बरकाव कर-करके लड़ रहा था। रानी ने देशमुख की सहायता के लिए मुन्दर को इशारा किया, और वह स्वय सगीनबरदारों को दोनों हाथों की तलवारों से खटाखट साफ करके आगे बढ़ने लगी। एक संगीनबरदार की हूल रानी के सीने के नीचे पड़ी। उन्होंने उसी समय तलवार से उस संगीनबरदार को खतम किया। हूल करारी थी, परन्तु आंतें बच गईं।"[१३]

---

१२. वर्मा, 'सोना', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', ११ जून, १९५१, पृ० ७।
१३. वर्मा, 'झांसी की रानी', पृ० ४९७।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनके आकृति-वेशभूषा-वर्णन का बड़ा महत्त्व होता है। इसीके माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रों को पाठको के कल्पना-चक्षुओं के आगे साकार कर दिया करता है। जब तक पात्र की कोई क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं होती, तब तक पाठक बाह्य आकार और रंग-रूप के आधार पर ही उसके चरित्र के सम्बन्ध में अनुमान लगाया करता है। आकृति का चरित्र और स्वभाव से गहरा सम्बन्ध माना जाता है।[१४] पात्रों की आकृति और वेशभूषा के आधार पर लगाया गया अनुमान चाहे उतना ठीक न निकले जितना उसके हाव-भाव और क्रिया-प्रतिक्रिया के सहारे लगाया गया अनुमान,[१५] पर व्यक्ति की आकृति के आधार पर उसकी चारित्रिक विशिष्टताओं का कुछ-न-कुछ अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। वस्तुजगत् में भी जब हमारी किसी से पहली बार भेंट होती है तो हम भी उसकी आँखो के रंग और चमक, चेहरे की बनावट, शारीरिक गठन आदि से उसके स्वभाव के बारे में अनुमान लगाने का प्रयत्न किया करते हैं।

आकृतिविज्ञान (फिज्योग्नॉमी) एक प्राचीन विज्ञान है और उसकी सहायता से दूसरों को समझने और समझाने की प्रथा भी कोई नई नहीं। उपन्यासकारों ने अवश्य इससे बहुत कम लाभ उठाया है। लम्बे-लम्बे आकृति-वेशभूषा-वर्णन की प्रवृत्ति तो वर्माजी के उपन्यासों में आरम्भ से ही है, पर ऐसा करते हुए उनका ध्यान पात्र के अग-प्रत्यंग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषता की ओर रहा है और उनके वर्णन द्वारा उन्होंने पात्रों की चारित्रिक विशिष्टता को दृष्टि में रखा है। 'गढ़कुंडार' का एक आकृति-वेशभूषा-वर्णन देखिए—

> 'एक सवार की आयु सत्रह या अठारह वर्ष से अधिक न होगी। प्रशस्त ललाट, कुछ लम्बाई लिये गोल चेहरा, आँखें कुछ बड़ी और बादाम के आकार की हल्की काली, नाक सीधी और होंठ लाल, ठोड़ी आधार में एक हल्के से गढ़ेवाली और जरा-सी आगे को झुकी हुई और गर्दन सुराहीदार। केश पीछे गर्दन तक लम्बे और बिल्कुल काले और उनपर कहीं-कहीं रेत के कण। भौहे पतली लम्बी और खिची हुईं और पलकें दीर्घ। सीना चौड़ा और कमर बहुत पतली, बाहु लम्बे और हाथ की उंगली पतली। मूंगिया रग के कपड़े पहने हुए, छोटी-सी ढाल और तरकस पीठ पर, कमर में तलवार और कन्धे पर कमान। भाल पर लगा रोरी का तिलक किसी समय हाथ पड़ जाने से

१४. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 78.
"There is also theoretical justification for judgements based on physiognomy : growth is largely regulated by the glands of internal secretion, so too is the emotional life. Physical features therefore may logically be expected to reveal peculiarities of temperament."

१५. Ibid. p. 66.

पुछ गया था और माथे पर तिलक लकीर के आकार में बन गया था। इस आरक्त वक्र रेखा ने मुख के हल्के गेहुएँ रंग को और भी तेजोमय बना दिया था।'[१६]

इस वर्णन में उपन्यासकार का अभीष्ट पात्र को तेजोमयी आकृति प्रदान करने का है। अब उसके साथी का वर्णन देखिए, जिसमें भयंकरता का समावेश किया गया है :

'दूसरा सवार तेईस या चौबीस वर्ष का युवक था। पहले सवार की बाल्यावस्था ने अभी बिल्कुल साथ नही छोड़ा था और दूसरा युवावस्था में प्रवेश कर चुका था। रग सावला, लम्बे काले बाल चेहरे की श्यामलता को और भी गहरा बना रहे थे। मस्तक छोटा, आँखे बडी, नाक सीधी परन्तु छोटी, भौहें मोटी और गुच्छेदार, ठोड़ी चौड़ी और आगे को झुकी हुई। बायें कान में मणि-जटित बाली, सीना बहुत चौडा, हाथ छोटे परन्तु बहुत पुष्ट, सारी देह जैसे सांचे में ढाली गई हो। आँखे बहुत काली सजग और जल्दी-जल्दी चलने वाली, गले में पड़ी मोतियों की माला चेहरे के सावलेपन को दीप्ति दे रही थी। चेहरा गोल, होठ कुछ मोटे। इसके माथे पर भी रोरी का तिलक था, परन्तु वह पुछा नहीं था। यदि इस सवार के तिलक की लकीर लम्बी तिरछी बन गई होती, तो आकृति कुछ और भयानक हो जाती।'[१७]

ऊपर के दोनों वर्णनों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वर्माजी आकृतिविज्ञान के प्रति उदासीन नही और यह भी कि पात्रों को पाठकों की कल्पना में साकार करने-भर के लिए ही वे उनके बाह्यरूप का चित्रण नहीं करते, अपितु उनकी आकृति के माध्यम से उनकी प्रकृति को भी व्यंजित करने की चेष्टा करते हैं।

वर्माजी के उपन्यास इस प्रकार के आकृति-चित्रणों से भरे पड़े हैं, जहां उन्होंने पात्र की आकृति द्वारा उनकी प्रकृति व्यंजित करने चेष्टा की है।

अन्तर्द्वन्द्व का अभाव

जैसे कि हम पहले लिख आए हैं, वर्माजी की चरित्र-चित्रण की पद्धति उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासकार की अधिक है। इतिहासकार की पहुँच पात्र के चरित्र के उस अंश तक ही हो पाती है जो व्यक्त हो। उसकी अव्यक्त चेतन, अवचेतन या अचेतन चेष्टाओं से इतिहासकार का कोई सम्बन्ध नही होता। इसी प्रकार, वर्माजी की उपन्यास-कला की भी समस्त शक्ति पात्रों के व्यक्त रूप को तथा उनके प्रकट आचार-व्यवहार को चित्रित करने में ही लगी रही है। यह नहीं कि जीवन

१६-१७. वर्मा, 'गढ़कुण्डार', ५वी आवृत्ति, १९४६, पृ० २१।

की विविध परिस्थितियो में अपना रास्ता बनाते हुए उनके पात्रों को कभी किसी दुश्चिन्ता ने न सताया होगा अथवा उनके भीतर कभी द्वन्द्व न छिड़ा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि युग की परिस्थितियों ने उनके पात्रों को बहिर्मुख बना दिया है, पर आखिर थे तो वे मानव ही। उनके जीवन की परिस्थितियों में ऐसे असख्य कारण निहित रहते हैं कि उनमें मानसिक संघर्ष हो। उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व उठता भी है, पर उपन्यासकार ऐसे स्थलों पर रुकता नही, उनकी ओर संकेत भर करके आगे बढ लेता है, मानो वह अपने पाठको से कह रहा हो कि 'भई अब पात्र अपने मन का ताना-वाना बुनने लगा है, हमें उसकी एकाग्रता भग नही करनी चाहिए और फिर उसके व्यक्तिगत जीवन से हमने लेना भी क्या है।'

'झासी की रानी' को ही लें। उसके पति की मृत्यु हुई, अंग्रेज़ों ने झांसी को हड़पने के लिए कमर बांध ली, समस्त शासन-भार और प्रजापालन उसके कधों पर आ पड़ा। फिर झासी पर अग्रेजों का आक्रमण हुआ, एक-एक करके उसके वीर सरदार युद्ध में खेत होते गए, उसे झासी तक छोड़नी पड़ी और अन्त तक वह अग्रेज़ों से लड़ती-भिड़ती रही। उसे असख्य विपत्तियों का सामना करना पड़ा, पर कभी उसके मन में द्वन्द्व नही उठा। 'मै झांसी नहीं दूंगी' अपना यह निर्णय घोषित करने से पहले उसके मन में कितनी उत्तेजना रही होगी, अपने विश्वासघाती सरदारों के कुकृत्यों पर उसे कितना मानसिक क्लेश हुआ होगा, ग्वालियर के किले में अव्यवस्था और विलासिता देख उसे कितनी निराशा हुई होगी—इत्यादि उसकी किसी भी मन:स्थिति का उपन्यासकार परिचय नही कराता। एक बार उसके पिता मोरोपन्त के एक स्वगत का उल्लेख कर बैठता है, पर शीघ्र ही पीछा छुड़ाकर आगे बढ़ लेता है :

> "मनू सो गई। मोरोपन्त जागते रहे। उन्होंने सोचा, 'मनू की बुद्धि उसकी अवस्था के बहुत आगे निकल चुकी है। अभी तक कोई योग्य वर हाथ नही लगा। दक्षिण जाकर देखना पड़ेगा।' इसी विचार के लौट-फेर में मोरोपन्त का बहुत समय निकल गया। कठिनाई से अन्तिम पहर में नीद आई।"[१८]

यह मान भी लें कि झांसी की रानी को तो जीवन-भर विपरीत परिस्थितियों से जूझना पड़ा, उसे सोचने, कुढ़ने तथा चिंतित होने का अवकाश कहां था। 'विराटा की पद्मिनी' की देवी कुमुद तो ऐसी संघर्षनिरत नही थी। उसके मानसिक संघर्ष के सबल कारण होते हुए भी उपन्यासकार उसके भीतर झांक, उनको पकड़ने की चेष्टा नहीं करता। कुमुद से वर मांगा जा रहा है कि उसके प्रेमी कुंजरसिह का नाश हो। 'ये शब्द उसकी कोठरी में गूंज गए। वारिणी बेतवा की लापरवाही पर उतरा उठे। कुमुद की उस कोठरी में एक क्षण के लिए एक चमक-सी जान पड़ी और शून्य गगन आन्दोलित-सा।'

---

१८. वर्मा, 'झाँसी की रानी', पृ० १७-१८।

कुमुद ने कुछ समय पश्चात् शांत स्वर में कहा, 'यह न होगा गोमती, परन्तु मन्दिर की रक्षा होगी, और अलीमर्दान का मर्दन होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।'[१९] इसी बीच उसके मन पर क्या बीती, उसके प्रति उपन्यासकार नितात उदासीन रहा।

ऐसे स्थलों पर सबसे अधिक खटकने वाली बात तो यह है कि एक तो उपन्यासकार अपने पात्रों को इतना सवेदनशील चित्रित करता है कि वे छोटी-से-छोटी बात पर भी तुनक उठते हैं और दूसरी ओर उनमें मानसिक द्वन्द्वों का अभाव दिखाता है। कुछ-एक अवस्थाओं में उनमें अन्तर्द्वन्द्व दिखाता भी है तो रुकता नही, पाठकों को धकेलकर आगे ले बढ़ता है। इस प्रकार, पाठक पात्रो के कार्यों को ही देख पाता है, उनके भीतरी कारणों को नहीं। उनके उपन्यासों में पात्रो के चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं की झाँकी तो मिल जाती है पर चरित्र-विकास होता हुआ नही दीखता। यहाँ तक कि उनके उपन्यास 'झासी की रानी' में भी नहीं, जहाँ कि नायिका का धीरे-धीरे चरित्र-विकास दिखाना ही उपन्यासकार का मुख्य ध्येय रहा है।

कथोपकथन

वर्माजी के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की शैली प्रधानतया नाटकीय है और कथोपकथन हैं उसके प्राण। उनके उपन्यासों से कथोपकथन निकाल दिए जाएं तो शेष कुछ रहता नहीं। वर्माजी के उपन्यास कथोपकथनों से भरे हुए तो अवश्य हैं, पर उन सब का समावेश पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए हुआ हो, यह बात नहीं। कथानक को गति देने, देश-काल और परिस्थिति का चित्रण करने, आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओ के संबंध में विविध प्रकार की जानकारी कराने आदि अनेक प्रयोजनों से उनके उपन्यासों में कथोपकथनो को स्थान मिला है। तो भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके पात्रों का जो स्वरूप पाठको पर प्रकट होता है, उसका श्रेय उनके कथोपकथनों को ही अधिक है।

चरित्रोद्घाटन

झांसी की रानी—झांसी की रानी को ही लें। उसके चरित्र-विकास की, उसके भीतरी शौर्य के उत्तरोत्तर निखार की विविध अवस्थाओं का चित्रण वर्माजी मुख्य रूप से अन्य पात्रों से हुए उसके कथोपकथन के माध्यम से ही कराते हैं। बाल्यकाल में ही उसकी वीर-भावनाएँ उसकी वाणी में फूटी पडती थीं। जब नाना साहब के थोड़ी चोट लग जाने पर सब लोग अत्यधिक घबरा उठे थे तब उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था। इस सम्बन्ध में अपने पिता मोरोपन्त से उसकी जो बातचीत हुई, उसमें उसके भावी जीवन की उज्ज्वलता की झलक मिल जाती है :

१९. वर्मा, 'विराटा की पद्मिनी', पृ० ११२।

"मनू ने कहा, 'इतनी जरा-सी चोट पर ऐसी घबराहट और रोना-पीटना।'

'बेटी, चोट जरा-सी नही है। कितना रक्त बह गया है।'

'आप लोग जो हमको पुराना इतिहास सुनाते है, उसमें युद्ध क्या रेशम की डोरों और कपास की पौनियों से हुआ करते थे ?

'नहीं मनू। पर यह तो वालक है।'

'बालक है। मुझसे बड़ा है। मलखंब और कुश्ती करता है। बाला गुरु उसको शाबाशी देते हैं। अभिमन्यु क्या इससे बडा था ?'

'मनू, अब वह समय नही रहा।'

'क्यों नहीं रहा काका ? वही आकाश है, वही पृथ्वी। वही सूर्य-चन्द्रमा और नक्षत्र। सब वही है।"[२०]

विवाह के पश्चात् रानी बनकर झांसी चली जाने पर स्वराज्य के लिए उस की ललक कितनी बढ चुकी थी और कितने सयम से वह उसे अपने भीतर दबाकर उचित समय की प्रतीक्षा कर रही थी, उसकी जानकारी हमें तात्या से हुए उसके कथोपकथन से प्राप्त होती है :

"रानी ने कहा, 'टोपे अभी समय नही आया है। घड़ा अपूर्ण है—अभी भरा नही है। हम लोगों के आपसी उपद्रवो ने जनता को त्रस्त कर दिया है। उमको थोड़ा सास लेने योग्य बन जाने दो। समर्थ रामदास का दिया हुआ स्वराज्य सदेश, छत्रपति शिवाजी का पाला हुआ वह आदर्श, छत्रसाल का वह अनुशीलन अमर और अक्षय है।'

तात्या जरा अधीर होकर बोला, 'महारानी साहबा, ये बातें कान और हृदय को अच्छी मालूम होती है, पर हिन्दू और मुसलमान जनता तो अचेत-सी जान पड़ती है·········'

रानी ने टोककर दृढ़ स्वर में कहा, 'तात्या भाई, जनता कभी अचेत नही होती, उसके नायक अचेत या भ्रममय हो जाते है।'

तात्या—'तब नाना साहब से क्या जाकर कहूं ?'

रानी—'यही कि कान और आंख खोलकर समय की प्रतीक्षा करें। मुझे अभी तो पूर्ण स्वस्थ होने में ही कुछ समय लगेगा, स्वस्थ होते ही अपने आदर्श के पालन में सचेष्ट होऊगी। अपने आदर्श को कभी न भूलना—प्रयत्न की पहली और पक्की सीढ़ी है।'[२०]

स्वातन्त्र्य-संग्राम में झांसी छूट जाने और बनो-जंगलों की खाक छानने पर भी रानी में आज़ादी की उमंग कम न हुई थी, प्रत्युत् उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई थी।

---

२०. वर्माजी, 'झांसी की रानी', पृ० २६।
२१. वही, पृ० १२६-१२७।

देश को अंग्रेज़ो के पंजे से मुक्त कराके स्वराज्य-स्थापना के लिए वह कितनी बेताब थी, उसका परिचय हमें बाबा गंगादास से हुए उसके कथोपकथन से मिलता है :.

रानी –'इस देश को स्वराज्य कैसे प्राप्त होगा ?'

बाबा—'इस प्रश्न का उत्तर तो राजा लोग दे सकते हैं।'

रानी—'नही दे सकते, तभी आपसे पूछने आई हूँ।'

बाबा—'जैसे प्राप्त होता आया है, वैसे ही होगा।'

रानी—'कैसे बाबाजी ?'

बाबा—'सेवा, तपस्या, बलिदान से।'

रानी—'हम लोग कैसे स्वराज्य स्थापित कर पावेगे ?'

बाबा—'गड्ढे कैसे भर जाते हैं? नीव कैसे पूरी जाती है? एक पत्थर गिरता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा और चौथा, इसी प्रकार। और तब उसके ऊपर भवन खड़ा होता है। नीव के पत्थर भवन को नहीं देख पाते। परन्तु भवन खडा होता है, उन्हींके भरोसे—जो नीव में गड़े हुए हैं। गड्ढा या नींव एक पत्थर से नही भरी जाती। और, न एक दिन में—अनवरत प्रयत्न, निरन्तर बलिदान आवश्यक है।'

रानी—'हम लोगों के जीवनकाल में स्वराज्य स्थापित हो जायगा ?'

बाबा—'यह मोह क्यों ? तुमने आरम्भ किए हुए कार्य को आगे बढ़ा दिया है। अन्य लोग आयेंगे। वे उसको बढ़ाते जायंगे। अभी कसर है।"[२२]

रानी के राज्य में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही प्रसन्न थे और दोनों ही उसपर प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। पीरअली से हुए कुछ पठानो के इस वार्तालाप से इस तथ्य पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है :

"पीरअली को कुछ पठान मिले। उसने पूछा,

'तुम्हारा कौन मुल्क है खान ?'

'झांसा हमारा मुलक है बाबा, तुम्हारा मुलक ?'

'मैं झांसी का ही रहने वाला हूँ।'

'तब हम तुम भाई भाई हैं बाबा।'

'बाई साहब का राज्य है खान'

'बेशक है। और अमारा तुम्हारा।'"[२३]

गढ़कुण्डार

'झांसी की रानी' ही नहीं वर्माजी के अन्य उपन्यासों में भी प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताएं उनके संवादों में ही मुख्य रूप से मुखरित होती हैं। 'गढ़-

२२. वर्मा, 'झाँसी की रानी', पृ० ४८३।

२३. वही, पृ० ३५४।

कुण्डार' की हेमवती के नाग से हुए इस कथोपकथन में वीर राजपूत बाला का चरित्र चमक उठा है :

"हेमवती—'इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें पराक्रम दिखलाइए। यहां अकेली स्त्री के पास किसी बल-विक्रम के दिखलाने का अवसर नहीं है।'

नाग—'एक बार संतोषजनक उत्तर मुझको दे दिया जाए, मैं तुरन्त अपने को आहुति करने के लिए उद्यत हूँ।'

हेमवती—'आप राजकुमार हैं, परन्तु यह लक्षण क्षत्रियों का नहीं है। जाइये।'

नाग—'जाता हूँ, परन्तु आपकी एक हां पर मेरा संपूर्ण भविष्य निर्भर है।'

हेमवती ने नागिन की तरह फुफकारकर कहा—'यदि आप यहाँ से नहीं जाते हैं, तो मैं यहां से जाती हू। बुन्देला-कन्या न ऐसी भाषा सुन सकती है और न सह सकती है। और खगार राजा होने पर भी बुन्देला-कन्या का अपमान करने की शक्ति नही रखता।" और वह वहां से दूसरी ओर चल दी।"[२४]

कचनार

उपर्युक्त उद्धरण में 'हेमवती' के चरित्र की जो झाकी मिलती है, उसकी तुलना 'कचनार' के दलीपसिह से हुए कचनार के संवाद से कीजिये :

"कचनार के नेत्रों में तेज बढ़ा।

उसने कहा, 'मेरे साथ भाँवर डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिये। अपनी जीवन-सहचरी बनाइये। वचन दीजिये। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूंगी।'

'तुमने थोड़ी देर पहले अभी-अभी कहा था कि दासी हूँ।'

'दासी तो हू ही। आपकी और दीदी की, अन्य सबकी सेवा करूंगी, परन्तु मैं ऐसा अंगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतार कर फेक दिया।'

'यदि मैं जबरदस्ती करूं।'

'असम्भव है। आप मुझको तुरन्त मरा हुआ पायेंगे।"[२५]

मृगनयनी

मृगनयनी और राजा मानसिह के इस कथोपकथन में मृगनयनी के चरित्र की सात्विकता व्यक्त हो जाती है :

२४. वर्माजी, 'गढ़-कुण्डार', पृ० ३४०।
२५. वर्माजी, 'कचनार', पृ० २६।

"मानसिंह उसके निकट आने को हुआ। मृगनयनी और अधिक मुस्कराई।

'और निकट आये तो मैं बहुत छोटी रह जाऊँगी।'

मानसिंह स्थिर हो गया।

'तुम सयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मै अपने विकार से उसको चचल कर देता हूँ। सयम के आधार वाला प्रेम ही आगे भी टिके रहने की समर्थता रखता है।'

मृगनयनी ने गर्दन टेढ़ी की, उँगली ठोड़ी पर फेरी और मुस्कान को बखेरा।"[२६]

इस प्रकार, देखते हैं कि वर्माजी के पात्रों के चरित्रोद्घाटन में उनके कथोपकथनों का मुख्य योग रहा है। उनके उपन्यासो के कथोपकथन का उपन्यास के अन्य तत्त्वों से अनुपात देखा जाए तो पता चलेगा कि अपने औपन्यासिक जीवन में उनके पात्र बोलते अधिक हैं और करते-धरते कम है। वे इतिहास-प्रसिद्ध पात्र भी जो जीवन-भर कर्मरत रहे, अपने औपन्यासिक जीवन में बातूनी हो गए दीखते हैं। 'झांसी की रानी' को ही ले। वैसे तो उसका नाम ही पाठकों की नस-नस में वीरता का संचार करने के लिए पर्याप्त है, पर वर्माजी के उपन्यास में उसका शौर्य कथोपकथनो के माध्यम से ही अधिक व्यक्त हुआ है।

अनुभाव-चित्रण

पात्रों के कथोपकथन के बीच व्यक्त होने वाले उनके हाव-भावो का चित्रण तो वर्माजी करते ही रहते है, पर उनके उपन्यासों में पात्रों के अनुभाव-चित्रण का वास्तविक महत्त्व पात्रों की रूमानी भावनाओं और उन पर आधारित पात्रों के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या में है। अपने उपन्यासों में वर्माजी ने जिस युग और वर्ग के लोगों का चित्रण किया है, उसमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम-ज्ञापन करने का अर्थ विपत्ति मोल लेना होता था। इसलिए, प्रेमी-प्रेमिकाएँ एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होने पर भी अपने व्यवहार को इतना संयत रखते थे कि कोई अन्य व्यक्ति उनकी चेष्टाओं से यह न समझ सके कि वे एक-दूसरे में आसक्त है। पहली दो-चार भेंटों में जब तक कि उन्हें विश्वास न हो जाए कि उनका प्रेमपात्र भी उन्हें चाहता है, उनका व्यवहार इतना संयत होता था कि दूसरे को भी उनकी हृदय-स्थित कोमल भावनाओं का पता न चल सके। पर हृदय की कोमल भावनाएँ प्रकट होने से भला रह सकती हैं, व्यक्त चेष्टाओं के रूप में वे चाहे प्रस्फुटित न हों, उनके अनुभावों के रूप में आँखों में, चेहरे पर झलक मार जाती हैं। 'गढ़-कुंडार' में हेमवती और नाग की एक भेंट का

२६. वर्माजी, 'मृगनयनी', पृ० ३८७।

चित्रण देखिए। एक-दूसरे के प्रति उनके आकर्षण का संकेत अनुभावों से ही मिल पाता है, अपने मुंह से तो वे एक शब्द भी नही निकालते :

"आँगन में पहुँचने पर नाग धरती पर ही लेट गया और तलवार की मूठ का सिराना बना लिया। हेमवती एक कटोरा पानी लाई और उसने कटोरा उसकी ओर बढ़ाया। नाग ने कटोरा लेने के लिए एक हाथ जमीन पर टेककर दूसरा हेमवती की ओर बढ़ाया। चंद्रमा उसके सिर के पीछे था, इसलिए उसका प्रकाश बगल में खड़े सहेचंद और सामने खड़ी हेमवती पर स्पष्ट पड रहा था। उसने एक क्षण अच्छी तरह हेमवती को देखने की इच्छा से आँखे उसकी ओर की, परन्तु मानो परवश दृष्टि दूसरी ओर हो गई। दूसरी बार उसने यह चेष्टा पानी पीते में की। अब की बार वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ। धीरे-धीरे देर तक पानी पिया और देर तक दृढ़ता-पूर्वक उसका अवलोकन करता रहा। बड़ी-बड़ी आँखें, लंबे-लबे पलक, मृदुल तिरछी चितवन उसकी आँखों में समा गई। हेमवती ने भी उसे अच्छी तरह देख लिया, और शर्म से आँखे नीची कर लीं। उसने कटोरा लेने के लिए जरा व्यग्रता के साथ हाथ बढ़ाया। नाग की कलाई से हेमवती की कोमल उंग-लियाँ छू गई।"[२७]

इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' में कुंजरसिह और कुमुद की एक भेंट उल्लेखनीय है। संयम का बाँध तोड़ क्षण-भर के लिए कुमुद के होंठों पर जो मुस्कान खेल जाती है, उसीमें कुंजरसिह के प्रति उसका झुकाव प्रतिबिम्बित हो जाता है :

"कुंजरसिह मन मसोसकर पीछे रह गया था। नरपति के दरवाज़े के सामने से निकला। उधर दृष्टि गई। कुमुद को देखा। सचमुच अवतार। कुंजर नेनमस्कार किया। कुमुद जरा-सी—बहुत ज़रा-सी मुस्कराई, शायद उसे मालूम भी न हुआ हो कि मुस्करा रही हूँ।"[२८]

पात्र की मन.स्थिति तो पात्र के उन हाव-भावों में ही प्रकट हो सकती है जो सहज-स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए हों। आरोपित अनुभावों में भला उनकी छाया कहाँ मिलेगी। वर्माजी के उपन्यासों में पात्रों के ऐसे अनुभावों के चित्रण की भी कमी नही जो कृत्रिम हों और जिनका आरोप पात्रो ने अपनी असली मनोभावना को छिपाकर दूसरो को धोखा देने के लिए किया हो। राजा मानसिह के चंगुल से बचने के लिए 'कचनार' की नायिका को अनेक बार ऐसे अनुभावो का आरोप करना पड़ता है :

"कचनार ने अपना स्त्री-सुलभ हथियार संभाला। घूंघट उघाड़ा। नेत्रों की बरौनियाँ ऊपर उठाकर तुरन्त जरा झुकाईं। दृष्टि को अधमुंदी

---

२७. वर्माजी, 'गढ़-कुण्डार', पृ० ६२।

२८. वर्माजी, 'विराटा की पद्मिनी', पृ० ४५।

आँखों के एक कोने में ले गई। सुन्दर होंठो पर उसने सूक्ष्म मुस्कान का लावण्य चढ़ाया और गर्दन मोड़कर मधुर स्वर में कहा, 'परसों संध्या समय।'

मानसिंह उछल पड़ा। उसने कचनार की ओर बढ़ना चाहा। कचनार निवारण करती हुई बोली, 'भावर के पहले वर कन्या को स्पर्श नहीं कर सकता।'

मानसिह झिझक गया।"[२९]

वह स्वयं कहती भी है कि 'स्त्री की बात उसकी ढाल-तलवार है, यह मैं अपने लिए अवश्य कह सकती हूँ।'[३०]

यशपाल

परिचयात्मक विवेचन

यशपाल कला को कला के लिए नहीं मानते, उनकी दृष्टि में कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का यत्न है।[1] साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में उनकी गहरी आस्था है। अपने उपन्यास 'देशद्रोही' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि 'लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे आदमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने में ही है। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है।'[2] समाज से स्वतन्त्र लेखक के अस्तित्व को मानने को वह तैयार नहीं। समाज की अनुभूतियों और आदर्शों के चित्रण में ही वह साहित्य की सार्थकता समझते हैं। साहित्य में सामाजिक आदर्शों के चित्रण में उन्हें आपत्ति तो नहीं, पर समाज के सदस्यों की अनुभूतियो को वह विशेष महत्त्व देते हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि वे अनुभूतियां असन्तोष और उत्साह उत्पन्न करके आदर्श की सृष्टि करती है। उनकी धारणा है कि 'हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल 'शिष्णोदर' का चीत्कार है। वह श्रेणी-संघर्ष और राष्ट्रों के संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। वह जघन्य है, परन्तु वह हमारी सामाजिक स्थिति की वास्तविकता है।'[3] उपन्यासकार का कर्तव्य इस चीत्कार को मिथ्या विश्वास और प्रवंचना की कला के आवरण में छिपा लेना नही, अपितु विवेक और विश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा जनता को उसके प्रति सजग और सचेत रखते हुए समाज की वह अवस्था प्राप्त करना है, जिसमें शिष्णोदर की अतृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे।

---

१. यशपाल, 'दादा कामरेड', भूमिका।

२. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, तीसरा संस्करण, १९४६, पृ० ४।

३. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, पृ० ५।

प्रेमचन्द और यशपाल

यशपाल को प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है,[४] पर वह यदि प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकार हैं तो वहीं तक जहाँ तक उनके उपन्यासों के विषय और उद्देश्य का सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नही कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह उनके उपन्यास भी वर्ग-संघर्ष के उपन्यास हैं। उन्होंने भी अपने उपन्यासों में धार्मिक विकृतियों और अध-परम्पराओ पर, रूढ़िग्रस्त समाज-व्यवस्था और उसके थोथे विधि-निषेधों पर तीखे व्यंग्य कसते हुए पाठकों की सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द की तरह उनके औपन्यासिक पात्र भी शोषक और शोषित दोनों प्रकार के ही हैं और वे क्रमशः मध्य और निम्न-वर्ग में से लिये गये हैं तथा उनके वर्ग-वैषम्य और जीवन-व्यापी समस्याओं का मूलाधार अर्थ है और उनकी अन्य सभी समस्याएं आर्थिक अव्यवस्था के ही विविध रूप हैं। प्रतिपाद्य दोनों का निःसदेह एक ही है; पर जैसा कि हम आगे देखेंगे प्रतिपादन-पद्धति दोनों की अलग-अलग रही है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट होने पर भी व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण पूर्णतः साम्यवादी नही बन पाया था जब कि यशपाल अपने उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों और उनकी गति का विश्लेषण और प्रतिपादन शुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते हैं। इसीलिए, दोनों के उपन्यासों की पृष्ठभूमि और पात्रों में साम्य होते हुए भी उनके चरित्र-चित्रण में अन्तर पड़ जाता है।

पात्र—वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र

प्रेमचन्द के उपन्यास समाज की तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष की कहानी हैं, न कि उसके भीतर व्यक्ति और वर्ग तथा व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष की कहानी। व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द के उपन्यासों में कोई स्थान नहीं। उनके प्रमुख पात्र किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि (टाईप) के रूप में ही चित्रित हुए हैं। यशपाल के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की विशेषता यह है कि उनके पात्र वर्ग-प्रतिनिधि ही नही, व्यक्ति-चरित्र भी हैं। एक ही पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है और साथ ही व्यक्ति-चरित्र के रूप में भी विकसित होता रहता है। अपने समाज और वर्ग के गुणावगुणों का तो उसमें समाहार होता ही है, उसके अतिरिक्त उसमें ऐसी विशिष्टताएँ भी रहती हैं जो उसे उस वर्ग के शेष सभी सदस्यो से अलग व्यक्ति बना देती हैं। 'दिव्या' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि 'यह (दिव्या) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की गति का चित्र है।'[५] यह बात 'दिव्या' ही नहीं, उनके अन्य उपन्यासों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे ऐतिहासिक पृष्ठ-

४. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'श्री यशपाल अभिनन्दन-ग्रन्थ', पंजाबी विभाग, पटियाला, पृ० २१।
५. यशपाल, 'दिव्या', द्वितीय संस्करण, १९४७, पृ० ५।

भूमि पर चाहे आधारित न हों, व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण उन सब में मिलता है। प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा व्यक्तिगत। यशपाल के उपन्यासों में इन दोनों रूपों का चित्रण और उसके विकास का इतिहास मिलता है, इसके लिए उन्हें पात्रो का बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) ही नही, अंतरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण भी करना पड़ा है।

यहाँ हम यशपाल के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की उन्ही प्रवृत्तियों की विवेचना करेंगे, जो उन्हें प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकारों से कुछ अलग कर देती हैं।

स्थित्यंकन

व्यक्ति और परिस्थिति

मार्क्स का कहना है कि मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व को स्थिर नही करती, प्रत्युत् इसके विपरीत उसकी सामाजिक स्थिति ही उसकी चेतना को प्रेरित करती है।[६] उसका दृढ़ विश्वास है कि अन्ततः मनुष्य के जीवन की भौतिक परिस्थिति ही उसकी बौद्धिक चेतना का निर्माण और विकास करती है।[७] यशपाल के कई पात्रों का चरित्र मार्क्स के इस सिद्धान्त के आधार पर विकसित हुआ है। यह दिखाने के लिए कि पात्रो के जीवन के विविध मोड़ उनकी परिस्थितियों के जोर से आए, यशपाल को उनकी स्थिति के चित्रण में विशेष आयास करना पड़ा है। अपने पात्रो को वह कदम-कदम पर ऐसी परिस्थिति में डालते जाते हैं, जहाँ समाज के आदर्शों की बलि देकर ही वे अपना अस्तित्व बचा पाते हैं। 'मनुष्य के रूप' की सोमा को ही ले। धनसिह के भाग चलने के निमन्त्रण को जिस सोमा ने पहले यह कहकर ठुकरा दिया था—'ऐसा नही कहते जी। तुम बड़े भले आदमी हो' वही सोमा यह खबर पाकर कि उसके सास-ससुर उसे किसी बुड्ढे के हाथ बेचने वाले हैं, उसके साथ भागने के लिए बेचैन हो उठती है और दूसरे ड्राइवरो के पास धनसिह को सन्देश भेजती है। भागने के प्रयत्न में जब दोनो रात को पकड़ लिये जाते हैं और सिपाही उसे धनसिह से अलग दूसरी कोठरी में ले जाकर धमकी देते हैं कि यदि वह दारोगा को नाराज करेगी तो चिमटे गरम करके धनसिह के शरीर से बोटियाँ नोच ली जाएगी, तब वह अपने सतीत्व की बलि देने के लिए विवश हो जाती है। इस उपन्यास में सोमा का प्रवेश दुःखी विधवा के रूप में होता है और वह जीवन की

---

६. Karl Marx, 'Critique of Political Economy'—Preface:
"It is not the consciousness of men that determines their existence, but, on the contrary, their social existence that determines their consciousness."

७. Ralph Fox, 'The Novel and the People' Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1954, p. 70.

प्रतारणापूर्ण परिस्थितियों में धनसिंह के प्रेम का आंचल पकड़कर आगे बढ़ती है। पर अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उसे पग-पग पर अपने सतीत्व की बाजी लगानी पड़ती है और वह कुछ से कुछ हो जाती है—दुनिया को अपना अंगूठा[८] दिखा सकती है, अपना बदला ले सकती है।[९] इस प्रकार, दिव्या को तथा 'देशद्रोही' के डा० खन्ना को उनकी परिस्थितियां नाना नाच नचाती हैं। यशपाल की कला की विशिष्टता इसमें है कि वह स्थिति की गम्भीरता और मार्मिकता का इतना प्रभावोत्पादक चित्रण करते हैं कि पाठक को पात्र की विवशता पर विश्वास हो जाता है।

आर्थिक परिस्थितियों का महत्त्व

अपने पात्रों के परिवेश का चित्रण करते हुए यशपाल उन परिस्थितियों का बड़ा आयासपूर्वक विश्लेषण करते हैं जिन्होंने पात्रों को उस अवस्था तक पहुँचाया होता है। ऐसा करते हुए वह आर्थिक स्थितियों पर विशेष बल देते हैं। मार्क्सवाद भी व्यक्ति की आर्थिक परिस्थिति पर अधिक बल देता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति को बनाने और बिगाड़ने में उसकी आर्थिक दशा का मुख्य हाथ रहता है। फ्रेडरिक एंगेल्स तो यहां तक मानता है कि "सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के कारण किसी युग के दार्शनिक विचारों में नहीं, बल्कि उस युग की आर्थिक परिस्थितियों में पाये जाते हैं।'[१०] यशपाल ने स्वयं भी लिखा है कि "हमारे यथार्थ का नग्नरूप केवल शिष्णोदर का चीत्कार है।"[११] रुपये के लालच में ही 'मनुष्य के रूप' की सोमा को उसके सास-ससुर बेचने को तैयार हुए थे और उस मुसीबत से बचने के लिए वह भाग निकली थी, जिससे उसकी जीवन-दिशा ही बदल गई। रुपये के लालच से ही 'देशद्रोही' के डा० खन्ना को पठान अगवा करके ले गये थे। यदि उन्हें समय पर रुपया मिल जाता तो खन्ना के जीवन में इतना उलट-फेर न आया होता। 'दिव्या' को भी दास विक्रेताओं ने धन के लोभ में ही हथियाया था। अपनी पार्टी के लिए धन इकट्ठा करने के प्रयत्न में ही 'पार्टी कामरेड' की गीता पत्र बेचा करती थी और इसी कार्य के दौरान में उसका सेठ भावरिया से परिचय हुआ था, जिससे उन दोनों के जीवन में परिवर्तन आ गया था। इस प्रकार, यशपाल के प्रमुख औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-विकास में आर्थिक स्थितियों का विशेष हाथ रहा है।

---

८. यशपाल, 'मनुष्य के रूप', पृ० २९८।

९. Zola, Nana, Pocket Books, New York, 1951, p. 395 :

"Her (Nana's) work of ruin and death was accomplished, the fly had taken its flight from the filth of the slums, carrying with it the ferment of social decay, had poisoned those men merely by touching them. It was good, it was just; she had avenged her people, the rogues and the vagabonds, from whom she sprang."

१०. फ्रेडरिक एंगेल्स, 'समाजवाद—काल्पनिक और वैज्ञानिक', हिन्दी संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, १९४९, पृ० ३७।

११. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, पृ० ५।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

यशपाल अद्भुत शब्द-शिल्पी है। पात्रों की आकृति-वेशभूषा के वह ऐसे सजीव शब्द-चित्र खीचते हैं कि पात्र पाठको की कल्पना में साकार हो जाता है। उनकी प्रवृत्ति पात्रों के व्योरेवार नख-शिख-वर्णन की नही। उनके वर्णन पात्र के उसी अंग से आरम्भ होते हैं, जिस पर सम्बन्धित पात्र या पात्रों की दृष्टि सबसे पहले पड़ी हो और फिर ज्यो-ज्यों अन्य अंगों की तरफ ध्यान खिचता गया हो, उनका चित्रण भी होता जाता है। 'पार्टी कामरेड' की गीता से भावरिया और उसके साथियों की जब पहले-पहले रेस्तोरां में भेंट हुई तो पहले उनके कान में उसकी बातचीत के शब्द पड़े। उनका ध्यान उसके मुख की ओर गया और अपने साथी से बातचीत के समय व्यक्त होने वाले उसके चपल हाव-भावों को मंत्रमुग्ध होकर देखने लगे। उसके अन्य अंगों की ओर उनका ध्यान बाद में गया। इसलिए, पहले गीता के मुख का वर्णन होता है : "वह हंसती तो पतले होंठों में श्वेत दांत ऐसे जान पड़ते कि गुलाबी मख-मली मटर की फली फटकर मोती झलक आए हों। आँखें भी छुरे के फले जैसी लम्बी-लम्बी, नोकदार, खूब उजली। माथे पर त्योरी चढ़ी दिखती तो ऐसा लगता, नजर सीने में गड़ी। एक अजीब सा चुलबुलापन। लाल गेहुँआ रंग, पतला-पतला, प्यारा लचीला-सा बदन।"[१२]

सोद्देश्य रूप-चित्रण

यह नहीं कि यशपाल के उपन्यासों में पात्रों के लम्बे-लम्बे नख-शिख-वर्णन हुए ही न हों। उनके स्त्री-पात्रों के रूप-वर्णन तो कई बार इतने लम्बे और चित्ता-कर्षक होते हैं कि ऐसा लगता है मानो उपन्यासकार पात्र के अंग-अंग पर रुककर, उसकी छवि निहारता हुआ रस ले-लेकर चित्रण कर रहा हो। सरसरी नजर से पढ़ने पर यदि ऐसा भी प्रतीत होने लगे कि ये स्थल पाठको की वासना को उभारने वाले हैं, तो आश्चर्य नही। पर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि जहाँ यशपाल ने नारी पात्रों के रूप-चित्रण में विशेष आयास किया है, वहाँ वह चित्रण साध्य बनकर नही, किसी-न-किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में हुआ है। ऐसे चित्रणों में उसका जो भाव छिपा रहता है, उसकी ओर वर्णन के बाद सकेत करके वह पात्र के प्रति पाठको के दृष्टिकोण को एकदम बदल देता है। 'दिव्या' में प्रथुसेन के निद्रोपचार के लिए सजकर आई दासी का रूप-वर्णन देखिए :

> "छिले हुए कदली के समान स्निग्धवर्णा दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया। उसका वेश और रूप रुचिर था। ग्रीवा से एक मुक्ता-वली और नये स्फुटित मालती-कुसुमों की मालायें, गुलाबी कौशेय पट से पीठ

---

१२. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', दूसरा संस्करण, १९४७, पृ० १०।

पीछे बंधे सुगोल उरोजों पर, झूल रही थी। निरावरण क्षीणोदर का त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वंतुल उभार। कटि पर पीत कौशेय शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्भलता हुआ। उसके कोमल बाहुओ पर मुक्तावली के अंगद और वलय थे। उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्तावलियो से गुंथे हुए थे। शरीर पर कठोर स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नही, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे।"[13]

उपर्युक्त चित्रण को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उपन्यासकार पाठकों की वासना को उभार कर उन्हें उपन्यास के प्रति आकृष्ट करने का निम्नतम साधन अपना रहा हो। पर इस वर्णन के शीघ्र ही बाद पाठक जब उपन्यासकार के ये शब्द पढ़ता है कि "द्वार से फर-फर कर भीतर आती शीतल वायु में उसके निरावरण शरीर के रोम खड़े थे। स्वामी के विनोद के लिए उसका शरीर निरावण था"[14] तो इस निरीह, असहाय दासी के प्रति उसकी भावना बदल जाती है। इस नारी के प्रति उसकी करुणा उमड़ आती है। उपन्यासकार का उद्देश्य भी यही है—चिर शोषित नारी के प्रति पाठकों की करुणा उभार कर यह आग्रह करना कि पुरुष नारी के प्रति अपने परम्परागत स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को बदले। अपने उपन्यासो में यशपाल बार-बार पाठकों के सामने यह प्रश्न ले आते है कि क्या नारी केवल भोग की वस्तु है।[15]

इसी प्रकार, 'देशद्रोही' की नर्गिस के रूप-वर्णन को लें। वहाँ भी उपन्यासकार का उद्देश्य डा० खन्ना में हो रहे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन को दिखाना ही है, यह बात इस वर्णन के अन्तिम वाक्य से स्पष्ट हो जाती है :

"अब्दुल्ला के घर की वह कविता की भान्ति सूक्ष्म, सुन्दरी युवती रंगीन रेशमी रूमाल में लिपटे सिर से काली नागिन सी गुंथी, दो वेणियाँ कमर से नीचे लटकाये, चौड़ी आस्तीन का घुटनो तक रेशमी कुरता और सलवार की तंग मोहरी से छुई जाती गुलाबी एड़ियाँ, जरीदार सलीपरों पर रख, काली मखमल की सदरी में अपने प्रतीक्षा-सुषुप्त उरोज दबाए, यौवन से श्रान्त शरीर के लिए उसके कन्धे का सहारा लेती हुई, यात्रा में थक अपनी भारी पलकों को धीरे से खोल, फैली हुई नीली आँखों से उसकी आँखों में देख किसी दिन यदि कहे, 'क्या मुझे छोड़ जाओगे ?······तो भी क्या डाक्टर अपने जीवन का उद्देश्य देहली जाना ही समझेगा ?"[16]······

---

१३. यशपाल, 'दिव्या', पृ० ८१।
१४. यशपाल, 'दिव्या' पृ० ८१।
१५. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ३२।
१६. यशपाल, 'देशद्रोही', पृ० ६७।

पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व

यशपाल अपने पात्र के बाहर की परिस्थितियों का चित्रण तो करते ही हैं, पर उन परिस्थितियों की, उसके मन पर जो छाप पड़ता है और उसके फलस्वरूप उसमें जो द्वन्द्व छिड़ता है, उसकी भी वह उपेक्षा नहीं करते। पात्रों के बाहर की परिस्थिति और उनकी वृत्तियो में मचे द्वन्द्व का चित्रण यशपाल अधिकांशत: अपने शब्दों में ही करते हैं—स्वयं पात्रों के मन में बैठकर उसमें हो रही उथल-पुथल की विस्तृत रिपोर्ट के रूप में। 'पार्टी कामरेड' के भावरिया ने एक दिन बातचीत के दौरान में गीता से सिनेमा चलने को कहा। गीता ने उसके इस निमन्त्रण को यह कहकर ठुकरा दिया : "यह आपको शोभा देता है ? मैं आपको ऐसा नहीं समझती थी।" इस एक वाक्य की भावरिया के मन में क्या प्रतिक्रिया हुई और इसने उसके चरित्र-विकास को नई दिशा प्रदान करने में कहाँ तक योग दिया, वह उल्लेखनीय है :—

> "सोच वह यही रहा था कि उसका कितना अपमान हुआ। अपमान के प्रतिकार में वह जान की बाजी लगाए बिना न रहता। परन्तु गीता ने अपमान किया, इस ढंग से कि वह विवश था—'यह आपको शोभा देता है ?······मैं आपको ऐसा नहीं समझती थी'—बार-बार ये शब्द उसकी स्मृति में घूम जाते थे।
>
> इस प्रकार कभी किसी ने उसे सम्बोधन नही किया था। गीता ने उसे इज्ज़तदार भला आदमी समझा था, इसलिए विश्वास कर जहाँ कहीं जाने के लिए तैयार थी······गीता का यह विश्वास बना रहता तो अच्छा था······ उसने गीता की नजरो में आदर और विश्वास खो दिया······एक वेदना सी अनुभव हुई।"[१७]

इसी प्रकार, 'दादा कामरेड' में यशोदा के पति अमरनाथ की मानसिक उथल-पुथल की रिपोर्ट भी पाठक को उपन्यासकार से ही मिलती है :—

> "उन्होंने सोचा, क्यों न एक दिन वह यशोदा से इस विषय में बात करें ? परन्तु इसके साथ ही खयाल आता, क्या वह मुझे सच्ची बात बतायेगी ? यदि मेरे प्रति उसका वह विश्वास होता तो दूसरे पुरुष के प्रति उसका आकर्षण ही क्यों होता ?
>
> "अन्धेरे में वह दोनों अपने-अपने पलंग पर पडे छत की ओर आँखें लगाये रहते। नीद दोनों को ही बहुत देर से आती, परन्तु वह बात न कर सकते। अनेक बार अमरनाथ के होठो तक बात आकर रुक जाती। एक-दो बेर कह डालने के लिए उन्होने पुकार भी लिया—'देखो··· ···' यशोदा ने उत्तर दिया—'जी।' परन्तु फिर अमरनाथ को साहस न हुआ। सोचा क्या

१७. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ७३-७४।

लाभ ? कह दिया, 'उदय को अब स्कूल में भरती करा देना ठीक होगा।' यशोदा ने उत्तर दिया—'जैसा ठीक समझें।'"[१८]

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

यशपाल के उपन्यासों में ऐसे स्थल भी काफी संख्या में मिल जाते है जहाँ वे पात्र और पाठक के बीच में अडे नहीं रहते, अपितु पात्र के मन की खिड़की खोल, उसके आगे पाठक को खडा करके स्वय अलग हो जाते हैं। इस प्रकार, पाठक पात्रों के मन में हो रहे सघर्ष को अपनी आँखों देख पाता है, उनके अंतर्विवादो को अपने कानों सुन पाता है। ऐसे स्थल उन स्थलों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक बन पाए हैं, जिनमें उपन्यासकार पात्रों के मानसिक संघर्ष की रिपोर्ट स्वयं देने लग जाता है और पाठक पात्रों की मन:स्थिति को सुनने की अपेक्षा प्रत्यक्ष देखने के लिए तरस जाता है। पात्रों के मन से पाठकों का सीधा सम्पर्क हो जाने से उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पात्रों की अधिक गहरी अनुभूतियाँ उन तक पहुँचाई जा रही हैं।

उदाहरणार्थ 'पार्टी कामरेड' की गीता का वह अंतर्विवाद ले, जिसमें वह पार्टी के दफ्तर से लौटकर वहाँ मजहर और रगा में हुए तर्क की सजीव कल्पनाएँ करने लगती है और समाचार-पत्र में पढ़ी एक बात उसे याद आ जाती है :

"जर्मनी में लड़कियों और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच-बेच कर युद्ध के समय देश की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा किया था और जापान में वेश्यावृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिए धन कमाया था। इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं सहा जा सकता। क्या यह स्वयम् देश और समाज का पतन नही है ? समाजवादी रूस में क्या इसे सहन किया जा सकेगा ? कभी नहीं। परन्तु इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप से स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है, कोई विवश हो पतिव्रता·· ···। भावरिया गुण्डे ने क्या नौ रुपये चौदह आने इसका मूल्य दिया था ? जैसे कमला मोजीवाला बनवारी के साथ सिनेमा जाने से इसलिए इनकार न कर सकी कि बनवारी ने उसके भाई की सहायता की थी।······'सेलिंग वन्स कम्पनी' (अपनी संगति का मूल्य वसूल करना)? पास बैठकर दिल बहलाना, मुस्करा कर खुश करना, हाथ मिलाकर दिल बहलाना या कमर में हाथ डालने देना ? प्रयोजन नही है। क्या है स्त्री भी ? उसका मूल्य पुरुष को सतोष देने में ही है ? यदि अपने संतोष के लिए वह कुछ करे तो मैं उसे बुरा न कहूँगी।'

"अपने संतोष की बात मन में आने पर सहसा मेघनाथ और दूसरे

---

१८. यशपाल, 'दादा कामरेड', पृ० १४७।

कामरेड दृष्टि के सामने आ गये और फिर उनके बीच गुण्डा भाव-रिया······१९"

उपर्युक्त अंतर्विवाद में गीता की गहरी अनुभूतियों को ही अभिव्यक्ति नही मिलती, प्रत्युत् इसमें उसके तब तक के मानसिक विकास की भी झांकी मिल जाती है और साथ ही विभिन्न व्यक्तियों के प्रति उसके दृष्टिकोण का भी पता चल जाता है।

इसी प्रकार, 'दादा कामरेड' की यशोदा का वह अंतर्विवाद है, जो उसके मन में यह जानने पर उठता है कि उसका पति उस पर सदेह करने लग गया है। इस अंतर्विवाद में निरीह यशोदा की छटपटाहट की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है :

"यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं—मुझ पर यह ज्यादती क्यों कर रहे हैं······आखिर मैंने किया क्या है, यही न एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हें पता लगा······मैंने इन्हें यह नही बताया कि मैंने कांग्रेस में काम करने की बाबत बातचीत की है······यह आठ बरस से कांग्रेस में काम कर रहे हैं, मैंने तो कभी इनसे नहीं पूछा कि वह क्या और क्यों कर रहे हैं ?··· इतनी सी बात पर संदेह ? केवल इसलिए न कि मैं स्त्री हूँ। मानो स्त्री संदेह के काम के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकती।"२०

अपने पात्रों के अंतर्विवादों में यशपाल उनकी अचेतन प्रवृत्तियों को पकड़ने की चिन्ता नहीं करते और न ही उन्हें अधिक लम्बे होने देते हैं। पात्र और पाठक का सीधा सम्पर्क वह अधिक देर तक नही चलने देते। इसीलिए, उनके पात्रों के अंतर्विवादों में वह दुरूहता नहीं आ पाती जो अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को नीरस बना डालती है।

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

घटना और व्यक्ति—मार्क्सवादी व्याख्या

घटनाएँ तो सभी उपन्यासों में हुआ करती हैं, पर यशपाल के उपन्यासों में घटनाओं को विशेष महत्त्व प्राप्त है। उनके पात्रों के जीवन में निरन्तर ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती हैं, जिन के लिए वे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से, उत्तर-दायी नहीं होते, पर जो उनकी जीवन-धारा को बदल कर उन्हें कुछ से कुछ बना देती हैं। मार्क्सवाद का एक सिद्धान्त यह भी है कि 'व्यक्ति के बाहर भी एक जगत् है,

---

१९. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० १२।

२०. यशपाल, 'दादा कामरेड', १४३।

जिसका अस्तित्व उससे नितांत स्वतंत्र है।'[२१] प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी-न-कभी कोई ऐसी बात हो जाती है, जिसके कारणों को वह समझ नहीं पाता और यह मानने के लिए विवश हो जाता है कि उसके पीछे किसी अलक्षित शक्ति की प्रेरणा ही रही होगी। हम सब लोग सुख की लालसा में कितने ही कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। सुख की प्रतीक्षा में कितने ही कष्ट अपनी इच्छा से सह लेते हैं, पर अनेक बार ऐसा होता है कि लाख प्रयत्न करने पर भी हम अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। सहसा कोई ऐसी घटना हो जाती है जो हमारी सब आशाओं पर पानी फेर कर हमारे जीवन की दिशा ही बदल डालती है। ऐतिहासिक घटना के कारणों का विवेचन करते हुए एंगेल्स ने स्वयं माना है कि ऐतिहासिक घटना को किसी अलक्षित शक्ति द्वारा प्रेरित भी कहा जा सकता है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति में अन्य सभी बाधक बनते है, पर अंततः उसका परिणाम ऐसा निकलता है जिसकी कभी किसी ने इच्छा नहीं की होती।[२२]

चरित्र-विकास में घटना का महत्त्व

यशपाल के औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-विकास में इस अलक्षित शक्ति की प्रेरणा रहती है। उनके पात्रों को बनाने और बिगाड़ने में संयोग का विशेष हाथ रहता है। कोई पात्र दाईं ओर न जाकर बाईं ओर निकल जाता है, वहाँ उसे कोई युवती मिल जाती है और दोनों के जीवनसूत्र एक-दूसरे से उलझ जाते हैं। यह केवल संयोग की बात ही थी कि 'दादा कामरेड' का हरीश पुलिस से अपनी जान बचाने के प्रयत्न में रात के समय जिस घर में घुस आया था वह यशोदा का था; पर आगे चलकर यह अकस्मात् भेंट ही यशोदा के दाम्पत्य जीवन में उथल-पुथल मचाने का मूल कारण बनी थी। 'पार्टी कामरेड' के भावरिया की गीता से भेंट भी अचानक ही हुई थी, पर तभी से दोनों के जीवन-सूत्र एक दूसरे से इतने उलझते गए कि अन्य कामरेडों के और प्रतिद्वन्द्वियों के लाख चेष्टा करने पर भी वे दोनों अलग न हो सके। 'देशद्रोही' के डा० खन्ना का अगवा हो जाना भी अकस्मात् ही हुआ था, जिससे उसकी और उसकी पत्नी की जीवन-धारा ही बदल गई। घटनाएँ तो प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी प्रचुरता से मिलती हैं और उनके पात्रो के जीवन में मोड़ ला देने का कारण

---

२१. Ralph Fox, 'The Novel and the People', p. 68 :

"Marxism is a materialist philosophy. It believes in the primacy of the matter and that the world exists outside of us and independently of us."

२२. Ibid. p. 74 :

"This again may itself be viewed as the product of a power, which taken as a whole, works unconsciously and without volition. For what each individual wills is obstructed by everyone else, and what emerges is something that no one willed."

भी वे घटनाएँ बनती है। पर उन घटनाओं के कारणों का उपन्यास के किसी भी पात्र से प्रत्यक्ष व परोक्ष सम्बन्ध न हो, ऐसा नही कहा जा सकता। उनकी निर्मला के जीवनव्यापी कष्टों का दायित्व उसके पिता की डाकू के हाथो मृत्यु वाली घटना पर है। यदि उसके पिता की मृत्यु न होती तो वह अच्छे घर में ब्याही जाती और उसे तीन लड़कों की विमाता न बनना पड़ता। पर वह घटना किसी अलक्षित शक्ति द्वारा प्रेरित हुई हो, ऐसा उस उपन्यास से प्रतीत नही होता। उस घटना के बीज उसके पिता के चरित्र में निहित मिलते है जो उसकी माँ से लड़कर आधी रात के समय घर से बाहर निकल पड़ता है। यदि वह घर से बाहर न निकलता तो डाकू से उसकी भेंट क्योकर होती। इसी प्रकार, उनके उपन्यास 'गबन' की जालपा के चरित्र को निखार देने का श्रेय गबन वाली घटना को ही है, पर उसका दायित्व उसके अपने गहनों के प्रति मोह और उसके पति की मूर्खता पर था, न कि किसी अज्ञात शक्ति पर।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

हम पहले कह आए हैं कि यशपाल के उपन्यासों के कई पात्र वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र दोनों ही रूपों में चित्रित हुए है। 'मनुष्य के रूप' के कामरेड भूषण और मनोरमा को ही लें। जितनी मनोरमा भूषण की ओर आकृष्ट है, भूषण भी उतना ही उसमें अनुरक्त है। पर उन दोनों के वर्गों में जो वैषम्य है, उनमें सदा से जो संघर्ष चलता आया है, वह भूषण को मनोरमा का समर्पण स्वीकार करने की छूट नहीं देता। इस रूप में वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। पर व्यक्तिगत रूप में वह मनोरमा के प्रति सच्चा है। वर्गप्रतिनिधि के रूप में वह मनोरमा और उसके वर्ग का अन्त करने के लिए कमर कसे हुए है, पर व्यक्तिगत रूप में वह उसे धोखा देने तक का विचार नहीं कर सकता। भूषण के चरित्र के ये रूप मनोरमा से हुए उसके इस कथोपकथन में व्यक्त हो पड़े हैं :

> वह स्पष्ट प्रश्न कर बैठी—"तुम्हारे व्यवहार में यह परिवर्तन क्यों आ रहा है ? मेरी ऐसी कौन बात देखी तुमने ?"
>
> भूषण ने भी स्पष्ट ही उत्तर दिया—"अपने जीवन के लिए जो आशा और कल्पना मैं बना बैठा था, वह निराधार थी। मैं साधनहीन हूँ। साधनों के बिना जीवन सम्भव नही। पहले भटक कर ग़लत राह पर चल रहा था। समझ आते ही उस राह को छोड़ देना उचित है। अब तक मै यह बातें केवल सिद्धान्तों के विनोद और मानसिक संतोष के लिए कहता था। आज इन्हें अपने जीवन में अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, श्रेणी के लिए, जीवन के साधनों के अधिकार के लिए लड़ना चाहता हूँ। मैं तुम्हारा आदर करता हूँ, इसलिए तुम्हें धोखा नहीं देना चाहता।......तुम मेरी श्रेणी के

शत्रु-दल में हो। तुम्हारी श्रेणी से, ज़रूरत हुई तो तुमसे भी, मैं लड़ूंगा, परन्तु तुम्हें व्यक्तिगत रूप से धोखा नही देना चाहता······तुम खुद समझ सकती हो कि मैं अपनी श्रेणी से अलग कैसे हो सकता हूँ।"[२३]

इसी प्रकार, 'पार्टी कामरेड' में पार्टी के दफ्तर में हुआ वह कथोपकथन उल्लेखनीय है जो पार्टी के प्रेस के लिए महिला-सदस्याओं द्वारा अपने आभूषण दान में दे चुकने के बाद हुआ :

"गीता का लौकेट, अनिमा की चूड़ियाँ, मोजीवाला के कान के काँटे और पद्मा की कण्ठी हाथ में ले उसने पूछा—'गर्ल कामरेड्स, यह गहने आपने दिए हैं। आप घर जाकर क्या उत्तर देंगी ?

अनिमा ने उत्तर दिया—'कह दूंगी, खो गए।'

गीता ने उत्तर दिया—'मैं कह दूंगी पार्टी को दे दिया है। जो होगा देखा जायगा।'

मोजीवाला ने भी गीता का समर्थन किया।

सेक्रेटरी ने अनिमा को चूड़ियाँ लौटाने के लिए आगे बढ़ाई—'अगर तुम्हें घर में सच बोलने का साहस नहीं है तो यह चूड़ियाँ हम नहीं लेंगे।' अनिमा का चेहरा लाल हो गया। खड़ी हो उसने कहा—'मैं घर में ठीक बात कह दूंगी—' और बैठ गई।'[२४]

गीता, अनिमा सब एक ही पार्टी की तो सदस्याएँ हैं। एक ही वर्ग का तो वे प्रतिनिधित्व करती हैं, पर उपर्युक्त कथोपकथन में उनकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशिष्टताएँ झलक पड़ी हैं, एक ही वर्ग की प्रतिनिधि होती हुई भी वे एक-दूसरे से भिन्न 'व्यक्ति' के रूप में उभर आई हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इस प्रकार के कथोपकथन स्वाभाविक नहीं बन पाए। उनके पीछे से लेखक की सोद्देश्यता बार-बार झाँककर पाठक का ध्यान अपनी ओर खींच लेती है और उसके निकट उनका मूल्य राजनीतिक युक्तियों से अधिक नहीं रहता।

---

२३. यशपाल, 'मनुष्य के रूप', 'माया', अगस्त १९४९, पृ० ५६।
२४. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ३८-३९।

पाँचवां अध्याय

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

व्यक्ति-चरित्र का उदय
व्यक्ति के चरित्रचित्रण का मनोवैज्ञानिक आधार
हिन्दी-उपन्यास में मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण
जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय

जैनेंद्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण की निम्न-लिखित प्रवृत्तियों का अध्ययन :

परिचयात्मक विवेचन
पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण
पात्रो का प्रथम परिचय
आकृति-वेशभूषा-चित्रण
अनुभाव-चित्रण
अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण
अर्तविवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)
मनोविश्लेषण
मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन)
आत्मविश्लेषण
बाधकता-विश्लेषण
स्वप्न-विश्लेषण
निराधार प्रत्यक्षीकरण-विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)
प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रिकोलेक्शन्स)
प्रतीकात्मक शैली
पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस-हिस्टरी मैथड)
सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)
चित्र-विश्लेषण
शब्द-सहस्मृति-परीक्षा
पत्रात्मक शैली
उद्धरण-शैली
कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण
जैनेन्द्र के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में दुरूहता
अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में अश्लीलता का आभास

प्रस्तावना

व्यक्ति-चरित्र का उदय

अब तक के उपन्यासों में तो थी—व्यक्ति और समाज के सघर्ष की तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष की कहानी, पर यह संघर्ष यही तक सीमित न रहा। इसके बाद, व्यक्ति और व्यक्ति में भी संघर्ष छिड़ गया। जिन कारणों से समाज का विघटन हुआ था, उन्ही कारणों से वर्गो और परिवारों का विघटन आरम्भ हो गया। परिवार एक घनिष्ठ सामाजिक संगठन है। किसी सामाजिक संगठन की दृढ़ता और स्थिरता बहुत कुछ उसके सदस्यों द्वारा स्वीकृत मूल्यो और उनकी मनोवृत्तियों के साम्य पर निर्भर करती है। पारिवारिक सगठन इस नियम का अपवाद नही। प्रत्येक परिवार के सुसंगठन के लिए यह अनिवार्य है कि उसके सदस्यों के जीवनोद्देश्य में तथा उनकी रुचियों और महत्त्वाकांक्षाओं में समानता हो। मध्य युग में पुरातन मूल्यों के प्रति दृढ़ विश्वास होने के कारण तीनों प्रकार की एकता सम्भव हो सकी थी। इसीलिए, उस युग के परिवार भी एक ठोस वर्ग के रूप में मजबूत रह सके थे। पर डार्विन, मार्क्स तथा फ्रॉयड के सिद्धान्तो के प्रभाव से तथा वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास के फलस्वरूप सभी पुरातन नैतिक और सामाजिक मूल्यो के प्रति अस्वीकारिता के भाव से तथा नये मूल्यों के अभाव में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सूत्रपात हुआ। मनुष्य की आस्था अपने परिवेश—समाज, वर्ग तथा परिवार—से हटकर अपने में ही केन्द्रित होती गई। उसकी बहिर्मुखता घटने लगी और वह अतर्मुख होता गया। उस के जीवन में व्याप्त वाह्य संघर्ष का स्थान मानसिक संघर्ष ने ले लिया।

व्यक्ति के चरित्र-चित्रण का मनोवैज्ञानिक आधार

डार्विन, मार्क्स और फ्रॉयड की खोजो ने उपन्यासकार में भी नई जाग्रति ला दी। नये-नये आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों के प्रकाश में उसका दृष्टिकोण बदल गया। जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के बदलते ही उसका लिखना भी बदल गया। फ्रॉयड के सिद्धान्तों ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित

किया था, उससे उपन्यासकार को बड़ी सहायता मिली। अब तक वह अपने पात्रों के मन में हो रही उथल-पुथल का अनुमान उनके अस्त-व्यस्त पहनावे, विविध अनुभावो और व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही थोडा-बहुत लगा पाता था और उस अनुमान के आधार पर ही उनकी मन:स्थिति का चित्रण करता था। अपने पात्रों के मन में हो रहे सघर्ष के यथार्थ रूप से वह अब तक अनभिज्ञ ही रहा था। अब उसे पता चला कि बाह्य संघर्ष ही सब कुछ नहीं। वह तो बहुधा मानसिक संघर्ष की प्रतिच्छाया या उसका विकृत रूप होता है। बाहर की घटनाओं के घटित होने से पहले व्यक्ति-मानस में ही कई घटनाएँ घटित हो जाती हैं। बाहर के स्थूल संघर्ष में पड़ने से पहले उसे आंतरिक संघर्ष से जूझना पडता है। इस जानकारी के बाद उपन्यासकार की दृष्टि में व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष का कोई मूल्य न रहा। 'संघर्ष' और 'घटना' की उसकी परिभाषा भी बदल गई और साथ ही इनके चित्रण का स्वरूप बदल गया। उपन्यास में बाह्य संघर्ष का स्थान अन्त:संघर्ष ने ले लिया। बाह्य स्थूल घटनाओं के प्रति उपन्यासकार उदासीन होता गया, क्योंकि पात्रो की मन:स्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए उनसे सहायता तो मिलती नही थी, उल्टा भ्रम में पड़ने की सम्भावना रहती थी। इसलिए, अब वह अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति-मानस में हो रहे सघर्ष के अचेतन कारणों की खोज में मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ। फ्रॉयड एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हैवलॉक एलिस की धारणाओं ने उसे नई दृष्टि प्रदान की। इससे वह बड़े आत्मविश्वास के साथ पात्रो के मानस की चीर-फाड़ करने और उसके अचेतन की परत-पर-परत खोलने में जुट गया। उसके चरित्र-चित्रण में कोरे भावुकतापूर्ण अनुमान का स्थान मनोवैज्ञानिक प्रणालियों ने ले लिया और वह अनुभवी मनोविश्लेषक की तरह मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति परीक्षा, इतिवृत्तात्मक आदि विविध प्रणालियों द्वारा अपने पात्रों के अचेतन में पड़ी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों और उनके कारणों को उघाड़ने लगा। अब उसका उपन्यास पात्र और परिस्थिति के सघर्ष का उपन्यास न रहा और न ही नायक और प्रतिनायक के संघर्ष का, प्रत्युत् वह नायक के चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) का तथा उसके अन्तर्विवादों (इन्टीरियर मॉनोलॉग) का उपन्यास हो गया।

हिन्दी-उपन्यास में मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

यद्यपि वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास के फलस्वरूप होने वाली सामाजिक मूल्यों में गड़बड़ और सम्मिलित परिवारों के विघटन का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' और 'गोदान' से आरम्भ होकर भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में अपनी चरम-सीमा को छू जाता है, तो भी समाज के विधि-निषेधों के प्रति एकदम उदासीन तथा पारिवारिक मर्यादाओं की बाध्यता से मुक्त मूल नैतिकता

के जिज्ञासु स्वतन्त्र व्यक्ति-पात्रों की उद्भावना हिन्दी-उपन्यास में सर्वप्रथम जैनेन्द्र के उपन्यासो में ही मिलती है। वैसे तो प्रेमचन्द ने अपनी उपन्यास-कला के विकास के अन्तिम चरण में और भगवतीचरण वर्मा ने उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करते ही व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार कर ली थी, पर व्यक्ति-मानस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन की, उसकी परत-पर-परत खोलकर उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अचेतन द्वन्द्व को पकडने की मूलग्राही प्रवृत्ति जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' से ही आरम्भ होती है। यद्यपि जैनेन्द्र से पहले, ब्रजनन्दनसहाय के 'सौदर्योपासक' (सन् १९१९), कृपानाथ मित्र के 'प्यास' (सन् १९२३) और अवधनारायण के 'विमाता' (सन् १९३२) नामक उपन्यासों में मानव-मन के अध्ययन के प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं, पर उनका आधार मनोविज्ञान की अपेक्षा सस्ता भावुकतापूर्ण अनुमान था। इन उपन्यासकारों ने मानव-चरित्र रूपी हिमनग (आईसबर्ग) के जलमग्न अव्यक्त भाग के अस्तित्व को तो स्वीकार किया था और उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता को भी महसूस किया था, पर पश्चिम की नवीनतम मनोवैज्ञानिक उद्भावनाओ से वे लाभ न उठा सके थे।

जैनेन्द्रकुमार

'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' से लेकर 'सुखदा', 'विवर्त्त', 'व्यतीत' और 'जयवर्धन' तक उनके सभी उपन्यासों में बाहर की स्थूल घटनाओं की उपेक्षा और पात्रों के भीतर होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म हलचलों के चित्रण की ओर विशेष झुकाव मिलता है। कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, मोहिनी, अनिता और इला से लेकर सत्यधन, हरिप्रसन्न, श्रीकान्त, नरेन्द्र, जितेन, जयन्त और जयवर्धन तक, उनके उपन्यासों के सभी प्रमुख पात्र सामाजिक और पारिवारिक संघर्ष से विमुख, पर अपने भीतर के द्वन्द्वों में खोए हुए से भटकते रहते है। अपने चेतन मन से वे जो करना चाहते हैं, वह उनके किए हो नहीं पाता और जो वे करना नहीं चाहते, वह उनके लाख बचने पर भी अचेतन प्रेरकों के प्रभाव से हो जाता है। इन पात्रों को दिन-रात बेचैन किये रखने वाले उनके भीतरी अचेतन संघर्ष को पकड़ने के लिए, उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनों को उनके यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिए तथा उनकी यौन कुंठाओं को उघाड़ने के लिए जैनेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों से लाभ उठाया है। उनकी उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक प्रणालियो के प्रयोग की ओर उनका झुकाव भी बढ़ता गया है। यहाँ तक कि उनके नये उपन्यास 'जयवर्धन' में फ्रॉयड की मुक्त आसंग-प्रणाली (फ्री एसोसिएशन टेक्नीक) का सांगोपाग प्रयोग मिलता है। वास्तव में जैनेन्द्र पहले उपन्यासकार हैं, जिनकी रचनाओ में हिन्दी-उपन्यास के पाठकों को पात्रों के अतरंग (सब्जेक्टिव) चरित्र-चित्रण के दर्शन हुए हैं।

इलाचंद्र जोशी

पात्रों के अन्तरंग चरित्र चित्रण को विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियों के आधार पर विकसित करने वाले दूसरे उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं—इलाचन्द्र जोशी। चरित्र-चित्रण को सामाजिक पूर्वग्रहों और दार्शनिक उलझनो से बचाकर उसे शुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप देने का श्रेय जोशी जी को ही है।

फ्रॉयडवादी मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि मनुष्य मूलतः पशु है, पर वह अपनी पाशविक वृत्तियो पर धर्म, सभ्यता और संस्कृति का आरोप करके उन्हें दबाने का प्रयत्न करता रहता है। ऊपर से दबी प्रतीत होने पर भी ये पशु-वृत्तियाँ उसके अचेतन मन में गहरी धंसकर भीतर ही भीतर उथल-पुथल मचाती रहती हैं। मनुष्य जब-जब इन्हे बलपूर्वक दबाता है, तब-तब ये अपना रूप बदलकर अभिव्यक्ति पाती रहती है; और जब कभी उनके अचेतन मन पर से चेतन मन का नियन्त्रण उठ जाता है—चाहे वह अल्पातिअल्प समय के लिए ही हो—ये वृत्तियां अपने नग्न रूप में नाच उठती हैं। इनसे उत्पन्न दुःखद अनुभूतियों को जब उसका चेतन मन उनके यथार्थ रूप में सहने या स्वीकार करने से इन्कार कर देता है तब ये दमित (रिप्रेसेड) होकर अचेतन में धँस जाती हैं और उसके भीतर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को जन्म देने लगती है। ये ग्रन्थियाँ उसके भीतर भीषण संघर्ष उठाती रहती है, जिसके कारण उसके लिए अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखना कठिन हो जाता है और वह जीवन भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकता रहता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' की निरजना,' प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'निर्वासित' का महीप आदि उनके उपन्यासों के नायक-नायिकाएँ इसी प्रकार के 'मनोवैज्ञानिक केस' है। उनके अचेतन में भीषण द्वन्द्व छिड़ा रहता है जो उन्हें दिन-रात बेचैन किए रखता है। मनोविज्ञान की विविध प्रणालियों का सहारा लेकर जोशी जी ने अपने पात्रों के मानस की निर्मम चीर-फाड़ की है और उनकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं के कारणों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए, उनके उपन्यासों में फ्रॉयड के मनोविश्लेषण और स्वप्न-विश्लेषण से लेकर सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसस), शब्द-सह-स्मृति परीक्षा (वर्ड एसोसिएशन टैस्ट), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड) तक सभी प्रमुख प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका प्रयोग मनोविश्लेषक अपने पात्रों पर किया करता है।

अज्ञेय

'शेखर : एक जीवनी' को रचना द्वारा अज्ञेय हिन्दी-उपन्यास को मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के एक नये मोड़ पर ले आए। अब तक हिन्दी के उपन्यासकारों की समस्त शक्ति पात्रों के चरित्र के विविध रूपों के उद्घाटन में ही लगती रही थी। पात्रों के चरित्र-विकास की कुछ-एक उभरी हुई अवस्थाओं के चित्रण में ही उन्होने

अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली थी। विकासमान चरित्र और उसकी अन्तःप्रेरणाओं के चित्रण का कोई ठोस प्रयत्न अब तक हिन्दी में न हुआ था। 'शेखर : एक जीवनी' से पहले का चरित्र-चित्रण चित्रपट पर दिखाई गई 'सिनेमा स्लाइडों' के समान आन्तरायिक था, हिन्दी-उपन्यासों में 'चल-चित्रों' का-सा विकासमान चरित्र और वह भी अन्तर्दृष्टितः (सब्जेक्टिव्ली) दिखाने का श्रेय अज्ञेय को ही है। 'शेखर : एक जीवनी' के रूप में विकासमान चरित्र को ठोस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करके अज्ञेय ने चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में एक नया युग ला दिया। यह एक संस्मरणात्मक उपन्यास है। अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर फाँसी की कोठरी में बैठा उसका नायक शेखर प्रत्यवलोकन करने लगता है। बाल्यावस्था से लेकर उसके जीवन की घटनाएँ एक-एक करके उसके स्मृति-पट पर उभरने लगती हैं और उन्हीं स्मृतियों के निर्मम विश्लेषण द्वारा वह अपने विगत जीवन में कार्य-कारण के सूत्र ढूँढ़ने लगता है। अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का नहीं, विकसित चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। वह चार सवेदनाओं का 'मनोवैज्ञानिक चित्रण' है, चार पात्रों के चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनैस) का गत्यकन है।

जैनेन्द्र की भाँति, उपन्यासकार के साथ-साथ विचारक भी होने से, अज्ञेय की भी अपनी निश्चित मान्यताएँ हैं, कुछ-एक पूर्वग्रह भी हैं, जो उनके उपन्यासों और उनके पात्रों के चरित्र-विकास को एक विशेष दिशा प्रदान करते हैं। दोनों में साम्य यही है कि उनके पात्रों के चरित्र-विकास और चरित्र-चित्रण में उनके जीवन-दर्शन का प्रबल आग्रह रहता है। वैसे दोनों के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जैनेन्द्र व्यक्ति के 'अहं' को चकनाचूर करके उसे विराट्, व्यष्टि में मिलाना चाहते हैं, पर अज्ञेय व्यक्ति के 'अह' को पुष्ट करना चाहता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं मिलता। अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण इन उपन्यासकारों ने चाहे किसी भी दृष्टिकोण से किया हो, सस्ते भावुक अनुमानों से बचकर ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को इन सबने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण का आधार बनाया है।

अब हम इन उपन्यासकारों की रचनाओं में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

जैनेन्द्रकुमार

परिचयात्मक विवेचन

अखण्ड और अद्वैत सत्य तथा उसके व्यावहारिक रूप—समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसा—को जैनेन्द्र अपने साहित्य का परम श्रेय मानते हैं।[1] उनका विश्वास है कि समष्टि की उपलब्धि के अर्थ, विश्वभर में बिखर जाने की जो लालसा व्यक्ति के अन्तरतम में विद्यमान है, उसी का शब्दांकित रूप साहित्य है। साहित्यकार के लिए 'स्वान्तःसुखाय' साहित्य-निर्माण हेय न समझते हुए भी जैनेन्द्र उसके 'लोकहिताय' तक पहुँचने में कोई हानि नहीं देखते, पर लोकहित के नाम से क्रान्ति की दुहाई देते फिरना भी उनकी विचार-धारा से मेल नहीं खाता। उनकी धारणा है कि समाज में विकास ताप से नहीं, तप से होगा। इसलिए, उनके विचार में, समाज की आज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा भी है: 'उपन्यास······ जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नही। वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नही, बल्कि स्वतःस्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वयं स्वामी होता है। साहित्य को यही गति इष्ट है।'[2]

व्यक्ति-चरित्र

उपन्यास वस्तुपरक हो या भावनापरक, इसके सम्बन्ध में भी जैनेन्द्र का निश्चित मत है कि उपन्यास को यदि जीवन का विकास-साधन बनना है तो यथार्थ उसकी मर्यादा नहीं हो सकता। वास्तविकता का धरातल उससे उठेगा जो स्वयं ऊँचा होगा। वास्तविक होने के प्रयास में उपन्यास अपने को व्यर्थ ही बना डालेगा। इसलिए, अपने पात्रों के चयन में उन्होंने ध्यान रखा है कि वे वस्तु-जगत् के व्यक्तियों की तरह

---

१. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १५।

२. जैनेन्द्र, 'उपन्यास में वास्तविकता', 'वीणा', दिसम्बर, १९४१।

डेढ़-डेढ़, दो-दो मन के न हों, क्योंकि "सच्चे अर्थ में हमें उनसे लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हम से कम मांसल और अधिक मानसिक होंगे, उनमें आत्मा अधिक होगी और पंचभूत कम।"[3] अपने अधिकांश पात्र उन्होंने उस शिक्षित मध्यवर्ग से ही चुने, जिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने अधिक संवेदनशील बना दिया है और जो मूल नैतिकता की जिज्ञासा में समाज के समस्त विधि-निषेध के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाकर उनकी अवमानना तो कर बैठता है, पर अचेतन मन पर पड़े गहरे संस्कारों के कारण जीवन भर मानसिक संघर्ष की चक्की में पिसता रहता है। सत्यधन, श्रीकान्त, हरिप्रसन्न, जितेन, जयन्त से लेकर सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, अनिता, भुवनमोहिनी, इला तक उनके सभी पात्र इसी वर्ग के भावना-शरीरी प्राणी हैं जो अपनी भीतरी घुमड़न के कारण वर्ग-प्रतिनिधि पात्रों की मर्यादा लाँघ कर व्यक्ति-चरित्र बन गए है।

अचेतन द्वन्द्वों का चित्रण

पात्रों का चरित्र-चित्रण भी जैनेन्द्र ने स्थूल वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर ही किया है। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है—वह फिर चाहे कितना भी बड़ा आदमी समझा जाता हो—सफल उपन्यासकार नहीं हो सकता। एकदम ज़रूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, 'मिस्टिक' हो।'[4] अपने उपन्यासों में वह पात्रों के दृष्टिगोचर व्यक्त रूप में न उलझ कर उनके अतल मानस की ओर प्रवृत्त हुए हैं। उनके विचार में आज के साहित्यकार के लिए सृजन का यही एक अर्थ है : "हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः-शनैः उसे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त करते जाना—मेरे खयाल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सृजन क्या होगा, यह मैं जानता नहीं।"[5] पात्रों के अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों को, जिनके कारण वे किसी भी परिस्थिति से अपना मानसिक संतुलन नहीं बैठा पाते और कस्तूरी-मृग के समान जीवन भर भटकते फिरते हैं, उघाड़ने में ही जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की समस्त शक्ति लगी है।

---

३. वही।
४. जैनेन्द्र, 'उपन्यास में वास्तविकता', 'वीणा', दिसम्बर, १९४१।
५. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १२।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

मानव के मनस्तत्त्व के जिज्ञासु[1] विलबर हूस्टन का ध्यान, जैनेन्द्र जी के उपन्यास 'जयवर्धन' का नायक इस तथ्य की ओर दिलाता है कि "भगवान् के सिवा कोई किसी को नही जानता—सच यह है कि कोई अपने को भी नहीं जानता।"[2] यदि भगवान् के सिवा कोई किसी को नहीं जानता—यहाँ तक कि अपने को भी नहीं, तो इसका कारण यह है कि हम सबका स्रष्टा कोई और ही है, और स्रष्टा के सिवा उस की सृष्टि को जानने का दम और कौन भर सकता है। परन्तु उपन्यास और उसके पात्र किसी और की नहीं, उपन्यासकार की सृष्टि होते हैं। इसलिए उनके बारे में यदि कोई सब कुछ जानता है तो वह उनका स्रष्टा उपन्यासकार ही है। उपन्यासकार को पता होता है कि उसके पात्रों की मूल प्रवृत्तियाँ क्या हैं और उनका विकास किस दिशा में होना है। अपने पात्रों का नामकरण करते समय उसके सामने प्रायः उनका चरित्र आ जाता है और जाने या अजाने उनके चरित्र की कोई-न-कोई विशिष्टता उनके नामकरण का आधार बन जाती है। इस प्रकार, कई बार पात्रों के नामो से भी उनके व्यक्तित्व का आभास मिल जाता है।[3]

चरित्रानुकूल नाम

जैनेन्द्रजी के आरम्भिक उपन्यासों में तो यह प्रवृत्ति बड़ी प्रबल रही है। उनके पात्रों के नाम ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डाल देते हैं। उनके आरम्भिक उपन्यास 'परख' के नायक का नाम है सत्यधन; नाम पढ़ते ही पाठक अनुमान लगाने लगता है कि कदाचित् सत्य को ही यह पात्र अपना असली धन मानेगा। जल्दी ही पाठक को विश्वास हो जाता है कि उसका अनुमान ठीक था, जब वह इस पात्र को अपने जीवन के एक मोड़ पर इस प्रकार निर्णय करते हुए पाता

---

१. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० ६१।

२. वही, पृ० १८।

३. Wellek, 'The Theory of Literature', London, 1949, p. 226-27.

है : "झूठ के बिना वकालत नहीं, तो मैं वकालत करता ही नहीं, जाओ।"[४] परख में पात्रों के नाम अनायास ही उनके चरित्र के अनुरूप पड़ गए हों, यह बात नहीं; प्रत्युत् लेखक को इस बात का गर्व है कि उसके पात्रों के नाम सार्थक हैं। कट्टो के नाम के बारे में लेखक स्वयं मानता है कि "यह नाम बिलकुल निरर्थक नहीं है।......कट्टो गिलहरी को कहते हैं। उसकी ठोड़ी गिलहरी के मुँह जैसी है, वैसी ही नोकदार। उसके चेहरे से भी गिलहरी का भाव टपकता है। झटपट यहाँ दौड़, वहाँ दौड़, इधर देख, उधर देख—ये सब भाव उसमें है।"[५] बिहारी के नाम की सार्थकता जताने में भी उपन्यासकार नहीं चूकता : "पर बिहारी मर्द है, सच्चा बिहारी। इतनी मेहनत से अभी-अभी जिस भविष्य के स्वर्ग को खड़ा किया था, और जिसे अभी सजा ही रहा था, उसको सत्य ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला......लेकिन अभी तो उस भविष्य के चकना-चूर ढेर के पास खड़ा होकर वह सिर सीधा रखकर मुस्करा ही देगा, पीछे फिर चाहे कितना ही रोये।"[६]

जैनेन्द्रजी के और कई औपन्यासिक पात्रों का नामकरण उनके चरित्र के अनुरूप ही हुआ दिखाई देता है; यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह सब सायास हुआ है। 'विवर्त्त' की नायिका 'भुवनमोहिनी' भुवनमोहिनी है; उस पर मुग्ध होकर उसका पति तो उसकी प्रशंसा करता ही है—"यह क्या आपने सोचा है, कहर ढाइएगा'[७]—पर वह स्वय भी अपनी सम्मोहिनी से अपरिचित नहीं। उसे अपनी बुद्धि का, अपने रूप और कौशल का भरोसा है।"[८] उसके बल पर ही तो वह पुलिस के एस० पी० चड्ढा को अपने घर निमन्त्रित करके अपने प्रेमी क्रान्तिकारी जितेन को बचाने का प्रयास करती है और उसमें सफल रहती है। चड्ढा को वह 'अत्यन्त स्पृहणीय और कमनीय जान पड़ती है और उस का रूप, उसकी कुलीनता, उसकी वाक्चातुरी देखकर वह सहसा पराभूत हो जाता है।'[९] 'सुखदा' का क्रान्तिकारी पात्र लाल भी अपने नाम के अनुरूप ही है। वह लापरवाह भले ही हो, पर 'हीरा आदमी है।'[१०] 'त्याग-पत्र' की नायिका मृणाल के नाम और चरित्र-विकास में भी काफी साम्य देखने को मिला है। कमल-नाल के समान वह आँधियो और लहरों के थपेड़ो के अनुरूप ही मुड़कर, स्वयं पंक में गहरी धंस कर भी समाज-व्यवस्था के कमल को धारण किये रहती है, उसे चोट से बचाए रहती है।'[११] 'व्यतीत' के नायक जयंत का व्यक्तित्व भी उसके नाम

४. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० १० ।
५. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० २१ ।
६. वही, पृ० ६८ ।
७. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ४६ ।
८. वही, पृ० १३६ ।
९. वही, पृ० १३६ ।
१०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १४६ ।
११. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ३७ ।

के अनुसार विजयी ही रहा है; जो भी उसके सम्पर्क में आता है, वह पराभूत हो जाता है। अनिता, सुमति, बुधिया, कपिला आदि का तो कहना ही क्या, चन्द्रकला (चन्द्री) कीसी दर्पपूर्ण नारी भी प्रथम दर्शन में ही हार बैठती है और कुमार को भी जयन्त की विजय स्वीकार करनी पड़ती है "...... और आँखे देखी नहीं उसकी ? सच कहता हूँ, जयन्त, यह क्या कमाल है तुममें ? भाई, मानता हूँ मात तुम से। क्या जादू डाला है कि......।"[१२]

इसी प्रकार सुखदा, कल्याणी, चन्द्रकला (चन्द्री), सुनीता, जयवर्धन, स्वामी चिदानन्द आदि के नामों में उनके चरित्र की किसी न किसी विशिष्टता की झलक मिल ही जाती है। सुखदा, कल्याणी, सुनीता दूसरों की चिन्ता का कारण चाहे बन गई हों, पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनका प्रयत्न सदा इससे उलटी दिशा में ही रहा।

पात्रों का प्रथम परिचय

उपन्यास के रंगमंच पर जब कोई पात्र पहली बार प्रकट होता है तो उस की आकृति-प्रकृति, वेश-भूषा, भ्रूभगिमा, क्रिया-प्रतिक्रिया पाठक के मन पर एक छाप छोड जाती है जिसके आधार पर वह उसके भावी आचार-व्यवहार का अनुमान लगाता रहता है। अपने पात्रों के समूचे चरित्र की जानकारी रखने के कारण उनके सम्बन्ध में उपन्यासकार की अपनी धारणाएँ भी बनी होती हैं, जो अभिव्यक्ति पाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहती हैं। ठीक तो यह रहता है कि उपन्यासकार पात्रो के नाम, आकृति-वेशभूषा आदि के वर्णन द्वारा उन्हें पाठकों की कल्पना में साकार करके स्वयं अलग हो जाए और उन्हें पाठकों पर अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा धीरे-धीरे खुलने दे। पर बहुधा पात्र के बारे में उपन्यासकार की जानकारी अनायास ही उसके परिचय के रूप में फूट पड़ती है और पात्र के प्रति उसकी सहानुभूति या घृणा व्यक्त हो जाती है।

चरित्रोद्घाटन में उपन्यासकारका पूर्वग्रह

अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में जैनेन्द्र जी भी पात्रों के प्रति अपनी धारणाएँ व्यक्त करने का मोह संवरण नहीं कर सके। 'सुनीता' के आरम्भ में ही वह श्रीकांत और हरिप्रसन्न की चारित्रिक विशेषताओं का विस्तृत तुलनात्मक परिचय देने लग जाते हैं: "श्रीकांत खुले मन, पुष्टदेह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष था......हरिप्रसन्न वृत्ति से कुछ सन्देहशील, चतुर, कर्मकुशल, तीक्ष्ण-बुद्धि और परिस्थिति से असम्पन्न था",[१३] यद्यपि पाठकों ने अभी तक उन दोनों का

१२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ५२।
१३. जैनेंद्र, 'सुनीता', पृ० २।

कुछ भी नही देखा होता। पाठको को पात्रो के बारे में स्वयं कुछ जानने का अवसर प्रदान किये बिना ही वह उन पर अपनी धारणाएँ लाद देते है। हरिप्रसन्न तो अभी उपन्यास में प्रविष्ट भी नही होता कि लेखक अपना पूर्वग्रह व्यक्त करने लग जाता है, यद्यपि उसके कृत्यों में वे सभी चारित्रिक विशिष्टताएँ झलक नहीं पाती जिनका बखान लेखक पहले से ही करने लग जाता है। 'त्यागपत्र' में विनोद की माँ का प्रथम परिचय इस प्रकार कराया गया है : "माता अत्यन्त कुशल गृहिणी थी। जैसी कुशल थीं वैसी कोमल भी होती तो ? पर नही, उस 'तो' ?—के मुँह में नही बढ़ना होगा......इतना ही हम समझें माँ जितनी कुशल थी उतनी कोमल नही।"[१४] विनोद की माँ को पाठकों पर प्रकट होने का कोई अवसर दिये बिना ही लेखक पाठकों से आग्रह करने लग जाता है कि वे उसकी बात सही मानते हुए 'इतना ही समझें' कि वह कोमल उतनी नही थी, जितनी कुशल; यद्यपि मृणाल को एक बार पीटने के बाद उसके प्रति विनोद की माँ का जो व्यवहार रहा उसमें उसके कोमल हृदय की झलक अनायास ही मिल जाती है[१५]—व्यवहार उस का चाहे कठोर ही रहा हो। 'परख' में 'थोड़ा कट्टो से परिचय करें' कह कर लेखक एक उस पर परिच्छेद लिख डालता है।[१६]

पात्रों के प्रथम परिचय की इस शैली में उपन्यासकार पाठकों पर अपनी धारणाएँ लाद कर उन्हें पात्रों के प्रति पूर्वग्रहवान तो बनाता ही है, साथ ही उपयुक्त समय से पूर्व उनकी चारित्रिक विशिष्टताओ को प्रकाश में लाकर उनके चरित्र-विकास के प्रति पाठको के औत्सुक्य भाव को भी मद कर देता है। इसके अतिरिक्त कई बार पात्रों का चरित्र-विकास उनके प्रथम परिचय से काफी दूर जा पड़ता है और लेखक द्वारा इस प्रकार अपना मत लादना निरर्थक हो जाता है।

उपन्यास में पात्रो का प्रवेश तब तक नही होना चाहिए जब तक कि उनके करने के लिए कोई विशेष काम न हो।[१७] केवल परिचय कराने के लिए पात्रों को उपन्यास के रगमच पर ले आना और जब तक पुन: आवश्यकता न पड़े तब तक के लिए उन्हें 'कोल्ड स्टोरेज' मे डाल देना उपन्यास को शिथिल और बोझिल बनाना है। जैनेन्द्र के प्रारम्भिक उपन्यासो में यह देखने में आता है कि वह एक साथ ही कई आवश्यक-अनावश्यक पात्रो का प्रवेश कराके उनका परिचय देने लग जाते हैं। 'कल्याणी' के आरम्भ में वह वकील साहब के रूप मे एक साथ ही उपन्यास के सभी पात्रों का औपचारिक परिचय कराकर पीछा छुड़ा लेते है।[१८] बाकी, पात्रों को तो

१४. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६।
१५. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६।
१६. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० २०-२२।
१७. E. M. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 51.
१८. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ३।

खैर करने को कोई काम मिल ही जाता है, पर हिन्दी के साहित्यकार श्री 'प्रवाल' का परिचय कराने के बाद उसे 'कोल्ड स्टोरेज' में डाल देते हैं और फिर ऐसा भूलते है कि उपन्यास भर में उसके कही दर्शन नहीं होते।

इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र कई बार पात्र के पाठकों के सामने आने से पहले ही उसकी चर्चा छेड़ देते हैं और उसके गुणावगुणों का उल्लेख कर देते है। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न की अवतारणा तो होती है पृष्ठ ६ पर, पर उपन्यासकार उसका गुण-गान प्रथम पृष्ठ से ही करने लग जाता है[१९] और निरतर करता रहता है। सुनीता और उसकी असफल गृहस्थी की बात भी उसके प्रकट होने से पहले ही छिड़ जाती है।[२०] 'जयवर्धन' में नायक की चर्चा भी उसके उपन्यास के रगमंच पर आने से पहले ही छेड़ दी जाती है : "जयवर्धन के बारे मे सुना ही है—उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं···जरूर उसमें कुछ अंधियारा है।[२१]

कुतूहलोद्दीपक प्रथम परिचय

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की कथाशैली के विकास के साथ-साथ उनके पात्रों का प्रथम प्रवेश भी सहज स्वाभाविक होता गया है। जीवनी की शैली में लिखे गये उनके उपन्यासो—'सुखदा' और 'व्यतीत'—में तो पात्रों का प्रवेश और उनका प्रथम परिचय और भी स्वाभाविक बन पाया है, क्योंकि यहाँ लेखक पात्र और पाठकों के बीच में न अड़ कर पात्र को स्वयं ही पाठको पर खुलने देता है। सुखदा के प्रथम परिचय में बड़े ज़ोर की पकड़ है : "अस्पताल में हूँ, अकेली हूँ, बस नौकर एक साथ है। बच्चे हैं, स्वामी है, पर वे सब दूर हैं। उनकी याद करते डर होता है। किस मुँह से याद करूँ? उन्हें अपने ही हाथों मैंने हटा कर दूर कर दिया है, अपने ही हाथों मैंने अपना अभाग्य बनाया है।"[२२] 'व्यतीत' में जयंत के परिचय में भी कम पकड़ नहीं : "पैंतालीस तो कोई अवस्था होती नहीं। इस वय में बीत कर रह जाने का क्या मतलब है। लेकिन कुछ करूँ, इस बोध से छुट्टी नही मिलती है कि मैं अब बीते पर ही हूँ, आगे के लिए नहीं हूँ। सोचता हूँ कि यह क्या हो गया।"[२३] इस प्रकार लेखक की प्रत्यक्ष सहायता के बिना ही प्रकट होकर ये पात्र बता देते हैं कि वे अपने भीतर व्यथा का सागर छिपाए हैं।

अपने प्रौढ़ उपन्यासों में पात्रों का प्रवेश कराने के बाद उनका परिचय कराते समय जैनेन्द्र उन पर अपने मत का आरोप भी नहीं करते। पात्र का संक्षिप्त परिचय

---

१९. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १, ६, १५।
२०. वही, पृ० ३, ५।
२१. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १०, १३-१६।
२२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६।
२३. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १।

देने के बाद उसे किसी स्थिति में डालकर अपने आप खुलने देते है। वस्तुजगत् में भी तो ऐसा ही हुआ करता है। नित्यप्रति हमारी नये-नये लोगो से भेट होती है। हर बार तो हमारे बीच कोई तीसरा व्यक्ति आकर परिचय नहीं कराता। हम स्वयं ही धीरे-धीरे अपनी वेश-भूषा और क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक-दूसरे पर खुलते हैं। 'सुखदा' में क्रॉतिकारी लाल का प्रवेश बड़ा सजीव हुआ है। सुखदा के साथ-साथ पाठक भी पहले दूसरे कमरे से हकूमत के लहजे में उसकी आवाज सुनता है--और लगभग साथ ही साथ उसके बूटों की भारी धमक। और शीघ्र उसे कमरे के द्वार पर खड़ा पाता है—'सिर से पैर तक निर्दोष युरोपियन लिबास में।'[२४] पाठक स्वयं आश्चर्यचकित हो जाता है कि यह व्यक्ति कौन है, पर जल्दी ही सुखदा से उसका जो कथोपकथन होता है, उसमें वह धीरे-धीरे खुलता जाता है। 'व्यतीत' के आरम्भ में अनिता के प्रथम परिचय के रूप में पाठक को केवल यही मिलता है कि एकात खोज कर अन्ती (अनिता) आती है और फूलो की माला जयंत (तब तक उसका नाम प्रकट नही होता) के गले में डाल कर कहती है: 'लाओ, मेरा इनाम लाओ।'[२५] यह अन्ती कौन है और इसका जयंत से क्या सम्बन्ध है—पाठक अभी इस बारे में सोच ही रहा होता है कि दोनों में बातचीत शुरू हो जाती है और पाठक उसमें से कुछ पाने के लिए चौकस हो जाता है। पात्रों के प्रथम परिचय की यह शैली अत्यंत सजीव है।

आकृति-वेशभूषा वर्णन

जो लोग समय-समय पर अपना पहनावा वैसा ही रखते रहते है जैसे पहनावे की समाज उनके-से व्यक्ति से आशा रखता है, उनकी वेश-भूषा में व्यक्तित्व की झाँकी पाना उतना कठिन नही होता जितना ऐसे लोगों के पहनावे में जो समाज के वेश-भूषा-सम्बन्धी नियमों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। इसलिए 'सुनीता' के श्रीकान्त ने जब अपने मित्र हरिप्रसन्न को दूर गंगा के किनारे पर भीड़ में हर्ष से आँखें फाड़े खडा देखा और पाया कि 'उसके बड़े-बड़े बाल हैं और वह खद्दर का लम्बा-सा कुरता पहन रहा है,'[२६] तो उसने सोचा क्या वह साधु हो गया है। श्रीकात के साथ ही पाठक भी सोचता है कि या तो यह व्यक्ति साधु हो गया होगा, नही तो फिर यह आदमी निराला ही होगा। क्योंकि इस प्रकार की आकृति वाला आदमी या तो साधु हो सकता है या फिर सनकी। इस प्रकार, उपन्यासकार पात्रों की वेश-भूषा के वर्णन द्वारा उनके चरित्र की झलक दिखा दिया करता है।

२४. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ५९।
२५. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० २।
२६. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ६।

प्रारम्भ में नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्र उपन्यास के रंगमच पर आते समय अपनी पूरी की पूरी पोशाक से लद कर आते थे—और उपन्यासकार रीतिकालीन कवियों की भान्ति सिर से पैर तक के उनके पहनावे का विस्तृत वर्णन कर देता था। भगवतीचरण वर्मा के प्रारम्भिक उपन्यास 'पतन' तक में भी इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।[२७] कदाचित् इस प्रवृत्ति की व्यर्थता को देखकर ही प्रेमचन्द ने कहा था कि 'किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलियानवीसी की जरूरत नहीं। दो चार वाक्यो में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ।'[२८] पर क्या प्रेमचन्द अपने इस सिद्धान्त के पालन में सतर्क स्वय रह सके ? निर्मला के पहले होने वाले पति भुवन-मोहन (बाद के डा० सिन्हा) का प्रथम परिचय कराते हुए वह लिखते हैं : 'बिल्कुल माँ को पडा था। वही गोरा चिट्टा रग। वही पतले-पतले गुलाब की पत्ती के से ओंठ। वही चौड़ा माथा, वही बड़ी-बडी आँखे······ऊँचा कोट, ब्रिजेज़, टाई, बूट, हैट उस पर खूब खिल रहे थे······चाल में जवानी का गरूर था, आँखों में आत्म-गौरव।'[२९] पात्रो की शक्लसूरत के इस प्रकार ब्योरेवार वर्णन की परम्परागत शैली जैनेन्द्र के प्रारम्भिक उपन्यासो में भी मिल जाती है। पर जहाँ कहीं भी इसका प्रयोग हुआ है, सप्रयोजन ही हुआ है। सुनीता में जब श्रीकान्त की हरिप्रसन्न से प्रथम बार भेंट हुई तब उसने देखा कि "हरिप्रसन्न के बडे-बड़े बाल थे। दाढ़ी भी उग रही थी। खद्दर का एक लम्बा कुरता था, गले में चादर, ऊँची धोती और चप्पल"[३०]—और वह विस्मय में डूबा का डूबा खड़ा रह गया। यहाँ लेखक को हरिप्रसन्न की प्रवृत्ति का निरालापन दिखाना अभीष्ट है। इसी प्रकार यह बताने के लिए कि सुनीता की बहन सत्या ने अपनी सज्जा से कभी किसी को चौकाया नहीं, लेखक उसका परिचय यों कराता है : "सादी धोती, सीधी माग, अनबनी बोली, अकृत्रिम व्यवहार—बड़ी उमर तक इन्हीं को यों ही लिये बढ़ती रही है।"[३१]

अधिकांशतः संक्षेप-शैली

जैनेन्द्र के उपन्यासों में ऐसे कुछ एक उदाहरण ही मिलेंगे, जहाँ उन्होंने पात्रों की सिर से पैर तक की हुलियानवीसी की है, पर मूलतः उनकी प्रवृत्ति कम से कम शब्दों में पात्रो को पाठको की कल्पना में साकार करके उनकी तात्कालिक दशा को अभिव्यक्त कर देने की है। कोयले के व्यापारी के साथ रहती हुई 'त्यागपत्र' की नायिका को उसके भतीजे विनोद ने इस वेश में पाया : "देह दुबली थी, मुख पीला

२७. भगवतीचरण वर्मा, 'पतन', पृ० ४३।
२८. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृ० ४८।
२९. प्रेमचन्द्र, 'निर्मला', पृ० २६।
३०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १५।
३१. वही, पृष्ठ १५७।

था। गर्भवती थी। एक धोती में अपनी सब देह ढांके बैठी थी।"[३२] पर वही मृणाल जब परिस्थिति-वश अध्यापिका बन गई थी तब वह उसे इस रूप में मिली : "सफेद, बिना किनारे की धोती थी। बाल ढीले जूड़े में बँधे थे। आँखो की स्निग्धता विशेपता से निगाह को आकृष्ट करती थी। देह इकहरी और वशीभूत।"[३३] उसके वेश से ही विनोद दोनों बार उसकी स्थिति को समझ गया। 'व्यतीत' के नायक जयन्त से निराश चन्द्री "उससे कुछ इंच पर सिर औधा किए पडी थी। कपड़ा हट आया था, बाल बिखर आए थे—बाहें जैसे जयन्त की ओर बढ़ते-बढ़ते आपस में मिलकर उधर ही झिझकी रह गई थीं। शरीर मानो समूचा ही हिचकियाँ ले रहा था।"[३४] चन्द्री की इस करुण मूर्ति से उसकी आन्तरिक व्यथा फूटी पड़ती है। प्रार्थना से उठी सद्य स्नाता 'विवर्त' की नायिका भुवनमोहिनी की शुचिशांत मन:स्थिति उसके इस वेश में भी झलक पड़ती है : 'बाल खुले थे। शरीर पर साड़ी के अतिरिक्त सिर्फ मामूली अँगिया पहने थी। आभूषण का चिह्न न था।'[३५] 'जयवर्धन' के मनस्वी आचार्य का व्यक्तित्व उनकी इस मूर्ति तक में प्रतिबिम्बित हो उठता है : "पैंसठ वर्ष के जैसे कोई युवा पुरुष समक्ष हों; चेहरे पर शान्ति, शरीर सुता हुआ और संयत बदन पर सिर्फ एक उपरना पड़ा था और घुटने तक की धोती पहने थे।"[३६]

चलचित्र का सा सजीव चित्रण

जैनेन्द्रजी के कुछ एक वर्णनों में तो चल-चित्र की सी सजीवता मिलती है। समूची सज्जा का उल्लेख न करके वह केवल आवश्यक परिवर्तनों की ओर ही ध्यान खीचते चले जाते हैं। सुनीता ऊँचे स्टूल पर खड़ी होकर अपने स्टडी रूम की छत के जाले झाड़ू से साफ कर रही होती है। उसके "सिर पर से साड़ी हट जाती है। एक आध तिनका-जाला बालों में उलझ गया है। किसी राग का भूला सा पद गुनगुना रही है।'[३७] बुहारी को बॉस में लगाकर वह मकड़ियो के जाले में मार रही है, झाड़ू छोड़कर वह स्टूल से उतरी। "उतरते-उतरते साड़ी का छूटा पल्ला स्टूल की एक कील में उलझ गया। उसने ज़ोर से खींच कर वह पल्ला छुड़ा लिया, जिसमें साड़ी जरा फट भी गई। एक फैंट देकर उसे कमर में कस लिया।"[३८] श्रीकान्त के साथ किसी और को भी आते पाकर "वह जल्दी में इतना ही कर सकी कि झाड़ू बंधे बॉस को

३२. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ ५० ।
३३. वही, पृष्ठ ८२ ।
३४. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ १४५ ।
३५. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ २०६ ।
३६. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृष्ठ ३२ ।
३७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ २२ ।
३८. वही, पृष्ठ २३ ।

कोने में टिका दे।' नीची निगाह चलते हुए हरिप्रसन्न की टाँग में जब कुर्सी लगी और वह उस पर बैठ गया तब इतने में सुनीता ने "धोती की फैंट खोल ली और सिर पर पल्ला ले लिया।"[३९] सुनीता के इस बदलते वेश की चलती-फिल्म दिखाकर लेखक मानो उसकी मनोझाँकी दिखा रहा हो—कैसे उस की निश्चिन्तता धीरे-धीरे हड़बड़ाहट में बदलती गई।

साँकेतिक चित्रण

जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जहाँ वे किसी समय-विशेष की पात्र की आकृति-वेशभूषा का चित्रण एक साथ न करके उसे साँकेतिक शैली में दूर-दूर तक बिखेर देते हैं। ऐसे किसी एक स्थल पर का वर्णन केवल अधूरी झाँकी ही देता है। उन स्थलों को मिलाकर ही झाँकी पूरी हो पाती है। उस अविस्मरणीय रात्रि में सुनीता जब हरिप्रसन्न के साथ चलने को हुई तो उसकी उस समय की वेश-भूषा का उसकी और हरिप्रसन्न की बातचीत में ही संकेत मिलता है :

> "हरिप्रसन्न की आवाज सुनते ही सुनीता उठ खड़ी हुई।
>
> बोली, 'चलूँ ? अच्छा चलती हूँ।'
>
> हरिप्रसन्न ने कहा, 'भाभी, ऐसे चलोगी। कपड़े तो बदल लो।'
>
> भाभी ने पूछा, 'ऐसे नही चलूँ ? कपड़े बदल लूँ ?'
>
> हरिप्रसन्न ने कुछ विस्मित स्वर में कहा, 'ऐसे कपड़े पहन कर क्यों चलोगी भाभी, जो रोज के पहनने के हैं। आज का दिन और दिन है। वह अपने में अलग है। वह हर दिन जैसा नहीं है। आज के इस दिन को साधारण मत बनाओ, भाभी! इसलिए और वस्त्र पहनो। भाभी, वह पहनो जो अच्छे से अच्छे हों।'
>
> 'रेशमी ?'
>
> 'हाँ, कम से कम रेशमी।'
>
> सुनीता ने शान्त भाव से कहा, 'अच्छी बात है।'[४०]

कुछ देर बाद सुनीता जब उसके सामने आई, तब वह देख कर एकदम दंग रह गया : "क्या उसने कल्पना में भी वह रूप पाया है, जो अब सामने है ? वस्त्र क्या व्यक्ति में इतनी प्रभा डाल सकते हैं ? सुनीता की इस मूर्ति को देखकर वह मन में सहमा-सा रह गया।"[४१] यहाँ लेखक केवल व्यंजना द्वारा पाठक के मन में सुनीता की सुन्दर मूर्ति उभार देता है। सुनीता उस समय क्या कुछ पहने हुई थी, इसका पाठक को कुछ पता नही चलता। पर रात के सन्नाटे में सुनीता जब एक-एक करके

---

३९. वही, पृष्ठ २४।
४०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १७१।
४१. वही, पृष्ठ १७१।

अपने सभी वस्त्र हरिप्रसन्न के सामने उतार कर फेंकती जाती है, तब पाठक देखता है कि वह उस रात साड़ी पहने थी। उस साड़ी के नीचे जम्पर था और उस जम्पर के नीचे थी बाडी।[४२]

इसी प्रकार, प्रथम भेंट में ही जब क्रान्तिकारी लाल 'एक हाथ से ठोड़ी से सुखदा का चेहरा ऊपर उठा कर कहता है, 'यू आर रीयली ग्रेन्ड, सुखदा'[४३] तो पाठक पर भी सुखदा की तत्कालीन छवि की धाक बैठ जाती है, पर वह यह समझ नही पाता कि आज सुखदा में ऐसी क्या विशेष बात है। पहले तो कोई क्रान्तिकारी उस पर इस प्रकार मुग्ध न हुआ था। उस पर यह भेद तभी खुलता है जब वह सुखदा को अपने घर दर्पण के आगे खड़ी देखता है और वह यह स्वीकार कर लेती है कि उस दिन हरिदा की ओर जाते हुए उसने हल्का-सा 'मेक अप' किया था।[४४]

सफल एकांगी चित्रण

इतना ही नहीं, जैनेन्द्रजी तो एक कदम और आगे बढ़कर अपने उपन्यास के 'टेलीविजन' में पात्रों के उन्ही अंगोपांगों को दिखाते है, जो पाठको के मन में वे भाव उभार सकने के लिए पर्याप्त हों जिन्हें वे जाग्रत करना चाहते है। उपन्यास-जगत् में तो खैर पाठक को लेखक पर ही निर्भर करना पड़ता है, पात्रो का पूरा आदमकद चित्र देखना चाहने पर भी वह नही देख पाता और उसे उतना ही ग्रहण करके रह जाना पड़ता है जितने पर लेखक अपना कैमरा 'फोकस' करता है। पर वस्तु-जगत् में भी सामने के व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग को देखने की सुविधा रहने पर भी बहुधा हम उसे सिर से पैर तक नही देख पाते हैं। समय की कमी या आन्तरिक हड़बड़ाहट के कारण, या फिर औचित्य की दृष्टि से कुछ एक अंगों पर ही हम अपनी दृष्टि टिकाये रहते हैं। यही बात औपन्यासिक पात्रों के लिए भी स्वाभाविक हो सकती है। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न को ही ले। एक तो वह श्रीकान्त के घर में पहली बार आया है और उसे आये अभी कुछ-एक घण्टे ही हुए है। दूसरे "अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ" स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नही पड़ पाया। ऐसा हरिप्रसन्न भोजन पाने के लिए नीचे गर्दन झुकाये चौके में बैठा हो और परोसने वाली हो सुनीता— तो क्या उससे आशा रखी जा सकती है कि वह उस "अनिन्द्य यौवना"[४५] की छवि आँखो में भर सकेगा। "जरा थाली आगे कीजिए" सुनीता की आवाज को सुनकर सहसा लज्जित-सा होकर उसने सामने को देखा तो पाया कि 'एक बांह, गोरी-गोरी

---

४२. वही, पृष्ठ १८१।

४३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ६२।

४४. जैनेन्द्र, 'सुखदा' पृष्ठ ६६।

४५. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ३।

बाँह, देर से एक कटोरी थामे ठहरी है।"[४६] तभी पाठक को भी ज्ञात हुआ कि सुनीता की बाहें गोरी-गोरी थीं। हरिप्रसन्न को जब पता लगा कि श्रीकान्त के यहाँ कोई नौकर नही और सुनीता को ही सब काम अपने हाथ से करना पडता है तो वह एकदम गर्म हो गया : "—पत्नी दासी नहीं है।"[४७] तभी उसकी गम्भीर मुद्रा और बहस करने में तत्परता देख श्रीकान्त ने कहा कि "यह शिकायत तो तुम उन्ही से करना" पर "अब यह गले से दुपट्टा उतारो', गर्म न रहो और ठीक से बैठो।"[४८] तभी पाठक हरिप्रसन्न के गले में अभी तक पड़ा दुपट्टा देख पाता है, पर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सिनेमा जाने के लिए तैयारी करते समय सुनीता ने 'धानी रेशमी साड़ी पहनी और वह दर्पण के सामने गई।' दर्पण में से उसकी झलक मिल सकती थी—'उसने चोटी ठीक कर ली, माथे पर बिन्दी बैठा ली और चेहरे को एक निगाह ठीक देख कर पास कर लिया।'[४९] आवेश में आकर पूरी रफ़्तार से कार चलाती हुई 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी के 'माथे के आगे से और गर्दन के पीछे लटकती लहराती उसकी थिरकती लटें और कन्धे पर से रह-रह कर फरफराहट से फहराती उसकी साड़ी की परतें[५०] क्या उसे मोहिनी बनाने में पर्याप्त नहीं। 'व्यतीत' का नायक जयन्त चन्द्री के साथ टैक्सी में न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। जहाँ भी वे पहुँचते, वे दो ही रहते। शेष, सब लोग, सब चीज़ें जैसे उन्हें दृश्य बन जाते। अनुभूति का एक क्षण जो जयन्त के लिए अमर बनकर त्रिकालजयी हो गया, वह यह था कि—'चन्द्री की उंगलियाँ मेरे (जयन्त के) हाथों में थी···बारीक-बारीक वे उंगलिया।'[५१] जब नायिका की पतली-पतली उंगलियाँ ही नायक की अनुभूति को अमरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त हों तो उसे नायिका के अन्य अंग-प्रत्यंगों को देखने तक की भी फुर्सत कहाँ होगी।

इम्प्रेशनिज्म

कई बार हम किसी को देखते हुए भी नही देख पाते। व्यक्ति हमारे सामने है, हम उसे देख भी रहे होते हैं; पर मन न जाने कहाँ होता है कि पूरी तरह देख नहीं पाते, पर जो कुछ भी देख पाते हैं, उसमें क्या उस व्यक्ति की झलक के अतिरिक्त हमारी अपनी मनःस्थिति प्रतिबिम्बित नहा होती। सुनीता जब दर्पण के सामने चेहरे को सही करके लौटी तो अचानक हरिप्रसन्न से उसका सामना हुआ। हरिप्रसन्न

४६. जैनेन्द्र, 'सुनीता' पृष्ठ ३५।
४७. वही, पृष्ठ ३१।
४८. वही, पृष्ठ ३१।
४९. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ४४।
५०. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ १०।
५१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ७८।

पर उसकी छवि का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह मंत्रमुग्ध रह गया : 'उस समय रेशमी साडी की धानी आभा ही कापती हुई झलमल-झलमल उसकी आँखों में रह गई और उसके कानों में साडी की तरल पर्तो को छूकर जाती हुई समीर की सरसराहट भरने लगी।'[५२] न चोटी दीखी और न माथे पर की बिन्दी। हरीश दादा के मकान पर जिस स्थिति में सुखदा की भेंट क्रातिकारी लाल से हुई थी, उसमें असमंजस में पड़ी वह उड़ती निगाह से यही देख सकी कि सिर से पैर तक 'यूरोपियन लिबास' में एक भरे पूरे शरीर का स्वरूपवान पुरुष[५३] उसके सामने खड़ा है। स्थिति सुलझने से पहले वह इससे अधिक न देख सकी थी। अपनी अँधेरी कोठरी में मिलने आई अनिता को लौटते समय 'व्यतीत' का नायक जयंत उसे डगडग लेकर दहलीज के बाहर छोड आया और स्वयं दरवाजे में से उसे जाते हुए देखता रहा। पर वह जो देख सका वह केवल यही था : 'नहीं, वह फूटी नही। मुँह को हाथो में नही लिया। सीधी चाल से सिर ऊँचा किए चलती चली गई।'[५४] लौटती हुई अनिता के किसी अंग या वस्त्र विशेष पर जयत की दृष्टि नही टिकी। वह उस समूची को ही आँखो में भरता रहा और वह अनिता उसे कभी भूल न पाई। इस प्रकार के स्थलों पर लेखक 'फोटोग्राफिक' शैली की बारीकियो में न पड़ कर 'इम्प्रैशनिज्म' को ही अपनाता है।

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति में पड़ते ही व्यक्ति की प्रतिक्रिया एकदम प्रकट नहीं हो जाया करती। ज्यो-ज्यों और जिस-जिस रूप में वह उससे प्रभावित होता जाता है, त्यों-त्यों और उसी रूप में उसकी मनोदशा भी बदलती जाती है। स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले व्यक्ति के अग-प्रत्यंगों में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, उनमें व्यक्ति की बदलती हुई मनःस्थिति प्रतिबिम्बित हो उठती है।[५५] व्यक्ति को समझने के लिए इन बाह्य शारीरिक परिवर्तनों पर आँख रखना उतना ही आवश्यक हो जाता है, जितना उसकी प्रतिक्रिया को जानना।

औपन्यासिक पात्रों पर भी यह बात समान रूप से लागू होती है—जैनेन्द्र जी के पात्रो पर तो विशेष रूप से, क्योंकि उनके पात्र हम और आपकी तरह डेढ़-डेढ़, दो-दो मन के नही। वे हम से कम मांसल और अधिक मानसिक हैं।[५६] उनके

---

५२. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ४६।

५३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ५६।

५४. जैनेन्द्र, 'व्यतीत'. पृष्ठ १८।

५५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 239.
Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 485.

५६. जैनेन्द्र कुमार; "उपन्यास में वास्तविकता", 'वीणा', दिसम्बर १९४१।

अधिकाँश पात्र बहिर्मुख न होकर अंतर्मुख हैं और यही कारण है कि जैनेन्द्र जी के उपन्यासों तक पहुँचने पर हिन्दी-उपन्यास के पाठक को पहली बार ऐसा लगता है कि उसका पाला ऐसे पात्रो से पड़ रहा है जो अपने अतस्तल में कही गहरे बहुत कुछ छिपाये हुए हैं, पर उसे पाने के लिए उसे उन पात्रों के नही अपने मन की गहराइयों को मापना होगा। यहाँ आकर उसे ऐसा लगता है कि वह चला तो था पात्रों को परखने, पर परखा स्वयं ही जा रहा है। जैनेन्द्रजी के पात्रों के अन्दर ही अन्दर खिचड़ी पकती रहती है। उनमें प्रतिक्रियात्मक उबाल तो बहुत ही कम आता है। उनके मन में घटनाएँ घटित होती हैं और मन में ही उनकी प्रतिक्रिया होकर रह जाती है, बाहर उसकी भाप तक भी नही आती। तो भी यदा-कदा आंतरिक भाव जोर मार कर उनके अंगप्रत्यंगों में एक रेखा खींच जाते हैं जो एकाध क्षण से अधिक नहीं टिक पाती। यदि उस क्षण यह रेखा पकड़ में आ गई तो पात्रो की मन:स्थिति का कुछ अनुमान लग गया, नही तो उनकी रहस्यमयता उन्ही में समा गई। इसलिए इनके पात्रों को समझने में उनके अनुभावों का अध्ययन काफी सहायता देता है।

तात्क्षणिक मनोदशा का चित्रण

'सुनीता' का हरिप्रसन्न सत्या को पढ़ाने का जिम्मा लेने से कतराता था। वह विचार में डूबा बैठा था कि सत्या चुपचाप उसके पास आ गई और बंधे हुए स्वर में बोली--'मुझे जीजी ने भेजा है—पढ़ने के लिए भेजा है।' सुनकर हरिप्रसन्न इतना घबराया कि 'जल्दी-जल्दी हाथ की उँगलियाँ आपस में मलने लगा।'[५७] जिस रात सुनीता को हरिप्रसन्न के साथ जाना था उस साँझ सत्या उसके पास थी, जब किसी बहाने भी वह उसे न टाल सकी तो उसे कहना पड़ा कि वह सिनेमा देखने नही, और कहीं जा रही है। तब ज्यों ही सत्या ने सहानुभूतिपूर्ण उच्छ्वास में पूछा—'जीजी, कहाँ जा रही हो', 'सुनीता की आँखों में एक-एक मोती बन आया।'[५८] और उसने कहा—'सत्या मेरी बहन, तू रहने दे। मैं क्या बताऊँ कि कहाँ जा रही हूँ।' सुनीता के इन शब्दों से अधिक उसकी विवशता का हाल उसके आँसू बताते है।

इसी प्रकार, उस रात जब श्रीकांत घर पहुँचा तो उसने देखा कि जीने में बाहर बड़ा ताला पड़ा है। उसकी समझ में कुछ नही आया। एक-दो मिनट वह वहीं खड़ा रहा फिर 'दायें हाथ से सिर को खुजलाता हुआ[५९] लौट पड़ा, मानो उसके सिर पर जोर से चोट पड़ी हो और वह उस चोट के स्थल को खुजला रहा हो।' श्रीकांत के इस प्रकार दाएँ हाथ से सिर को खुजलाने की ओर यदि ध्यान न रहे तो सुनीता

५७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १०६।
५८. वही, पृष्ठ १६१।
५९. वही, पृष्ठ १७०।

और हरिप्रसन्न के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति उसकी अनुदारता उपन्यास भर में और कही भी नही मिल सकेगी। कल्याणी ने वकील साहब के घर आकर भी जब अपने मरने की बात छेडी तो उन्होने कहा कि वह इस तरह की बात सुनना नही चाहते। तब कल्याणी का चेहरा गिर गया और वह धीमे से बोली—'आप मेरा विश्वास नही करते। अच्छा—' यह 'अच्छा' उसने इतने उच्छ्वसित भाव से कहा कि वकील साहब उसके लिए तैयार नहीं थे।'[६०] और इस उच्छ्वास में ही मानो उसकी व्यथा को थोड़ा बहुत मार्ग मिला। 'व्यतीत' के नायक जयंत ने जब श्रीमती कपिला के काम-काजी साधारण और अनलंकृत हाथों को अपने होठों से छुआ कर कहा—'तुमार आशीश चाई' तब वह न जाने कैसी सघन अनुभूतियों से भर गई कि 'उसकी बरोनियाँ फैल आईं, देह जैसे कंटकित हो उठी हो। साधारणता चेहरे पर से लुप्त हो गई और वहाँ दिव्यता आ छिपी।'[६१] क्षण भर ही वह इस भाव में विभोर दीखी और क्षण बीतते 'यहाँ से वहाँ तक उस पर डर लिख आया।' कहीं वह पहला क्षण उपेक्षा में निकल जाए तो कपिला के चेहरे पर भय की रेखा ही दीखेगी और जयंत के प्रति उसकी भावना को समझ सकना कठिन हो जाएगा।

इसी प्रकार, सिनेमा हाल में बैठे-बैठे राना और मीरा के चरित्र पर हो रही चर्चा के बीच जब सुनीता ने मीरा का पक्ष लेकर कहा—'मैं तो राना के साथ रो ही सकती हूँ। पर मीरा के साथ भी मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूं—' तो श्रीकात ने सुनीता के हाथ को अपने हाथ में लेकर भावावेग में कहा—'सुनीता।' तभी सुनीता ने क्षमा माँग ली। श्रीकांत ने फिर इतना ही कहा—सुनीता। और धीमे से अपनी गोद में से उठाकर उसका हाथ उसी की गोद में रख दिया।[६२] श्रीकात द्वारा सुनीता के हाथ को अपने हाथ में लेने और फिर उसे उसी की गोद में धीमे से रख देने में उसके तत्कालीन मनोभाव अभिव्यक्ति पा जाते हैं। ट्रेन उलटने के बाद 'विवर्त्त' का क्रान्तिकारी जितेन जब भुवनमोहिनी के यहाँ आ गया तो अखबार पढ़ते-पढ़ते उसके मन में जो खलबली मची, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह 'ज़ोर-ज़ोर से सिगरेट के कश खींचता हुआ कमरे में टहलने लगा—और अलमारी के शीशे के सामने जाकर अपने को पूरी तरह देखने लगा।'[६३] लगभग इसी तरह के अनुभाव त्यागपत्र में मृणाल का पत्र पाकर सुशीला के भाई[६४] तथा सुखदा से प्रथम भेंट के समय क्रान्तिकारी लाल[६५] के प्रकट हुए थे।

---

६०. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४५।

६१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत'. पृष्ठ १५६।

६२. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ५६।

६३. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ २३।

६४. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ २३।

६५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ५९।

मुख-इंगित (फेशियल एक्स्प्रेशन्ज)

ऐसे अवसर बहुत ही कम आते हैं—जब जैनेन्द्र जी के औपन्यासिक पात्रों के मनोवेग उनके हृदय के ज्वालामुखी को फोड़कर धमाके के साथ निकल पड़ें। ऐसा तभी हो पाता है जबकि पात्रों के भरसक रोकने पर भी उनके मनोवेग बरबस उमड़ पड़ते हैं। तो भी पात्र समूचे नही उबल पडते, बल्कि शीघ्र ही वे प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। उनमें प्रतिक्रियात्मक विस्फोट तो क्षण भर के लिए होता है पर उसको नियन्त्रण में लाने के लिए पात्र को जो जोर लगाना पड़ता है, वह कुछ क्षण के लिए उसके चेहरे पर आंतरिक सघर्ष की छाया छोड़ जाता है, जिसे देखने से पात्र के भीतर का थोड़ा-बहुत हाल ज्ञात हो जाता है। वकील साहब से कल्याणी के पति डा० असरानी जब कल्याणी द्वारा अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करके पूजा-पाठ में लगे रहने की बात बढ़-चढ़ कर करते रहे ; तो पहले तो वह सब सुनती रही, निगाह को मेज पर उसी तरह एक-टक बाँधे अचल भाव से बैठी रही। पर जब वह बन्द नहीं हुए तो कल्याणी एकदम फूट पड़ी—'बस हुआ। अब आप चुप रहिये', बड़े ज़ोर से ये शब्द कहकर वह 'काँप आई।' अपना उद्वेग उससे नही सँभल सका। "क्या चाहते हैं आप ? यह कि मैं मर जाऊँ ?" कहते-कहते उसके "होंठ काँप कर नीले पड़ गये।"[६६] उन दोनों के लिए यह अप्रत्याशित था पर इससे उन पर जो प्रकट हुआ, उससे वे गुम-सुम, स्तब्ध भाव से देखते और सुनते रह गए। उसकी वाणी कुछ और तीखी हो गई और वह पति की ओर देखकर बोली—"तुम साफ-साफ यह क्यों नही कह देते हो कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल करके जलाना चाहते हो—सो वह हो तो रहा है।—अच्छा तो मैं अभी अपनी सब मूर्तियाँ तोड़ देती हूँ," यह कहकर ज्यों ही वह झपट कर चल पड़ने को हुई कि वकील साहब ने उसे रोक दिया और "वह क्षण भर उसे देखती की देखती रह गई"[६७] और फिर सहसा धप से अपनी कुर्सी में गिर गई। कुछ देर शून्य में निगाह गाड़े देखती रही और फिर उच्छ्वास के साथ बोली—"मैं क्या···"यह कहते-कहते मुँह हाथों से ढक कर फफक-फफक कर रोने लगी।"[६८] इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक विस्फोट को देखने पर भले ही कल्याणी एक बाघिन प्रतीत हो, पर उसके अनुभाव से विश्वास हो जाता है कि वह बाघिन नहीं, बिंधी हिरणी है, बिंध कर ही मानो बाघिन बन उठी हो।[६९]

क्रांतिकारी गंगासिह के प्रति सुखदा की सहानुभूति जब एक-दम अपने पति के प्रति घृणा के रूप में फूट पड़ी और वह अपना संतुलन खोकर पति को भला-बुरा कह बैठी तो उसे स्वयं ही अपने से डर लग आया। उसके मन में पति के प्रति ऐसा विद्वेष पैदा हो रहा था, कि वह स्वयं उससे सहम गई और गुस्से से फफकती हुई

६६. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४३।
६७. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४४।
६८. वही, पृष्ठ ४४।
६९. वही, पृष्ठ ४४।

कमरे से बाहर निकल गई। [७०] 'व्यतीत' की चन्द्री को लेकर जयंत गया तो कश्मीर 'हनीमून' के लिए था, पर अंतिम दिन तक भी वह अपने को उसे न सौंप सका; बल्कि लौटने से पहली रात वह उसे डेरे में सोई छोड़ स्वयं बाहर चाँदनी में निकल गया। जब वह चुपचाप लौटा तो चन्द्री ने उसे आवाज़ दी। जयंत ने उसे आश्चर्य से देखा और कहा कि वह उठ क्यों गई, सो जाए। सुनकर चन्द्री ने "दो-एक क्षण उसे देखा। कैसी निगाह थी। फिर एकाएक लिहाफ कंबल एक ओर फैंक कर वह खड़ी हो गई —आँखो में कड़कती बिजली, बदन तना जैसे कमान। [७१] जयत ने धीमे से कहा—"चन्द्री सर्दी लग जाएगी।" तभी चन्द्री ने दाँत मिसमिसा कर झटके से तन के तनिक से अन्तिम वस्त्र को भी उतार कर उसके मुँह पर जोर से फैंका। वस्त्र को जल्दी से हाथो में रोक जयंत ने आगे बढ़कर चन्द्री को हाथों में उठाया और हठात् बिस्तर में दुबका दिया। लगा था, प्रतिरोध वह करेगी। प्रतिरोध उसने किया भी, किन्तु जैसे रहने को नहीं, मिटने को वह हुआ था। और फिर बिस्तर में वह शान्त हो गई। [७२] कामदेव के शर से बिंधी इस नवविवाहिता के मनोभाव उसकी प्रतिक्रिया में इतने प्रतिबिम्बित नहीं मिल सकते, जितने उसके चेहरे पर लिखे मिलेंगे।

बनावटी मुख-इंगित

जैनेन्द्र जी के पात्रों को समझना तब और भी कठिन हो जाता है जब वे आंतरिक भावो को दबाकर चेहरे पर सायास विपरीत भाव ले आने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी आधे क्षण के लिए ही सही, असली भाव बरबस उनके चेहरे पर झलक मार जाता है और यदि उस क्षण उनके चेहरे की ओर ध्यान न रहे तो उनको समझने में भूल होने की सम्भावना रहती है। वकील साहब के घर से लौटते समय मोटर चलाते-चलाते कल्याणी हँसकर कह रही थी कि उसकी सारी व्यस्तता एक प्रपंच है। पर जब वह हँसती हुई यह कह रही थी, उसकी 'निगाह में कातरता की झलक दीख आई थी', पर पलक बीतते हठात् दीखावह मुस्करा भी रही थी। [७३] इसी प्रकार, जब बेतहाशा हँसते-हँसते आँखों में आँसू भरकर कल्याणी अपनी कहानी सुना रही थी कि जब वह कुछ दिन गायब हो गई तो किस प्रकार उसके पति डा० भटनागर के घर उससे लड़ने चले गये थे, तो कभी-कभी सहसा यह आभास मिल जाता था कि "उसके भीतर हँसी से दारुण कुछ और है।" [७४] इसी

७०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ २७।
७१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ११२।
७२. वही, पृष्ठ ११३।
७३. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ३८।
७४. वही, पृष्ठ २६।

प्रकार, 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी ने जितेन की ओर से पुलिस अफसर चड्ढा का ध्यान हटाने के लिए जब उसे अपने यहाँ निमन्त्रित किया तो उसके साथ हुई बातचीत में वह अपने आंतरिक भावों को चेहरे पर न प्रकट होने देकर उसके विपरीत भावों का आरोप करती रही। एक बार "क्षण के लिए वह भीतर से विचलित हुई पर सँभल गई।" दूसरी बार, "उसके हँसते हुए चेहरे पर तीक्ष्ण व्यंग का भाव"[७५] चड्ढा को दीखा। चड्ढा आंतरिक संदेह के पक्का हो जाने पर भी उस भाव को चेहरे पर आने से सफलतापूर्वक बचा गया।[७६] ऐसे स्थलों पर लगता है कि पात्र भीतर से कुछ और हैं। "एक चेहरा है जिसे ओढ लेने से काम बनने में मदद मिलती है, एक रग जो वास्तविकता को अन्यथा दिखा सके। चमक ऊपरी है, भीतर जाने क्या है।"[७७]

इस प्रकार देखते हैं कि जैनेन्द्र जी के पात्र जो कुछ भी थोड़ा-बहुत समझे जा सकते है, उसका काफी श्रेय उन पात्रों के चेहरों पर खिच जाने वाली भाव की रेखा को है—वह रेखा भले ही क्षण भर से अधिक न टिके पर वह पात्रों के मन का भेद खोल जाती हैं। जैनेन्द्र जी के पात्र भी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। शिमला के स्टेशन पर ट्रेन के चलते समय हाथ जोड़े विदा देती चन्द्री का चेहरा 'विवर्त्त' के नायक जयंत के ध्यान से जल्दी नही उतरा। यह आकर्षण चन्द्री के चेहरे के सौंदर्य का इतना नही था, जितना कि उस चेहरे पर खिंची भाव-रेखा का था। उस समय जयंत के शब्दो में जैनेन्द्र इस तथ्य को और स्पष्टता देते हुए लिखते हैं: "उमर पर चेहरे सभी सुन्दर होते हैं। लेकिन फिर भी कोई याद रह जाता है। शायद याद क्षण रहता है। क्षण ही आकृति के सौदर्य को भाव का सौदर्य दे जाता हैं। आकृति शरीर के साथ चली जाती है, लेकिन जो शरीर में है नही, सिर्फ भाव को दर्शाने के लिए रूप में रेखा ले उठी है, वह सहज ही कैसे चली जा सकती है? वह मन पर ठहर जाती है और धोना मुश्किल हो जाता है।"[७८]

अन्तर्द्वन्द्व

नियतिवादी पात्र

द्वन्द्व पात्रों के भीतर और बाहर दोनों ही हो सकता है—अन्दर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में और बाहर दूसरे पात्रों से, समाज से या भाग्य आदि अति-मानवी शक्तियों से। जैसा कि हम देख चुके हैं, जैनेन्द्र जी के पात्र मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। भाग्य से होड़ लेकर अपना पुरुषार्थ दिखाने की लगन उनमें है

७५. जैनेन्द्र, 'विवर्त', १३४-१३५।
७६. वही, पृष्ठ ३२।
७७. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ३९।
७८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ६८।

नहीं ; उल्टे, वे तो नियतिवादी है । स्थिति को उसके यथातथ्य रूप में वे ननु-नच किये बिना स्वीकार कर लेते हैं । 'त्यागपत्र' की नायिका को जब उसके पति ने स्वयं यह कह कर छोड़ दिया कि वह उसका पति नहीं है, तब वह सच्ची पतिव्रता नारी के नाते उस पर अपना भार नहीं डाले रहती ; "पति मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया ।"[७९] परख की कट्टो के शब्दों में पात्र जब यह मान लें कि "अनहोनी घट नहीं सकती, होनी टल नहीं सकती । जो हो गया, हो गया । उसे मिटाना अब बस से बाहर की बात है"[८०] तो वे बाह्य संघर्ष के प्रति उन्मुख हो कैसे सकते हैं ? जैनेन्द्र जी के सभी पात्र नियति के बहाव में बहते हैं । श्रीकांत की चिट्ठी पर सोचती हुई सुनीता भी यही स्थिर करती है : "मुझे स्वयं कुछ नही रहना है नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म, बिसार देना है ।"[८१] सुखदा भी 'विधि के दुर्लेख'[८२] को अपनी आँखों के सामने देखती है, और मानती है कि "जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त निर्णय समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति है ।"[८३] "जो व्यक्ति है, वह वही नहीं है । पापी, पापी नहीं है; पुण्यात्मा पुण्यात्मा नही है ; चोर, चोर नहीं है; डाकू, डाकू नहीं है तथा वेश्या, वेश्या नहीं है । सब वे हैं जो उन्हें होना बदा है । यह न मान लिया जाये कि यह कह कर मैं अपने को क्षमा करती हूँ । आशय यही है कि किसी के लिए किसी को दोष मैं दे नही पाती ।" 'विवर्त्त' की मोहिनी भी जितेन को ढाढ़स बँधाती हुई कहती है : "घबराओ नहीं । जो हुआ हो गया । होनहार कब टला है ।"[८४] 'व्यतीत' का नायक जयंत भी भाग्य के हाथों लाचार है : "एकाएक जगह छोड़ने का निश्चय कैसे बन गया, क्यों बन कर डिग न सका, आज भी मैं जानता नहीं हूँ । सिवा इसके कि अभाग्य साथ चलता है, और क्या कहूँ ।"[८५] यही शिकायत 'जयवर्धन' के पात्रों को है । एक ओर आचार्य कहते हैं "दड भी ईश्वर का है, जयवर्धन बेचारे का नही है, इसी से मैं उसे अपनाये हुए हूँ... ईश्वर से तो लड़ाई चल नही सकती, भई ।"[८६] दूसरी ओर विल्बर हूस्टन के आश्चर्य प्रकट करने पर कि क्या जयवर्धन भाग्यवादी हो सकता है, जयवर्धन कहता है : "मैंने कभी नही पाया, विल्बर, कि कुछ मेरे वश का है, तिनका तक उसके हिलाए हिलता है ।"[८७]

७९. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ ६२, 'कल्याणी' ?
८०. जैनेन्द्र, 'परख', पृष्ठ १०३ ।
८१. जैनेन्द्र, 'सुनीता' पृष्ठ १४४ ।
८२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ६ ।
८३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ १८ ।
८४. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ २६ ।
८५. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ४० ।
८६. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृष्ठ ३४ ।
८७. वही, पृष्ठ ११२ ।

ऐसी स्थिति में अपने बाहर जूझने के लिए, संघर्ष-निरत होने के लिए, जैनेन्द्र जी के पात्रों को कुछ रहता ही नही। बाह्य सघर्ष के कारण होते हुए, भी वे उनके प्रति आंख मूद लेते हैं, उदासीन हो जाते है।

सामाजिक संघर्ष का अभाव

शेष रही, समाज से संघर्ष की बात। जैनेन्द्र जी के पात्र समाज में रहते हुए भी उससे कटे हुए से अलग दिखाई देते हैं। समाज के नाम पर उनका वास्ता पड़ता है पति या पत्नी के किसी मित्र या प्रेमी से। जैनेन्द्र जी की नायिकाओं के प्रेमी और पति एक न होकर अलग-अलग दो पुरुष होते हैं। जिनसे उनका प्रेम हो जाता है, उनसे विवाह नहीं हो पाता और जिन से विवाह हो जाता है उन्हें वे मनसा-वाचा कर्मणा समर्पित नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का घोर संघर्ष उनमें हो सकता था। यदि कोई और पात्र होता तो ऐसी अपवाद-जनक स्थिति में या तो अपने जीवन-साथी को मार देता या स्वयं मर जाता, नहीं तो पागलखाने में जरूर होता।[८८] पर जैनेन्द्र जी के पात्रों के साथ ऐसा कुछ भी नहीं होता। और तो और, इस विषय पर उनके चेतन मन में विशेष संघर्ष भी नहीं छिड़ता, क्योंकि वे स्थिति को साधारण मानते हुए उससे मानसिक संतुलन बैठा लेते हैं। वास्तविकता प्रकट होने पर पति उदार हो जाते हैं और 'विवर्त्त' के नायक नरेश की तरह पत्नी को ढाढ़स बँधाते हुए कहते हैं: 'मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सब को है। तुम्हारा, मेरा, उसका, सब का'[८९] और उसका मार्ग प्रशस्त करते हुए कहते हैं: 'अगर मैं सौ फीसदी तुम्हारा हूँ, तो एक फीसदी भी मुझे अतिरिक्त गिनती में न लोगी।'[९०] सुनीता को श्रीकांत ने भी तो अपनी चिट्ठी में यही बात लिखी थी: 'सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको गलत नहीं समझ सकता। तब तुम से मैं चाहता हूँ कि······मेरे खयाल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना।'[९१] सुखदा के पति का भी तो उसे यही कहना था: 'मेरी अपेक्षा तुम्हें तनिक भी इधर से उधर करने की नहीं है। तुम को न रहने

---

८८. Andre Tridon, 'Psycho-Analysis and Love', Perma Books Edn., 1949 p. 39:

"The unsuccessful lover...... may be in extreme cases, a pitiful individual to contemplate......It may, if the adrenal cortex, productive of anger and violence chemicals, has been sufficiently stimulated by suffering, provoke attempts at vengeance, cause hatred, murderous cravings which, if indulged in, land the patient in jail, if repressed with difficulty, land him in a sanitorium."

८९. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ ३३।

९०. वही, पृष्ठ ७३।

९१. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १३५।

देकर मै क्या पाऊँगा ? तुम को पाऊँगा तो तभी जब तुम तुम हो'[९२] ......'मैं हूँ, यही तुम्हारी दिक्कत है। है न सुखदा। आज तुम से कहता हूँ कि मुझे अपने में मान लो। इस तरह की बातों में मेरा अलग से विचार मत किया करो।'[९३]

इस प्रकार, जैनेन्द्र की नायिकाएँ पर-पुरुष से प्रेम करने पर भी अपने पतियों में बाह्य अथवा आंतरिक संघर्ष नहीं उठा पाती। जब पति स्थिति की यथार्थता को स्वीकार करके उससे मानसिक सतुलन बैठा लें, तो उनमें द्वन्द्व हो कैसे ?

अचेतन संघर्ष

जैनेन्द्र जी की नायिकाओं को भी बाहर संघर्ष के लिए कुछ नही रहता। लोकापवाद की उन्हें चिन्ता नही; समाज तो मानो उनके लिए अस्तित्व ही नहीं रखता। शेष रहे पति, वे उनके मार्ग में अड़ते नही, प्रत्युत् उन्हें प्रोत्साहन ही देते रहते है। तो फिर द्वन्द्व किस से हो ? जैनेन्द्र जी की नायिकाओ में बाह्य सघर्ष न सही, अंतर्द्वन्द्व तो है ही। मानसिक यातनाओ के कुण्ड में वे तिल-तिल कर जलती रहती है। पर क्यों ? माना कि जिससे उनका प्रेम हो गया वह उनका पति न बन पाया और जो उनका पति बना उससे उन्हें प्रेम न हो सका। पर जब उनका पति स्वयं ही उनके और उनके प्रेमी के बीच में से हट कर उनका मार्ग प्रशस्त कर दे, और यह केवल कथनी ही नही करनी में भी ला दे, तो फिर उनमें अंतर्द्वन्द्व क्यों हो ? संघर्ष सदा परस्पर विरोधी तत्त्वों में होता है, और वे तत्त्व जितने अधिक सशक्त और अकाट्य होगे, उतना ही भीषण उनमें द्वन्द्व युद्ध होगा। पर जो स्त्री बिना किसी प्रकार के संकोच के विश्वासपूर्वक अपने प्रेमी से कह सकती हो : 'मैं सब कुछ तुम्हारी हूँ और पति की केवल पत्नी,'[९४] वह भी यदि मानसिक यातनाएँ भोगती रहे और घुल-घुल कर मरती रहे तो भला क्यों ?

कुछ भी हो, सच यह है कि पतियों से आश्वासन पाकर भी जैनेन्द्र की नायिकाएँ आश्वस्त नही हो पाती। पातिव्रत धर्म के परम्परागत संस्कार उनके अचेतन मन में इतने गहरे धंसे हैं कि वे पति के प्रति उदासीन होने के विचार-मात्र से अपने को भीतर ही भीतर अपराधी पाती हैं और अपने को पति से तोड़ कर एकदम अलग नही कर पाती। हरीश दादा द्वारा आयोजित क्रांतिकारी दल की बैठक में भाग लेने के लिए घर से चलते समय पति को सुखदा ने ये शब्द कहे थे : 'स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी दायित्व रखती है। मैं इस सभा में जाऊँगी, तुम रोक नहीं सकते।'[९५] जिस सुखदा को अपनी निर्णायक बुद्धि पर इतना विश्वास था, जब उसी सुखदा को हरीश से कहते पाते है : 'मैं तो साथ हूँ, पर पदाधिकारी न बनावे।

---

९२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ५२।
९३. वही, पृ० ५३।
९४. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० २७।
९५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ३१।

और अभी 'उन' से पूछना भी ·····?'[९६] तो आश्चर्य होता है। इसी प्रकार, प्रभात जब उससे महिलाओ की एक सभा की अध्यक्षता करने की स्वीकृति लेने आया तो अपने आप को वहाँ जाने के लिए विवश पाते हुए स्वय स्वीकृति दे कर अंत में उसे अनायास ही कह उठती है : 'अच्छा, उनसे पूछ लो',[९७] यद्यपि वह जानती है कि पति ने उसे पूरी छुट्टी दे रखी है। सुखदा जो कुछ दिन दल के मकान में अकेली रही, उनमें अपने उन्ही संस्कारों के कारण उसे ऐसा लगता रहा मानो वह नरक की यातना भोग रही हो। वहाँ वह सच्चे मन से पति का आह्वान भी करती रही : 'आज चौथा दिन है, निश्चय आज स्वामी आएँगे। कहाँ गए है, क्यो गए हैं, नहीं जानती······पर उन्हें आज आ जाना ही होगा नही तो सब कुछ मेरे लिए निषिद्ध बन जाएगा। उन्हें आना है, आना है, आना है।'[९८] इसी प्रकार, 'विवर्त्त' की नायिका भुवन मोहिनी पर जब जितेन ने जोर डाला कि वह अपने पति पर उसका भेद न खोले, तब यह जानते हुए भी कि पति को उस पर विश्वास है और उसने उसे स्वतत्रता भी दे रखी है, पति के प्रति विश्वासघात करने की बात सोचते ही मानो उसे बिच्छू डंक मारने लगते हों।[९९]

विवेक-बुद्धि और यौन प्रवृत्ति में द्वन्द्व

जैनेन्द्र जी के पात्रों के, विशेषत: उनकी नायिकाओं के, अचेतन मन में उनकी विवेक-बुद्धि (कान्शिएंस) तथा यौन (सेक्स) प्रवृत्ति में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है और वही अजाने में उनके भाव और विचार को प्रभावित करके उनकी विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं को प्रेरित करता रहता है। उनकी नायिकाएँ भरसक चेष्टा करने पर भी अपने पति को समर्पित नही हो पाती। उनके अचेतन में कहीं यह भाव गहरा धंसा रहता है कि स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी कुछ दायित्व रखती है। उसके बुद्धि होती है और वह निर्णय भी कर सकती है, तो वह पति की गुलामी क्यों करे।[१००] उनके भीतर की अहंता उन्हे उकसाती रहती है कि 'वे देखें और दिखाएं कि वे क्या हो सकती हैं और क्या हैं।'[१०१] पर वे प्रेमी को भी तो समर्पित नहीं हो पाती थी, कदाचित् इसलिए कि उनकी विवेक-बुद्धि उन्हे पति के प्रति विश्वासघात करके उन्हें अपनी ही नजरों में गिरने नही देती थी। यद्यपि लम्बे मानसिक संघर्ष में उनकी विवेक-बुद्धि ही प्रबल रहती है, तो भी अंततोगत्वा उनकी यौन प्रवृत्ति उनकी इस विवेक-बुद्धि पर विजय पा जाती है। सुनीता

९६. जैनेन्द्र, 'सुखदा,' पृ० ३३।
९७. वही, पृ० ५५।
९८. वही, पृ० १३७।
९९. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ३६।
१००. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ३१।
१०१. वही, पृ० २८।

का हरिप्रसन्न के प्रति, सुखदा का क्रांतिकारी लाल के प्रति, विवर्त की नायिका भुवनमोहिनी का जितेन के प्रति समर्पण तथा 'व्यतीत' की नायिका अनिता का जयत से रात के उच्छृंखल व्यवहार के लिए क्षमा मांगते हुए कहना—"जयंत, रात की बात भूल जाना। मैं सुध में न थी। अब सुध में हूँ। कहती हूँ, मै यह सामने हूँ। मुझ को तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते हो"[१०२]—अत में उनकी विवेक-बुद्धि पर उनकी यौन प्रवृत्ति की विजय घोषणा ही तो है। 'सैक्स' की प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजना ने उन्हें अपनी संकीर्णताओ से निकाल कर दूसरे से मिलने के लिए मजबूर कर दिया। किसी दूसरे की अपेक्षा को स्वीकार कर लेना अहं भाव की पराजय है; दूसरे के प्रति समर्पण में अहं चूर-चूर हो जाता है।[१०३]और यही जैनेन्द्रजी को अभीष्ट भी था। उनका विश्वास है कि 'कोई भी एकाकी नहीं' है और किसी का कोई अलग स्वत्व नही है...[१०४] 'एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता,...मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम। लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नही पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।'[१०५]

पर जैनेन्द्र जी के पुरुष पात्र अपने को अपूर्ण पाकर दूसरे की अपेक्षा रखते हुए भी अपने अह में डूबे रहते हैं—न स्वयं किसी को सर्मपित हो पाते हैं और न किसी के समर्पण को स्वीकार ही कर पाते है। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न गिरता-गिरता एकदम बच जाता है। 'कल्याणी' का प्रीमियर जीवन भर अविवाहित रहता है। 'सुखदा' के कात का और विवर्त्त' के नरेश का अहभाव अपनी पत्नी के प्रति उनकी उदारता का रूप धारण कर लेता है। 'व्यतीत' का जयत भी अपने को अपने में लिए चलता गया, कहीं पूरी तरह देकर खतम न हो सका।[१०६]

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

इस प्रकार के पात्रों के भीतर मच रहे द्वन्द्व को पकड में लाना कोई सरल काम नही, क्योकि द्वन्द्व उनके चेतन में इतना नहीं चलता जितना कि उनके अचेतन मन

१०२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १६६।

१०३. Andre Tridon, 'Psycho-Analysis and Love', p 46—47 :

"There is a natural source of conflict between them, for the ego urge is selfish, aiming as it does at the conservation of the individual and its personal up-building, while the sex urge, whose aim is to assure the continuance of the species, is altruistic. By altruism I mean that one human being must before finding the complete gratification of his sex urge, join his body to that of the opposite sex, whose sex urge he helps to gratify, the result of that cooperation being the creation of a third human being."

१०४. जैनेन्द्र 'कल्याणी', पृ० ६०।

१०५. जैनेन्द्र, 'सुनीता'' पृ० ५।

१०६. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ६६।

में। वे पात्र दूसरो के लिए तो पहेली हैं ही, स्वयं अपने लिए भी पहेली बने हुए हैं; करना कुछ चाहते हैं और कर कुछ और बैठते हैं। अंत तक वे नही समझ पाते कि वे जो करना चाहते हैं, ठीक वही उनके करने से क्यों नहीं हो पाता; वे उससे क्यो दूर हटते हैं, जिसके पास होना चाहते हैं ? क्यों उसे पास बुलाते हैं, जिससे दूर रहने में उनका भला है ?—स्वभाव के भीतर यह विरोध डाल कर उन्हें यहा क्यो पैदा कर दिया गया है कि श्रास पाते रहे और कुछ भी न कर सके।[१०७] वास्तव में उनके अचेतन में मच रहा द्वन्द्व ही जो उनकी पकड़ से बाहर है, उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करता रहता है और उनमें आवेगज तनाव पैदा करके परिस्थिति से उनका सतुलन नही बैठने देता।[१०८] ऐसे पात्र यदि स्वयं भी अपनी भीतरी ग्रन्थि खोलना चाहें तो न खोल सकेंगे। इन पात्रों को धीरे-धीरे पाठकों पर खोलने के लिए, जान पड़ता है, जैनेन्द्र जी को विशेष आयास करना पड़ा है और उन्होंने जाने या अजाने मनोविश्लेषण के लिए वही प्रणाली अपनाई है जिसे मनोविश्लेषक अपनाया करता है : मुक्त आसग (फ्री ऐसोसिएशन), बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेन्स) संक्रमण-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव ट्रांस्फ़ेंस), स्वप्न-विश्लेषण आदि। उपन्यास में इन प्रणालियों का प्रयोग यथावत् तो हो नही सकता, इसलिए वे जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में औपन्यासिक सुविधा के लिए रूपातंरित हो कर प्रयुक्त हुई हैं। इन प्रणालियों के अतिरिक्त लेखक ने पात्रों की कला-कृतियों—कविता, गीत, लेख, भाषण, चित्र, आदि—के माध्यम से भी उन के आंतरिक द्वन्द्व को ध्वनित[१०९] किया है, यद्यपि प्रतीकात्मकता की पुट सर्वत्र दिखाई देती है।

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय के (ग) भाग में हम मनोविश्लेषण की विविध प्रक्रियाओं का निरूपण कर आए हैं। यहां हम देखेंगे कि जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में इन प्रणालियों का कहां तक और किस रूप में प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण

मुक्त आसंग प्रणाली (फ्री एसोसिएशन मैथड)

'जयवर्धन' में सांगोपांग मुक्त आसंग प्रणाली

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में ऐसे पात्र तो हैं ही जिनके अचेतन में बहुत कुछ सक्रिय

१०७. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ७२।

१०८. Ruch, 'Psychology and Life', p. 527-528:

"The conflict, though unconscious, continues to influence the individual's thought, feeling and behaviour and is the cause of his emotional tension and inability to adjust."

१०९. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 93 :

"The artist is for Freud a 'neurotic' who seeks and finds in art a 'substitutive gratification' of his thwarted desires."

है। शेष रही मनोविश्लेषक की बात। उनके सभी उपन्यासों में एक पात्र तो अवश्य ऐसा मिल जाएगा जो अपने या प्रधान पात्रों के अचेतन को पकड़ में लाने के लिए सचेष्ट रहता है और उन्हे खुलने में अधिकाधिक सहयोग देता रहता है। 'जयवर्धन' का विल्बर हूस्टन तो स्पष्ट रूप से अपने मनोविश्लेपक होने की दुहाई देता है: "मैं उसके (पश्चिम के) पास आपका निजत्व ले जाना चाहता हूँ।"[११०] "...मुझे आपका कर्मविवरण नहीं चाहिए, वह तो उजागर है ही: आया हूँ तो अंतरंग लेने आया हूँ।"[१११] "मैं जीवन का विद्यार्थी हूँ और उसी के नियमों की शोध में हूँ।[११२] जयवर्धन और इला भी उसे इसी रूप में स्वीकार करके अपना सहयोग देते रहते हैं: "मैने इला से कहा है कि तुम (हूस्टन) बाहरी नही हो, सत्य की खोज में हो, इसलिए एक तरह से अपने हो—इला कही रोक पैदा न करेगी, मेरे पास कुछ छिपा नही, सब खुला है[११३] **इन दोनों पात्रों और हूस्टन में इस प्रकार का समझौता हो जाने के बाद मनोविश्लेषक हूस्टन** का काम कुछ सरल हुआ और वह धीरे-धीरे उन्हें मुक्त आसंग की स्थिति में ले आने लगा। '१२ मार्च—'को हूस्टन ने अपनी डायरी में इला के बारे में यह लिखा:

> "मैने कहा, 'ठहरो, तुम भूल में हो, जय के लिए तुम अलग नही हो...
>
> बीच में बोली, 'नही मैं भूल में नही हूँ, क्योकि मैं जानती हूँ एक भूल मैने की थी।"
>
> मै सप्रश्न हुआ, उसने मेरी ओर देखा जैसे भीतर तक देख लेना चाहा; फिर जाने किस अवज्ञा से बोली, **बोलते समय उसकी आँखें मुझ से हट गईं थीं, मानो वे बन्द ही हो गई थीं,** बहुत दिनों की बात है, बीस, शायद बाईस वर्ष पहले की, सागर का तट था..."[११४]

इस प्रकार सकेत मिल जाता है कि हूस्टन इला को मुक्त आसंग की स्थिति में ले आया है और उसका मुक्त आसंग आरम्भ हो गया है, तथा हूस्टन बिना दख़ल दिए ध्यान से सुन रहा है। लगभग तीन पृष्ठ तक इला अपने मन में जो में आता रहा, बताती रही। उसके बाद संकेत मिलता है, मुक्त आसग की समाप्ति का:

"उमकी आखें खुली' **जैसे उसने अब पहचाना कि यह बाईस बरस बाद की आज है,** कि बात मुझ विल्बर हूस्टन से हो रही है, **जैसे उसे आयास पड़ा, इतने बहुत से वर्षों को जो वर्त्तमान हो आये थे,** क्षण में जो सूखा पार कर आना था, अंत में पार मिला, स्वस्थ बनती सी वह बोली:

---

११०. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १८।
१११. वही, पृ० २३।
११२. वही, पृ० ४५।
११३. वही, पृ० १०५।
११४. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १२८।

"तब से कभी मैने उन्हें अवश नही पाया…अपनी ओर से चेष्टा की है, धृष्टता की है, निर्लज्जता की है, पर नही, कुछ नही हुआ…पूछती हूँ, यह प्रेम है ?"

मैने कहा, 'आप अशांत न हों'

सुनकर वह मुस्कराई, न ही उस मुस्कराहट में चंचलता थी, वह एकदम शिष्ट थी और संयत, **जैसे जो सुनाया वह पट पर दीखा था, देखकर वर्णन के रूप में ही कह सुनाया गया था, यों वह अलग थी, यह अलग था ।**[११५]

इसके पश्चात् हूस्टन की डायरी में यह लिखा मिलता है, मानो वह पाठकों के लिए इला के उस मुक्त आसग की व्याख्या कर रहा हो :

"सुनकर मैं चमका, जैसे कड़क कर बिजली की एक कौध भीतर तक चीर गई। ये सब मर्यादाओं और प्राण-प्रतिज्ञाओं के रहते भी **जैसे नर के प्रति इस नारी में प्रश्न हो कि वह मातृत्व से वंचित क्यों है,** उसका सारा ज्ञान उसकी धमनियो में रमे और रक्त में धडकते इस प्रश्न का शमन कर रहा हो, तो **जय ने जो इला का मान रखा, सो ही क्या उसे नारी का अपमान मालूम हो रहा था ?**[११६]

इसके बाद दूसरा मुक्त आसंग आरम्भ हुआ, जो प्रलाप के समान आठ[११७] पृष्ठ तक फैलता गया। हूस्टन ध्यानपूर्वक चुपचाप सुनता रहा और, जब कभी वह बीच में रुकने को हुई, सौजन्यपूर्ण प्रश्नों से मुखरित करता रहा : "**उत्सुकता के लिए क्षमा कीजिए ; पर क्या मै पूछ सकता हूँ** कि आपका पहला परिचय किस प्रकार हुआ ?"[११८]

ऊपर के उद्धरणो से—विशेषत: मोटे छापे अंशों से—यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र जी यहाँ मुक्त आसंग प्रणाली का सागोपांग प्रयोग कर रहे हैं—इला पात्र है तथा विल्वर हूस्टन मनोविश्लेषक। दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों[११९] का सतोषजनक ढंग से पालन करते हैं । इस प्रकार के स्थल 'जयवर्धन' में एक नही', अनेक मिलेगे।

अन्य उपन्यासों में मुक्त आसंग प्रणाली

'जयवर्धन' के से पूरे मनोविश्लेषणात्मक न सही, पात्रों को धीरे-धीरे मुक्त आसंग की स्थिति में ले आने वाले स्थलों की जैनेन्द्र जी के अन्य उपन्यासों में भी

---

११५. (क) वही, पृ० १३०-१३१।
(ख) K. Horney, 'Self-Analysis', p. 101.
११६. (क) जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १३२।
(ख) K. Horney, 'Self-Analysis', p. 123.
११७. जैनेन्द, 'जयवर्धन', पृ० १३२-१४०।
११८. वही, पृ० १३४।
११९. यही प्रबन्ध, पृ० ७६।

कमी नही। पूरा विलवर हूस्टन नहीं, तो कम से कम उसका-सा एक पात्र उनके उपन्यासों में अवश्य मिल जाएगा।

सुनीता की जिज्ञासा—'हरिप्रसन्न के भीतर से गाँठ खीच निकालने में उपलक्ष्य तो सुनीता को भी बनना पड़ा था।'[120] उससे प्रथम भेट के समय से ही सुनीता को ऐसा प्रतीत होने लगा था कि हरिप्रसन्न की बातों में कहीं कुछ कठिन सा है—जैसे कही कुछ रहस्य है, अज्ञात है, जिसे खोजना होगा।[121] सुनीता की जिज्ञासा प्रखर से प्रखरतर होती गई: 'क्या अंतस्थ अभाव है और क्या तज्जनित प्रेरणा जो उसे दुनिया में यो बेखू टे घुमाए जा रही है ? किस रिक्तता को लेकर वह यों भटकता-भटकता अपनी पूर्णता की खोज में है ? यह भेद क्या मैं पाऊंगी ?'[122]

'त्यागपत्र' में मृणाल को मुखरित करने वाला है उसका भतीजा प्रमोद, जिसे लगभग चार पृष्ठों तक फैली अपने विगत जीवन की कथा सुनाने के बाद वह कहती है: 'प्रमोद, मैं न जाने क्या-क्या बकती रही। कहनी-अनकहनी न जाने क्या-क्या कह गई हूँ। दुनिया में मेरे एक तुम हो कि जिस से दुराव मुझ से नही रखा जाएगा।[123]

'कल्याणी' में मुक्त आसंग—'कल्याणी' के वकील साहब भी मनोविश्लेपक से कम नहीं। वह जानना चाहते हैं कि 'कल्याणी असरानी के स्वभाव में जो मृत्यु तत्त्व का एक स्पष्ट खिचाव नजर आता है, वह यदि प्रतिक्रिया है तो किन घटनाओं की प्रतिक्रिया है···व्यवसाय में वह सावधान है, कर्त्तव्य में तत्पर···फिर भी एक अशाति एक दमन, एक विचिकित्सा जो उनमें दिखाई देती है, वह क्या है ? और वह क्यों है ?'[124] यह वकील साहब अपनी इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए कल्याणी को कई बार मुक्त आसग की स्थिति में ले आते हैं। ऐसा एक स्थल देखिए:

> "बोली—'आप ईश्वर को नही मानते हैं न, इसी से सहज ही कोई बात आपकी समझ में नही आती। मैं क्या करूँ ?
>
> मैने कहा—'हो सकता है, वह मेरे समझने योग्य न हो। जाने दीजिए।'
>
> हंस कर बोलीं—'बात बेशक यही है। आप नहीं समझेंगे। फिर भी आप जो पूछने लगते हैं और समझना चाहते हैं, उसके लिए बल्कि मैं कृतज्ञ ही हूँ। असल में, मैं खुद बताना चाहती हूँ। कुछ-की-कुछ समझी जाने से मुझे सुख नही। वह भी मुझे क्या समझते है लेकिन···खैर। सुनिए—

---

१२०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १८६।
१२१. जैनेन्द्र, 'सुनीता'. पृ० ३६।
१२२. वही, पृ० ६२।
१२३. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६६।
१२४. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ६०।

मैं चुपचाप सुनने लगा।

'विवाह से पहले मैं···खुद थी। विवाह बिना मै रह सकती थी।···मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व, ये परस्पर कैसे निभे ?'

कहकर उन्होंने मुझे ऐसे देखा जैसे मै हूँ ही नही। जैसे मेरे अभाव में दीवार के सामने भी यह सवाल इसी प्रकार रखा जा सकता है।"[१२५]

इस प्रकार 'कल्याणी' का मुक्त आसंग आरम्भ हुआ और हमें बीच-बीच में सकेत मिलता रहा कि वह अभी चल रहा है—"प्रश्न में उत्तर की अपेक्षा न थी। सो वे आप ही कहती गईं"[१२६] 'कहते हुए वे थोड़ी हँस आईं, लेकिन क्या अब भी उन्हें मेरा ध्यान था।'[१२७] यद्यपि इस मुक्त आसंग में कल्याणी अपने अचेतन में गहरी नही पैठ पाती तो भी उसका प्रयत्न तो यही रहा है कि अपने भीतर को बाहर ला दे, जिससे वह कुछ की कुछ न समझी जा सके।

आत्म-विश्लेषण (सेल्फ एनेलिसिस)

'सुखदा' और 'व्यतीत' के आत्मकथा-शैली में होने के कारण उनमें मनोविश्लेषक की आवश्यकता रहती ही नही। इन उपन्यासों में आत्मविश्लेषण की शैली अपनायी गई है। आत्मविश्लेषक और मनोविश्लेषक के ढंग में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योकि प्रणाली दोनों की ही मुक्त आसंग की है।[१२८] मनोविश्लेषक के पास होने पर पात्र उसे अपने मन में जो कुछ आता है, सुनाता जाता है और आत्मविश्लेषण में वह अपनी सहस्मृतियो को 'नोट' करता जाता है—लिखकर या मस्तिष्क में ही। आत्मविश्लेषण में अपनी सहस्मृतियों को लिख कर 'नोट' करना अच्छा समझा जाता है।[१२९] इस दृष्टि से सुखदा और जयत के मुक्त आसंग लिखित रूप में होने से बढ़िया ही माने जाएँगे।

सुखदा का आत्मविश्लेषण

सुखदा चीड़ के वृक्षों से घिरे पर्वतीय प्रदेश के एक अस्पताल में पड़ी है। समय उसके पास बहुत है और भीतर व्यथा की भी कमी नहीं। इसलिए वह अपनी

---

१२५. जैनेन्द्र, कल्याणी, पृ० ३२।
१२६. वही, पृ० ३२।
१२७. वही, पृ० ३३।
१२८. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 186.
१२९. Ibid., p. 187 :
'It is advisable to jot down findings, and the main path leading up to them, even though they have been arrived at without taking notes."

कहानी लिखने लग जाती है कि 'ऐसे कुछ घड़ियाँ तो कटेंगी, नहीं तो काटने को आती है।[१३०]

निस्संकोच वर्णन—आत्मविश्लेषक को यह न भूलना चाहिए कि अपने मन में उठे किसी भी भाव या विचार को किसी कारणवश अभिव्यक्त करने से रोक लेना उसके हित में न होगा।[१३१] पर औपन्यासिक पात्रों का आत्मविश्लेषण उनके अपने हिताहित के लिए न होकर अपने को पाठक के लिए बोधगम्य बनाने के लिए होता है। इसलिए, उपन्यास में वे अपने किसी भाव या विचार को व्यक्त होने से बचा जाते हैं तो पाठकों के लिए उनके दुरूह हो जाने की सम्भावना रहती है। सुखदा भी एक स्थल पर पहुँच कर जरा रुकती है और फिर शीघ्र ही पुनः लिखने लग जाती है: 'सच कहूँ—लेकिन अब कहने बैठी हूँ तो लज्जा किस बात की करूँ? विवाह से पहले मैंने सोचा था कि विवाह जहाँ होगा उनकी आमदनी सात सौ, आठ सौ रुपये होनी चाहिये···।'[१३२] प्रसग आने पर वह अपनी किसी बात को भी गुप्त नहीं रखती। यहाँ तक कि यह भी बता देती है: 'पाठक की सहानुभूति चाहती हूँ, क्योंकि यह सच है कि हरिदा की ओर जाते हुए मैंने हल्का सा मेक-अप किया था।'[१३३]

मुक्त आसंग के बीच में युक्तियुक्त चिन्तन का अभाव—आत्मविश्लेषक को एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि मुक्त आसंग के बीच में, जहाँ तक हो सके, वह तर्क-वितर्क से बचता रहे। आत्मविश्लेषण में तर्क-वितर्क के लिए स्थान तो है और काफी है—पर बाद में, क्योंकि बीच में आकर वह सहस्मृतियों के स्वत· प्रवाह को रोक देता है।[१३४] सुखदा की इस आत्मकथा में दार्शनिक स्थलों की भी कमी नहीं, पर वे प्रायः आसंग के बीच में न आकर आरम्भ में या अन्त में ही आए हैं, विशेषतः आरम्भ में।[१३५] छठे परिच्छेद के पहले मुक्त आसंग के अंत में वह लिखती है: 'आज हर तरह से अपना पूरा समर्पण पति को कर देने के आग्रह से बँधी थी। बाकी सब कुछ को अपनी जिन्दगी से मिटा डालने को उद्यत थी। लेकिन जितना ही भीतर से चाहती थी कि यह हो, उतना ही बाहर से वह दुष्कर होता जाता था।'[१३६] फिर अगले आसंग से पहले उसी सूत्र को पकड़ते हुए लिखती है: 'आदमी की यह विवशता किस लिए है? किस नियम के वह अधीन है—स्वभाव

१३०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६।
१३१. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 248.
१३२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १५-१६।
१३३. वही, पृ० ६६।
१३४. Karen Horney, 'Self-Analysis,' p. 249.
१३५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६, १२, १४, ३५, ५०, ५७, ६५, ६६, ७८, १११।
१३६. वही, पृ० ७१।

के भीतर विरोध डाल कर हमें क्यों यहाँ पैदा कर दिया गया है कि त्रास पाते रहें और कुछ भी न कर सकें ? अपने को देखकर आज मुझे बिल्कुल समझ में आ गया है कि जो वह (व्यक्ति) है, वह नही है। पापी, पापी नहीं है; पुण्यात्मा, पुण्यात्मा नहीं है···सब वे हैं जो उन्हे होना बदा है।' [१३७] सुखदा में इस प्रकार के और भी कई स्थल मिलेगे, पर वे उसके मुक्त आसंग में बाधक नही बने हैं।

'व्यतीत' में मुक्त आसंग

पैतालीसवें जन्मदिन पर, 'व्यतीत' के नायक जयंत के गत-जीवन की घटनाएँ चल-चित्र के समान एक-एक करके उसकी आँखों के सामने नाच उठती हैं और वह उन्हें बताता जाता है। जयंत के मुक्त आसंग बीस-बीस पृष्ठ तक अबाध फैलते गए हैं, दार्शनिक झमेलों में पड़ने की मानो उसे फुर्सत ही न हो। इन बीस-बीस पृष्ठों में जब कभी बौद्धिकता ने जोर मारा भी तो वह शीघ्र ही उस पर काबू पाकर आगे बढ लिया है। ये दार्शनिक प्रसंग उसके मुक्त आसंग में बाधक नहीं, प्रत्युत् उसकी व्याख्या करके पाठक के लिए सहायक ही बनते हैं। स्थानाभाव से लम्बे-लम्बे आसंग तो यहाँ उद्धृत नहीं किए जा सकते, पर विश्लेषणात्मक दार्शनिक प्रसग देखिए :

> "अब कुछ मेरी ठीक तरह समझ नही आता। एक पढ़ना होता है, हुनर सीखना, विज्ञान सीखना होता है, चीजों को समझना-गुनना होता है। इसमें से दुनिया के काम-काज चला करते है और बहुत सी तरक्कियाँ हुआ करती हैं। मगर एक दूसरी चीज भी होती है, जिसका काम-धाम में शुमार नहीं है। कहते है, लोग इस दूसरी चीज से बनते नहीं है, बिगड़ते हैं। यह मन जो है, धोखा दिया करता है, फुसलाता रहता है, और उसकी एक बेर सुनी कि फिर कही का नहीं छोड़ता। लेकिन मुझे मालूम नही है। शायद ठीक ही हो। शायद यह दो चीजें उल्टी हों। एक धर्म हो और दूसरा पाप हो, एक साधना हो और दूसरी वासना हो, एक शिखर की ओर ले जाती हो, दूसरी पाताल में गिरा जाती हो। प्रेम केवल बहक हो और ज्ञान-विज्ञान असलियत हो।"[१३८]
>
> "आज सोचता हूँ, अनिता कौन थी ? पुरी कौन थे ? लेकिन कौन किस का क्या होता है ? मन से मान लेने की ही बात है। कानून तो नियम रखता है और वहाँ दस्तावेज़ होते हैं। लेकिन व्यक्ति के अन्तर को किसने पहचाना है। कारण, नियम तो स्थिर है, मन स्थिर नहीं है। पिता-पुत्र कहते हैं, पति-पत्नी कहते हैं, इसी प्रकार और नाते रिश्ते है। इनको घेर

१३७. वही, पृ० ७२।

१३८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत' पृ० ५।

कर परिवार बनता है। लेकिन क्या उन सब के नीचे सार सत्य क्या केवल मन का स्नेह ही नही है ? लगता है, उस स्नेह की निश्चयता के आगे, उससे विहीन, शेष सब व्यवहार-छाल और छिलके के मानिद ही है।"[१३९]

"अपने सम्बन्ध में, मै कोई सम्मति नही दे सकता। तो भी जान पड़ता है कि मुझ में पौरुष कम है। नहीं तो स्त्रियाँ ऐसे मुझ से क्यों व्यवहार कर निकलती हैं, जैसे बच्चे मोम से करते हैं; जी होता है इस अधिकार को इन्कार कर दूँ। लेकिन यह मेरी स्वीकृति माँगता कब है ! एकदम आकर आच्छन्न कर देता है। इन्कार भीतर में अपने को भूल जाता है और स्त्री सब-कुछ हुई चली जाती है। श्रीमती नीला बघावर को अपने डैनो में मुझे ले लेने में कोई दिक्कत न हुई। बहादुरी का तमगा अब भी मेरे पास है, लेकिन कही न रही मेरी कप्तानी और मर्दुमी।"[१४०]

"ठीक ही होता है। सबको वह मिलता है जो योग्य है। इतना बड़ा ब्रह्मांड अनियम से नही चल सकता। ग्रह और नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र, पृथ्वी और पिंड सब अपनी कक्षा में और मर्यादा में हैं। विनियम कुछ नही है और यह उचित है कि मैं नीला बधावर के घर में हूँ, जहाँ चन्द्री के अभाव में मेरी ओर भी ध्यान का अभाव है। यह सर्वथा नियमित है। नीला को काम रहते हैं, क्योकि बड़ा घर है, और बार-बार आकर मेरे आराम में खलल भी पड़ता है।[१४१]

बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टैंस)

मुक्त आसंग में यद्यपि पात्र से यह आशा की जाती है कि उस समय उसके मन में जो कुछ आए उसे पूरे का पूरा, किसी अंश को छोड़े बिना, कहता जाए; तो भी देखा गया है कि भरसक चेष्टा करने पर भी पात्र उन स्मृतियों या अनुभूतियों को, जिनसे उसे व्यथा होती हो या लज्जा आती हो, या तो छोड़ जाता है, या उनके वर्णन में आनाकानी करता है और या फिर उन्हे छोड़ने से एकदम इन्कार कर देता है। मनोविश्लेषक ऐसे विषयों को बड़ा महत्त्व देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन विषयों का पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मनोविश्लेषण का उद्देश्य बाधकता (रेजिस्टैंस) को तोड़कर पात्रों को उन दुःखद स्मृतियों, इच्छाओं तथा अनुभूतियों के सम्मुख ले आना है; क्योंकि जब तक वह चेतन में

---

१३९. वही, जैनेन्द्र, व्यतीत पृ० १०० ।

१४०. वही, पृ० १४० ।

१४१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १४६ ।

अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं होगा, उनका यथार्थ रूप जानेगा नही, तो उन्हे हल कैसे कर सकेगा।[१४२]

जयवर्धन और इला की बाधकता

'जयवर्धन' की इला के जिन मुक्त आसंगों का उल्लेख पीछे किया गया है, उन के लिए मनस्तत्त्व के जिज्ञासु हूस्टन को कोई थोड़ा प्रयत्न नहीं करना पड़ा। अपने परस्पर सम्बन्धों की चर्चा से जयवर्धन और इला दोनो ही कतराते थे। अपनी प्रथम भेंट के अन्त में हूस्टन ने जब जयवर्धन से यह पूछा : 'विवाह तो आपने किया नहीं है', तो उसने हूस्टन का हाथ अपने हाथ में लिया और धीमे से दबाकर छोड़ दिया, कुछ उत्तर नही दिया।[१४३] हूस्टन की अगली भेंट इला से हुई और उसमें बात चलते-चलते जब यहाँ तक पहुँची—"तो आपके बीच में क्या है ?" तो इला ने उसे दार्शनिक ढंग से टालते हुए कहा"···क्या आप सुनने की आशा रखते है। बीच में है नितान्त शुद्ध ब्रह्म···लेकिन क्या मै अब आपसे क्षमा मांग सकती हूँ ?"[१४४] और साथ ही मदाम को भी बुला भेजा। लेकिन जब फिर भी हूस्टन न माना, तो इला ने कहा : 'पर क्या प्रेम की व्याख्या में आपके साथ मुझे पड़ना होगा ? आपकी उम्र कम नही है—और मैं बादामी कम नही हूँ[१४५]।' इसी बीच मदाम भी आ गई और एकात भंग होने से उनकी बात चल न सकी। एक बार और भी हूस्टन को असफलता मिली। इस बार तो जब उसने बात चलाने का हठ किया, इला तन गई और बाद में हूस्टन ने भी अपनी हठधर्मी स्वीकार करते हुए डायरी में लिखा : "हठात् नारी के मर्म का उद्घाटन चाहने वाला मै कौन था। उसकी रक्षा में कातर हो-हो आई इला यदि सहसा ही महामाननीया और अति दुर्लंघनीया बन आई हो तो इसमें विस्मय क्या।"[१४६]

स्पष्ट है कि अभी तक मनोविश्लेषक हूस्टन तथा पात्र इला में समझौता नही हो पाया है और इला अपनी दुःखद तथा लज्जास्पद स्मृतियों तथा अनुभूतियों को उस पर प्रकट नही कर पा रही है, क्योंकि मनोविश्लेषक के प्रति विश्वास न होने पर भर-सक चेष्टा करने पर भी पात्र उसके सामने खुल नही पाता।[१४७] पर जब जयवर्धन

१४२. Ruch, 'Psychology and Life', p. 528,
Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 136.

१४३. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० २४।

१४४. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० २५।

१४५. वही, पृ० २८।

१४६. वही, पृ० १०२।

१४७. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 136 :
"With the best will in the world a patient cannot express himself freely and spontaneously if he has an unsolved resentment in his heart toward the person to whom he reveals himself."

ने इला को समझा दिया कि हूस्टन तो सत्य की खोज में है, इसलिए वह उसमें रोक पैदा न करे[148], तब से हूस्टन के प्रति उसकी भावना में परिवर्तन आ गया और तभी वह मुक्त आसंग की स्थिति में आ सकी।

ऊपर के उद्धरणों से पता चल गया होगा कि इला की बाधकता को तोडने के लिए हूस्टन को कितना प्रयत्न करना पड़ा और कितने धैर्य से काम लेना पड़ा—यहाँ तक कि अपमान भी सहना पड़ा। पर यहाँ देखने वाली बात यह है कि अपने पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करने से इला ज्यो-ज्यो कतराती गई, त्यो-त्यों हूस्टन की इस विषय में जिज्ञासा प्रखर से प्रखरतर होती गई और अततः वह उसकी बाधकता को तोड़ने में सफल हो गया।

सुखदा की बाधकता

इसी प्रकार की बाधकता का परिचय हमें 'सुखदा' में भी तो मिलता है। उस के मुक्त आसंग के प्रारम्भिक शब्द—"अपने भीतर देखूँ, लेकिन भीतर क्या पा लूंगी ?"—इस ओर स्पष्ट सकेत करते हैं कि अपनी कहानी लिखने का दृढ़ सकल्प कर लेने के बाद भी उसका सकोच एकदम नहीं हट गया। हरीश दादा के पास जाते समय उसने हल्का-सा मेक-अप किया था, किया तो था कदाचित् हरीश को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए, पर उसका प्रयोग संयोगवश हो गया लाल पर। अपने आकर्षण के इस भेद को वह तब तक छिपाये रखती है जब तक कि घर लौट नही आती। घर लौटकर जब वह दर्पण में अपना मुख देखती है, तभी इस विषय में उसकी बाधकता टूटती है : "(पाठक की सहानुभूति चाहती हूँ, क्योंकि यह सच है कि हरीश दादा की ओर जाते हुए मैने हल्का-सा मेक-अप किया था[149])" उसकी इस स्वीकारोक्ति का कोष्ठक में होना ही यह बताता है कि इसे पहले आना चाहिये था और अब यह काफी बाद में जोड़ दी गई है। बीच-बीच में उसके ये शब्द भी उसके भीतर की बाधकता के द्योतक हैं : 'सच कहूँ ? लेकिन अब कहने बैठी हूं तो लज्जा किस बात की।'[150] यद्यपि आपबीती लिखने का उसका दृढ़ निश्चय उसकी बाधकता को अधिक देर टिकने नहीं देता, तो भी इन स्थलों के महत्त्व से इन्कार नही किया जा सकता। एक में हरीश के प्रति उसके अपने आकर्षण की ओर संकेत है और दूसरे में गृहस्थी के प्रति उसकी ऊब का आभास मिलता है।

'कल्याणी'

कल्याणी का भी वकील साहब पर एकदम विश्वास नहीं जम पाया था। उस

---

१४८. जनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १०५।
१४९. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६६।
१५०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १५-१६।

की आंतरिक व्यथा तो उमड पड़ने को उद्यत रहती थी, पर मानो विश्वास का पात्र न पा रही हो। वकील साहब से यह तो वह कह देती है कि 'मन का बोझ कब तक सहा जा सकता है ? और मैं किसी से उस मन को खोल नही सकती—मैं डाक्टर से भी तो कुछ कह नहीं सकती...'

"कहते-कहते वह एकाएक रुक गई। जैसे अन-कहनी कहने के किनारे जा लगी हो। अनन्तर एक भरी साँस खीच कर बोली—'सब भाग्य है और क्या'।[१५१] पर जब वकील साहब ने पुनः प्रश्न द्वारा बात आगे बढ़ानी चाही तो एक बार फिर वह मुक्त आसंग की स्थिति में पहुँच गई—'मैं तो अपने से ही नाराज हूँ। सोचती हूँ, मैंने अपना यह क्या कर डाला।'—कहकर वह ऐसे देखने लगी जैसे कहीं न देख रही हो। उन आँखों में जैसे दृष्टि ही न हो।" यह समझते हुए कि अब तो उसका मुक्त आसंग आरम्भ होने वाला है, वकील साहब ने ज्यो ही उसे पूछा—'क्यों-क्यों, बात क्या है ?' एकदम बाधकता आन उपस्थित हुई और हठात् सम्भलती हुई वह बोली—'कुछ नहीं, कुछ नही' और फिर 'अतिव्यस्त भाव से घड़ी की ओर देखकर कहा—'ओह आठ हो गया। मैं भूली। मुझे एक जगह जाना है। अच्छा तो आप...' कहती हुई वह उठ खड़ी हुई और वहां से चल दी।"[१५२]इस प्रकार, कल्याणी अपनी आंतरिक बात को प्रकट करने से अपने को बचा गई। और कितनी ही बार लगातार ऐसे बचाती रही। यह तो वकील साहब का धैर्य था कि उसे वह मुक्त आसंग की स्थिति में ले ही आए।

अंर्तविवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

विशुद्ध अन्तर्विवाद का अभाव

अन्तर्विवाद तथा चेतना-प्रवाह (स्ट्रॉम ऑव कान्शसनैस), जो आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास के 'स्टाइलिस्टिक[१५३] साथी हैं, जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में शायद ही मिले। यह नही कि उनके पात्र एकान्त में बैठकर विगत जीवन की घटनाओं का स्मरण और मनन नही करते, प्रत्युत् उनके पात्र तो मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। पर बात यह है कि पात्रों के अचेतन तक पहुँचने के लिए उनके उपन्यासो में अधिकतर मुक्त आसंग-प्रणाली ही रूपान्तरित होकर प्रयुक्त हुई है। उनके पात्र अपने मन को खुला छोड़ देते है और अपने सामने बैठे व्यक्ति को अपने मन में जो कुछ हो रहा है, बताते जाते हैं, मानो वे सब कुछ अनुभव कर रहे हों। पर अन्तर्विवाद में तो पात्र न बोलता है और न ही उसे सुनने वाला होता है।

---

१५१. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १७।

१५२. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १८।

१५३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 125.

उपन्यासकार 'रिपोर्टर' के रूप में

जैनेन्द्र जी के पात्र एकान्त मनन तो करते हैं, पर वहाँ हमारा सम्पर्क सीधा उनके मन से नहीं हो पाता। लेखक हमारे और पात्र के बीच अड़ा रहता है, मानो वह अपने महत्त्व को न घटने देना चाहता हो। हमें ऐसा प्रतीत नही होता कि हम पात्रों के मन में जो हो रहा है, उसे अपनी आँखों से देख रहे हैं और पात्रों के साथ एकात्मीयता स्थापित करके उनके साथ-साथ स्वयं भी अनुभव करते जा रहे हैं। यह तो वही रूढ़ शैली है जिसका प्रयोग प्रेमचन्द-प्रभृति उपन्यासकार करते आए हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अर्तविवाद से यह बहुत दूर है। 'सुनीता' से एक उद्धरण देखिए :

> "**उसका** (सुनीता का) **हृदय उसे बताता था** कि यह आदमी हरिप्रसन्न जितना है, उतना ही नही है...उसमें वेदना है...किस को लेकर वह वेदना है ?... इस बारे में भी जैसे उसके मन में कुछ पता था। फिर भी मानो उसका पूरी तरह लेखा-जोखा वह खोज लेना चाहती थी।
>
> **वह सोचती थी** कि उसकी बहन सत्या बुरी लड़की नही है और इस हरिप्रसन्न में जो प्राणों की बेचैनी है, उसको भी एक लगाम की जरूरत है...'
>
> 'मुझे शंका नही कि मेल ठीक हो, तो गृहस्थ हरिप्रसन्न समाज के लिए बहुत उपयोगी हरिप्रसन्न होगा'—**उसने सोचा**। 'लेकिन वह कहाँ-कहाँ रहता है ?...क्या उसका भेद मैं पाऊँगी ?...
>
> 'लेकिन नही,' **सुनीता सोचती है**, 'हरिप्रसन्न निष्प्रयोजन निष्फल नही होने दिया जायगा—मै जब अनायास उसकी भाभी बनी हूँ, तो मैं देखूँगी कि वह प्रयोजनयुक्त...होकर यहाँ रहता है।'
>
> '**वह सोचती**, स्त्री फिर किस लिए है, यदि पुरुषो को प्रयोजनदान, फलदान में नियोजित नहीं करती।
>
> अपने स्त्रीत्व से लाचार बनी वह देखती है कि परम-पुरुष का अभीप्सित वह नही है[१५४]

इस प्रकार, उसके मन में उठ रहे विचार की रिपोर्ट देता-देता लेखक अन्त में कहता है "आदि-आदि उसने सोचा है।" उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक पाठको को इतनी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता कि वे पात्रों के मन से सीधा सम्पर्क रखे, और वह बार-बार 'उसने सोचा', 'वह सोचती है' आदि वाक्यों द्वारा पाठकों पर उनकी विवशतापूर्ण स्थिति प्रकट करता जाता है, मानो उन्हें कह रहा हो 'तुम्हें मेरी रिपोर्ट पर ही निर्भर रहना होगा।'

---

१५४. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ६२-६३।

उपन्यासकार द्वारा बार-बार हस्तक्षेप

इस प्रकार के स्थलो से उनके इसी इतिहास-शैली (प्रथम पुरुष) में लिखे उपन्यास—परख, सुनीता, विवर्त्त—भरे पड़े है। अब विवर्त्त से एक उद्धरण लीजिए :—

> 'मोहिनी निष्प्रयोजन पलंग से उठी और कुर्सी में आ बैठी; बैठी सोचती रह गई। इस व्यक्ति (जितेन) पर उसे दया आई। कितना बोझ अपने मन में लेकर यह उसकी शरण में आ पडा है। कितना उसने विश्वास किया। उस विश्वास के प्रति उसमें कृतज्ञता उठती थी। किन्तु विश्वास के स थ आरोप क्यो ? शर्त उसके साथ यह क्यों कि मैं अपनी ओर से विश्वास दूसरे को न दे सकूँ। जानती है, वह (उसका पति) आनन्दी स्वभाव के पुरुष हैं, तुच्छता कही उनमें नही। वह कभी उससे कुछ नहीं पूछेंगे—वह सम्भ्रम में पड़ गई। क्या कह दे कि स्वामी के प्रति, अविश्वामिनी मुझे नहीं बनना है ? अब जितेन तुम देख लो, रहना है रहो, जाना हो जाओ। यह भुवनमोहिनी वही है, लेकिन पत्नी भी है, इससे वह स्वामिनी भी है, अधिंष्ठात्री है।'[१५५]...

यहाँ मोहिनी एक ऐसी मन:स्थिति में पहुँच जाती है कि अचेतन उससे बहुत दूर नहीं रहता। यहाँ लेखक यदि स्वयं अलग रहकर मोहिनी को उस पर ही छोड़ देता, अपने को पाठक पर न लादता, तो कदाचित् यहाँ एक अच्छा अन्तर्विवाद मिल सकता था। पर बार-बार दखल देकर लेखक ने यहाँ ऐसी खिचड़ी बना दी है कि कई बार यह पता लगाने में भी कठिनाई होती है कि यह लेखक कहता है या मोहिनी सोचती है। सर्वनाम 'वह' का प्रयोग यहाँ मोहिनी के लिए भी हुआ है और उसके पति के लिए भी। मोहिनी के लिए 'वह' का प्रयोग लेखक करता है और पति के लिए 'वह' का प्रयोग करती है मोहिनी।

'सुनीता' में से एक अन्तर्विवाद

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पाया जाने वाला अन्तर्विवाद तो नहीं, पर उसकी-सी शैली में बना एक छोटा-सा अन्तर्विवाद सुनीता में मिलता है,[१५६]वह सोचने लगी, 'अगली रात तक ही मानो उसका जन्म है' कहकर लेखक उससे अलग हो जाता है :—

> 'वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानो उसका यह जन्म है। क्या अगली रात पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा ?—वे लोग कौन हैं ? वे क्या चाहते हैं ? अपनी जानों को हथेली पर रखकर वे लोग क्या चाहते हैं ? ···किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है ? क्या मै इसी में

---

१५५. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ३६।

१५६. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १४४।

बीतूँ ? क्या इसे तोड कर, नाँघ कर, एक बडे हित में खो जाने को मै न बढ़ूँ ? उस विस्तृत हित के लिए जीऊँ, उसी के लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है ?···ओ मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? भलाजी, तुमने ऐसी चिट्ठी मुझे किस लिए लिखी ?···क्या इसीलिए कि मुझे परख में डालना चाहते हो ?···

कल रात :···वह क्या जीवन है ? वहाँ उत्सर्ग ही व्यक्ति का लक्ष्य बनता है, संचय से व्यक्ति वहाँ पराड्मुख होता है। मै उससे इन्कार कर सकती हूँ ? मैं, सच, कैसे इन्कार कर सकती हूँ ?···लेकिन कल रात मुझे कहाँ जाना होगा ?···ओ स्वामी तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वयं कुछ नहीं रहना है, नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है ?[१५७]

बीच में लेखक के थोड़ा-सा दखल देने के बाद 'इस स्थिति में आकर वह उसी समय हरिप्रसन्न की तरफ जाने को उद्यत हुई। कहेगी, कि···'सुनीता का भाव-प्रवाह फिर चल पड़ता है और लगभग एक पृष्ठ तक चलता ही रहता है।[१५८] यहाँ वाक्य भी छोटे-छोटे और सरल हैं और पाठक को भी सन्तोष होता है कि वह सुनीता के अचेतन तक चाहे न पहुँच सका हो, पर उसके मन से तो उसका सीधा सम्पर्क है ही, पर लेखक को यह सह्य नहीं। अन्त तक पहुँचने के शीघ्र ही बाद 'इसी तरह की बातें उसके मन में उठने लगी' कहकर वह पाठक के भ्रम (इल्यूजन) पर कुठाराघात करके उसे काट फैंकता है।

स्वप्न-विश्लेषण

फ्रायडवादी मनोविश्लेपकों का विश्वास है कि हमारे अचेतन प्रेरक, जो जाग्रतावस्था में प्रकट नही हो पाते, कई बार स्वप्न में अभिव्यक्ति पा जाते हैं; और यदि वे प्रेरक इतने दुःखद या असामाजिक हों कि सुपुप्तावस्था में भी हम उन्हें स्वीकार न कर सकते हों तो वे स्वप्न में सीधे न व्यक्त होकर रूप बदल कर आते हैं। इस-लिए उनका कहना है कि किसी व्यक्ति के स्वप्न के विश्लेषण द्वारा उसे अव्यवस्थित रखने वाले अचेतन कारणों को पकडा जा सकता है।

उपन्यासकार भी अपने पात्रों की असंगत प्रतीत होने वाली चेष्टाओं के अचे-तन कारणों को व्यक्त करने के लिए उपन्यास में पात्रों के स्वप्नों का समावेश किया करता है, पर वह मनोविश्लेषक की तरह स्वप्न का पूरा-पूरा ब्यौरा न देकर, केवल उन्ही तथ्यों का उल्लेख करता है जो उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त हों।

---

१५७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १४४-१४५।
१५८. वही, पृ० १४४-१४५।

डेढ-डेढ, दो-दो मन के न हों, क्योंकि "सच्चे अर्थ में हमें उनसे लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हम से कम मासल और अधिक मानसिक होंगे, उनमें आत्मा अधिक होगी और पचभूत कम।"[३] अपने अधिकाश पात्र उन्होने उस शिक्षित मध्यवर्ग से ही चुने, जिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने अधिक सवेदनशील बना दिया है और जो मूल नैतिकता की जिज्ञासा में समाज के समस्त विधि-निषेध के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाकर उनकी अवमानना तो कर बैठता है, पर अचेतन मन पर पड़े गहरे सस्कारो के कारण जीवन भर मानसिक संघर्ष की चक्की में पिसता रहता है। सत्यधन, श्रीकान्त, हरि-प्रसन्न, जितेन, जयन्त से लेकर सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, अनिता, भुवन-मोहिनी, इला तक उनके सभी पात्र इसी वर्ग के भावना-शरीरी प्राणी हैं जो अपनी भीतरी घुमड़न के कारण वर्ग-प्रतिनिधि पात्रों की मर्यादा लाँघ कर व्यक्ति-चरित्र बन गए है।

अचेतन द्वन्द्वों का चित्रण

पात्रों का चरित्र-चित्रण भी जैनेन्द्र ने स्थूल वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर ही किया है। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है— वह फिर चाहे कितना भी बड़ा आदमी समझा जाता हो—सफल उपन्यासकार नहीं हो सकता। एकदम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, 'मिस्टिक' हो।'[४] अपने उपन्यासों में वह पात्रों के दृष्टिगोचर व्यक्त रूप में न उलझ कर उनके अतल मानस की ओर प्रवृत्त हुए हैं। उनके विचार में आज के साहित्यकार के लिए सृजन का यही एक अर्थ है : "हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः-शनैः उसे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त करते जाना— मेरे खयाल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सृजन क्या होगा, यह मैं जानता नही।"[५] पात्रों के अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों को, जिनके कारण वे किसी भी परिस्थिति से अपना मानसिक संतुलन नही बैठा पाते और कस्तूरी-मृग के समान जीवन भर भटकते फिरते हैं, उघाड़ने में ही जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की समस्त शक्ति लगी है।

---

३. वही।

४. जैनेन्द्र, 'उपन्यास में वास्तविकता', 'वीणा', दिसम्बर, १९४१।

५. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १२।

वह बाहर कुर्सी पर लेटा रहा था। सुखदा ने चाहा वह उठे, जाए और उसे ले आये। उसे अपने पर बहुत गुस्सा आ रहा था और पति पर भी कि वह 'स्त्री की बात लेता है, मन नहीं।'[१६२] उसे हरीश पर भी क्रोध आ रहा था, पर हठात् वह भीतर से उसके लिए तिरस्कार न लाती थी। पर रह-रह कर उसे जान पड़ता था कि 'क्रांति' के सिवाय अब उसके लिए और राह नहीं।'[१६३] एक बजे के बाद उसे कुछ ऊँघ आ गई थी और तभी वह स्वप्न देखकर चीख उठी थी।

विश्लेषण

जब कोई व्यक्ति अपने प्रेमी के बारे में, जिस पर वह बुरी तरह से मुग्ध हो, या किसी शत्रु के बारे में जिस पर वह क्रुद्ध हो, सोचते-सोचते सो जाए तो उस के अवचेतन पर पड़े हाल ही की अनुभूतियों के संस्कार[१६४] अपनी तीव्रता के कारण स्वप्नावस्था में स्मृति-छाया के रूप में अभिव्यक्ति पा लेते है। इस प्रकार के स्वप्न निरे निराधार प्रत्यक्षीकरण की कोटि के होते है।[१६५] उस रात सुखदा पति पर गुस्से तो थी ही और हरीश की ओर आकृष्ट भी थी। उसे यह भी दिखाई देता था कि 'क्रान्ति' के सिवा अब उसके लिए और कोई राह नहीं। यहाँ क्रान्ति शब्द साभिप्राय है—शायद लेखक का संकेत गृहस्थ जीवन के प्रति क्रान्ति की ओर रहा हो। ऐसी क्रान्ति सुखदा जाग्रतावस्था में तो कर ही नहीं सकती थी, स्वप्न में भी वह ऐसा करने की शायद ही सोच सकती। इसीलिए, सम्भव है कि उसकी इस भावना ने स्वप्न में यह रूप धारण किया हो कि उसका पति स्वयं उससे तंग आकर घर छोड़ रहा है और जाने से पहले उसके नाम एक पत्र लिखकर उसके तकिये के नीचे रख रहा है। पति के रात के व्यवहार को देखते हुए सुखदा इसे सम्भव भी समझ सकती थी। पर पति के उसे इस प्रकार छोड़ जाने पर अपने को अरक्षिता तथा उन लोगों के रहम पर पाकर, जिनमें उसकी कोई गिनती नहीं, उसकी चीख निकल गई हो। हरीश को पाने की उसकी इच्छा ने तो स्वप्न में उसके पति के स्वयं घर से निकल जाने का रूप धारण कर उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया, पर अपनी विवेक-बुद्धि (कॉन्शेन्स) की डाँट-डपट ने तथा तज्जनित प्रत्यावर्त्तन (रिग्रेशन) की प्रकृति ने उस की चीख निकाल दी। इस प्रकार, जैनेन्द्र जी स्वप्न द्वारा सुखदा की मूल समस्या—

१६२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ४८।

१६३ वही, पृ० ४८।

१६४. 'Prasastapadabhashya', V. S. S. Benaras, 1895, p. 184 :
"Sansakarapatava."

१६५. Sinha, 'Indian Psychology Perception', p. 318-319 :
"There are many dreams which are not excited by peripheral nerve-stimulations but by the intensity of the subconscious impressions left by a recent experience .....These dreams are purely hallucinatory in character."

मन से वह दूर नहीं होती। छरहरे बदन की, अतिशय सुन्दरी, अभी जैसे सयानी उमर भी नही है। गर्भवती है। अब भी वह इस घर में रहती है और रोज मिलती है। कल्याणी बचती है पर कहाँ बचे ? उसकी फटी आँखें, कातर मुद्रा···।" (कल्याणी—पृ० ७३—८५)

'हैल्यूसीनेशन' की पृष्ठभूमि

कल्याणी के इस प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या में पड़ने से पहले उसे इस स्थिति तक पहुँचाने वाले अचेतन कारणों को पकडना होगा। कल्याणी के जीवन में लेखक आरम्भ से ही मृत्यु-तत्त्व का प्रभाव दिखाता है। वह विश्वास कर लेना चाहती है कि शीघ्र मर जाएगी : "मैं अधिक काल नही जीऊँगी। ऐसा जीना कठिन और व्यर्थ है"[१७०]—"आप मानिए या न मानिए, मै आपसे कहती हूँ कि इस बार मै नही बचूँगी[१७१]···इस वर्ष के आगे मै नही जीऊंगी।"[१७२] कल्याणी गर्भवती है। गर्भवती स्त्री ज्यों-ज्यों प्रसव के निकट पहुँचती जाती है, उसके बचपन के दबे हुए डर पुन: उभर आते हैं। यदि वह अपने को अजाने में ही पकड़ी गई समझती हो, यह महसूस करती हो कि गर्भोत्पन्न शारीरिक विकृति से उसका आकर्षण कम हो रहा है और बच्चा होने पर उसकी स्वतन्त्रता में भी बाधा पडेगी तो वह यह विश्वास कर लेना चाहती है कि प्रसव के समय या तो वह मर जाएगी और या बच्चा मर जाएगा। यदि वह अपने को किसी प्रकार अपराधिन पाती हो तो उसका यह विश्वास और भी पक्का हो जाता है। ऐसी स्त्री प्रसव को मृत्यु-दण्ड समझ बैठती है।[१७३] कल्याणी भी इसी प्रकार की स्त्री है। दूसरों के प्रति अपने आकर्षण को वह मन्द नहीं होने देना चाहती, उसकी नित्य नई तथा अतिरिक्त सज्जा इसका प्रमाण है। समाज में अपने स्वतन्त्र विहार में वह बच्चों को बाधा समझती है, इसलिए उसकी दोनों लड़कियाँ कान्वेण्ट में ही रहती हैं।[१७४] कल्याणी में निराधार मृत्यु भय के घर कर जाने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पर-पुरुषों से सम्बन्ध रखने के कारण वह

---

१७०. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १७।
१७१. वही, पृ० ३६।
१७२. वही, पृ० ४५।
१७३. Simone De Beauvoir: 'The Second Sex', Parshley's English translation, Oxford, 1953, p 484:

"Pregnancy seems to them (those who see themselves essentially as erotic objects) no holiday, no enrichment at all, but rather a diminiution of the ego......When the woman approaches her term, all her childish terrors come to light again, if through feeling of guilt she believes she is under her mother's curse, she persuades herself that she is going to die."

१७४. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ७५।

भीतर ही भीतर अपने को पति तथा समाज के प्रति अपराधिन पाती है। इस विषय में वह वकील साहब से प्रश्न भी करती है : "जो उस समाज के नियम को भंग करता है, उसका क्या होना चाहिए ?—मैं पूछती हूँ कि दुराचारिणी स्त्री को क्यों नहीं मर जाना चाहिए ?"[१७५] "मैं पापिष्ठा हूँ, मुझे मत छुओ। मुझे कोढ़ क्यों न हुआ ? धर्म के लायक मैं नही हूं।"[१७६] इसलिए यह विश्वास कर लेना चाहती है कि प्रसव के समय उसे अपराधों के दंड-स्वरूप मृत्यु मिलेगी। मृत्यु का वह चेतन में स्वागत भी करती है, क्योकि इस प्रकार वह गृहस्थ-जीवन की नित्यप्रति की कलह से भी छूट जाएगी। इस प्रकार, कल्याणी की गर्भस्थिति, अपने को आकर्षण का केन्द्र बनाए रखने की उसकी प्रवृत्ति, विवाहित जीवन से उसका असामंजस्य तथा उसकी अपराध-भावना सब मिलकर उसमें धीरे-धीरे मृत्यु के अकारण भय (फोबिया) को विकसित करते रहते हैं, जो बाद में उसके निराधार प्रत्यक्षीकरण का मूल कारण बनता है।

व्याख्या

'हैल्यूसीनेशन' की आरम्भिक अवस्था में तो वह अपने प्रत्यक्षीकरण के सत्य होने की बात को सायास टालती रही : "उसने सोचा कि होगा कुछ। कही मन का भय ही न हो,"[१७७] पर बाद में ज्यों-ज्यो उसका रोग बढ़ता गया, वे आवाजें उसके टालने की भरसक चेष्टा करने पर भी न टली और उन्हें असत्य मानने की उसकी चेष्टा को झँझोडने लगी। तब हार कर वह उन्हे सत्य मानने के लिए मजबूर हो

१७५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 383 :
"A comparison of Col. 2 (fears reported by adjusted wives) with Col. 6 (fears reported by unadjusted wives) shows a decided excess of some fears for the maladjusted group."

१७६. Ibid., p. 384.
"Because such behaviour was contrary to her own moral standards (or Super-Ego demands), she resisted the temptation, but found it necessary to develop many defences. .Those included . the fear of death (punishment for her bad thoughts.)"

१७७. McDougall, 'An Outline of Psychology', p. 373 :
"The hallucinated patient in an early stage of his trouble may dismiss by an effort the phantom figures or the voices whispering of threats and persecution. And so long as he can do this, he does not believe them real, inspite of their sensory vividness. But in a more advanced stage of the disorder, he cannot dismiss them; the phantom or the voice is insistent, resists his best efforts to dismiss it, it is then he begins to believe in its reality. And the most complete proof of the reality of any object is the resistance offered by it to our bodily efforts to move or change it. Solidity is the over-whelming evidence of reality."

गई। मैक्ड्यूगल के शब्दो में किसी वस्तु की यथार्थता का हमारे लिए सबसे बड़ा प्रमाण है उसे हटाने या बदलने की हमारी प्रत्येक शारीरिक चेष्टा में उस द्वारा उत्पन्न बाधकता।[१७८] कल्याणी के 'हैल्यूसीनेशन' को प्रारम्भिक अवस्था से विकसितावस्था में ले आने में शायद एक कारण उसकी शराब पीने की आदत भी हो, जो उसने अपनी निराशा को भूल जाने के लिए डाल ली थी : "मुझे शायद इस वक्त नशा है। पर नशा मैंने किया है और क्या करूँ? एक वह (पति) हैं जो बडी हिम्मत दिखाकर मुझे छोड कर चले गये हैं। एक ये (देवलालीकर) हैं, जिन्हें मैं पक्का जानती हूँ कि इन्होने स्त्री की हत्या की है। एक आप है जो किसी को कुछ सहारा नहीं देगे। फिर मै क्या करूं? नशा करती हूँ, तो कौन कहने वाला है कि क्यों करती हूँ?"[१७९]

तात्कालिक कारण

कल्याणी के उस रात के प्रत्यक्षीकरण का, जिसमें उसे पहले बहस और बाद में किसी स्त्री के रुद्ध कण्ठ से निकली आवाज सुनाई दी, और फिर उसने एक आदमी को अपने कमरे में से गुजरते देखा—तात्कालिक कारण उसके परदेसी पति का वह पत्र था, जिसमें उसने उसे सब प्रकार से अपराधी ठहराकर बताया था कि वह अदालत की सहायता से अपना अधिकार प्राप्त करेगा :—

> "तुम जानती हो तुम्हारी क्या हालत थी, जब मैंने तुमसे विवाह करके तुम्हें बचाया। तुम्हारा कुलीन विवाह असम्भव था। माँ-बाप को तुम गलग्रह थी। मैंने तुम्हारा उद्धार किया···तुम्हारे कुल तक पर तो धब्बा था···तुम समझती हो तुम कमाती हो? लेकिन आज तुम मुँह भी उठा सकती हो तो मेरी बदौलत···कानून हिन्दू स्त्री को हक नही देता। पैसे पर अधिकार मेरा है।···तुम्हारा ट्रस्ट भी नाजायज़ है, क्योंकि मैं कहूँगा कि मेरे दस्तखत फर्ज़ी हैं।···तुम रह सकती हो, पर मातहत बनकर; नहीं तो नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम्हें सहायकों का सहारा है पर मुझे देखना है कि वे कौन हैं और क्या कहते हैं।"[१८०]

उस रात, बहुत सम्भव है, कि वह पत्र की बात सोचते-सोचते निराशापूर्ण स्थिति में ही सोई हो। कमरे में वह वैसे भी अकेली सो रही थी, जिससे उसके भय को और भी प्रश्रय मिला होगा और अर्ध-जाग्रतावस्था में उसने यह प्रत्यक्षीकरण किया।

---

१७८. McDougall, 'An Outline of Psychology', p. 373.
१७९. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ६५-६६।
१८०. वही, पृ० ७०।

विश्लेषण

इस प्रत्यक्षीकरण में हत महाराष्ट्रीय स्त्री की आवेगज अनुभूति कल्याणी की अनुभूति के समान होने से कहा जा सकता है कि उस प्रत्यक्षीकरण में कल्याणी की 'ईगो' ही उस स्त्री के रूप में प्रकट हुई होगी।[१८१] कल्याणी स्वय भी तो कहती है कि "वह सुन्दरी युवती मुझे बार-बार देखती है, बार-बार खीचती है। सोचती हूँ कि वह हम सबकी प्रतिनिधि है।"[१८२] कल्याणी के पति ने उसे पीटा तो कई बार था ही, पर वह इस विचार को न सह सकने के कारण कि उसका पति उसके प्रति हिंसक भाव रख सकता है, उसे दमित (रिप्रेस) किये हुए थी। उसके ये शब्द--'हाँ' वह (उसकी पिटाई की घटना) झूठ है। नही वह कुछ नहीं। मैं उसको सही नहीं कह सकती, तो वह ग़लत नही तो क्या है ? और यदि मेरी गलती पर कुछ उन्होने कह-सुन लिया तो क्या यह याद रखने की बात है[१८३]—इसका प्रमाण है। उसके पति की उसके प्रति हिंसक भावना ने, जिसका वह दमन करती रही थी, इस प्रत्यक्षीकरण में महाराष्ट्रीय पुरुष का रूप धारण किया। दोनों में सघर्ष हुआ और अंत में उस स्त्री की मृत्यु के रूप में कल्याणी का मृत्यु-भय (डैथ फोबिया) प्रकट हुआ। इस प्रकार, कल्याणी के इस निराधार प्रत्यक्षीकरण के रूप में जैनेन्द्र जी उसके अचेतन में सक्रिय 'काशेन्स' तथा 'सेक्स' भावना के सघर्ष की एक झलक दिखा देते हैं।

जैनेन्द्र के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण में दुरूहता

विषय की गूढ़ता

मूलग्राही विचारधारा

हिन्दी-उपन्यास जगत् में जैनेन्द्र जी एक पहेली के रूप में आये। हिन्दी के वह पहले उपन्यासकार है, जिसने अपने पाठकों को बँधी-बँधाई, घिसी-घिसाई सामाजिक नैतिकता की संकीर्णता से निकाल कर मूल नैतिकता तक पहुँचाने के लिए उन्हें गहरे आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त किया। जैनेन्द्र जी तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-उपन्यास के पाठक में सामाजिक मूल्यो को परखने वाली अपनी निर्णायक बुद्धि पर जो एक प्रकार का विश्वास हो गया था उसे उनके उपन्यासों ने एकदम झँझोड़ दिया और आग्रह किया कि वह अभी और गहरे पैठे। अपने चिरपोषित नैतिक मूल्यों को इस प्रकार

---

१८१. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 299-300 :
"If I do not know behind which of the person which occur in the dream I am to look for my ego. I observe the following rule : that person in the dream who is subject to an emotion which I experience while asleep, is the one that conceals my ego"

१८२. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ८८।

१८३. वही, पृ० २८।

झुठलाया जाता देख पाठक को बेहद झुंझलाहट हुई और वह कोसते-कोसते यह कहना चाहने लगा कि लेखक क्या उलूल-जलूल लिखता जा रहा है, पर वह ऐसा कह नहीं पाया। लेखक द्वारा प्रतिपादित मूल्यो की सत्यता को संदिग्ध समझते हुए भी वह यह महसूस करने पर मजबूर हो गया कि लेखक द्वारा दी गई चुनौती में सच्चाई जरूर है। 'कल्याणी' के प्रकाशित होने के कुछ ही देर बाद आकाशवाणी के दिल्ली-केन्द्र से प्रसारित एक समीक्षा में अज्ञेय जी मानो जैनेन्द्र के पाठकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हों : "मैं फिर कहना चाहता हूँ कि उसके (कल्याणी के) पढ़ने से बेहद झल्लाहट होती है और मैं मानता हूँ कि वह झल्लाहट सब कुछ न होकर भी इस बात का सबूत जरूर है कि लेखक ने कहीं बहुत गहरे पर चोट की है।"[१८४] पर सभी पाठक तो ऐसे स्पष्टवादी नहीं हो सकते। सदियों से पड़े सस्कार एकदम कैसे धुल सकते हैं। इसलिए जैनेन्द्र जी से भी वही आशा की गयी जो उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से की गयी थी। उनके उपन्यासों में किसी विशिष्ट चिन्तन-धारा के आधार पर समस्याओं का निरूपण खोजा जाने लगा, पर निराशा ही हाथ लगी। चारों ओर से आवाजें उठने लगी : जैनेन्द्र के उपन्यास पहेली हैं, "इस प्रहेलिका पर हम सोचते ही रह जाते हैं। कुछ पार नही मिलता, कुछ भेद नहीं पाते।"[१८५]— "विचार-मौलिकता का जो सक्रिय और स्पष्ट स्वरूप हम एक मौलिक विचारक और कलाकार की कृति में देखने को उत्सुक रहते है, उसकी आशिक पूर्ति भी इन उपन्यासो द्वारा नहीं होती। हम एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना में भटकते रहते हैं।"[१८६] इस प्रकार लेखक की आत्मा से, उसकी विचारधारा से, सायुज्य स्थापित न कर सकने के कारण उसके पात्रों और उनकी विशिष्ट स्थितियो से जिनका एकात्मीकरण नही हो पाता, उनके लिए ये उपन्यास दुर्बोध बने रहते हैं।

अचेतन की खोज में

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की दुरूहता यदि पाठको की मान्यताओं के उनकी विचारधारा से मेल न खा सकने से ही हो, तो जो बिना किसी प्रकार के पूर्वग्रह के उनके उपन्यासों को पढ़ें, उन्हें यह शिकायत नहीं होनी चाहिए। पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। श्री प्रभाकर माचवे के लिए भी, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि उन्होंने जैनेन्द्र और उनके साहित्य को निकट से देखा और पढ़ा है, "जैनेन्द्र एक ऐसी उलझन है, जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे।"[१८७] यही नहीं, जैनेन्द्र जी स्वयं भी अपनी इस रहस्यमयता से अपरि-

---

१८४. 'आरती', अगस्त १९४१, पृ० ६५।

१८५. पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, "आधुनिक हिन्दी-साहित्य के कुछ उपन्यास", 'सरस्वती', मार्च, १९५२।

१८६. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००७, पृ० १७३।

१८७. प्रभाकर माचवे, "श्री जैनेन्द्रकुमार—एक व्यक्तित्व", 'हंस', नवम्बर, १९३६।

चित नहीं। इसी को लक्ष्य करते हुए अपने आलोचकों के प्रति उन्होंने एक बार लिखा भी था—"गहन गहराई में उतर कर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसे ऊपर मैदान में चलना। लिखना क्यो है? अपने भीतर की उलझनों को सुलझा पाने के लिए भी तो वह है। वहाँ भीतर बडी चकरी अँधेरी गलियाँ हैं, वहाँ प्रकाश हो जाए तो बात ही क्या। इससे वहाँ पैठ कर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या कुछ चकरीली सी हो जाए तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्व की बात नही, लाचारी की बात है।"[१८८]

तो क्या उनके उपन्यासों की रहस्यमयता का कारण जैनेन्द्र जी उतने नहीं, जितना कि उनके विषय—मानवमन—की अपनी गूढ़ता है? पात्रों की मानसिक अनुभूतियो का चित्रण तो हिन्दी-उपन्यास में जैनेन्द्र जी के आने से पहले भी होता था, पर वे अनुभूतियाँ पात्रों के चेतन मन की होती थीं, शायद इसी लिए वे मानवी भाषा में, जो चेतन मन की ही एक उपज है, स्पष्ट अभिव्यक्ति भी पा जाती थीं। पर जैनेन्द्र जी पात्रों के चेतन में नही अटके रहते, प्रत्युत उसे चीर कर उनके अचेतन की परत पर परत खोलने लग जाते हैं। तो क्या अचेतन का उसी प्रकार स्पष्ट रूप नहीं पकड़ में आ सकता, जिस प्रकार चेतन का? मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रवर्त्तक सिग्मंड फ्रॉयड ने अचेतन की व्याख्या करते हुए एक बार लिखा था कि उसकी भीतरी प्रकृति हमारे लिए उसी प्रकार अज्ञेय रहती है, जिस प्रकार बाह्य जगत् की वास्तविकता; अचेतन मन द्वारा उपलब्ध सामग्री में उसकी उतनी ही अधूरी झलक मिलती है, जितनी हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् की।"[१८९] मनुष्य के चेतन व्यापारों में प्रतिबिम्बित अचेतन को समझ सकना साधारण लोगों के नहीं, मनोविश्लेषकों के ही बस की बात है। हम लोग तो कभी ही उसमें झाँक पाते होंगे। अपनी चेतन कल्पनाओं और विचारों की भाषा में ही हम इसे थोड़ा-बहुत जो कुछ भी हो समझ पाते हैं। जब यह अचेतन, कल्पनाओं और विचारों की भाषा में भी पूरा समझा नहीं जा सकता तो उसे स्पष्टतया समझाया कैसे जा सकेगा और वह भी शब्दों की ससीम भाषा में। "बुद्धिनिर्मित ये शब्द सतह की लहरों को गिनते हैं, गहराई को वे कहाँ नापते हैं? क्या वे उसको तनिक भी पाते है, जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है?"[१९०]

---

१८८. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १०९।

१८९. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 27:

"Its inner nature is as unknown to us as the reality of the external world, and it is just as imperfectly reported to us through the data of unconsciousness as is the external world through the indications of our sensory organs." (S. Freud).

१९०. जैनेन्द्र कुमार, 'कल्याणी', पृ० ८०।

पाठकों के लिए आयास-साध्य

तो क्या अस्पष्ट अभिव्यक्ति की यह लाचारी, जिसका जैनेन्द्र जी ने उल्लेख किया है, उनकी ही नही, सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो की लाचारी है ? यदि यह सच है तो मानना होगा कि सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में थोड़ी बहुत अस्पष्टता जरूर रहती है। जोसेफ फ्रेक ने जब एक बार कहा था कि—'मनोवैज्ञानिक उपन्यास साधारण अर्थ में नही पढे जा सकते, उनके पुनर्पठन की अपेक्षा रहती है।'[१६१] तो कदाचित् उसका यही आशय था कि एक बार पढ़ने से वे समझ में नही आते। सच तो यह है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास केवल लेखक से नही, पाठक से भी आयास की अपेक्षा करता है।[१६२] और यही माँग जैनेन्द्र जी के उपन्यास भी अपने पाठकों से करते हैं। यह बात उन्होने उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करते ही खोल दी थी—'मैने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी है। यहां पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है। और समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा आयास वाछनीय होता है—अच्छा ही लगता है।'[१६३] उनका यह कथन कथानक पर ही नही, पात्रों के चरित्र-चित्रण पर भी लागू होता है।

"जैनेन्द्रपन"

जैनेन्द्र जी के उपन्यास यदि आयास-साध्य ही हो तब तो कोई बडी बात नही, बिना किसी पूर्वग्रह के थोड़ा आयासपूर्वक पढ़ने से उनके उपन्यास स्पष्ट हो जाने चाहिएँ। यदि ऐसा नहीं होता, तो मानना पड़ेगा कि उनके उपन्यासों की रहस्यमयता उनकी मूलग्राही विचारधारा के कारण या उनके उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक होने के कारण ही नहीं, उनकी उपन्यास-कला के वैशिष्ट्य के कारण, उसमें व्याप्त 'जैनेन्द्रपन'[१६४] के कारण, भी हो सकती है। तो फिर यह 'जैनेन्द्रपन' क्या है ?[१६५]

---

१६१. Edel, 'Psychological Novel', p. 108 :

"A stream of consciousness novel cannot be 'read' in the usual sense — it can only be re-read." (Joseph Frank).

१६२. Ibid., 100-101 :

"We are asked to 'see' into the characters, to make deductions from such data as may be offered us—and at the same time to live for ourselves the experience with which we are confronted on the printed page. This is asking a great deal of the reader."

१६३. जैनेन्द्र कुमार, 'परख', पृ० ५।

१६४. S. H. Vatsyayan, "Hindi Literature", 'Contemporary Indian Literature', Sahitya Akademi, New Delhi, 1957, p. 80 :

"Another writer who cannot easily be placed in the general movement of Hindi Literature is Jainendra Kumar, whose novels and short stories constitute one of the most significant literary contributions of his period."

१६५. देखिये—'भारती', अगस्त, १६४१, पृ० ६५।

शैली-प्रदर्शन

नयी शैलियों के प्रति मोह

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की पहली विशेषता है चरित्रोद्घाटन की नई-नई प्रणालियो के प्रति उनका मोह। 'परख' से लेकर 'जयवर्धन' तक उन्होंने बदल-बदल कर चरित्र-चित्रण की कई प्रणालियो को अपनाया है। 'परख', 'सुनीता' और 'विवर्त' में उन्होंने प्रेमचन्द की तरह, परम्परागत वर्णनात्मक शैली (उपन्यासकार द्वारा प्रथम पुरुष में वर्णन) अपनाई है। 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' की शैली जीवनी की रही है। उपन्यास का एक पात्र प्रथम पुरुष में धीरे-धीरे नायिका के जीवनवृत्त और उसके चरित्र-विकास पर प्रकाश डालता रहता है। 'जयवर्धन' की शैली देखने को तो डायरी की है, पर वास्तव में, वह 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' वाली शैली का ही एक रूपान्तर है, क्योंकि इसमें नायक-नायिका का वृत्त एक ही पात्र की डायरी में लिखा मिलता है, भिन्न-भिन्न पात्रों की डायरियों में नही। 'सुखदा' और' व्यतीत' में 'आत्मकथा' शैली का प्रयोग हुआ है—नायक अथवा नायिका उत्तम पुरुष में आपबीती सुनाते हुए स्वयं ही अपने को खोलते चलते हैं।

इतिहास शैली : इस प्रकार, नई-नई शैलियों के प्रति आकर्षण के कारण जैनेन्द्र जी उपन्यासकार की सहजोपलब्ध स्वतंत्रता का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओं का निर्माण करते रहे हैं। इतिहास-शैली, लेखक द्वारा प्रथम पुरुष में पात्रों को उद्घाटित करते रहना, आज चाहे कितनी ही रूढ़ समझी जाए, सर्वोत्तम रही है। यह शैली उपन्यासकार को एक साथ 'स्रष्टा' और 'कथाकार' दोनों ही बनाकर उसके काम को सरल बना देती है। हम यदि एक-दूसरे के लिए—और बहुधा अपने लिए भी—एक पहेली हैं, तो इसलिए कि जो हमारा स्रष्टा है, हमारे बारे में सब कुछ जानता है, वह मौन है—कुछ बताता नही और हम जो एक-दूसरे के स्वभाव की व्याख्या करने का दम भरते है, कुछ जानते नही, केवल अनुमान के आधार पर ही दौड़ लगाते है। इसलिए इस शैली में और चाहे कोई दोष आ जाए, पात्रों का चरित्र-विकास अस्पष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी लेखक आवश्यकता पड़ने पर कभी भी उनके विकास की टूटी कड़ियाँ जोड़ सकता है। 'परख', 'सुनीता' और 'विवर्त' में जैनेन्द्र जी ने यह शैली अपनाई तो है, पर बडे संकोच के साथ। यदि वह अपने अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर पात्रों की विविध क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रेरकों में एकसूत्रता ले आते, तो वे पहेली न बने रहते। यहाँ भी वे 'सिरजनहार' की बराबरी करने का मोह नही छोड़ सके है—'सृष्टि ही तो दीखती

है, स्रष्टा कहाँ दीखता है।'[१६६] तो फिर अपनी सृष्टि, उपन्यास, में वह क्यो दिखाई दें।

आत्मकथा-शैली : 'सुखदा' और 'व्यतीत' की आत्मकथा-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होते हुए भी अपनी सीमाओ में जकड़ी हुई है। आत्मविश्लेपण प्रणाली की मजबूरियाँ ही इस शैली की मजबूरियाँ है। आत्मविश्लेपण में पात्र को अपनी ही विश्लेषण-शक्ति पर निर्भर करना होता है, क्योकि उसकी सहायता के लिए कोई मनोविश्लेषक तो वहाँ होता नहीं। इसी प्रकार आत्मकथात्मक उपन्यासों में पात्र को अपने चरित्र-प्रकाशन के लिए स्वयं ही सब कुछ करना पडता है, उपन्यासकार उसकी कोई प्रत्यक्ष सहायता नही कर सकता। आत्मविश्लेषण साधारण व्यक्ति के बूते की बात नही। इसके लिए कई वर्षो का अभ्यास और साधना अपेक्षित है। मनोविश्लेषक की सहायता के बिना यदि कोई मुक्त आसग कर सके, तो यही बहुत होता है। यह काम तो सुखदा और जयत दोनों ही अच्छी तरह कर लेते हैं, पर इतने से ही तो काम नही चल जाता। माना कि उनके द्वारा दिए गए मुक्त आसंगों के ब्योरे में उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनो के अचेतन कारण निहित हैं, पर उन्हें पकड़ तो वही सकेगा जो अचेतन मन की भाषा समझने की विद्या में विशारद हो। सुखदा और जयंत में यदि अपनी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो के अचेतन कारण पकडने की सूझ होती तो वे असहाय होकर इस प्रकार न कहते : 'अब भी मै क्यों यह नही समझ पाती कि व्यक्ति जो चाहता है, ठीक वही उसके करने से क्यो नही हो पाता।'[१६७] 'एकाएक जगह छोड़ने का निश्चय कैसे बन गया, क्यों कर बन कर टल न सका, आज भी मैं जानता नहीं हूँ। सिवा इसके कि अभाग्य साथ चलता है, और क्या कहूँ ?'[१६८] जब पात्र अपने अचेतन प्रेरकों को बता सकने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दे और उपन्यासकार अपनी ओर से कुछ भी न बता सकने के लिए मजबूर हो तो पाठक के पल्ले क्या पड़ेगा। वह तो झल्ला कर ही रह जाएगा। पाठक अनुभवी मनोविश्लेषक हो तो भी शायद ही वह पात्रों को पूरा-पूरा समझ सकेगा, क्यों कि पात्रों द्वारा दिए गए स्वल्प विवरण पर ही उसे सन्तोष करना पड़ेगा। पात्रों से प्रश्नोत्तर द्वारा और कुछ पाने की सुविधा, जो मनोविश्लेषक का सहजाधिकार माना जाता है, उपन्यास के पाठक को कहाँ ?

---

१६६. (क) जैनेन्द्र, 'सुनीता', प्रस्तावना, पृ० ३।

(ख) Allen, 'Writers on Writing' p. 137 :

"The artist should be in his work, like God in creation, invisible and all-powerful; he should be felt everywhere and seen nowhere." (Gustava Flaubert to Mile de Chautepia."

१६७. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ७२।

१६८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ४०।

मनोविश्लेषण-शैली : 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' और 'जयवर्धन' की प्रणाली तो आत्मकथा-शैली से भी अधिक चक्करदार है। 'सुखदा' और 'जयवर्धन' को तो अपने-आप को ही जानना-समझना है; पर प्रमोद, वकील साहब और हूस्टन को पहले दूसरों को—क्रमशः मृणाल, कल्याणी, जयवर्धन और इला को—समझना है, और फिर पाठकों को समझाना है। उनकी सब से बड़ी कठिनाई यह है कि यह सब कुछ उन्हें स्वानुभूति नहीं, कोरे अनुमान के बल पर करना पड़ता है। अपने को समझने की अपेक्षा दूसरों को समझना जितना अधिक कठिन है, उतने ही अधिक अस्पष्ट हो गए हैं ये उपन्यास—'सुखदा' और 'व्यतीत' से। 'त्यागपत्र' के प्रमोद, 'कल्याणी' के वकील साहब तथा 'जयवर्धन' के विलवर हूस्टन को न्यूनाधिक रूप में एक मनोविश्लेषक का काम करना पडता है और अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अचेतन कारणों को समझने के लिए मुक्त आसग, बाधकता विश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण आदि प्रणालियो का प्रयोग करना पड़ा है, जिनके बिना मनोविश्लेषक का गुज़ारा नहीं। मनोविश्लेषण-प्रणाली में उपर्युक्त और पर्याप्त सामग्री के संकलन के लिए मनोविश्लेषक और पात्र का प्रतिदिन का सम्पर्क कम से कम दो तीन वर्ष तक चलता रहता है। तब कहीं, मनोविश्लेषक अपने को इस स्थिति में समझता है कि कुछ अनुमान लगा सके।'[१९९] पर 'त्यागपत्र' का प्रमोद होश पकड़ने पर केवल तीन-चार बार मृणाल से मिलता है और वह भी कुछ घण्टों के लिए। 'कल्याणी' के वकील साहब का भी कल्याणी के पास आना-जाना उसकी गर्भावस्था तक ही रहता है और वह भी प्रति दिन नहीं, कभी-कभी ही। 'जयवर्धन' का 'हूस्टन' तो सप्ताह भर में जयवर्धन के निजत्व को पा लेना चाहता है। एक तो व्यावसायिक मनोविश्लेषक न होने के कारण इन्हें अपने पात्रो को मुक्त आसंग की स्थिति में लाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि अपमान भी सहना पड़ा। दूसरे, ये अपने पात्रों के मुक्त आसंगों, उनके निराधार प्रत्यक्षीकरण तथा स्वप्न की उचित व्याख्या करने में भी असमर्थ रहे हैं। ऐसी स्थिति में, जब प्रधान पात्र अपना सन्तुलन खो बैठा हो, मनोविश्लेषक पात्र सुस्पष्ट व्याख्या कर सकने में असमर्थ हो और लेखक बीच में दखल न दे सकता हो, पाठक से ही आशा रखना कि वह मनोविश्लेषक की-सी योग्यता रखे, क्या उसके प्रति अन्याय करना न होगा ?

स्वनिर्मित सीमाएं

इस प्रकार, नई-नई शैलियों के मोह में पड़ पर जैनेन्द्र जी द्वारा उपन्यासकार के सामान्य अधिकारों का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओ का निर्माण

---

१९९. Ruch, 'Psychology and Life', p. 531 :
"Psycho-analysis has also been criticised because it has an intensive method of therapy that requires a great deal of time and money. Daily contacts over a two or even three year period are not at all uncommon."

करते चलना भी उनके पात्रों की दुरूहता का एक कारण हो सकता है। पर कहा जा सकता है कि अकेले जैनेन्द्र जी ने ही तो इन प्रणालियों का प्रयोग नहीं किया, लगभग सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इन्हे अपनाया जाता है। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उपन्यास में दिखाई चाहे न दें, उसमे अपने प्रवेश के अधिकार को वे इस प्रकार तिलांजलि कभी नही देते, जैसा कि जैनेन्द्र जी करते है। 'शेखर · एक जीवनी' से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त, जब भी कोई उपन्यासकार किसी ऐसी प्रणाली का प्रयोग करता है, जिसका सम्बन्ध अचेतन के प्रकाशन से हो, तो उसके उपन्यास में उचित टीका-टिप्पणी का समावेश पाठकों की दृष्टि से उतना ही आवश्यक होता है, जितना कि मनोविश्लेषण प्रणाली में पात्र (सब्जेक्ट) की सहायता के लिए उसके अचेतन प्रेरकों की व्याख्या। इसलिए, यह मानना होगा कि जब तक पाठकों का, अचेतन तक पहुँचाने वाली प्रणालियों की प्रक्रिया पर सहज अधिकार नही हो जाता, उपन्यासों में उचित व्याख्या के समावेश द्वारा उसे समझाने का दायित्व उपन्यासकार पर ही रहेगा। उपन्यासकार अपने इस दायित्व से कतराएगा तो उसके पात्र पहेली से दीखेंगे।[२००] कदाचित् यही कारण है कि आन्द्रेजीद की तरह आजकल उपन्यासकार अपनी कृतियों के साथ टिप्पणियाँ भी जोड़ देते हैं।

पाठक किसी उपन्यास को केवल पढ़ता ही नहीं, साथ-साथ अनुभव भी करता जाता है, और जहाँ उसकी अनुभूतियाँ किसी एक भी पात्र की अनुभूतियो से मेल खा जाती हैं और उस पात्र से उसका सायुज्य स्थापित हो जाता है, वह रस-विभोर होकर वाह-वाह कर उठता है।[२०१] जैनेन्द्र जी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं : 'साहित्य की कसौटी वह संस्कारशीलता है, जो हृदय-से-हृदय का मेल चाहती है और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्र मुदित करता है, वह साहित्य खरा है। संकुचित करता है, वह खोटा।'[२०२] पर साहित्य द्वारा चित्र के मुदित अथवा संकुचित होने का प्रश्न तो तभी उठेगा यदि वह पात्र के लिए बोधगम्य हो।

---

२००. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p 131 :
"It may be that interpretation and comment are indispensable accompanists of experimental writing, at least until the means of such interpretation becomes a part of the reader's own mental equipment."

२०१. Edel, 'Psychological Novel', p. 108 :
"Perhaps the only generalisation possible then is that in a novel which uses internal monologue ..... the author succeeds only when the reader achieves a certain state of identification or relationship with the sole mind that is offered to him on the pages of the book."

२०२. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १३३।

बेहद व्यंजकता (सब्जैक्टिवनैस)

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की एक और विशिष्टता है, उसकी व्यंजकता। हिन्दी में वह पहले उपन्यासकार हैं जो अपने पात्रों के चरित्र-विकास के लिए घटनाओं पर निर्भर नहीं करते, प्रत्युत् उसके लिए जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतियों का सहारा लेते हैं। क्षुद्र-से-क्षुद्र संकेत भी उनके उपन्यासों में उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया है, जितनी कि प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासो में बड़ी-से-बड़ी घटना। इसी प्रकार, उन के पात्रों के पास साफ-साफ कहने को बहुत कम है, संकेत करने को ही अधिक है। इन इंगितों को व्यक्त करने वाली पात्रों की भाषा इतनी अधिक सरल है कि वक्र हो उठी है। उनके छोटे-छोटे अनगढ़ वाक्यों में बेहद व्यंजकता है। एक बार उन्होंने स्वयं भी कहा था: "कोई कथन सीधे अपने शब्दार्थ में और कोई घटना अपने सीमित अर्थ में सार्थक नहीं होती। सबका अर्थ विस्तृत है—इससे सब कुछ मात्र संकेत रूप में सूचक-इंगित रूप में ही अर्थकारी है।"[२०३] "जैनेन्द्र जी की शैली और भाषा अपनी जिज्ञासा और समन्वय बुद्धि के एकीकरण में एक संकोचशील भाषा है। उनका अभिप्राय स्पष्ट है, किन्तु संकोच, अभिप्राय को ग्रहण करने के लिए कुछ रुक-रुककर चलने को कहता है—वे अभिप्राय की रास को हल्की खीच देकर चलते हैं, ढील देकर नहीं; उनकी गति में एक चिन्तनशीलता है, चिन्ता के प्रति एक सजग मृदुता, एक कोमल समझौता। शैली की इस व्यंजकता के कारण वह एक पहेली-सी लगने लगती है। जैनेन्द्र जी इस पहेली को कहीं तो खोल देते हैं और कही उसे पहेली ही बनी रहने देकर जिज्ञासा जगा जाते हैं।"[२०४] पाठक बहुधा उनके इंगितों को समझ नहीं पाता और पात्रों का चरित्र-विकास उसके लिए अस्पष्ट रह जाता है।

प्रच्छन्न दार्शनिकता

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला में एक और उलझन है उनकी दार्शनिकता। वैसे तो प्रत्येक उपन्यासकार का जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण होता है जो जाने या अजाने उसकी कृति को एक रंग दे देता है।[२०५] वास्तव में, उच्च कोटि की रचना पाठक का मनोरंजन ही नही करती, उसके बौद्धिक विकास के लिए खाद्य भी प्रदान करनी है।[२०६] पर जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की उलझन यह है कि उनका जीवन-दर्शन

२०३ वही, पृ० ११२।

२०४. शांतिप्रिय द्विवेदी, "जैनेन्द्र के विचार—एक समीक्षा", 'हंस' पृ० ८३६।

२०५ Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 131.

२०६. Ibid., p. 169:

"If one thing is proved with certainty by the whole history of literature down to our time, it is that the self-preservative instinct of humanity rejects such art as does not contribute to its intellectual nutrition." (John Addington Symonds).

उनकी रचनाओं में आसानी से नही मिल पाता। वह स्वय भी इस बात को जानते हैं : "पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पाएगा। यह नही कि मै उसके प्रत्येक शब्द में नही हूँ, लेकिन पुस्तक के जिन पात्रो के माध्यम से मैं पाठको को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ।"[२०७] अपने पाठको पर जैनेन्द्र जी अपने जीवन-दर्शन का आरोप नही करना चाहते। इस दृष्टि से कि पाठक उन्हे उपदेशक न समझ बैठे, वे पात्रों के जीवन की तुच्छातितुच्छ गतियों को लेकर ही अपना आशय व्यंजित कर देते है। इस ओर उन्होंने एक बार सकेत भी किया था : "बड़ी से बडी वस्तु अनुपयोगी और छोटी से छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रन्थ के जीवन में विराट् आशय बन सकती है। तुच्छ इस सृष्टि में कुछ भी नही।[२०८] इसलिए, पाठको की दृष्टि में उनके पात्रों के जीवन की क्षुद्रातिक्षुद्र घटनाओ को भी यथेष्ट महत्त्व न मिल सकने से यदि प्रतीत होने लगे कि 'नैतिक आदर्शों को उनके उपन्यासों में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नहीं'—उनका दर्शन सामाजिक जीवन से पलायन का दर्शन है[२०९], तो आश्चर्य न होना चाहिए। इसी प्रकार, यदि उनके 'उपन्यासों का अन्त भी निष्कर्ष-विहीन'[२१०] दिखाई दे, तो भी कोई बड़ी बात नहीं। यह आशका लेखक को पहले से ही थी : "इस प्रकार, असम्भव नहीं कि कला का उपास्य विलुप्त ही रहे और पडित-जन की बुद्धि शास्त्र-विच्छेद द्वारा यहीं पहुँचे कि कला का सिंहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्बुद्धिता के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।"[२११]

अपर्याप्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या

जैनेन्द्र जी के औपन्यासिक पात्रों के अचेतन में सक्रिय संघर्ष की एकरूपता और उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उनका विकास की समान शिक्षा ग्रहण कर लेना, हमें यह सोचने के लिए विवश कर देता है कि क्या, वास्तव में ही, उनके उपन्यासों में नैतिक आदर्शों को स्थिर मान्यता नही मिल पाई है और क्या सच ही उनका अन्त निष्कर्ष-विहीन रहा है ? और मानसिक सघर्ष में से गुजरने के बाद सुनीता का हरिप्रसन्न के प्रति, सुखदा का लाल के प्रति, भुवनमोहिनी का जितेन के प्रति आत्म-समर्पण, तथा 'व्यतीत' की नायिका अनिता का जयन्त के प्रति उच्छृंखल होने के बाद क्षमा माँगते हुए कहना : 'जयन्त, रात की बात भूल जाओ। मैं सुध में न थी। अब

---

२०७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', प्रस्तावना पृ० ३।
२०८. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ११३।
२०९. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', पृ० १६०।
२१०. राजकिशोर वर्मा, "उपन्यास का भविष्य", 'पारिजात', जनवरी, १९४७।
२११. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ३७।

सुध में हूँ। कहती हूँ, मैं यह सामने हूँ। मुझ को तुम ले सकते हो[२१२]—इस बात की ओर स्पष्ट सकेत है कि उनके उपन्यासों का अन्त एक ही निष्कर्ष में होता है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, जैनेन्द्र जी के पात्रों के, विशेषतः स्त्री-पात्रों के, अचेतन में उनकी विवेक-बुद्धि (कान्शेन्स) तथा यौन (सैक्स) की प्रवृत्ति में निरन्तर घोर सग्राम छिड़ा रहता है, जो उनके अजाने में उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करके परिस्थिति से उनका सन्तुलन नही बैठने देता। उनकी नायिकाओं के भरसक चेष्टा करने पर भी उनकी विवेक-बुद्धि उन्हें अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित नही होने देती और जब उनकी यौन प्रवृत्ति उन्हें प्रेमी की ओर झुका ले जाती है और करीब ही होता है कि वे उसे समर्पित हो जाएँ, उनकी विवेक-बुद्धि—सामाजिक संस्कारिता रूपी 'कान्शेन्स'—उन्हें पति के प्रति विश्वासघात करके अपनी ही नजरों में गिरने नही देती तथा उनका समर्पण सहसा बीच में ही रुक जाता है। इस प्रकार, एक लम्बे मानसिक सघर्ष में उनकी विवेक-बुद्धि उनकी यौन प्रवृत्ति पर छाई रहती है और वे प्रेमी तथा पति दोनों से ही कटी-कटी रहती हैं। अपने में सिमटकर वे अपने को शून्य[२१३] बना लेती हैं और वह शून्य उन्हे भीतर ही भीतर काटता रहता है। 'नितांत एकाकी रहकर किसी को कैसे सुख मिल सकता है', 'ताड़ के पेड़ की तरह ऊँचा तनकर वे अकेली न खड़ी रह सकी।'[२१४] 'उनके भीतर तक व्याप्त एक से दो होने की अपेक्षा[२१५]—उनकी यौन प्रवृत्ति[२१६]—अततः उन्हें प्रेमी के प्रति समर्पित होने के लिए मजबूर कर देती है और इस प्रकार, वे अपने क्षुद्र अहंकार को तोड़कर विराट् में विदेह बनने'[२१७] के लिए मचल उठती हैं, मानो अपने स्रष्टा का अनुभूत तथ्य—ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान-लाभ है...आत्मार्पण में ही आत्मोपलब्धि है, आग्रहपूर्ण सग्रह में लाभ नही,[२१८]—उन्होने पा लिया हो और उनके भीतर का बिछुड़ा खण्ड अखण्ड से ऐक्य को तडप उठा हो।[२१९] पर जैनेन्द्र जी के उपन्यास और उनके पात्र अपने स्रष्टा के जीवन-दर्शन को इतना खुलने कहाँ देते है। उनके 'पात्रों का तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है'[२२०] और उनके सकेत-सूत्र उपन्यास भर में बिखरे ही नही रहते, प्रत्युत नाना प्रकार के रूप धारण करके पाठको को भरमाते रहते हैं।

---

२१२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १६६।
२१३ जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ८१।
२१४. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ५-६।
२१५. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ५-६।
२१६. Andre Tridon. 'Psycho-Analysis and Love'. p. 46-47:
२१७. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १८८।
२१८. वही, पृ० ११२।
२१९. वही, पृ० १८७।
२२०. वही, पृ० ११५।

इसलिए समूचा उपन्यास पढ़ चुकने पर भी उसके हाथ कुछ नहीं आ पाए, पात्र उसे पहेली-से लगे और उपन्यास निष्कर्ष-विहीन दीखने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस प्रकार, पात्रों के अचेतन को पकड में ले आने के प्रयत्न में जैनेन्द्र जी द्वारा अपनाई गई गूढ आत्मचिंतन प्रणाली और उसमें आवश्यक व्याख्या-सूत्रों का अभाव, चरित्रोद्घाटन की नई-नई शैलियों के मोह में पडकर उनके द्वारा उपन्यासकार के सहज अधिकारों का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओं का निर्माण, आवश्यकता से अधिक व्यंजकता के समावेश द्वारा पाठकों को भरमाते रहना, उपदेशात्मकता से बचने के प्रयत्न में अभिप्राय की रास को, ढील नहीं, हल्की खींच देकर चलना आदि कई विशिष्टताएँ मिलकर उनकी उपन्यास-कला में एक ऐसा 'जैनेन्द्रपन'[२२१] ला देती हैं, जिससे पूरी तरह परिचय पाए बिना पाठक उपन्यास के पात्रों से अपना सायुज्य स्थापित नहीं कर पाते, और वे उस साहित्यानन्द की प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं, जिसे जैनेन्द्र साहित्य का प्राण मानते हैं[२२२]; उपन्यास उन्हें उलझन नजर आने लगते हैं और पात्र लक्ष्य-भ्रष्ट।

---

२२१. वात्स्यायन, 'आरती', अगस्त, १९४१, पृ० ६५।
२२२. जैनेन्द्र 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ४३।

इलाचन्द्र जोशी

परिचयात्मक विवेचन

इलाचन्द्र जोशी का विश्वास है कि आज विश्व में जो उथल-पुथल मची हुई है, उसका मूल कारण यही है कि हम अपने अन्तर्जीवन की पूर्ण उपेक्षा कर के बाह्य जीवन को ही सब कुछ समझ बैठे हैं और इस सत्य के प्रति आँखे मूँद लेते हैं कि व्यक्तियो के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपको के रूप में—विश्वव्यापी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के प्रतीक बन कर—प्रकट होते रहते हैं। परिणामस्वरूप हम अपनी जीवनगत समस्याओं का वास्तविक रूप नही समझ पाते और उनके समाधान के लिए जो उपचार अपनाते है, वे भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अपने उपन्यासों में जोशी जी निरंतर इस तथ्य के अनुसंधान में जुटे रहे हैं कि अज्ञात चेतना के पाताल लोक में स्थित अतल नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य जीवन-तत्त्वो के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन-तत्त्वों का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके मानव-जगत् में किन उपायो से अपेक्षित स्वर्ग की स्थापना की जा सकती[1] है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने अपने उपन्यासों में जीवन में घटित होने वाली विशेष घटनाओं को लेकर उन्हें कुछ विशेष पात्रों के जीवन-सूत्रों में पिरोकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यक्ति जो है वह वही नही है। उसके बाहरी रूप के भीतर कितनी परतों के नीचे उसका असली रूप छिपा रहता है और यदि रात-दिन के जीवन की तुच्छता का पर्दा हटाकर किसी साधारण समझे जाने वाले व्यक्ति के भीतर हम एक भी झलक देख सके तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहे।[2] इसके साथ साथ उन्होंने इस तथ्य को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति के जीवन में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं, वे अकारण भाग्यवश नहीं घटित होती, उन घटनाओं के बीज पहले से ही व्यक्ति

---

१. जोशी, 'प्रेत और छाया', भूमिका, पृ० ११।

२ जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० १६३।

मानस में छिपे रहते है ; उन छोटी-छोटी घटनाओं की ओट में पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह ठाठे मारता रहता है। साथ ही उन्होंने यह भी बताने की कोशिश की है कि जीवन की छोटी-से-छोटी घटना भी उपेक्षणीय नही। बडी-बडी बातों से तो मनुष्य की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है, पर छोटी-छोटी बातें उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं।' 'इन्ही छोटी-छोटी बातो' पर गौर करते रहने से जीवन के बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण, किन्तु उलझे हुए रहस्य सुलझते चले जाते है।[३]

पात्र-चयन-परिधि

इस प्रकार जोशी जी को अपने उपन्यासों के लिए ऐसे नायक और नायिकाओं की आवश्यकता पड़ी जो देवताओ के समान बाहर और भीतर एक समान न होकर मनुष्य की भाँति बाहर कुछ और भीतर कुछ हों। उन्होने अपने उपन्यासों के नायक के रूप में चुना पारसनाथ के-से व्यक्तियों को जिनके 'मुख की अभिव्यक्ति यद्यपि एक बाहरी मुखड़ा होता है तथापि वह मुखड़ा ऐसा अकृत्रिम जान पड़ता है कि कोई भी उसे देख कर धोखे में आ सकता है, उनके उस मुखड़े के नीचे उनका जो असली व्यक्तित्व सैकड़ों काले साँपों की तरह सयुक्त कुण्डली-चक्र रचे हुए है, वह प्रारम्भ में छिपा ही रह जाता है।'[४] उनकी नायिकाएँ भी नन्दिनी जैसी स्त्रियाँ ही बनी, जिनके 'सौम्य, शान्त और शिष्ट मुखड़े के नीचे उनका भयंकर लोम-हर्षक रूप' छिपा रहता है।[५] ऐसे ही पात्रों के जीवनवृत्त को लेकर वह बता सकते थे कि उनके जीवन की असंगतियों का मूल उनके अपने ही मन की अतल गहराइयों में है, न कि बाह्य परिस्थितियो में ; बल्कि उनके मन में पड़ी हुई पक्की गाँठों में है। प्रेमचन्द की तरह जोशी जी को अपने कथानायक समाज के धनी-शोषक वर्ग या निर्धन-शोषित वर्ग से चुनने की आवश्यकता न थी; क्योंकि उन्हे पात्रों की समस्याओं का मूल बाह्य आर्थिक परिस्थितियों में नहीं, उनकी मानसिक परिस्थितियो में दिखाना था। वास्तविकता तो यह है कि आर्थिक रूप से दृढ़ होते हुए भी उनके पात्र मानसिक रूप से बेहद कमज़ोर हैं।

नायक-नायिकाएं : "मनोवैज्ञानिक केस"

जिस ध्येय को लेकर जोशी जी ने अपने उपन्यासों की रचना की थी, उसके लिए ऐसे पात्रों की आवश्यकता न थी जो देव-तुल्य चारित्रिक निष्ठा वाले दृढ़ पुरुष

---

३. जोशी, 'संन्यासी', भारत भण्डार, चतुर्थ संस्करण, प्रयाग, पृ० ३६१।
जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० ४६१।
४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २७।
५. वही, पृ० १९७।

हों, क्योंकि वे जानते हैं कि देवता बनकर पूजा पा जाना आसान है, पर मनुष्य बन पाना कठिन है।[6] उन्हेंतो वे पात्र चाहिए थे, जो मनुष्य हों—मनुष्य की सभी कमजोरियों को लिये हुए—स्वभाव से ढुलमुल और इतने सवेदनशील हों, कि छोटी-से-छोटी घटना भी उनके चेतन को चीर कर अचेतन में एक ग्रन्थि बनकर गहरी धंस जाए और वहां से उनके आचार-विचार और व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती हुई किसी भी परिस्थिति से उनका संतुलन न बैठने दे। उनके सभी पात्रों के मन में कोई न कोई ऐसी गाँठ पड़ जाती है जो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक विराट् परिवर्तन लाकर उन्हें जीवन भर बेपेंदे का लोटा बनाए रखती है। 'पर्दे की रानी' की नायिका निरंजना की ग्रन्थि यह है कि वह कभी अचेतन में भी भूल नही पाती कि वह एक वेश्या माता और खूनी पिता की लड़की है।[7] 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ के अचेतन में यह बात एक ग्रन्थि के रूप में धंसी हुई है कि उसकी मां वास्तव में व्यभिचारिणी है और वह उसकी जारज सन्तान है।[8]

इस प्रकार उनके सभी नायक-नायिकाएँ 'मनोवैज्ञानिक केस' ठहरते हैं। जोशी जी को इस बात का गर्व भी है कि उनके कथा-नायक चारित्रिक दृढ़ता वाले न होकर दुर्बल स्वभाव वाले ढुलमुल व्यक्ति हैं।[9]

मनोविश्लेषक पात्र

इन मनोवैज्ञानिक केसों को जो बाहर कुछ और भीतर कुछ और हो, ठीक-ठीक समझ सकना कोई सरल काम नही। उनकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिए, उनकी मानसिक ग्रन्थियो को उघाड़ने के लिए, जोशी जी को ऐसे पात्रों की आवश्यकता पड़ी जो मनोवैज्ञानिक सिद्धातों से पूर्णतः परिचित हों और मनोविश्लेपक की-सी दक्षता से उन पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा उनके अचेतन में धंसी दुःखद-अनुभूतियो को उनके चेतन में लाकर इस रूप में व्याख्या करें कि वे असह्य न बनी रह सकें। 'पर्दे की रानी' के गुरु जी, 'जिप्सी' का नायक रंजन, 'निर्वासित' का महीप आदि न्यूनाधिक रूप में मनोविश्लेपक का काम भी करते हैं।

इस प्रकार, जोशी जी के उपन्यासों में मोटे रूप से तीन प्रकार के पात्रों को स्थान मिला है। पहले वे जो मनौवैज्ञानिक केस हैं, दूसरे वे जो उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनों को जन्म देकर तिरोहित हो जाते हैं और तीसरे वे हैं जो मनोविश्लेषक की भाँति उनकी मानसिक उलझनों की व्याख्या करके उनके वास्तविक रूप को प्रकाश

६. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० ४४७।
७. जोशी 'प्रेत और छाया', पृ० १६५।
८. वही, पृ० ३७।
९ जोशी, 'जिप्सी'—उपसंहार, पृ० ७०६।

में लाते है। वास्तव में, इनके पहले और तीसरे वर्ग के पात्र ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—तीसरा वर्ग मनोविश्लेपकों का, जिनके द्वारा की गई व्याख्याओं के अभाव में—वे व्याख्याए चाहे थिगली ही प्रतीत हों—जोशी जी के नायक-नायिकाएँ पहेली बन जाते और उनके उपन्यास गोरखधधा प्रतीत होने लगते।

पात्रों का प्रथम परिचय

नाटकीय प्रवेश

जोशी जी के उपन्यासों में पात्रों का प्रथम प्रवेश नाटकीय ढग से होता है। प्रेमचन्द की भाँति वह पात्रों को पाठकों के सामने लाने से पहले स्थिति के निर्माण में नही जुटे रहते। उपन्यास खुलते ही एक या अनेक पात्र इसी प्रकार किसी परिस्थिति से उलझे हुए दिखाई देते हैं, जिस प्रकार पर्दा उठते ही रंगमंच पर नाटक के पात्र। 'मुक्ति-पथ' खोलते ही पाठक उपन्यास के नायक राजीव को अमीनाबाद पार्क में एक बैंच पर बैठे हुए पाते हैं। 'प्रेत और छाया' खुलते ही पारसनाथ और उसके साथी एक कुख्यात होटल में वार्तालाप-मग्न मिलते है। 'निर्वासित' का आरम्भ भी नाटकीय ढग से बिना किसी प्रकार की भूमिका के होता है। पाठक देखता है कि कांग्रेस के एक बड़े जलसे में स्टेज के नज़दीक भीड़ में बैठा हुआ एक युवक (महीप) सामने खड़ी एक स्वयसेविका (नीलिमा) की ओर एकटक देख रहा है। 'पर्दे की रानी' का आरम्भ भी इस प्रकार नाटकीय शैली में होता है: "मेरी संगिनी चन्द्रप्रभा ने आकर मुझ से कहा—आज एक बहुत ही सुन्दरी लडकी होस्टल में भरती होने आई है। ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी राजा की लड़की है'।"[१०]

प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद की भाँति जोशी जी अपने उपन्यासों के सभी पात्रों का प्रवेश उपन्यास के आरम्भ में नही करा देते, क्योंकि उनके उपन्यासों की घटनाएँ एक दूसरे से असम्बद्ध हैं—उनमें सम्बन्ध केवल इतना है कि एक ही पात्र उन विभिन्न स्थितियों में पड़ता है—और लेखक का उद्देश्य पात्रों को विभिन्न स्थितियों में डालकर उनकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उघाड़ना है। इसलिए, कोई भी पात्र किसी भी समय उपन्यास में प्रवेश पा सकता है। उनके उपन्यासों के अन्त तक भी उनमें नए पात्रों का प्रवेश होता रहता है। 'प्रेत और छाया' में मंजरी का प्रवेश ८वें पृष्ठ पर हुआ तो नंदिनी का ६१वें पृष्ठ पर और हीरा का ३५७वें पृष्ठ पर हुआ। 'जहाज़ का पंछी' में करीम चाचा का प्रवेश १२९वें पृष्ठ पर होता है, दीप्ति का २२४ वें पृष्ठ पर, बेला का २४६ वें पृष्ठ पर, लीला का ३५८वें पृष्ठ पर और स्वामी जी का ५०६ वें पृष्ठ पर।

---

१०. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ७।

नखशिख वर्णन-शैली

इस प्रकार, पात्रों को पाठकों के सामने लाकर जोशीजी उनकी आकृति-प्रकृति का, वेशभूषा, का परिचय कराने की ओर बढ़ते हैं। पात्रों का, विशेषतः नायक-नायिकाओं का, परिचय कराते समय जोशी जी संक्षेप-शैली से काम न लेकर उनकी आकृति-प्रकृति तथा वेश-भूषा का ब्योरेवार चित्रण करने लग जाते हैं, जो कई बार एक अच्छे खासे नखशिख-वर्णन के निकट ठहरता है। वह पाठकों को छूट नहीं देना चाहते कि वे उनके पात्रों को जिस रूप में चाहें समझ लें, प्रत्युत् वे इस प्रयत्न में रहते हैं कि प्रथम प्रवेश से ही पाठकों के मन पर पात्रों के बारे में वैसी ही छाप पड़ती रहे, जैसी वे चाहते हैं। इसलिए वे पात्रों की आकृति और वेश-भूषा का ब्योरेवार वर्णन तो करते ही हैं, साथ ही यह बताना भी नहीं भूलते कि उन पात्रों का अन्य उपस्थित पात्रों पर क्या प्रभाव पड़ा है। ऐसा करने में उनका प्रथम परिचय अनावश्यक रूप में लम्बा हो जाता है और पक्षपातपूर्ण भी प्रतीत होने लगता है। उससे पाठकों का पूर्वग्रह बढ़ जाने की सम्भावना भी रहती है।

'पर्दे की रानी' में निरंजना का प्रथम परिचय इस प्रकार का है: "जिस लड़की को घेरकर होस्टल की सब लड़कियाँ खड़ी थीं, वास्तव में उसका रूप ऐसा अद्भुत, अपूर्व और अनुपम था कि स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, किसी के लिए भी उसके प्रति उदासीन रहना असम्भव था, मेरा यह ध्रुव विश्वास है। उसकी आयु उन्नीस या बीस वर्ष के लगभग होगी। वह नीले रंग की रेशमी साड़ी पहने थी। यद्यपि होस्टल की लड़कियों के लिए भड़कीले रंग की साड़ी पहन कर जाने वाली लड़कियाँ ही थोड़ा बहुत कौतूहल उभाड़ने को यथेष्ट थीं, तथापि उस नवागत लड़की की विशेषता उसकी साड़ी से कोई सम्बन्ध नहीं रखती थी। उसका अनिर्वचनीय सौंदर्य-मण्डित व्यक्तित्व सब साधारण विशेषताओं के ऊपर था। मैं स्वयं एक नारी हूँ, इसलिए उस आश्चर्य-जनक अप्रत्याशित नारी-रूप का वर्णन कैसे करूँ, मेरी समझ में नहीं आता। प्रथम दृष्टि में मुझे ऐसा लगा जैसे वह मायाविनी बिजली की सौ-सौ उद्दीप्त तरंगों को अपने मुख पर किसी मंत्र-बल से निश्चल अवस्था में बाँधे हुए है; जैसे किसी भी समय इच्छा करने पर बटन दबाते ही उसके मुख की वे सब तड़ित-तरंगें एक साथ हिल्लोलित होकर प्रचंड प्रलय-प्रकाश से जगमगा उठेंगी"[११]

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—उनके उपन्यास 'जहाज का पंछी' से। दीप्ति का प्रथम परिचय इन शब्दों में कराया गया है: "मुझे दीप्ति का व्यक्तित्व, जाने क्यों, बहुत ही प्रिय लगता था। वह बड़ी ही हँसमुख, ढीठ, स्वस्थ और सुन्दर लड़की थी। अपनी माँ से उसने थोड़ी-सी मोटाई पाई थी और अपने पिता से लम्बाई। उसका गोरा-सा चेहरा भी उपयुक्त अनुपात में गोलाई लिये हुए लम्बा था। एक परवर को लम्बा चीरने पर जो दो फाँकें बन जाती हैं, वैसी ही बढ़ी और तनी हुई उसकी दो उज्ज्वल

११. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ७-८।

आँखें दो सुडौल भौहों की छत्रछाया के नीचे अठखेलियाँ करती थी। नाक लम्बी, उभरी हुई और कुछ नुकीली थी। दाँतो की दो सफेद पक्तियाँ सीधी और सामंजस्य-पूर्ण थीं। ओठो की दो पतली रेखायें ६३ के अक की तरह आमने-सामने रखे हुए दो समान आकार वाले धनुषों की तरह अंकित सी जान पड़ती थी। पर उसका वास्त-विक सौंदर्य उसके मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निर्भर नहीं करता था। उसके कुण्ठारहित उदार और भावपूर्ण अन्तर की जो अव्यक्त छाया उसके चेहरे पर पड़ती थी, वह किसी विशेषज्ञ दर्शक पर गहरा प्रभाव छोड़े बिना न रहती।"[१२]

आकृति-वेशभूषा वर्णन

आज के युग में जबकि सामाजिक मूल्य गडबडा गये हैं, केवल आकृति अथवा वेशभूषा के आधार पर किसी व्यक्ति के चारित्रिक गुणों के सबध में कुछ भी अनु-मान लगाना भ्रामक हो सकता है, तो भी किसी व्यक्ति से सर्वप्रथम भेंट के समय उसकी आकृति और वेशभूषा के आधार पर अनुमान लगाने के अतिरिक्त उसे समझने का और कोई उपाय भी नहीं रहता। आकृति और वेशभूषा के आधार पर लगाया गया अनुमान कितना भ्रामक होता है, इसका सुन्दर उदाहरण जोशी जी के उपन्यास 'जहाज का पंछी' में मिलता है। उपन्यास के नायक की सच्चरित्रता का तथा धन के प्रति उसके वैराग्य का किसी को पता नही चलता और सबकी दृष्टि उसकी आकृति और वेशभूषा पर जा अटकती है और वे उसके 'सिर के रूखे-सूखे, अस्त-व्यस्त बाल, घनी घास से भरी क्यारियों की तरह दो गलमूछें और उन गलमूंछों के अगल-बगल और नीचे फैले हुए, एक हफ्ते से न छीले गये, फसल कट जाने के बाद शेष रह जाने वाले सूखे खूँटों की तरह छितराये हुए दाढ़ी के कड़े बाल, क्षय रोग के रोगियो की तरह मुरझाया हुआ दुबला-पतला, धुले हुए कपड़ो की तरह रक्तहीन सफेद चेहरा, धँसी हुई आँखें, गढे पड़े हुए गाल और गालों की ओर उभरी हुई नुकीली हड्डियाँ, तिस पर कई दिनों से धुलने की सुविधा न होने से मैला कुर्ता और मैली धोती'[१३] को देखकर तत्काल अपनी जेब को सँभालते हुए सरक कर उससे दूर हट जाते हैं। क्यों-कि उसकी इस वेशभूषा से वे उसे गिरहकट के अतिरिक्त और कुछ मान ही नही सकते। इसी वेशभूषा के कारण वह जिस भादुड़ी महाशय के घर से निकाल दिया था, वहाँ जब वह दूसरी बार स्वस्थ शरीर और उजले कपड़ों को पहने रसोइए की नौकरी के लिए पहुँचा, तब उसका बड़ा स्वागत हुआ। यह घटना जहाँ एक ओर आकृति और वेश-भूषा के महत्त्व को सामने लाती है, वहाँ प्रारम्भिक अवस्था में उस व्यक्ति की अपने शरीर और वेशभूषा के प्रति उदासीनता के रूप में और बाद में

१२. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० २२४।
१३. जोशी, 'जहाज का पंछी', ११।

अपने स्वास्थ्य-सुधार के प्रति उसके विशेष प्रयास और उसकी उजली वेशभूषा, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के क्रमिक विकास को भी व्यक्त करती है।

प्रेमचन्द का-सा वर्णन

पात्रों के आकृति और वेशभूषा-वर्णन में इलाचन्द्र जोशी प्रेमचन्द के समकक्ष ही ठहरते हैं। अपने उपन्यासो के किसी भी पात्र की आकृति और वेशभूषा के बारे में वे अपने पाठको को छूट देना नही चाहते कि वे मन-चाहे रूप में उनकी कल्पना करें। वे अपने पात्रों का ब्योरेवार नखशिख-वर्णन करके पाठकों को मजबूर कर देते हैं कि वे उन पात्रों की कल्पना उसी रूप में करें, जिस रूप में लेखक चाहता है। अपने पात्रों की वेशभूषा का वे कितने विस्तार से वर्णन करते हैं, इसका अन्दाज़ा तो उपर्युक्त उद्धरण से ही लग गया होगा, फिर भी एक और उदाहरण प्रस्तुत है। 'प्रेत और छाया' की मजरी का वर्णन वह इस प्रकार करते हैं : "लड़की का कद लम्बा है, और मोटाई उस कद के अनुपात में न होने पर भी वह बहुत दुबली भी नही दिखाई देती थी। उसकी साड़ी ने उसके सिर का केवल आधा भाग ढक रखा था। गहरे काले और चिकने बालों के बीच में एक पतली किन्तु सुरुचि से सँवारी हुई माँग उसके सारे व्यक्तित्व को एक तीखापन प्रदान कर रही थी, पर उसका सिरा बहुत नुकीला न होकर कुछ गोलाई लिये हुए था और आश्चर्य की बात है कि उस गोलाई के कारण उसकी नाक की सुन्दरता घटने के बजाए और अधिक बढ़ी हुई मालूम होती थी।"[१४] उनके उपन्यासों से वेशभूषा-वर्णन के ऐसे असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो रीतिकालीन नखशिख-वर्णन की याद दिलाते हैं और जिनके आधार पर वे प्रेमचन्द बल्कि पूर्व प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारो के निकट ठहरते हैं। 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी के निम्नलिखित वर्णन की काव्य-छटा दर्शनीय है, मानो लेखक स्वयं उसकी रूप-सुधा का पान करने के लिए रुक गया हो : "वह एक हरे रंग की चमकदार रेशमी साड़ी पहने थी। सिर के बीचों-बीच माँग इस सफाई से निकाली गई थी कि न एक बाल इधर था, न एक बाल उधर। उसके ऊपर सिंदूर की एक हल्की-सी गुलाबी रेखा ऊषा के अरुण राग की तरह खिल रही थी, जैसे घोर अन्धकारमय जीवन के बीच में नव-जीवन का प्रकाश-पथ दिखाती हो। माँग के दोनों ओर सुसामंजस्यपूर्ण रूप से लहराते हुए बाल उसके सारे व्यक्तित्व को एक कलात्मक शालीनता प्रदान कर रहे थे। उसके मुख का गोरा रंग (शायद लोशन और पौडर आदि के प्रयोग से) निखर कर उज्ज्वलतर हो उठा था। कपाल के बीच में एक छोटी-सी गोल बिन्दी सौभाग्य-पूर्णा की तरह चमक रही थी। उसका सारा मुखमण्डल स्वास्थ्य, सौदर्य और शृंगार से दिप रहा था।"[१५]

---

१४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० ४७।
१५. वही, पृ० २१२-२१३।

वेशभूषा में पात्रों का प्रतिन्यास प्रतिबिम्बित

नित्यप्रति की सहज-स्वाभाविक वेशभूषा के बदले जब कोई व्यक्ति विशेष सजधज में दिखाई पड़ता है, तो उसकी वेशभूषा में यह परिवर्तन उसकी मन स्थिति के परिवर्तन का भी द्योतक होता है। बनने-संवरने में उत्साह या वेशभूषा के प्रति लापरवाही मन की दो विभिन्न स्थितियों, प्रसन्नता और नैराश्य, के भी प्रतीक हो सकते है। साथ ही, जिस दूसरे व्यक्ति से मिलने के लिए वेशभूषा में उत्साह अथवा अनुत्साह व्यक्त हो उसके प्रति भी उस पात्र के रुख का पता चल सकता है। "निर्वासित' की नीलिमा को जब महीप के आने की सूचना मिली तो वह अभी बिस्तर पर ही लेट रही थी। सूचना पाकर वह उसी प्रकार पलग से सीधे ड्राइंग रूम में प्रायः दौड़ी चली आई थी। उसके सिर के घुंघराले बाल और सोने के समय के झीने रेशमी कपड़े अस्त-व्यस्त थे, उसकी सुन्दर अलसाई हुई बड़ी-बड़ी भावव्यंजक आखों में एक स्निग्ध मादकता छाई हुई थी, रात में गाढ़ी नींद का उपभोग करने के कारण उसके गोरे उजले मुख पर एक ऐसी चिकनाई आ गई थी, जो उस अरुणाई को एक मोहक मधुरिमा प्रदान कर रही थी।" इतने में बाहर बड़े जोरो से कार का हार्न बजा। हार्न की आवाज से ही यह जान कर कि ठाकुर साहब आए हैं, नीलिमा तत्काल प्रायः दौड़ती हुई भीतर चली गयी और फिर जब वह पुनः ड्राइंग रूम में आई तो कपड़े बदल कर आई थी और उसके मुख पर स्निग्ध गम्भीर छाया और स्वाभाविक मुद्रा वर्तमान थी। 'नीलिमा' का महीप के सामने साधारण पहनावे में, अस्त-व्यस्त वेश में प्रकट हो जाना, पर ठाकुर साहब के सामने नहा-धोकर शृंगार-प्रसाधन करके मुख पर गम्भीरता का भाव बनाकर ही जाना, इन दोनों व्यक्तियों के प्रति उसके भिन्न-भिन्न रुखों का द्योतक है। 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ के साथ सैर के लिए चलते समय नन्दिनी का और 'पर्दे की रानी' के इन्द्रमोहन के साथ प्रदर्शनी देखने के लिए चलते समय निरंजना का विशेष उत्साह और रुचि से साज-शृंगार, उन दोनों महिलाओं के उन पुरुषों के प्रति आकर्षण का परिचायक है।

पात्रों की बाह्य रेखाएँ : सुनिश्चित

जोशी जी पात्रों की आकृति, वेशभूषा का वर्णन उपन्यास में उनके प्रथम प्रवेश के समय कर रहे हों या विभिन्न परिस्थितियों में, उनकी आदत बाह्य स्वरूप का ब्योरेवार चित्रण करके पात्रों को बहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट रूप में पाठकों के सामने ले आने की है। उनका यह वर्णन चाहे कितना ही प्रभावोत्पादक या रुचिकर हो, इतना पूर्ण होता है कि पात्रों के बारे में और कुछ जानने के लिए कोई शेष नहीं रहता। उनके वर्णन में लेखक कोई भी स्थान रिक्त नही छोड़ता, जिसमें कि पाठक अपनी रुचि के अनुसार रंग भर सके ; बल्कि वह तो लेखक की रुचि को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। पात्रों की आकृति की अत्यधिक

सुस्पष्टता उन्हें पाठको के पास लाकर भी उनके मन से दूर डाल देती है। पर जहाँ आकृति और वेशभूषा कुछ भी उभारदार न बना कर उसे पाठकों की कल्पना पर छोड़ दिया जाए, वहाँ भी पाठकों का मन अधिक गम्भीर होकर रम पाता है। महान् पात्र सब लगभग ऐसे ही होते हैं, जो पाठक की रुचि और कल्पना को बाँधते नही, उन्हें स्फूर्त ही करते हैं, इसलिए उनके प्रति पाठकों की उत्सुकता निरंतर बनी रहती है।[१६]

अनुभाव-चित्रण

स्थिति में पड़ने के पश्चात् और मनोभावों का प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले मनुष्य के आंतरिक भाव उसकी भ्रूभगिमा तथा उसकी अन्य मुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते रहते हैं। इसलिए, किसी व्यक्ति की क्षण-विशेष की मनोदशा जानने के लिए उसके अनुभावों में होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों का अध्ययन इतना आवश्यक हो जाता है, जितना शायद उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का भी नहीं।[१७] व्यक्ति के शब्द तो धोखा भी दे सकते हैं, पर उसके अनुभावो की भाषा धोखा नही दे सकती। इसलिए, जिसके पास पैनी दृष्टि हो और हो अनुभावों की भाषा का ज्ञान, उसके लिए किसी का कुछ भी गुप्त नही रह सकता।[१८]

मुख-इंगित (फेशियल एक्स्प्रेशन्स)

जोशी जी चरित्रचित्रण की इस प्रणाली से अपरिचित नहीं, पर वे समस्त शारीरिक चेष्टाओं के अंकन में न अटके रह कर मुखाकृति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनका विश्वास है कि 'व्यक्ति की भीतरी सुन्दरता या कुरूपता का आभास उसके मुख पर सब समय झलकता रहता है।'[१९] इसीलिए तो उनके उपन्यास

१६. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पूर्वोदय प्रकाशन, देहली, १९५३, पृ० १८१-१८२।

१७. Adler, 'Der sinn des Lebens', Vienna, Leipzig, Rolf Passer (Social : Interrest · a Challenge to Mankind). p. 50 :

"These (movements of the body) speak a language which is usually more expressive and discloses the individual's opinion more clearly than words are able to do."

१८. Freud, "Fragments of an Analysis of case of Hysteria" ('Dora'), 1905, 'Collected Papers', Vol. III, p. 94 :

"He that has eyes to see and ears to hear may convince himself that no mortal can keep a secret. If his lips are silent, he chatters with his finger-tips, betrayal oozes out of him at every pore"

१९. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretion', p, 481 :

"Richly supplied with nerves and striated muscles the face is capable of the most varied expression ...Not only is it the region where most impressions are received, but its exposure to the outer world makes it the station for signals of rejection, threat, or invitation to others."

'निर्वासित' की नीलिमा को जब ठाकुर साहब खून से लिखा गया धीराज सिंह का पत्र सुनाता है तो वह "अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को अपनी आंखों में बटोर कर स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखती रहती है। चिट्ठी में वर्णित उस लोम-हर्षक और भेदभरी बात की सचाई (या झुठाई) का पता लगाने का एकमात्र उपाय उसके लिए यही था कि ठाकुर साहब के मुख के बदलते हुए भावों पर गौर किया जाए।"[२०] पर किसी की मनोदशा को उसके चेहरे पर से पढ़ लेना कोई सरल काम नहीं, इसके लिए अनुभवी आँखे चाहिएं। इस क्षेत्र में अपनी असफलता स्वीकार करता हुआ धीराजसिंह कहता है "दूसरो के मन के भाव का आभास जान लेने का दावा करने का साहस कम-से-कम मुझे तो नहीं होता। जब तक मौखिक शब्दों द्वारा किसी बात का प्रस्फुटन स्पष्टतया न हो तब तक केवल मात्र इगित और भावाभास से किसी के मन की यथार्थ बात को जान लेने की कल्पना करना अपने मन की भ्राति को बढ़ावा देना है।"[२१] 'प्रेत और छाया' की हीरा भी पारसनाथ की उस व्यगपूर्ण मुस्कान को न समझ सकी थी जो उसके चेहरे पर उस समय व्यक्त हुई थी जबकि हीरा ने उसकी इस आशंका को बिल्कुल निराधार बताया था कि नन्दिनी के अधीन रह कर उसका व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। "हीरा को यदि मानव-स्वभाव की विकृतियों का गहरा ज्ञान होता और यदि उसने मनुष्य के मुख पर विभिन्न अवस्थाओ और विविध रूपों में उभरने और विलीन होने वाली रेखाओं का अध्ययन करना सीखा होता तो पारसनाथ की उस मुस्कान की आड़ में वह देखती कि एक लोमहर्षक और नारकीय प्रतिहिंसा अपनी कुटिल डाढ़ों को दिखा रही है।"[२२]

मुख-अध्ययन (फेस-रीडिंग)

यह स्थिति तो उन पात्रों की है, जो कोरे 'मनोवैज्ञानिक केस' हैं, जिनमें अन्तर्दृष्टि की कमी है; पर दूसरे वर्ग के पात्र जो न्यूनाधिक रूप से मनोविश्लेषक का भी काम करते हैं, मुख-अध्ययन (फेस-रीडिंग) में प्रवीण हैं। दूसरों की गोपनीय भावनाओं को समझने के लिए वे उनके मुख का ही ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं और इसी से एक-दूसरे को काफी कुछ समझ भी लेते हैं। 'पर्दे की रानी' के इन्द्रमोहन की "गम्भीर मुखाकृति में अकस्मात् जो एक अनोखा आंतकोत्पादक भाव स्फुट हो पड़ा था उसमें निरंजना ने अपनी प्रारम्भिक भेटों में ही उसकी मूल प्रकृति का आश्चर्य-जनक आभास पा लिया था।"[२३] 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ ने नन्दिनी का दरवाजा खटखटाया। जब दरवाजा खुला, नन्दिनी उसके सामने खड़ी थी। "प्रथम

---

२०. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ २८३।

२१. वही, पृष्ठ ६५।

२२. जोशी, 'प्रेत और छाया'- पृष्ठ ३७०।

२३. जोशी, 'पर्दे की रानी'. पृष्ठ ५४।

क्षण में पारसनाथ ने उसके मुख पर चरम विस्मय की भ्रांति का भाव देखा, उसके बाद दूसरे ही क्षण वह भाव कोमल विषाद के एक हल्के से आवरण के रूप में बदल गया और उसके बाद ही तत्काल वह हल्का सा शरत्कालीन बादल भी हट गया और निर्मल शुभ्र प्रसन्नता के प्रकाश से उसका सारा मुख प्रभासित हो उठा।"[२४] 'निर्वासित' के ठाकुर साहब के यहाँ प्रीति-भोज के पश्चात् नीलिमा और रूपा के हाव-भावों, उनकी मुद्राओं और चेष्टाओं पर महीप और धीराज एक-टक आँखों से और एकांत मन से गौर करते रहते है; जैसे उन दोनों के जीवन और मरण की समस्या उन्हीं मुद्राओं और चेष्टाओं पर निर्भर करती हो। ऐसे ही रूपा और नीलिमा करती है। एक बार रूपा की दृष्टि का अनुसरण करते हुए नीलिमा की दृष्टि भी धीराज की ओर चली गयी। धीराज के म्लान और उदास मुख पर न जाने कौन-सी भयावह और रहस्यात्मक छाया उसने देखी कि वह सहम सी गयी।[२५]

आँख : मन का दर्पण

मुखाकृति में भी जोशी जी ने विशेष रूप से आँखो का चित्रण किया है। कहते हैं, आँखें आत्मा की खिड़की हैं और मन का दर्पण। मन में प्रयत्न से छिपाकर रखा हुआ गुप्तातिगुप्त भाव भी आँखों में झलक उठता है। कदाचित् इसीलिए जोशी जी के पात्र दूसरों को समझने के लिए उनकी आँखों को विशेष ध्यान से देखते हैं। 'पर्दे की रानी' की शीला जब निरंजना से इन्द्रमोहन की उदारता की चर्चा कर रही थी तो उसने देखा कि निरंजना भावमग्न होकर सुन रही है, उस समय 'उसकी आँखों से कभी एक पुलकपूर्ण भाव झलक उठता था, कभी एक तीव्र वेदना व्यक्त होती थी और कभी एक विचित्र व्यंग का आभास।'[२६] 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी जब अपने पति के विरुद्ध आग उगल रही थी, तब पारसनाथ को ऐसा जान पड़ा जैसे 'उसके अन्तर की सारी घृणा एकत्रित होकर उसकी आँखों में समाकर उस व्यक्ति के विरुद्ध विस्फुटित होना चाहती हो।'[२७] इससे पहले जब पारसनाथ एक बार नन्दिनी के यहाँ गया था तो उसे देखते ही नन्दिनी की आँखों में 'संकोच, वेदना और प्रसन्नता के भाव एक साथ व्यक्त हो उठे थे।'[२८]

सुषुप्तावस्था के अनुभावों का चित्रण

जोशी जी, पात्रों की जाग्रतावस्था के ही अनुभावों का चित्रण नही करते, उनकी सुपुप्तावस्था में उनके चेहरे की रेखाओं और उनमें होने वाले परिवर्तनों के

२४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० १९१।
२५. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ १०५।
२६. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृष्ठ १५१।
२७. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २७२।
२८. वही, पृष्ठ १९२।

माध्यम से भी उनके हृदय की व्यथा को उद्‌घाटित करते हैं। मनोवैज्ञानिको ने सुषुप्तावस्था की मुद्राओ और उनमें होने वाले परिवर्तनो का काफी गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है। जॉन्सन और वेगेट का विश्वास है कि जिस मुद्रा में कोई सोता है, वह भी उसकी एक स्थायी वैयक्तिक विशिष्टता होती है।[२९] अनेक अस्पतालो के रोगियो की सुषुप्तावस्था की मुद्राओं की उनकी दैनिक रिपोर्ट से तुलना द्वारा एडलर तो इस परिणाम पर पहुँचता है कि मनुष्य का मानसिक रुझान स्थायी रूप से उसकी सुषुप्तावस्था और जाग्रतावस्था की दोनो मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति पाता रहता है।[३०] अपनी खोजों के आधार पर वह यहाँ तक बता देता है कि कौन-सी मुद्रा चरित्र की किस विशिष्टता को व्यक्त करती है। जोशी जी सुषुप्तावस्था की अन्य मुद्राओं की उपेक्षा करके पात्रों के चेहरे पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। 'जिप्सी' का नायक भी सोई हुई मनिया के पास बैठ कर उसके मुख पर व्यक्त होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनो का अध्ययन करता है . "वह प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थी, किन्तु उसके कपोल की नसे, पलको का स्नायुतन्त्र, होठों की त्वचा जैसे किसी अशांत अनुभूति से प्रतिपल नई-नई चेष्टाओं के साथ चालित हो रहे थे। कभी वह अपनी भौंहों को सिकोड़ती थी, जैसे किसी निर्मम पीड़ा से कराहना चाहती हो।"[३१]

मुख-अध्ययन का महत्त्व

जोशी जी जाग्रतावस्था की शारीरिक चेष्टाओं-मुद्राओं का चित्रण कर रहे हों या सुषुप्तावस्था की चेष्टाओ का, उनके अध्ययन का प्रधान केन्द्र पात्रों का चेहरा ही रहता है और वह मुखाकृति में होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों के चित्रण में इतने लीन हो जाते हैं कि शेष शारीरिक मुद्राओं की उन्हें सुध ही नही रहती। तो क्या यह मान लेना होगा कि केवल 'मुखाकृति' के अध्ययन के बल पर व्यक्ति की मनःस्थिति का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है ? इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों ने काफी मनोरंजक खोजें की हैं कि मनुष्य के शरीर का कौन-सा भाग

---

२९. Johnson and Weigand, Proc. Penna. Acad. Sci., 1927, 2, p. 43-48.
"The way a person sleeps is a very stable personal characteristic—as stable as its strength of grip or his speed and accuracy in mental Arithmetic."

३०. Adler, 'Problems of Neurosis : a Book of Case-histories', Vegan, Paul, Trench, London, p. 152 :
"By comparing the sleep postures of patients in various hospitals with the reports of their daily life, I have concluded that the mental attitude is consistently expressed in both modes of life, sleeping and waking."

३१. जोशी, 'जिप्सी', पृष्ठ ६३।

उसकी भीतरी भावनाओं को, उसके आवेगो को, समझने में सबसे अधिक सहायक होता है। ब्लैक नामक एक मनोवैज्ञानिक ने एक अभिनेता की अनेक प्रकार की आवेगज मुद्राओ के पूरे-कद के चित्रों का अध्ययन किया और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आवेगों का सर्वाधिक शुद्ध अन्दाजा तो तभी लग पाता है, जबकि सारा शरीर चेहरे सहित दिखाई देता हो।[३२]

कतिपय मनोवैज्ञानिकों की यह खोज भी कम रोचक नही कि मनुष्य के मनोवेग चेहरे के ऊपरी आँखो वाले भाग में अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं या नीचे के मुख वाले भाग में। इस बारे में, हनावाल्ट नामक मनोवैज्ञानिक बड़ी छानबीन के बाद इस परिणाम पर पहुँचा है कि मनोवेगों को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित कर सकने में स्थायी रूप से न तो नीचे मुख वाले भाग को श्रेष्ठतर कहा जा सकता है और न ही ऊपर के आँखों वाले भाग को ; तो भी अधिकतर नीचे का भाग सुख और प्रसन्नता की स्थिति को स्पष्टतर ज्ञापित करता है और ऊपर का भाग भय, वेदना और विस्मय की स्थिति को जल्दी उघाड़ता है।[३३] इस दृष्टि से, जोशी जी जब अपने पात्रों के अचेतन में सक्रिय भय, हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियों को उनके चेहरे के ऊपरी भाग—विशेषतः आंखों—द्वारा व्यक्त कराते हैं, तब तो ठीक है;पर जब वे "आँखों में सकोच, वेदना और प्रसन्नता के भाव एक-साथ व्यक्त"[३४] कराने लगते हैं, तब बात कुछ बन नही पाती।

अन्तर्द्वन्द्व

अचेतन संघर्ष

जोशी जी के पात्र जीवन भर सघर्ष की चक्की में पिसते रहते हैं, पर यह संघर्ष उन्हे अपने बाहर की शक्तियों से नही, अपने भीतर की प्रवृत्तियो से करना होता है। द्वन्द्व उनके जीवन का एक अनिवार्य अग बन गया है, पर द्वन्द्व उन्हें किसी दूसरे

---

३२. W. H. Blake, "A Preliminary Study of the Interpretation of Bodily Expressions, 'Teachers College contrib. to Educ'., 1933, p. 574.

३३. (क) Ruch, 'Psychology and Life', p. 183 :

"Interestingly enough, neither the lower half nor the upper half of the face was consistently superior in expressing emotion in recognizable patterns. However, the lower half was consistently more revealing in the expression of happiness and mirth, while the upper half was more revealing in the expression of fear and surprise."

(ख) N. G. Hanawalt "The Role of the Upper and the Lower parts of the face as a basis for Judging Facial Expressions" II. In Posed Expressions and 'Candid Camera Pictures'. Journal of Psychology, 1944, 31 : p. 23-36.

३४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १९२।

से नहीं, अपने से ही करना पड़ता है।[३५] परिणामत वे यातनाओं की भट्ठी में तिल-तिल करके जलते रहते हैं। जीवन भर वे इतने व्यग्र रहते है कि क्षण भर के लिए भी उन्हें चैन नही मिलता। जैसा कि हम पहले लिख आए हैं, जोशी जी के अधिकांश पात्र 'मनोवैज्ञानिक केस' हैं। उनकी समस्या यह है कि सामर्थ्य और साधन होते हुए भी वे वह नही कर पाते जो करना चाहते हैं, और जो नही करना चाहते वह उन से हो जाता है। आरम्भ से ही जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक ऐसी विकृति आ जाती है, जो किसी भी परिस्थिति से उनका सन्तुलन नहीं बैठने देती और उनको उत्तरोत्तर बेचैन किए रखती है। अत्यधिक सवेदनशील होने के कारण छोटी-से-छोटी घटना भी उनमें इतनी अधिक दुःखद अनुभूतियो को जन्म दे देती है कि वे उनके लिए असह्य हो उठती हैं और दमित होकर उनके अचेतन मे अनेक प्रकार की ग्रथियों का निर्माण कर देती है। मनुष्य का सचेत ठगता रहता है। विशेपतः उस यथार्थ को जो समाज द्वारा निषिद्ध और अस्वीकार्य हो, पर इस प्रकार, अपने आप को ठगने में लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना ही अधिक रहती है। उसे यथारूप स्वीकार करने में ही भलाई है। इन पात्रों का चेतन मन जब तक सबल रहता है, ये दुःखद अनुभूतियाँ उनके अचेतन में दबी रहती हैं, पर ज्यो ही किसी कारण चेतन का अंकुश उठ जाता है, उनके अचेतन में सोई पड़ी ये अनुभूतियाँ अपने नग्न रूप में उभर आती हैं और उनके व्यवहार में एक विस्फोट ला देती हैं। इस प्रकार इन पात्रों के चेतन और अचेतन में लगातार सघर्ष छिडा रहता है, जिसमें कभी चेतन जीत जाता है और कभी अचेतन। जब उनके अचेतन पर चेतन का अंकुश रहता है, तब तक वे साधारण सामाजिक मनुष्य की भाँति शिष्टतापूर्वक व्यवहार करते रहते हैं, पर चेतन के ढीला पड़ते ही अचेतन उसके अंकुश को उठा फेकता है और उनकी छिपी हुई समस्त घृणित और कुत्सित प्रवृत्तियाँ अपने नग्न रूप में नाच उठती हैं और परिस्थिति से उनका संतुलन बैठते-बैठते रुक जाता है। एलडर का विश्वास है कि जीवन में गलत दृष्टि अपनाने से व्यक्ति के चेतन और अचेतन में लगातार संघर्ष छिड़ा रहता है।[३६] जोशीजी के सभी पात्रों के मन में आरम्भ से ही कोई-न-कोई ऐसी गाँठ पड़ जाती है, जो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को विकृत कर देती है।

'पर्दे की रानी' की निरंजना के हृदय में शीला के प्रति सच्ची ममता वर्तमान है, तिस पर भी वह उसके सर्वनाश के लिए तुली रहती है। वह नही चाहती कि शीला के पति को हथिया कर शीला के सर्वनाश का कारण बने। पर जो वह करना नहीं

---

३५. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ४६५।

३६. Adler, 'Sinn des Lebens', (Social Interest: a Challenge to Mankind), p. 170:

"If one proceeds correctly one will always find the self, the whole, while from an incorrect view a conflict may seem to be present such as between the conscious and the unconscious."

चाहती वही उससे होता चला जाता है। अपने स्वभाव की इस विचित्रता पर उसे स्वय आश्चर्य हैं।[३७] जब तक उसका चेतन मन यह भूला रहता है कि वह एक वेश्या माता और खूनी पिता की संतान है, तब तक तो वह ठीक रहती है; पर ज्यों ही यह विचार किसी बहाने से उसके मन की ऊपरी सतह पर आ पहुँचता है, उसका सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकम्प के-से आन्दोलन से अस्त-व्यस्त हो जाता है और उसके मन में तत्काल यह राक्षसी इच्छा जाग उठती है कि किसी को काट खाऊ।[३८] 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ न तो जीवन भर स्वय किसी नारी को समर्पित हो पाता है और न ही किसी दूसरे के समर्पण को स्वीकार कर पाता है। उसके मन मे यह बात गाँठ बनकर पैठी हुई है कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है और वह उसकी जारज संतान है। जब तक यह बात उसे याद नही रहती, वह किसी भी नारी के जीवन से बड़ी तेजी के साथ उलझता जाता है, पर ज्यों ही यह बात उसके चेतन पर उभर आती है, वह उस नारी में अपनी व्यभिचारिणी माँ की प्रतिच्छाया पा, उससे पीछा छुड़ा कर भाग निकलता है। जीवन भर वह एक-से-दूसरी और दूसरी-से-तीसरी नारी की ओर भटकता रहता है और उसका भटकना तब तक नही रुकता, जब तक कि उसका पिता मरने से पहले उसे यह प्रमाणित नही कर जाता कि उसकी माँ व्यभिचारिणी न होकर जीवन भर पतिव्रता ही रही थी।

फ्रॉयड के 'प्लेजर' और 'रीऐलिटी' सिद्धान्त

जोशी जी के पात्र फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'सुख सिद्धान्त' और 'यथार्थ सिद्धाँत' के पारस्परिक सघर्ष के भी अच्छे उदाहरण है। मनुष्य किसी भी अनुभूत सुख को नहीं छोडना चाहता। वह चाहता है कि उसका सुख अमर हो जाए, उसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति तत्काल ही हो जाए—उसका परिणाम चाहे कुछ भी निकले। यह उसकी उन मूल प्रवृत्तियों की माँग होती है, जिन पर उसकी विवेक-बुद्धि का अकुश नही रहता। पर उसकी विवेक-बुद्धि, जो उसकी सामाजिक नैतिकता की माग होती है, उसे किसी उच्चतर सुख की आशा बधाकर उसकी असामाजिक इच्छाओ की पूर्ति को टालती रहती है। विवेक-बुद्धि का अंकुश जब भी कभी किसी कारणवश उठ जाता है—चाहे क्षण भर के लिए ही उठे—मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ नग्न नर्तन के लिए मचल उठती हैं। इस प्रकार मनुष्य की मूल पाशविक प्रवृत्तियो और उसकी विवेक-बुद्धि में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है।[३९] जोशी जी के पात्रों की तो इच्छापूर्ति की लालसा

३७ 'जोशी, पर्दे की रानी', पृष्ठ १६४।

३८. वही, पृष्ठ १७३-१७४।

३९. Freud, 'Beyond the Pleasure Principle', International Psycho-analytical Press, 1924, p. 5

"Under the Influence of the instinct of ego for self-preservation, it (pleasure principle) is replaced by the 'reality principle', which without giving up the intention of ultimately attaining pleasure yet demands and enforces the postponement of satisfaction, the renunciation of manifold possibilities of it, and the temporary endurance of pain, on the long and circuitous road to pleasure."

सदा जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर बिखरती रहती है। समाज के विधि-निषेधों तथा उसकी नैतिकता के संस्कारों की तह पर तह उनके मन पर इतनी पक्की जमी हुई है कि जब कभी उनका चेतन मन किसी वासना की पूर्ति के लिए अधीर हो उठता है तो उनकी विवेक-बुद्धि —जो सामाजिक नैतिकता का ही एक रूप है—उससे टकरा जाती है और उनकी पाशविक वृत्तियो का नग्न नर्तन सहसा बीच मे ही रुक जाता है। इस प्रकार उनके जाने या अजाने, उनके चेतन अथवा अचेतन में उनकी मूल प्रवृत्तियों तथा विवेक-बुद्धि में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, जो उन्हे व्यग्र किये रखता है और उनके भरसक चाहने पर भी परिस्थिति से उनका मेल नहीं बैठने देता।

'निर्वासित' की नीलिमा अपनी बहन और माँ से चोरी महीप को अपने यहाँ चाय पर आमन्त्रित तो कर लेती है, पर एकान्त में उससे मिलने के लिए साहस नही बटोर पाती। क्योंकि वह अन्तरात्मा की प्रतारणा सह सकने में अपने को असमर्थ पाती है। इसीलिए जब नौकर ने उसे महीप के आने की सूचना दी तो यद्यपि उसकी सैक्स भावना जो उस समय उसके चेतन मनमें थी, उससे कहलवा देती है कि उन्हे बुला लाओ, पर भीतर मन ही मन वह कह रही होती है 'उन्हें लौट जाने को कह दो।'[४०] विदा के समय भी जब महीप नीलिमा से भाग चलने का प्रस्ताव करता है, तो उस 'विचित्र पागलपन के से प्रस्ताव को मानने के लिए उसके मन का एक अज्ञात कोना विचलित हो उठता है।' यह उसकी मूल यौन प्रवृत्ति की माँग थी पर सहसा उसकी विवेक-बुद्धि—समाज के विधि-निषेधों की माँग—उस पर विजय पा लेती है और वह अत्यन्त आकुलता से बोल उठती है: "नही महीप, यह सम्भव नही।"तुम नही जानते मेरी विवशताओं को, मैं असंख्य बंधनों से बंधी हुई हूँ—चाहे वे बन्धन अपने ही मन के क्यों न हो, मै जाती हूँ।"[४१] 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ मंजरी से प्रेम करता था और उसके सामीप्य-लाभ के लिए तरसता था। पर मंजरी की माँ की मृत्यु वाली काल-रात्रि में जब मंजरी ने अपने दोनों हाथों से पारसनाथ के दोनों घुटने पकड़ लिये तो उसके मन में एक तीव्र द्वन्द्व मच उठा। उसका हाल विचित्र हो उठा 'एक ओर उसे सुख की अनुभूति बरबस पुलकित कर रही थी, जिसकी प्रतीक्षा वह इतने दिनों तक अत्यन्त अधैर्य के साथ करता आया था और दूसरी ओर मृत-नारी के मुख का विकट व्यंग्यपूर्ण (काल्पनिक या वास्तविक) भाव आतंक से उसके रोएँ खड़े कर रहा था।[४२] वास्तव में, यह उसकी नैतिक भावना, उसकी विवेक-बुद्धि, ही थी जिसके भय से वह मंजरी के समर्पण को स्वीकार करने में, अपनी वासना की तत्काल पूर्ति में, हिचकिचा रहा था।

---

४०. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ १९८।

४१. वही, पृष्ठ १३६।

४२. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १२५।

इस प्रकार, जोशी जी के पात्रों के चेतन और अचेतन में तथा चेतन-अचेतन दोनों की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में निरन्तर द्वन्द्व-युद्ध होता रहता है, जिसे उघाड़ने के लिए वह विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग करते हैं।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या (इन्टरप्रेटेशन)

व्याख्या मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक अनिवार्य अग है। जब कोई उपन्यासकार किसी ऐसी प्रणाली का प्रयोग करता है जो उसके पात्रों के अचेतन को प्रकाश में लाती हो तो इसके उपन्यासो में व्याख्यात्मक अशों का समावेश आवश्यक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में व्याख्या उतनी ही अनिवार्य है जितनी मनोविश्लेषण में। जिस प्रकार पात्रो के अचेतन में दबी अनुभूतियो के उनके चेतन में आ जाने भर से उनकी मनोवैज्ञानिक उलझन नही सुलझ जाती, प्रत्युत् समस्या के कारणों का वास्तविक स्वरूप पात्र को समझाने के लिए मनोविश्लेषक द्वारा व्याख्या की भी जरूरत पडती है, उसी प्रकार उपन्यास के पात्रो की मानसिक ग्रथियो के अचेतन कारणों के वास्तविक स्वरूप को पाठकों पर व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार द्वारा व्याख्यात्मक टिप्पणियों का समावेश आवश्यक हो जाता है। इनके अभाव में पात्र और उनका चरित्र-विकास पाठकों के लिए पहेली बना रहता है। इसलिए, जब तक उपन्यास में व्यक्त पात्रो की अचेतन अनुभूतियों की व्याख्या पाठकों की योग्यता का एक अंग न बन जाए, पात्रों की अचेतन कठिनाइयो की व्याख्या का उत्तरदायित्व उपन्यासकार पर ही रहेगा।[४३]

जोशी जी के उपन्यासों में इस प्रकार की व्याख्याएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। वास्तव में व्याख्यात्मक अश उनके उपन्यासों का प्राण हैं। उनके बिना पात्रों के आचार-विचार और व्यवहार में कार्य-कारण के सूत्रो को ढूँढ़ निकालना साधारण पाठको के बूते की बात नहीं।

निरंजना की अचेतन प्रवृतियाँ

उनके उपन्यास 'पर्दे की रानी' की नायिका निरंजना इन्द्रमोहन के भयंकर रूप से परिचित होने पर भी उसे अपनी ओर आकर्षित करने की भरसक चेष्टा करती है और दूसरी ओर शीला को हृदय से चाहती हुई भी निरन्तर उसके विनाश की ओर अग्रसर रहती है। उसकी इन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में मेल बैठाना पाठकों के लिए दुष्कर हो जाता, यदि उपन्यास के अंत वाला, निरंजना के गुरु मनमोहन जी का यह व्याख्यात्मक अंश न जुडा होता : 'जो व्यक्ति तुम्हारा रक्षक बनकर भी भक्षक बनने पर उतारू था, तुम्हें एक वेश्या की बेटी समझकर अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था, (अपनी लडकियो तक को उसने कभी तुम्हारे पास नही आने दिया) और साथ ही

४३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 131.

तुम्हारे सौंदर्य के प्रति आकर्षित होकर छल, बल और कौशल से तुम्हारा कौमार्य नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखता था, उसके लड़के के भीतर लालसा की आग भड़का कर उसे जीवन भर अतृप्ति की आंच में तड़पाते रहने की प्रवृत्ति जान में या अनजान में तुम्हारे भीतर घर कर गई थी ······केवल उसे जला-जलाकर विनाश के पथ की ओर ले जाकर ही तुम्हारी प्रतिहिंसक वृत्ति ने सन्तोष नही किया, बल्कि उसके भीतर दबे हुए शैतान को पूर्ण रूप से उभाड कर अपने अज्ञात मे तुमने उसे हत्या के लिए उकसाया। इस बात से तुम्हारा अन्तर्मन यह सन्तोष भी प्राप्त करना चाहता था कि केवल तुम्हारे पिता ही खूनी नही थे, बल्कि संसार के प्रत्येक पुरुष के भीतर यह भावना निहित रहती है ····वह तुम्हारे सामने तुम्हारी माता के प्रतीक के रूप में आई थी। जब से तुमने सुना कि तुम्हारी माता एक वेश्या थी और उसने तुम्हारे पिता को धोखा दिया, तबसे निश्चय ही तुम्हारे मन में तुम्हारे अनजान में अपनी उस वेश्या माता के विरुद्ध विद्रोह की भावना जड पकड़ गई होगी, जिसने तुम्हारे पिता को खूनी बनने के लिए बाध्य किया। चूँकि अपनी माता के समान ही स्नेहशील शीला को तुम्हारे अंतर्मन ने माता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया होगा, इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह हिंसक भाव पूर्ण रूप से कारगर हुआ।"[४४]

पारसनाथ की मानसिक ग्रन्थि

'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जीवन भर बेपेंदे के लोटे की तरह भटकता रहा। अपने जीवन में आई अनेक नारियों को वह हृदय से चाहता हुआ भी उनके प्रति समर्पित न हो सका और न ही उनके समर्पण को स्वीकार कर सका। अपने इस असाधारण जीवन की व्याख्या वह स्वयं मजरी को दी हुई सफाई के रूप में इस प्रकार करता है: "तुम्हें याद होगा, मैंने एक दिन तुमसे कहा था कि मैं अपनी माँ के पति का बेटा नहीं, बल्कि उसके प्रेमी का लड़का हूँ। मुझे इस बात का अन्देशा था कि मेरी बात सुनकर तुम उसी वक्त से मुझसे घृणा करने लगोगी, पर तुमने अपने विशाल हृदय की गहरी संवेदना का परिचय देते हुए कहा था—'नहीं, तुम कतई घृणा के योग्य नही हो, कोई भी दुःखी आदमी घृणा के योग्य नहीं हो सकता।'······इस बात से तुम्हारी महानता का परिचय अवश्य मिला, पर उससे मेरे समान क्षीण-हृदय किन्तु प्रबल अनुभूतिशील प्राणी की आत्मग्लानि कुछ भी कम नहीं हुई। आत्मग्लानि की वह भावना कैसी सर्वनाशी और आत्म-शोषी थी, इसकी कल्पना आज मै स्वयं नहीं कर सकता, कोई दूसरा क्या कर सकेगा। इस भावना ने सारे संसार को मेरे लिए भयंकर रौरव नरक में परिणत कर दिया था, और वह नरक में निवास करने वाले प्रेतों और छायाओं के सदृश मैं जीवन बिताया करता था, और जाग्रतावस्था में रहने पर भी सब समय निद्रा-विचरण के रोगी का-सा आचरण किया करता था ····एक जरा सी बात ने मेरे सारे व्यक्तित्व को ऐसे भयंकर रूप से डांवाडोल कर दिया ····वर्षों बाद

४४. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृष्ठ २१६-१७।

जब मुझे इस बात का निश्चित प्रमाण मिल गया फि मैं जारज नही, बल्कि अपनी माँ के पति का ही पुत्र हूँ, तो मेरी सारी भावधारा ही एकदम पलट गई।"[५०]

सुनन्दा की यौन-प्रवृत्ति

'मुक्ति-पथ' की विधवा सुनन्दा, जो लोकलाज और कुल-मर्यादा सब कुछ को तिलांजलि देकर मुक्ति-निवेश की स्थापना के लिए राजीव के साथ घर से निकल भागी थी और जिसने दिन-रात अथक परिश्रम द्वारा मुक्ति निवेश को सुदृढ बना दिया था, वही सुनन्दा जब ढाई वर्ष में ही उससे उकताकर दूर भागने के लिए तैयार हो उठती है, तो पाठकों को उसके इस आचरण पर आश्चर्य होता है। उसके इस व्यवहार के कारणों को जानने की प्रमिला की उत्सुकता के रूप में मानो पाठकों की उत्सुकता ही व्यक्त हुई है। सुनन्दा उसका उत्तर इस प्रकार देती है : "तुमसे क्या छिपाऊँ रानी, अवश्य ही इतने दिनो तक मेरे मन में कही न कही यह इच्छा दबी हुई थी कि मेरे भीतर के जलते हुए रेगिस्तान में, जहाँ चिनगारियों की तरह उड़ते हुए बालू के कणों के सिवा और कुछ नही है, वहाँ कही एक कोने में अगर तनिक हरियाली छा जाती। तब शायद जीवन कुछ दूसरे ही रूप में सामने आया होता। लखनऊ छोड़कर जब उनके साथ यहाँ आई, तब अस्पष्ट, एकदम अस्पष्ट-सी, आशा भी मेरे मन में वर्तमान थी कि शायद उस हरियाली के छाने का समय आ गया है। पर······आज ढाई वर्ष बीत चुके है, और भीतर वही दिगंत-प्रसारित जलती हुई रेत आँधियो के वेग से धाँय-धाँय, साँय-साँय की आवाज से उडी चली जा रही है। कई पीढ़ियो से बजर पड़ी हुई जमीन तुम्हारे राजीव बाबू के दुर्दम कर्मोद्यम से आज लहलहा रही है। पर मेरे भीतर की जमीन एकदम सूखी और सूनी पडी है। बालू केवल बालू। पानी की बूँद भी कही नहीं है—हरियाली की कौन कहे।'[५१]

नीलिमा का अपसाधारण (एब्नोर्मल) व्यक्तित्व

'निर्वासित' की नीलिमा एक रात बड़े उत्साह से महीप के साथ अपनी माँ से दूर भागने के लिए हठ करने लगी थी और अपनी अस्वाभाविक और अपसामान्य मनोदशा के कारण असाधारण घटनाचक्र के फेर में पड़कर महीप को अपना 'हस्बैंड' बताने पर उसने जो एक नई उलझन अपने और साथ ही महीप के मन में उत्पन्न कर दी थी, अपनी माँ से मिलने के बाद उस सबसे वह केवल दो दिन में मुक्त हो गई थी। उसमें आया इतना विशाल और तीव्र परिवर्तन पाठको को आश्चर्य में डाल देगा, यह बात जोशी जी अच्छी तरह जानते थे, इसलिए वह नीलिमा की उस रात की मन.स्थिति की बड़े मनोयोग से व्याख्या करते हैं जो सात पृष्ठ घेर लेती

५०. जोशी, 'प्रेत और छाया', ४१६-४१७।
५१. जोशी, 'मुक्ति-पथ', पृ० ३८६-८७।

है।[५२] यहाँ स्थानाभाव के कारण इतनी लम्बी व्याख्या तो नहीं दी जा सकती, पर उसका एक अंश प्रस्तुत किया जाता है :--

'स्टेशन पहुँचते ही जब ताँगे की गति रुकी, तब सहसा नीलिमा के मन की अति-प्राकृत दशा की गति भी स्थगित हो गई। उसका जो असाधारण व्यक्तित्व कुछ अजीव से मनोवैज्ञानिक कारणों से उस दिन उभर उठा था, वह बड़ी तीव्र गति से विलीन होने लगा—जैसे कोई विमान आकाश में मीलों ऊपर स्टेटास्फेयर में—उड़ान भरने के बाद सहसा सीधा नीचे उतरने को बाध्य हुआ हो और उस उद्देश्य से बड़ी तेजी से गोते खाता चला जा रहा हो। उस गोताखोरी की मध्यावस्था में उसके मन की आंखें जिस अजीव ढंग से बदलते हुए संप्रेक्षणों—'पर्सपेक्शनों'—में वास्तविक तथा काल्पनिक दृश्यों को देख रही थीं, उनकी अनुभूति नीलिमा को विचित्र और विभ्रामक लग रही थी। जब महीप टिकट खरीदने गया और नीलिमा व्यस्त यात्रियों की भीड़ के बीच में एक स्थान पर खड़ी रही, तब उसे (नीलिमा को) अचानक ऐसा लगा कि उसका जो विमान कुछ ही क्षण पहले 'स्टेटाफायर' में उड़ान भर रहा था, वह पृथ्वी पर टकरा कर चकनाचूर हो गया है। उसकी माँ ने न जाने टेलीपेथी की किस चुम्बक-शक्ति से 'राकेट' से भी तीव्र गति से चलने वाला कौन अस्त्र उसके उस मनोविमान पर फेंका था। क्योंकि उस दिन सध्या से ही उसका दूसरा व्यक्तित्व उभरा हुआ था जब वह एक विस्फोट के साथ सहसा विलीन हो गया, तब तत्काल बिजली की तरह उसकी आँखों के आगे सर्वत्र माँ का ही रूप विभासित हो उठा और एक मात्र माँ की ही चिन्ता ने सजीव रूप धारण करके उसके सारे मन को चारों ओर से तूफानी बादलों की तरह छा दिया। यही कारण था कि महीप जब टिकट खरीद कर उसके पास पहुँचा तब वह चीख मार उठी। उसका प्रतिदिन के जीवन का वही साधारण व्यक्तित्व कराह उठा, जिसमें एक पल के लिए भी माँ के स्नेह-बन्धन से मुक्त होने का साहस कभी नहीं हुआ, कभी इच्छा ही नही हुई। उसकी सारी बहिरात्मा गुहार मार उठी—'माँ ! माँ ! माँ !' जिस माँ से जीवन में पहली बार भयंकर विद्रोह करके वह चली आई थी, उसके सहस्र कर अपने को चारों ओर फैलाकर विकृत और विकल अनुभव के साथ जैसे कह रहे थे—'आ जा बेटी, आ जा। तेरे लिए इस जीवन में एकमात्र इन्हीं हाथों में आश्रय है। एकमात्र माँ की गोद ही ऐसा स्थान है जहाँ नाना विरोधी और विषम चक्रों से भरे इस जीवन में तू अपने चिर दिन के अभ्यास के अनुसार सहूलियत से बैठ सकती है और आराम से करवट ले सकती है। इसे छोड़कर इतनी देर तक तू व्यर्थ के किन भ्रामक स्वप्नों, महत्त्वाकांक्षा की किन मरीचिकाओं से भरे लोक में भटकती रही ? आजा, बेटी आ जा।"[५३]

---

५२. जोशी, 'निर्वासित', पृ० २७५-२८१।
५३. जोशी, 'निर्वासित', पृ० २७६-७७।

लम्बी-लम्बी तर्कपूर्ण व्याख्याएँ

व्याख्यात्मक अंश तो सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हुआ करते हैं, बल्कि ये इन उपन्यासों का एक अनिवार्य अंग भी हुआ करते हैं; पर जोशी जी के उपन्यासों में व्याख्याएँ लम्बी होकर व्याख्यानों का रूप धारण कर लेती हैं, मानो ये व्याख्याएँ ही साध्य हों; कुछ-एक मनोवैज्ञानिक समस्याओं की व्याख्या के लिए ही उनके विशालकाय उपन्यासों की रचना हुई हो। इसलिए यह विचारणीय हो सकता है कि इस प्रकार की सागोपांग व्याख्याओ के लिए उपन्यास अधिक उपयुक्त हो सकता है या मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ। मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी ये लम्बी-लम्बी तर्कपूर्ण व्याख्याएँ ठीक नहीं बैठतीं, क्योंकि फ्रॉयड के मतानुसार मनोविश्लेषण का तर्कपूर्ण खंडन-मण्डन और शिक्षण से कोई साम्य नहीं, प्रत्युत् उसका उद्देश्य तो केवल व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों की कार्य-कारण परम्परा को उसके चेतन में ले आना है।[५४] इसलिए फ्रायड की धारणा है कि पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों की कार्य-कारण परम्परा के सम्बन्ध में अपने अनुमानों को पात्र पर व्यक्त करना, जैसा कि 'पर्दे की रानी' का मनमोहन और 'निर्वासित' का महीप करता है, मनोविश्लेषण-प्रणाली की सबसे बड़ी भूल होगी। मनोविश्लेषक को व्याख्याओ का केवल उस सीमा तक और उस रूप में प्रयोग करना होता है कि पात्र अपनी दमित अनुभूतियों को स्वय अपनी चेतन स्मृतियों में ला सके। 'पर्दे की रानी' के मनमोहन की तरह मनोविश्लेषक अपने पात्र से यह कभी नही कहता कि उसका इस या उस प्रकार सोचना गलत है, प्रत्युत वह उसे इस योग्य बनाता है कि वह अपनी मानसिक उलझनों के कारणों को ग्रहण कर सके।[५५]

स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम ऐनैलिसिस)

जोशी जी के पात्रों के अचेतन में दबी पड़ी दुःखद अनुभूतियाँ जो उनकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को जन्म देती हैं, बीच-बीच में उनके स्वप्नों तथा दिवा-स्वप्नों में भी अभिव्यक्ति पाती रहती है, पर वहाँ ये अनुभूतियाँ अपने वास्तविक रूप में न प्रकट होकर रूप बदल कर ही आती हैं। इनके पात्रों के स्वप्नों में प्रायः वे सभी संघटन (मैकेनिज्म) मिल जाते हैं, जिनका उल्लेख फ्रायड ने किया है। यहाँ स्थानाभाव से उनके पात्रों के सभी स्वप्नों को न लेकर उदाहरण के लिए कुछ-एक स्वप्नों को ही लिया जा सकेगा।

---

५४. Freud, 'de Saussure', M. P., p. 147-151.

५५. Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis', trans. Joan Riviere, Allen & Unwin, p. 237-38.

स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म)

उनके उपन्यास 'जहाज के पंछी' का नायक जब लीला के यहाँ से भी भागने की सोच रहा था, तब उसने रात को यह स्वप्न देखा : "बचपन में जिस घर में, जिस पड़ौस में, जिस युग में और जिस वातावरण में मैं रहता था, उससे सम्बन्धित एक ऊट-पटाँग और अर्थहीन-सा स्वप्न था वह। स्वप्न के अधिकांश पात्र न जाने कब मर चुके थे। अधिकांश बातें वे अपने युग की कर रहे थे, पर बीच-बीच में एक-आध अस्पष्ट बात मेरे वर्तमान वातावरण से सम्बन्धित कर बैठते थे। पर वे क्या कहते थे और क्या करते थे, यह मैं किसी भी तरह ठीक से याद नही कर पाता था। कभी लगता था जैसे बचपन के युग के किसी मेले में हम लोग जा रहे है। उस मेले के राग-रंग और हुल्लड़ में कभी सभी पुराने लोग सम्मिलित दिखाई देते थे, कभी इस युग के लोग पर मेरे साथ उनमें से कोई भी बात नही करता था—जैसे मैं उनके बीच में होने पर भी न था। लीला न जाने कहाँ से उसमें शरीक हो गई थी। मैं बार-बार उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता, पर वह जैसे मुझे पहचान ही नही रही थी--या मुझ तक उसकी दृष्टि पहुँच ही नही पाती थी। वह प्रसन्न दिखाई देती थी और मेले कें हुल्लड के बीच में अपना भी उल्लसित स्वर मिला रही थी। अन्त में एक बार बड़ी मुश्किल से उसने मेरा स्वर पहचाना और फिर मुझे देखकर घबराई हुई-सी मेरी ओर दौडी आई। आते ही बोली, 'चलो, यहाँ से भागो। इस मेले में निश्चय ही कोई बहुत बड़ा उपद्रव होने वाला है।' और बिना मेरे चलने की प्रतीक्षा किये ही वह जलूस से उल्टी दिशा की ओर तेजी से भागने लगी। उसके लिए चिन्तित होकर मैं भी उसके पीछे दौड़ा। इस बीच सचमुच दंगा शुरू हो गया। मै उसके लिए बुरी तरह घबराया हुआ उसे इधर-उधर खोजने लगा, पर उसका कही पता नही लगा। अन्त में एक स्थान पर उसे देखकर मैं उस का साथ देने के लिए दौड ही रहा था कि सहसा मेरी नीद उचट गई।"[५६] इस स्वप्न में अभिव्यक्ति पानेवाली पात्र की अचेतन अनुभूतियों की विकृति में कई स्वप्न-संघटन काम कर रहे हैं।

'कन्डेन्सेशन मैकेनिज्म'[५७] द्वारा उसके बचपन के घर, पड़ौस और आसपास का वातावरण बचपन में देखे हुए किसी मेले की भीड़-भाड़ और विभिन्न अवस्थाओं के परिचित व्यक्ति सब घुलमिल कर एक ही स्वप्न में प्रकट होते हैं और उनके साथ ही आ जाती है लीला भी। लीला के प्रवेश करते ही बचपन के सभी दृश्य पृष्ठभूमि में चले जाते हैं और केवल लीला और वह ही रह जाते हैं। यहाँ विस्थापन-सघटन (डिस्प्लेसमेन्ट मैकेनिज्म)[५८] काम करने लगता है। नायक की अपनी भावनाएँ

५६. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ४५०-४५१।

५७. Freud, 'Interprotation of Dreams', trans. by A. A. Brill, Allen & Unwin, p. 270.

५८. Dalboiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 82.

स्वप्न में उससे कट कर लीला की भावनाओं के रूप में प्रकट होती है। भागना चाहता है वह, पर स्वप्न में देखता है कि लीला घबराई हुई सी भाग रही है और वह उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। इसके अतिरिक्त जिस रूप में यह स्वप्न उपलब्ध है, यह वही नही है, जो वास्तव में उसने देखा था। जागने पर तो वह स्वप्न को एक दम भूल गया था। 'अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नो के बाद स्वप्न के एक अस्पष्ट से आभास को ही वह अपने सचेत मन तक लाने में सफल हुआ था' और वह अस्पष्ट-सा आभास वही है जिसका वर्णन यहाँ किया गया है। फ्रॉयड ने इस स्वप्न-संघटन को 'सेकण्डरी एलेबोरेशन'[५९] की संज्ञा दी है।

नाटकीकरण-स्वप्न-संघटन

'प्रेत और छाया' की मंजरी की माँ जब एक भयानक रात्रि में मृत्यु-शैया पर पडी हुई थी और पारसनाथ डाक्टर के साथ दवाई लेने गया हुआ था तब मंजरी हताश भाव से फर्श पर घुटने टेक कर दोनों हाथों के सहारे खटिया के डंडे पर निश्चेष्ट अवस्था में आँख बन्द करके बैठ गई। अपने भविष्य की चिन्ता करते-करते उसे अचानक नीद आ गई और उसने स्वप्न देखा कि 'वह प्रेत और छायाओं के किसी घोर दुःस्वप्नलोक में किसी दुर्गम पहाडी पथ पर एकांकी चली जा रही है—किसी अज्ञात रहस्यमय अनिर्दिष्ट स्थान में बसेरा ढूँढने के लिए; जैसे समय बहुत कम है और चलने में शीघ्रता न करने से अनन्त अधकारमयी काल-रात्रि उसे घेर कर अपने विकराल जबडों से डस लेगी। वह हाँफती हुई, ठोकरें खाती हुई केवल चली जा रही है, कहाँ पहुँचने पर उसे विश्राम मिलेगा, इसका कुछ भी ध्यान उसे नही है। यहाँ नाटकीकरण संघटन (ड्रैमेटाईजेशन मैकेनिज़्म)[६०] ने काम किया है। नींद आने से पहले की मजरी की दुश्चिन्ताएँ ही इस स्वप्न में नाटकीय ढग से

५९.(क) Dalbeiz, 'The Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud,' p. 120-121 :

"Freud gives the name of 'secondary elaboration' to the process whereby the dreamer's mind, in proportion as it draws near to the waking thought, introduces a more or less artificial order into its oneiric production. In order to make the exact nature of secondary elaboration understood, Freud quotes the following passage from Havelock Ellis : 'As a matter of fact, we might even imagine the sleeping consciousness as saying to itself : Here comes our master, Waking Consciousness, who attaches such mighty importance to reason and logic and so forth. Quick, gather things up, put them in order—any order will do—before he enters to take possession."

(ख) Freud, "Interpretation of Dreams", 'Basic Writings of Sigmund Freud', trans by Brill, The Modern Library, New York, 1938, p. 463.

६०. Dalbiez, 'The Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 88.

प्रकट हुई है। पहाड जिस पर कि वह चली जा रही है, उन मुसीबतों का पहाड़ है जिनका उसे सामना करना है। उसका एकाकीपन द्योतक है, उसके असहाय जीवन का और उसका बसेरा ढूँढते रहना विशाल जीवन में किसी से भी वैवाहिक सम्बन्ध न गाँठ सकने की ओर सकेत है।

इसी प्रकार, जोशी जी के पात्रों के स्वप्नों में फ्रॉयड द्वारा वर्णित सभी स्वप्न-संघटन काम करते हुए दिखाई देते हैं।

हैल्यूसीनेशन

जोशी जी के उपन्यासों में उनके पात्रों के अचेतन में पड़ी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ उनके निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्यूसीनेशन) के रूप में भी अभिव्यक्ति पाती है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जब भी मंजरी से मिथुन करने की स्थिति में आता है, मंजरी की मृत माता की विकराल प्रेतात्मक छाया उसकी आँखो के सामने आ खड़ी होती है और वह स्पष्ट देखने लगता है कि उसकी मुखाकृति से वही पहले की सी दिल दहलाने वाली बीभत्सता, विकट व्यंग्य और निष्ठुर परिहास व्यक्त हो रहा है। पारसनाथ जानता है कि यह 'उसका भ्रम है, 'हैल्यूसीनेशन' है और उसके अन्तस्तल में जमी हुई पापवृत्ति और भय की भावना की काल्पनिक प्रतिच्छाया के सिवा वह और कुछ नहीं है। पर यह सब जानते हुए भी वह जैसे कुछ भी नहीं समझ पाता था और भय की वह काल्पनिक छाया जीवित और प्रत्यक्ष सत्य की तरह उसकी आत्मा को बुरी तरह जकड़ लेती थी।'[६१]

पूर्व-वृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय के (ग) भाग में हम पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली का निरूपण कर आए हैं। यह बड़ी उपयोगी प्रणाली है। इसका उचित प्रयोग किया जाय तो यह मनोविज्ञान और साहित्य दोनों की कसौटी पर पूरी उतर सकती है।[६२] इसमें मनोवैज्ञानिक, पात्र की वर्तमान अवस्था को समझने के लिए उसके पूर्ववृत्त और उसकी विगत अनुभूतियों को एकत्रित करता है। इसके अतिरिक्त इसमें वह पात्र पर किए गए अपने विभिन्न प्रयोगों का वर्णन, उसके मनोविश्लेषण द्वारा निकले निष्कर्ष तथा विभिन्न प्रकार के आँकड़ों को भी सम्मिलित करता है।

पूर्ववृत्त : अपनी ज़बानी

जोशी जी के उपन्यासों में इस प्रणाली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है,

६१. (क) जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० १८१-२६३।
(ख) McDugall, 'An Outline of Psychology', p. 373.

६२. G. W. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 395.

विशेषत: उनके उपन्यास 'जहाज का पंछी' में। इस उपन्यास में पहले तो ऐसे पूर्ववृत्त आते है, जो पात्रो की अपनी जबानी कहे गये हैं। जैसे करीम चाचा की 'आप बीती कहानी',[६३] जो लगभग तेरह पृष्ठ तक चलती रहती है। इसके बाद आता है करीम चाचा के पास रहने वाले हरीपद का पूर्ववृत्त उसके अपने शब्दों में, जिसकी जानकारी के अभाव में उसके खेमी को भगा ले आने के प्रेरक भाव को समझ सकना कठिन हो जाता।[६४] इसके बाद आता है उस 'चश्मानशीन अभागिन युवती' फ्लोरा का किस्सा, छोटी उमर से ही शारीरिक, आत्मिक, नैतिक और आर्थिक शोषण का शिकार बनने के कारण जिसका सत्त्व निचुड़ चुका था।[६५] तत्पश्चात् पूर्ववृत्तों की बाढ़ आ जाती है। पहले तो एक-एक करके मिस साइमन के चकले में वेश्या का काम करने वाली लड़कियों—अमला, सुजाता, जुलेखा, सुखिया आदि—का वृत्त मिलता है। इन वृत्तों से यह तो पता चलता ही है कि किन-किन विवशताओं के कारण इन लड़कियों ने यह घृणित पेशा स्वीकार किया और साथ ही वेश्यावृत्ति के कारणों पर भी काफी प्रकाश पड़ता है।[६६] यहाँ तक पात्रों के पूर्ववृत्त उनके अपने शब्दों में मिलते हैं।

यदि यह मान लें कि पात्रों ने बिना किसी प्रकार के घुमाव-फिराव के अपने पूर्व इतिहास का ठीक-ठीक वर्णन किया है, तो भी कहना न होगा कि उन्होंने आपबीती जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही बताई होगी और यह आवश्यक नहीं कि जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण ठीक ही रहा हो। इसलिए इन पूर्ववृत्तों की विश्वसनीयता भी विचारणीय हो सकती है।

पूर्ववृत्त : दूसरों की जबानी

इस उपन्यास के अंतिम चरण में जितने भी पूर्ववृत्त मिलते है वे एक मानसिक अस्पताल के विभिन्न रोगियों के हैं, जो 'न जाने कितनी आशाओं पर पानी फिरने से, कितने अरमानों के कुचले जाने से, अपना मानसिक संतुलन खो बैठे हैं'।[६७] अधिकाशत: ये उनके सम्बन्धियों से सुनी-सुनाई बातों पर आधारित हैं। ये पूर्ववृत्त पात्रों की अपनी जबानी नहीं कहे गए। जैसे बीना का पूर्ववृत्त कुछ तो उसके चाचा ने बताया था जब वह उसे भरती कराने आया था और कुछ स्वयं बीना ने बताया था।[६८] इसलिए इन पूर्ववृत्तों की विश्वसनीयता और भी संदिग्ध हो उठती है।

---

६३. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ १३८-१४७।
६४. वही, पृष्ठ १८२-१८५।
६५. वही, पृष्ठ २०२-२०४।
६६. वही, पृष्ठ ३०८-३१८।
६७. जोशी, 'जहाज का पछी', पृष्ठ ३०८-३१८।
६८. वही पृ० ५२०।

इन पूर्ववृत्तो से एक और बात प्रकाश में आती है कि इन स्त्री पात्रो के पागलपन का मूल उनकी अतृप्त सैक्स-प्रवृत्ति में हे ओर पुरुष पात्र अधिकांशत: आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपना मानसिक संतुलन खो बैठे हैं।

चित्र-विश्लेषण

कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति में अनायास ही अभिव्यक्ति पा लेता है। आज जब व्यक्ति के लिखावट में उसके व्यक्तित्व की झाकी पाने के प्रयास किए जाते हैं तो उसकी स्वत: निसृत चित्रकारी में उसके चरित्र को ढूढ़ने के प्रयोगों की सफलता में संदेह न करना होगा। जोशी जी ने भी अपने उपन्यासो में विशेषकर 'प्रेत और छाया' में, पात्रों की निरुद्देश्य चित्रकारी के माध्यम से चरित्रचित्रण की प्रणाली का प्रयोग किया है। नंदिनी द्वारा बनाए गए चित्रों के आधार पर ही तो पारसनाथ उसके हृदय में धधकती विद्वेप की भयंकर अग्नि की लपटो को देख सका था। यद्यपि नन्दिनी ने अपने पति बजौरिया जी का एक 'सीधा सादा (किन्तु कलात्मक) रेखा-चित्र अंकित करना चाहा था, परन्तु उसके हाथों पड कर वह व्यंग-चित्र बने बिना न रह सका। उसमें बड़ी ही भोंड़ी और बीभत्स आकृति प्रकट हो पडी थी। केवल बीभत्स ही नहीं, बल्कि भयावह भी, मानो अपने पति के प्रति उसकी समस्त बीभत्स और भयावह भावनाएं उस चित्र के रूप में प्रस्फुटित हो पड़ी हों।' इसी प्रकार, नन्दिनी द्वारा खींचे गए नौकरानी के चित्र से जो पिछले चित्र की आकृति से कुछ कम बीभत्स नहीं था पारसनाथ आसानी से यह अनुमान लगा सका था कि 'वह निश्चय ही अपनी नौकरानी से घृणा करती है—भयंकर रूप से। नन्दिनी ने उसे जो 'सैल्फ पोर्ट्रेट' दिखाया था, उसमें उसके अनजान में ही उसका अपना गुप्त व्यक्तित्व प्रकट हो उठता है।' नन्दिनी के अवचेतन मन की जो अनुभूतियाँ रेखाओं के रूप में उसके चित्रों में फूट पड़ी थीं, उनकी सचाई को पहचान कर ही पारसनाथ उन तीनों चित्रो में प्रतिबिम्बित पति तथा नौकरानी के प्रति नन्दिनी की गुप्त भावनाओं को समझ सका था।

इस प्रकार, जोशी जी अपने पात्रों के चरित्रचित्रण के लिए उनके द्वारा अनायास खीचे गए रेखाचित्रों का भी सहारा लेते है। पात्रों के स्वत:निसृत चित्रों में उनकी मानसिक प्रवृतियों को खोजना तो मनोविज्ञान की एक विशेष प्रणाली है, जिस पर वेह्लर आदि मनोवैज्ञानिकों ने अच्छा परिश्रम किया है। इनकी धारणा है कि व्यक्ति की मन:स्थिति को समझने में स्वत:निसृत रेखाचित्रों का, वे कितने ही अनापशनाप क्यों न लगते हों, और बातचीत के दौरान में अनापशनाप खिची हुई रेखाओं का, विशेष महत्त्व है।[६९]

---

६९. T. S. Wachner, "Interpretation of Spontaneous Drawings and Paintings, 'Genet. Psychol. Monogr., 33, 3-70.

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट)

व्यक्ति के चरित्राध्ययन की एक प्रणाली शब्द-सहस्मृति-परीक्षण भी है। इसमें पात्र को एक शब्द-शृंखला पढ़ाई या सुनाई जाती है और उसे कहा जाता है कि प्रत्येक शब्द के पढ़ने या सुनने के पश्चात् उसके मन में प्रतिक्रिया के रूप में जो पहला शब्द आता हो, उसे बताए। तत्पश्चात् पात्र द्वारा बताए गए शब्द के विश्लेषण द्वारा उसके व्यक्तित्व के बारे में अनुमान लगाया जाता है।[७०]

जोशी जी ने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए अपने उपन्यास में इस प्रणाली का भी प्रयोग किया है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी ने पारसनाथ से ज्योंही 'फिलासफर लड़की से चित्रकार का विवाह' की बात छेड़ी, 'विवाह' शब्द सुनते ही पारसनाथ का मुँह अत्यन्त गम्भीर हो आया। यहाँ तक कि उस पर एक हल्की-सी कालिमा पुत गई, पता नहीं क्यों, यह शब्द वर्षों से उसके अन्तर्मन के लिए हौआ बना हुआ था।[७१] 'न चाहने पर भी उसके मन में यह इच्छा जाग उठी कि एक सबल झटके से मंजरी के स्नेहपाश से अपने को छुड़ा कर, अपने भीतर और बाहर के दम घोटने वाले वातावरण से मुक्त होकर कही भाग निकले। किसी ऐसे अज्ञात शून्य एकाकी और निपट निर्जन स्थान में जा पहुँचे जहाँ न किसी व्यक्ति का बन्धन हो, न समाज का, न निज का दबाव हो, न पराए का—हो केवल अनन्त सूनापन और इच्छा की बाधाहीन, अटूट और उन्मुक्त गति।'[७२] पारसनाथ ने अपने माता और पिता के वैवाहिक जीवन का जो रूप देखा था उसने उसके अचेतन में एक ऐसी गाँठ डाल दी थी कि वह 'विवाह' शब्द तक से भी घृणा करने लग गया था।

शब्दों की प्रतिक्रिया

जो शब्द पात्रो के भीतर दुःखद अनुभूतियों को उद्दीप्त करते हैं, उनके प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया शीघ्र प्रकट नही होती[७३] और उसका सकोच बढ़ जाता है। इसलिए जब मंजरी ने अचानक 'विवाह' शब्द का उल्लेख किया तो पारसनाथ का 'भीतर ही भीतर खून सूखने लगा और कुछ क्षण तक चुप रह कर वह मरे मन से, निर्जीव स्वर में ही उसका उत्तर दे सका था', पर जब तक उसकी शाब्दिक प्रति-

---

७०. Stegner, 'Psychology of Personality', p. 38.

७१. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १७१।

७२. जोशी. 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १७७।

७३. H. D. Carter, "Emotional Factors in Verbal Learning : IV Evidence from Reaction Time", 'Journal of Educational Psychology', 1937 : 28 : p. 101-108 :

"Reaction times were significantly longer for unpleasant words than for pleasant or neutral words."

क्रिया व्यक्त नहीं हुई थी, तब तक उसकी आवेगज मन स्थिति की झलक उसके चेहरे पर मिलती रही थी।

'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र के लिए 'नीरू' शब्द जादू का असर रखता था। बड़ी कठिनाई के बाद इस जादू का कारण कही उसके आगे स्पष्ट हुआ था : 'उसके नाम का पहला अक्षर 'नृ' है और छुटपन में उसकी माँ उसे 'नीरू' कह कर पुकारा करती थी। नीरू की पुकार से उसके शंकित मन को ऐसा लगा, जैसे उसकी माँ की आत्मा उस महिला के स्वर में उसे सावधान कर रही हो।'[७४]

'गंगा-यमुना में आंसू-जल' यह पंक्ति सुनते ही 'जहाज का पंछी' की लीला की आँखों से आँसू उमड़ आये थे। इस सम्बन्ध में वह स्वयं कहती है : "जब कभी मैं पत जी का यह गीत खास कर 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब न जाने क्यों, मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आंखों से उसी समय आँसू निकल जाते हैं।"[७५]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी अपने पात्रों के आवेगों को व्यक्त करने के लिए शब्द-सहस्मृति-परीक्षण का भी प्रयोग करते हैं।

अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने अपने उपन्यासों में अंतर्विवादों का भी प्रयोग किया है। अन्तर्विवाद पात्र का ऐसा मानसिक वार्तालाप होता है जिसे न तो कोई बोलने वाला होता है और न ही कोई सुनने वाला।[७६] इसका उद्देश्य पात्र के मनोजगत् से पाठक का सीधा सम्पर्क कराना होता है। इसमें उपन्यासकार अपने आप को पात्र और पाठक के बीच से निकाल कर अलग हो जाता है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह पात्र के मन की खिड़की में से झाँककर उसके समस्त मानसिक संघर्ष को अपनी आँखों से देख रहा हो।

'निर्वासित' के दूसरे भाग के छठे परिच्छेद में महीप की अभूतपूर्व उद्विग्नता को व्यक्त करने के लिए जोशी जी उसके अन्तर्विवादों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है :[७७]

> "इसलिये अब समष्टिगत जीवन में सच्ची शांति और सच्चे कल्याण की स्थापना के उद्देश्य से अहिंसात्मक विचारों के प्रचार के प्रयत्न व्यर्थ हैं; ...इसके अलावा, अकेले मेरे या मेरे ही जैसे कुछ छिटपुट व्यक्तियों के असंगठित प्रयत्नों से किस फल की आशा की जा सकती है, जब इस ओर

---

७४. जोशी, जिप्सी', पृष्ठ ४२६।

७५. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ३७८।

७६. Edel, 'The Psychological Novel', p. 80.

७७. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६।

महात्मा गाधी के समान महापुरुष के संगठित प्रयत्न निष्फल सिद्ध होने के लक्षग प्रकट हो रहे है । इसलिए लौट चलो अपने पिछले कवि-जीवन के स्वप्नो की ओर । संभवत: कवि के अन्तर्जीवन के वे स्वप्न विश्वव्यापी अंधकार और अशान्ति के इस युग में प्रकाश की कुछ क्षीण किरणें प्रस्फुटित करने में समर्थ हो । व्यक्तिगत जीवन क्या वास्तव में उतना उपेक्षणीय है जितना विश्व-विनाश के लिए मंत्रणा करने वाले महानेता और उनके महादल बता रहे हैं ? विश्व-शाति का मूल उद्देश्य ही यह है कि मानव का व्यक्तिगत जीवन सुखी और व्यवस्थित हो, सच्ची लोकसेवा का ध्येय ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों, विचारों और स्वप्नो के क्षेत्र में स्वतंत्र हो । तब अणु-बम से विश्व का पूरा विनाश होने के पहले जितना भी थोड़ा अवकाश मिलता है, उसमें क्यों न व्यक्तिगत जीवन की रास ढीली कर दी जाय ? क्यों न दमित अंतर्जगत् के स्वप्नों की पिटारी का ताला तोड कर उन्हें पागल विश्व के आगे निपट नग्न रूप में बिखेर दिया जाय ? ठीक है। ठीक है । मुझे यही करना होगा । इसी में त्राण है; नही तो धीराज की तरह आत्म-विनाश ही एकमात्र उपाय है । मैं जानता हूँ कि दुनिया मुझे भगोड़ा कहेगी, पर भगोड़े क्या सचमुच उतने ही हेय हैं, जितना कि उन्हे दुनिया समझती है ? सभी क्रांतिकारियों को अपने अंतिम ध्येय की सफलता के उद्देश्य से जीवन-भर एक स्थान से दूसरे स्थान में भागते रहना पड़ा है, मार्क्स और लेनिन से लेकर सुभाष बोस तक का यही हाल रहा है । मेरे और उन लोगों के भगोड़ेपन में केवल इतना ही अंतर है कि उन लोगों का ध्येय इसी प्रत्यक्ष जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक सफलता प्राप्त करने का रहा है, और मेरा ध्येय इस प्रत्यक्ष जीवन से परे एक वास्तविक किन्तु अप्रत्यक्ष जीवन में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने का है ।"[७८]

उपर्युक्त अन्तर्विवाद और इसी प्रसंग में महीप के जिन अन्य अन्तर्विवादों का 'निर्वासित' में उल्लेख मिलता है वे साधारण कोटि के ही कहे जा सकते हैं । वे उस प्रकार के अन्तर्विवाद नहीं जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों के उन विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जो उसके अचेतन मन के निकटतम हों । इस दृष्टि से लिखे गए अन्तर्विवाद साधारण युक्तियुक्त भाषणो से भिन्न रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि इनमें कोई तर्कसंगत क्रम नही आ पाता[७९] और पात्रों के मन में जो विचार और अनुभूति जब और जिस रूप में आती है, वह उसे प्रकट करता जाता है । महीप के उपर्युक्त उद्धरण का तर्कसगत क्रम उसे मनोवैज्ञानिक अन्तर्विवादों से अलग कर देता है ।

७८. जोशी. 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६ ।

७९. Edel 'Psychological Novel', p. 80.

क्रिया व्यक्त नही हुई थी, तब तक उसकी आवेगज मन स्थिति की झलक उसके चेहरे पर मिलती रही थी ।

'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र के लिए 'नीरू' शब्द जादू का असर रखता था। बड़ी कठिनाई के बाद इस जादू का कारण कहीं उसके आगे स्पष्ट हुआ था : 'उसके नाम का पहला अक्षर 'नृ' है और छुटपन में उसकी माँ उसे 'नीरू' कह कर पुकारा करती थी। नीरू की पुकार से उसके शंकित मन को ऐसा लगा, जैसे उसकी माँ की आत्मा उस महिला के स्वर में उसे सावधान कर रही हो।' [७४]

'गंगा-यमुना में आंसू-जल' यह पंक्ति सुनते ही 'जहाज का पंछी' की लीला की आँखो से आँसू उमड़ आये थे। इस सम्बन्ध में वह स्वय कहती है : "जब कभी मैं पत जी का यह गीत खास कर 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब न जाने क्यों, मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आंखों से उसी समय आँसू निकल जाते हैं।" [७५]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी अपने पात्रों के आवेगों को व्यक्त करने के लिए शब्द-सहस्मृति-परीक्षण का भी प्रयोग करते हैं ।

अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

अपने पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने अपने उपन्यासों में अंतर्विवादों का भी प्रयोग किया है। अन्तर्विवाद पात्र का ऐसा मानसिक वार्तालाप होता है जिसे न तो कोई बोलने वाला होता है और न ही कोई सुनने वाला। [७६] इसका उद्देश्य पात्र के मनोजगत् से पाठक का सीधा सम्पर्क कराना होता है। इसमें उपन्यासकार अपने आप को पात्र और पाठक के बीच से निकाल कर अलग हो जाता है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह पात्र के मन की खिड़की में से झाँककर उसके समस्त मानसिक संघर्ष को अपनी आँखों से देख रहा हो ।

'निर्वासित' के दूसरे भाग के छठे परिच्छेद में महीप की अभूतपूर्व उद्विग्नता को व्यक्त करने के लिए जोशी जी उसके अन्तर्विवादों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है : [७७]

> "इसलिये अब समष्टिगत जीवन में सच्ची शांति और सच्चे कल्याण की स्थापना के उद्देश्य से अहिंसात्मक विचारों के प्रचार के प्रयत्न व्यर्थ हैं; ...इसके अलावा, अकेले मेरे या मेरे ही जैसे कुछ छिटपुट व्यक्तियों के असंगठित प्रयत्नों से किस फल की आशा की जा सकती है, जब इस ओर

---

७४. जोशी, जिप्सी', पृष्ठ ४२६ ।

७५. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ३७८ ।

७६. Edel, 'The Psychological Novel', p. 80.

७७. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६ ।

महात्मा गांधी के समान महापुरुष के संगठित प्रयत्न निष्फल सिद्ध होने के लक्षण प्रकट हो रहे है । इसलिए लौट चलो अपने पिछले कवि-जीवन के स्वप्नो की ओर । संभवत: कवि के अन्तर्जीवन के वे स्वप्न विश्वव्यापी अंधकार और अशान्ति के इस युग में प्रकाश की कुछ क्षीण किरणे प्रस्फुटित करने में समर्थ हों । व्यक्तिगत जीवन क्या वास्तव में उतना उपेक्षणीय है जितना विश्व-विनाश के लिए मंत्रणा करने वाले महानेता और उनके महादल बता रहे हैं ? विश्व-शांति का मूल उद्देश्य ही यह है कि मानव का व्यक्तिगत जीवन सुखी और व्यवस्थित हो, सच्ची लोकसेवा का ध्येय ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों, विचारों और स्वप्नों के क्षेत्र में स्वतंत्र हो । तव अणु-बम से विश्व का पूरा विनाश होने के पहले जितना भी थोड़ा अवकाश मिलता है, उसमें क्यों न व्यक्तिगत जीवन की रास ढीली कर दी जाय ? क्यों न दमित अंतर्जगत् के स्वप्नों की पिटारी का ताला तोड कर उन्हें पागल विश्व के आगे निपट नग्न रूप में बिखेर दिया जाय ? ठीक है। ठीक है । मुझे यही करना होगा । इसी में त्राण है; नही तो धीराज की तरह आत्म-विनाश ही एकमात्र उपाय है । मैं जानता हूँ कि दुनिया मुझे भगोड़ा कहेगी, पर भगोड़े क्या सचमुच उतने ही हेय हैं, जितना कि उन्हे दुनिया समझती है ? सभी क्रांतिकारियों को अपने अंतिम ध्येय की सफलता के उद्देश्य से जीवन-भर एक स्थान से दूसरे स्थान में भागते रहना पड़ा है, मार्क्स और लेनिन से लेकर सुभाष बोस तक का यही हाल रहा है । मेरे और उन लोगों के भगोड़ेपन में केवल इतना ही अंतर है कि उन लोगों का ध्येय इसी प्रत्यक्ष जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक सफलता प्राप्त करने का रहा है, और मेरा ध्येय इस प्रत्यक्ष जीवन से परे एक वास्तविक किन्तु अप्रत्यक्ष जीवन में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने का है ।"[७८]

उपर्युक्त अन्तर्विवाद और इसी प्रसंग में महीप के जिन अन्य अन्तर्विवादों का 'निर्वासित' में उल्लेख मिलता है वे साधारण कोटि के ही कहे जा सकते हैं । वे उस प्रकार के अन्तर्विवाद नहीं जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों के उन विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जो उसके अचेतन मन के निकटतम हों । इस दृष्टि से लिखे गए अन्तर्विवाद साधारण युक्तियुक्त भाषणों से भिन्न रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि इनमें कोई तर्कसंगत क्रम नही आ पाता[७९] और पात्रों के मन में जो विचार और अनुभूति जब और जिस रूप में आती है, वह उसे प्रकट करता जाता है । महीप के उपर्युक्त उद्धरण का तर्कसगत क्रम उसे मनोवैज्ञानिक अन्तर्विवादों से अलग कर देता है ।

---

७८. जोशी. 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६ ।

७९. Edel 'Psychological Novel', p. 80.

क्रिया व्यक्त नहीं हुई थी, तब तक उसकी आवेगज मन स्थिति की झलक उसके चेहरे पर मिलती रही थी।

'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र के लिए 'नीरू' शब्द जादू का असर रखता था। बड़ी कठिनाई के बाद इस जादू का कारण कहीं उसके आगे स्पष्ट हुआ था: 'उसके नाम का पहला अक्षर 'नृ' है और छुटपन में उसकी माँ उसे 'नीरू' कह कर पुकारा करती थी। नीरू की पुकार से उसके शंकित मन को ऐसा लगा, जैसे उसकी माँ की आत्मा उस महिला के स्वर में उसे सावधान कर रही हो।'[७४]

'गंगा-यमुना में आंसू-जल' यह पंक्ति सुनते ही 'जहाज का पंछी' की लीला की आँखो से आँसू उमड़ आये थे। इस सम्बन्ध में वह स्वयं कहती है: "जब कभी मैं पंत जी का यह गीत खास कर 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब न जाने क्यों, मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आंखों से उसी समय आँसू निकल जाते हैं।"[७५]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी अपने पात्रों के आवेगों को व्यक्त करने के लिए शब्द-सहस्मृति-परीक्षण का भी प्रयोग करते हैं।

अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने अपने उपन्यासों में अंतर्विवादों का भी प्रयोग किया है। अन्तर्विवाद पात्र का ऐसा मानसिक वार्तालाप होता है जिसे न तो कोई बोलने वाला होता है और न ही कोई सुनने वाला।[७६] इसका उद्देश्य पात्र के मनोजगत् से पाठक का सीधा सम्पर्क कराना होता है। इसमें उपन्यासकार अपने आप को पात्र और पाठक के बीच से निकाल कर अलग हो जाता है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह पात्र के मन की खिड़की में से झाँककर उसके समस्त मानसिक संघर्ष को अपनी आँखों से देख रहा हो।

'निर्वासित' के दूसरे भाग के छठे परिच्छेद में महीप की अभूतपूर्व उद्विग्नता को व्यक्त करने के लिए जोशी जी उसके अन्तर्विवादों का उल्लेख करते हैं, जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है:[७७]

> "इसलिये अब समष्टिगत जीवन में सच्ची शांति और सच्चे कल्याण की स्थापना के उद्देश्य से अहिंसात्मक विचारों के प्रचार के प्रयत्न व्यर्थ हैं; ...इसके अलावा, अकेले मेरे या मेरे ही जैसे कुछ छिटपुट व्यक्तियों के असंगठित प्रयत्नों से किस फल की आशा की जा सकती है, जब इस ओर

---

७४. जोशी, जिप्सी', पृष्ठ ४२६।

७५. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ३७८।

७६. Edel, 'The Psychological Novel', p. 80.

७७. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६।

महात्मा गाधी के समान महापुरुष के संगठित प्रयत्न निष्फल सिद्ध होने के लक्षरण प्रकट हो रहे है । इसलिए लौट चलो अपने पिछले कवि-जीवन के स्वप्नों की ओर । सभवत. कवि के अन्तर्जीवन के वे स्वप्न विश्वव्यापी अंधकार और अशान्ति के इस युग में प्रकाश की कुछ क्षीण किरणें प्रस्फुटित करने में समर्थ हों । व्यक्तिगत जीवन क्या वास्तव में उतना उपेक्षणीय है जितना विश्व-विनाश के लिए मत्रणा करने वाले महानेता और उनके महादल बता रहे हैं ? विश्व-शांति का मूल उद्देश्य ही यह है कि मानव का व्यक्तिगत जीवन सुखी और व्यवस्थित हो, सच्ची लोकसेवा का ध्येय ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों, विचारों और स्वप्नो के क्षेत्र में स्वतंत्र हो । तव अरणु-बम से विश्व का पूरा विनाश होने के पहले जितना भी थोड़ा अवकाश मिलता है, उसमें क्यों न व्यक्तिगत जीवन की रास ढीली कर दी जाय ? क्यो न दमित अंतर्जगत् के स्वप्नों की पिटारी का ताला तोड कर उन्हें पागल विश्व के आगे निपट नग्न रूप में बिखेर दिया जाय ? ठीक है। ठीक है । मुझे यही करना होगा । इसी में त्राण है; नहीं तो धीराज की तरह आत्म-विनाश ही एकमात्र उपाय है । मै जानता हूँ कि दुनिया मुझे भगोड़ा कहेगी, पर भगोड़े क्या सचमुच उतने ही हेय है, जितना कि उन्हें दुनिया समझती है ? सभी क्रांतिकारियों को अपने अंतिम ध्येय की सफलता के उद्देश्य से जीवन-भर एक स्थान से दूसरे स्थान में भागते रहना पड़ा है, मार्क्स और लेनिन से लेकर सुभाष बोस तक का यही हाल रहा है । मेरे और उन लोगों के भगोड़ेपन में केवल इतना ही अंतर है कि उन लोगों का ध्येय इसी प्रत्यक्ष जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक सफलता प्राप्त करने का रहा है, और मेरा ध्येय इस प्रत्यक्ष जीवन से परे एक वास्तविक किन्तु अप्रत्यक्ष जीवन में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने का है ।"[७८]

उपर्युक्त अन्तर्विवाद और इसी प्रसंग में महीप के जिन अन्य अन्तर्विवादों का 'निर्वासित' में उल्लेख मिलता है वे साधारण कोटि के ही कहे जा सकते हैं । वे उस प्रकार के अन्तर्विवाद नहीं जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों के उन विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जो उसके अचेतन मन के निकटतम हों । इस दृष्टि से लिखे गए अन्तर्विवाद साधारण युक्तियुक्त भाषणों से भिन्न रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि इनमें कोई तर्कसंगत क्रम नही आ पाता[७९] और पात्रों के मन में जो विचार और अनुभूति जब और जिस रूप में आती है, वह उसे प्रकट करता जाता है । महीप के उपर्युक्त उद्धरण का तर्कसगत क्रम उसे मनोवैज्ञानिक अन्तर्विवादों से अलग कर देता है ।

७८. जोशी. 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६ ।

७९. Edel 'Psychological Novel', p. 80.

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नो-ऐनेलिसिस)

जोशी जी ने अपने उपन्यासों में सम्मोहन प्रक्रिया का भी सहारा लिया है। पर उनके उपन्यासो में इस प्रक्रिया का प्रयोग पात्रो के अचेतन में दबी पड़ी अनुभूतियों को प्रकाश में लाने के लिए इतना नही हुआ, जितना कि एक पात्र का दूसरे पात्र को सम्मोहित करके उन्हें अपनी इच्छानुकूल चलाकर स्वार्थसाधन के लिए। उनके प्रेमी अथवा प्रेमिका पात्र प्रायः एक-दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए इस क्रिया का आश्रय लेते है। उनके उपन्यास 'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र जिप्सी मनियाँ को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उस पर सम्मोहन क्रिया का प्रयोग करता है और उसे सम्मोह-निद्रा की अवस्था में लाकर आत्मविश्वासपूर्ण दृढ़ आदेशों और संसूचनाओं (सज्जेशन) द्वारा उसके विद्रोही भावों को जीत लेता है। जब मनिया सम्मोहन निद्रा में आ जाती है तब वह एक कुशल सम्मोहक की तरह उससे कहता है :—

> "तुम्हारा छुटकारा तभी मिलेगा जब मै चाहूँगा। मै चाहे काल होऊँ या कुछ और पर हर हालत में तुम्हारा प्यार चाहता हूँ—मुझे प्यार करो। उसी में डूब जाओ और उसी में अपनी सारी जिन्दगी खपा दो। बोलो, करोगी मुझे प्यार ?"
> "हाँ।"
> "फिर बोलो प्यार करोगी और खुश रहोगी ?"
> "हाँ, प्यार करूँगी और खुश रहूँगी।"
> "अब तो मै काल की तरह नही लगता।"
> "नही।"
> "तब नींद से उठ बैठो।"[८०]

मनिया पर सम्मोहन का यह पहला प्रयोग था और मनिया पर इसका प्रभाव भी यथेष्ट पड़ा।

दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले पात्र

कहना न होगा कि इस प्रकार दूसरों के प्रभाव में आकर वे लोग ही सम्मोहित होते हैं, जिनमें मनोबल का अभाव होता है और आत्म-विश्वास की कमी, जिन्हें दूसरों की राय के मूल्य को अतिरंजित करके देखने की आदत हो और अपनी राय की सच्चाई पर सन्देह रहता हो।[८१] सम्मोहन-क्रिया के आरम्भिक प्रयोगों में मनिया

---

८०. जोशी, 'जिप्सी', पृ० १५।

८१. Adler, 'Menschenkenntnis', Leipzig : Hirzel, 5th edn. Zurich : Rascher, 1947, ('Understanding Human Nature', New York, Greenberg, Publishers Inc., 1927), p. 52 :

"In general, those who are especially susceptible to suggestion and hypnosis are inclined to overestimate the opinions of others, that is, to have a low opinion of the correctness of their own views."

पर इसीलिए प्रभाव पड़ सका था कि उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी और वह नृपेन्द्र को अपने से श्रेष्ठतर समझती थी। पर ज्यों-ज्यों मनिया मे आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ती गई, त्यों-त्यों सम्मोहन-क्रिया का प्रभाव कम पड़ने लगा। पन्द्रहवे परिच्छेद में नृपेन्द्र ने जो प्रयोग किया उसका केवल आधा ही प्रभाव मनिया के अन्तर्मन पर पडा था।

सम्मोहन क्रिया के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि किसी पात्र पर सम्मोहक का प्रभाव उसी मात्रा मे पडता है, जिस मात्रा में पात्र के हित सम्मोहक के आश्रय में सुरक्षित रह सकते हों। किसी पात्र की हानि सोचकर उस पर स्थायी प्रभाव डालने का प्रयास निश्चित रूप में व्यर्थ सिद्ध होता है।[८२] अपनी असफलता के कारणों पर प्रकाश डालता हुआ नृपेन्द्र स्वय इस बात को स्वीकार करता है :

> "तब मेरी सफलता का कारण यह था कि तब मैं मनियां की सच्ची मंगल-कामना से प्रेरित होकर—सच्चा आत्मिक बल पाकर उसके मन को प्रभावित करने को उद्यत हुआ था; पर आज मैं उसकी वास्तविक कल्याण-कामना से प्रेरित न होकर, अपनी स्वार्थ-हानि की आशंका से ईर्ष्यादग्ध होकर, कृत्रिम मानसिक बल के प्रयोग से 'हिप्नॉटाइज' करने चला था।"[८३]

दृढ़ इच्छा-शक्ति वाले पात्र : सम्मोहक

जोशी जी के अन्य उपन्यासों में भी पात्र एक-दूसरे को प्रभावित करने के लिए सम्मोहन-क्रिया का प्रयोग करते हैं। 'निर्वासित' के ठाकुर लक्ष्मीनारायणसिंह भी इस कला में दक्ष हैं। उनमें एक ऐसी दृढता है जो दूसरों की इच्छा-शक्ति को—विशेषकर दुर्बल इच्छाशक्ति वाले व्यक्तियों की इच्छाओं को—कुचल कर उसके स्थान पर अपनी इच्छा का आरोपण करने की क्षमता रखती है।[८४] ठाकुर साहब की तीव्र इच्छाशक्ति का आकर्षण रूपा के लिए ऐसा प्रबल सिद्ध हुआ कि उसका प्रतिरोध करना उसके लिए सम्भव नहीं रहा और कोई दूसरा चारा न देखकर उसने अपनी क्षीण इच्छाशक्ति को उस प्रचंड प्रवेगशील इच्छाशक्ति के आगे अर्पित कर दिया।[८५] इस प्रकार जीवन भर रूपा अपनी इच्छा के विरुद्ध ठाकुर साहब की ओर

८२.(क) Adler, 'Menschenkenntnis', Leipzig : Hirzel, 5th edn., Zurich : Rascher, 1947, ('Understanding Human Nature', New York, 1927), p. 52 :
"'The degree to which an individual may be influenced depends, among other factors, upon the extent to which his rights seem safe-guarded by the man excercising the influence."
(ख) Dr. Tracy : 'How to use Hypnosis', Arco Pub. Co., London, p. 8.

८३. जोशी, 'जिप्सी', पृ० १४६।

८४. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ६८।

८५. वही, पृ० ६६-१००।

आकृष्ट रही और अपने इच्छित व्यक्ति धीराज सिंह के प्रति उदासीन। अपनी इस स्थिति से छुटकारा पाने का और कोई उपाय न देखकर अन्त में उसने आत्म-हत्या कर ली।

'प्रेत और छाया' में भी 'हिप्नॉटिज़्म' का उल्लेख मिलता है। पारसनाथ जब बिना कुछ खाए-पिये ही नन्दिनी के यहाँ से जाने लगा तो "वाह, यह कैसे हो सकता है, बिना खाए आप नहीं जा सकते", यह कहकर नन्दिनी यों उठी जैसे बल-पूर्वक उसका रास्ता रोकने के लिए खड़ी हुई हो, और आंख के एक अनोखे घूर्णन से पारसनाथ की ओर देखने लगी। पारसनाथ को जैसे बिजली की एक झलक में मजरी की याद आई। पर उसने बरबस मन की आँखें मूँद लीं, और एक उत्सुक, मोहक और पागल दृष्टि से नन्दिनी की ओर देखा। उस एक झलक में उसने नन्दिनी के मुख पर किस रूप का आभास पाया! जादूगरनी! कुछ भी हो, वह नन्दिनी की उस रहस्य-मयी दृष्टि के मोहक आकर्षण का प्रतिरोध न कर सका, और 'हिप्नॉटाइज़' किए गए व्यक्ति की तरह चुपचाप एक कुर्सी पर जा बैठ गया। नन्दिनी शासन की छड़ी की तरह अपनी तर्जनी को पारसनाथ की ओर हिलाती हुई और अपनी रहस्यमयी दृष्टि में रहस्यमय मुस्कान झलकाती हुई, शासन के नकली स्वर में बोली—"देखिए, मेरे जाने तक उठिएगा नहीं?" यह कह कर वह नीचे चली गई।[८६]

संगीत द्वारा सम्मोहन

'पर्दे की रानी' में तो संगीत द्वारा सम्मोहन का भी एक उदाहरण मिलता है। इन्द्रमोहन द्वारा बजाए गए प्यानो की संगीत-लहरी का निरजना पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन वह स्वयं इस प्रकार करती है: "मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया कि पहले मेरे मन के अतल गह्वर में एक अनोखी मंथन-क्रिया चलने लगी, जिसके परि-णामस्वरूप प्रेम और घृणा, राग और द्वेष, पीड़न और प्रतिहिंसा तथा और भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ एक-एक करके उमड़ कर ऊपर को आने लगी, और उन सबके मिश्रण से एक निराले घूर्णित जाल ने मेरे मन की ऊपरी सतह को चारों ओर से छा दिया। शीघ्र ही वह जाल टूट गया और धीरे-धीरे एक चिदानन्दमयी अनुभूति ने मेरे शरीर का अस्तित्व ही लोप कर दिया और मेरा 'मैं' अतीद्रिय 'ईथर' के साथ एकाकार होकर उसमें पूर्ण रूप से घुलमिल गया। मेरी मोहाविष्टता इस सीमा को, पहुँच गई थी कि इन्द्रमोहन जी उस समय जैसा कुछ निर्देश मुझे देते, उसे मैं कदापि न टाल पाती। ऐसी पूर्ण विवशता मुझ में आ गई थी। पर दैवयोग से उस चरम-क्षण में मेरी लाज रह गई—मैं बच गई।"[८७]

---

८६. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २३८-२३९।
८७. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ५८-५९।

'हिप्नॉटिज्म' : जोशी जी की दृष्टि में

यहाँ सम्मोहन क्रिया के बारे में जोशी के विचारों का उल्लेख करना असंगत न होगा। 'जिप्सी' में वह लिखते हैं : "हिप्नोटिज्म' की जो कला वास्तविक रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है वह किसी के सिखाए से आयताधीन नहीं होती, कुछ विशिष्ट बाह्य नियमों के यथारूप पालन से वह सच्चे रूप में फलित नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष असाधारण क्षण ऐसे आते हैं जब अन्तश्चेतना का कोई विशेष सुप्त भाग सहसा स्वतः जाग्रत हो उठता है। और इस उदात्त अवस्था में वह इच्छित व्यक्ति पर जैसा भी प्रभाव डालना चाहता है, उसमें निश्चित रूप से सफल होता है। तब जो भी आदेश उसके भीतर से निकलता है उसे अमान्य करने की शक्ति किसी विरले योगनिष्ठ व्यक्ति में ही होती है।"[८८] जोशी जी के इस उद्धरण के संदर्भ में जब हम उनके इसी उपन्यास के नायक नृपेन्द्र को यह कहते पाते हैं तो आश्चर्य होता है : "तब क्या सिलविया भी हिप्नोटिज्म की कला में प्रवीण है ? निश्चय ही यही बात है। केवल इतना ही नहीं, उसका अभ्यास इस कला में इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि उसने मनिया के अन्तर्मन में बहुत गहरी खुदाई करके अपना अभीष्ट बीज बोया है।"[८९]

मनोविश्लेषण

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, जोशी जी के उपन्यासों के प्रमुख पात्र मनोवैज्ञानिक 'केस' हैं। उनके अचेतन में कोई न कोई ऐसी गाँठ पड़ जाती है जो उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करती हुई किसी भी स्थिति से उनका संतुलन नहीं बैठने देती। उनका चेतन मन जो कुछ चाहता है, वह कर नहीं पाता; और जिससे बचना चाहता है, वह हो जाता है। क्यों हो जाता है, यह वे नहीं जान पाते। इस प्रकार, वे पात्र जीवन-भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकते रहते हैं। इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के कारणों को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-प्रणाली का भी प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण का उद्देश्य

फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक इलाज का सार इसी में है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को उनके विगत जीवन की उन घटनाओं की स्मृति में परिवर्तित कर दिया जाए, जिनके कारण वे ग्रन्थियाँ पड़ी हैं।[९०] जीवन के प्रति

८८. जोशी, 'जिप्सी', पृ० ५५ :
८९. वही. पृ० १४५ ।
९०. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud'. p 206:
"The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang."

आकृष्ट रही और अपने इच्छित व्यक्ति धीराज सिंह के प्रति उदासीन। अपनी इस स्थिति से छुटकारा पाने का और कोई उपाय न देखकर अन्त में उसने आत्म-हत्या कर ली।

'प्रेत और छाया' में भी 'हिप्नॉटिज्म' का उल्लेख मिलता है। पारसनाथ जब बिना कुछ खाए-पिये ही नन्दिनी के यहाँ से जाने लगा तो "वाह, यह कैसे हो सकता है, बिना खाए आप नही जा सकते", यह कहकर नन्दिनी यों उठी जैसे बल-पूर्वक उसका रास्ता रोकने के लिए खड़ी हुई हो, और आँख के एक अनोखे घूर्णन से पारसनाथ की ओर देखने लगी। पारसनाथ को जैसे बिजली की एक झलक में मंजरी की याद आई। पर उसने बरबस मन की आँखें मूँद ली, और एक उत्सुक, मोहक और पागल दृष्टि से नन्दिनी की ओर देखा। उस एक झलक में उसने नन्दिनी के मुख पर किस रूप का आभास पाया! जादूगरनी! कुछ भी हो, वह नन्दिनी की उस रहस्य-मयी दृष्टि के मोहक आकर्षण का प्रतिरोध न कर सका, और 'हिप्नॉटाइज़' किए गए व्यक्ति की तरह चुपचाप एक कुर्सी पर जा बैठ गया। नन्दिनी शासन की छडी की तरह अपनी तर्जनी को पारसनाथ की ओर हिलाती हुई और अपनी रहस्यमयी दृष्टि में रहस्यमय मुस्कान झलकाती हुई, शासन के नकली स्वर में बोली—"देखिए, मेरे जाने तक उठिएगा नहीं?" यह कह कर वह नीचे चली गई।[८६]

संगीत द्वारा सम्मोहन

'पर्दे की रानी' में तो संगीत द्वारा सम्मोहन का भी एक उदाहरण मिलता है। इन्द्रमोहन द्वारा बजाए गए प्यानो की संगीत-लहरी का निरंजना पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन वह स्वयं इस प्रकार करती है: "मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया कि पहले मेरे मन के अतल गह्वर में एक अनोखी मंथन-क्रिया चलने लगी, जिसके परि-णामस्वरूप प्रेम और घृणा, राग और द्वेष, पीड़न और प्रतिहिंसा तथा और भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ एक-एक करके उमड़ कर ऊपर को आने लगीं, और उन सबके मिश्रण से एक निराले घूर्णित जाल ने मेरे मन की ऊपरी सतह को चारों ओर से छा दिया। शीघ्र ही वह जाल टूट गया और धीरे-धीरे एक चिदानन्दमयी अनुभूति ने मेरे शरीर का अस्तित्व ही लोप कर दिया और मेरा 'मैं' अतींद्रिय 'ईथर' के साथ एकाकार होकर उसमें पूर्ण रूप से घुलमिल गया। मेरी मोहाविष्टता इस सीमा को पहुँच गई थी कि इन्द्रमोहन जी उस समय जैसा कुछ निर्देश मुझे देते, उसे मैं कदापि न टाल पाती। ऐसी पूर्ण विवशता मुझ में आ गई थी। पर दैवयोग से उस चरम-क्षण में मेरी लाज रह गई—मैं बच गई।"[८७]

---

८६. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २३८-२३९।
८७. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ५८-५९।

'हिप्नॉटिज्म' : जोशी जी की दृष्टि में

यहाँ सम्मोहन क्रिया के बारे में जोशी के विचारों का उल्लेख करना असंगत न होगा। 'जिप्सी' में वह लिखते हैं : "हिप्नोटिज्म' की जो कला वास्तविक रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है वह किसी के सिखाए से आयताधीन नहीं होती, कुछ विशिष्ट बाह्य नियमों के यथारूप पालन से वह सच्चे रूप में फलित नही होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष असाधारण क्षण ऐसे आते हैं जब अन्तश्चेतना का कोई विशेष सुप्त भाग सहसा स्वत जाग्रत हो उठता है। और इस उदात्त अवस्था में वह इच्छित व्यक्ति पर जैसा भी प्रभाव डालना चाहता है, उसमें निश्चित रूप से सफल होता है। तब जो भी आदेश उसके भीतर से निकलता है उसे अमान्य करने की शक्ति किसी बिरले योगनिष्ठ व्यक्ति में ही होती है।"[८८] जोशी जी के इस उद्धरण के सदर्भ में जब हम उनके इसी उपन्यास के नायक नृपेन्द्र को यह कहते पाते हैं तो आश्चर्य होता है : "तब क्या सिलविया भी हिप्नोटिज्म की कला में प्रवीण है ? निश्चय ही यही बात है। केवल इतना ही नहीं, उसका अभ्यास इस कला में इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि उसने मनिया के अन्तर्मन में बहुत गहरी खुदाई करके अपना अभीष्ट बीज बोया है।"[८९]

मनोविश्लेषण

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, जोशी जी के उपन्यासों के प्रमुख पात्र मनोवैज्ञानिक 'केस' है। उनके अचेतन में कोई न कोई ऐसी गाँठ पड़ जाती है जो उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करती हुई किसी भी स्थिति से उनका संतुलन नही बैठने देती। उनका चेतन मन जो कुछ चाहता है, वह कर नही पाता; और जिससे बचना चाहता है, वह हो जाता है। क्यों हो जाता है, यह वे नही जान पाते। इस प्रकार, वे पात्र जीवन-भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकते रहते है। इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक गुत्थियो के कारणों को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-प्रणाली का भी प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण का उद्देश्य

फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक इलाज का सार इसी में है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को उनके विगत जीवन की उन घटनाओ की स्मृति मे परिवर्तित कर दिया जाए, जिनके कारण वे ग्रन्थियाँ पड़ी हैं।[९०] जीवन के प्रति

८८. जोशी, 'जिप्सी', पृ० ५५ :
८९. वही. पृ० १४५ ।
९०. Dalboiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud' p 206
"The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang."

गलत दृष्टिकोण को जन्म देने वाले कारणों की जानकारी गलती को दूर कर देती है। व्यक्ति की आदत उसकी स्मृति में बदल जाती है और उसका अचेतन व्यवहार (ऑटोमैटिज्म) चेतन से हार मान लेता है।[९१] इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए जोशी जी पहले इन पात्रो के मनोवैज्ञानिक इतिहास के पुर्ननिर्माण द्वारा विगत जीवन की उन घटनाओं की खोज करते हैं, जो उनकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों का कारण हो और फिर उन्हे पात्रो की स्मृति में लाकर उनके चेतन मन में ले आते है। तब उनके पात्रों को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब वे सत्य को पा गए है और उनका जीवन भर भटकना उनके अचेतन पर पडे हुए पर्दे के कारण था। इस बारे में 'निर्वासित' के महीप के प्रति, जो उस उपन्यास में मनोविश्लेपक का भी काम करता है, धीराज के ये शब्द उल्लेखनीय है : "आपकी बातों से मेरे भीतर की जो बन्द आँखे खुली हैं, वे उस दहकते हुए सत्य को अब प्रत्यक्ष देखने लगी हैं, जिसके ताप का अनुभव मैं अपने अज्ञात में इतने दिनो तक करता रहा था, पर जिसे देख नही पा रहा था।"[९२] मनोविश्लेषण के अन्त में किसी पात्र का इस प्रकार अनुभव करना मनोविश्लेषण की सफलता का द्योतक होता है।

मुक्त आसंग प्रणाली (फ्री एसोसिएशन)

फ्रॉयड से पहले और उसके समय में भी मनोवैज्ञानिक, व्यक्ति के अचेतन तक पहुँचने के लिए सम्मोहन-क्रिया का प्रयोग करते थे। सम्मोह-निद्रा में अपने पात्र को यह विश्वास दिला कर कि वह छोटी उमर का है, वे धीरे-धीरे प्रश्नों द्वारा उसके विगत जीवन की उन घटनाओं और अनुभूतियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेते थे जो उसकी मानसिक ग्रन्थियों का कारण होती थी। पर क्योंकि पात्र के अचेतन में दमित सामग्री उसकी सम्मोह-निद्रा में ही आ सकती थी, उसके चेतन में नहीं; इसलिए उसकी मानसिक गाँठ कुछ समय के लिए ही खुल पाती थी, सदा के लिए नही। इसीलिए फ्रायड ने सम्मोहन-क्रिया को न अपना कर मुक्त आसंग प्रणाली का आविष्कार किया। जोशी जी ने भी अपने उपन्यास 'जिप्सी' में सम्मोहन-क्रिया की विफलता दिखाई है।

मुक्त आसंग की प्रणाली में, पात्र को आराम से लेटा कर कहा जाता है कि वह अपनी आलोचनात्मक शक्ति को दबाकर अपने विगत जीवन की घटनाओं और अनुभूतियों को अपनी स्मृति में लाता जाए और जिस रूप में कोई घटना या कोई बात उसकी स्मृति में आए, वह अपनी ओर से कुछ मिलाए बिना उसे कहता जाए।

---

९१. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 208 : "Apprehensions of the causes of error frees from error. Habits dissolve in memory. Automatism yields to consciousness."

९२. जोशी, 'निर्वासित', पृ० १०३ :

फ्रॉयड का विश्वास है कि इस प्रकार स्मृतियों के स्वतः परिवर्तित प्रवाह में व्यक्ति की अचेतन ग्रन्थियों के कारणों की खोज की जा सकती है।

जोशी जी के उपन्यास 'निर्वासित' का धीराज, महीप-रूपी मनोविश्लेषक के पास अपने हृदय का बोझ हल्का करने के लिए स्वयं ही व्याकुल हो उठता है। धीरे-धीरे उसके मुख की अभिव्यक्तियों में परिवर्तन होने लगता है। उसकी आँखें चमक उठती हैं और उसके मुख पर एक उत्तेजनापूर्ण आवेगमय भाव की प्रतिच्छाया व्यक्त हो जाती है। धीराज की मुखाकृति को देखते हुए महीप को यह समझने में देर नही लगती कि वह हृदय खोल कर बातें करने की मानसिक स्थिति में है। इसलिए उसके मन की बातें जानने का कौतूहल होते हुए भी महीप एक चतुर मनोविश्लेषक की तरह उसे उकसाता नहीं, केवल जिज्ञासु भाव से उसकी ओर देखता रहता है। धीराज क्षण भर के लिए चुप रहा और फिर मुक्त आसंग के रूप में उसकी वाग्धारा बह निकली जो अगले तीन पृष्ठों तक प्रवाहित होती रही।[९३] उसे यहाँ स्थानाभाव के कारण दे सकना कठिन है।

बाधकता (रेजिस्टेन्स) विश्लेषण

उसके बाद जब पुनः महीप ने धीराज से पूछताछ आरम्भ की तो उसने देखा कि 'यद्यपि धीराज अपने मन की बहुत गाँठें उसके आगे खोलने के लिए आरम्भ से ही उत्सुक रहा, तथापि वह अभी तक अन्तर की बहुत-सी बाधाओ को पार नही कर पा रहा है।'[९४] इस प्रकार, मुक्त आसग में अपनी सहस्मृतियाँ मनोविश्लेषक को सुनाते-सुनाते पात्र का रुख बदल कर कहीं और भटक जाना इस बात का द्योतक होता है कि उसके अचेतन से कोई ऐसी घटना उभर कर उसकी स्मृति में आ रही है, जिसे वह या तो अत्यधिक दुःखद होने के कारण दबा देना चाहता है और या वह घटना इतनी अनैतिक और असामाजिक है कि वह लज्जा अथवा भयवश उसे कहने में संकोच करता है और उस बात को छिपाने के लिए मनोविश्लेषक का ध्यान दूसरी ओर फेर देना चाहता है। पात्र की इस स्थिति को फ्रॉयड ने बाधकता (रेजिस्टेन्स) कहा है।[९५] ऐसी स्थिति में मनोविश्लेषक का पहला काम यह होता है कि वह पात्र की इस संकोच वृत्ति को हटाए और उसका विश्वास प्राप्त करके उसे मन की गोपनीय बात को प्रकट करने के लिए कहे। फ्रॉयड का विश्वास है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का कारण उसके विगत जीवन की उन घटनाओं में निहित रहता है, जिन्हें वह मनोविश्लेपक से छिपाने का प्रयत्न करता है। इसलिए फ्रायड पात्रों की बाधकता को हटाकर उनकी गुप्त बातें जान लेने पर विशेष बल देता है।

---

९३. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ८२-८५।

९४. वही, पृ० ९६।

९५. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 54.

उसकी धारणा है कि इस बाधकता को हटाए बिना पात्रों के अचेतन को पा सकना असम्भव है।

'निर्वासित' का महीप मनोविश्लेषक के कर्तव्यों से अनभिज्ञ नहीं; वह धीराज सिह से कहता है 'देखिए, ठाकुर धीराजसिह, आपने जब अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ गुप्ततम बातें मेरे आगे प्रकाशित करने की कृपा की है तब दूसरी बातों के सम्बन्ध में इस तरह का अर्थहीन संकोच न आपको सुहाता है, न यह उचित ही है। आप यदि मेरे प्रश्नो का उत्तर दे तो बहुत सम्भव है कि आपके मन को शान्ति पहुँचे और यह भी सम्भव है कि मै भी अपनी समझ के अनुसार आपको इस विषय में कुछ सलाह दे सकूँ।'[९६] महीप का यह कथन ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार एक मनोविश्लेषक अपने पात्र की बाधकता को हटाने के लिए उसे कहता है। महीप के इस कथन से धीराज के मुख पर से वास्तव में संकोच का पर्दा जैसे बहुत कुछ हट जाता है और वह महीप की ओर देखता हुआ अपने मन की बातों को कहने लगता है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या

मुक्त आसंग की स्थिति में आ जाने से ही पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ दूर नही हो जाती। मुक्त आसंग तो इतना करता है कि पात्र के अचेतन में पड़ी ग्रन्थि को उसके चेतन में ला देता है। पर जब तक वह ग्रन्थि खुले नही, पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाई दूर कैसे हो। इसलिए बाद में मनोविश्लेषक को व्याख्या द्वारा पात्र के चेतन में आई हुई ग्रन्थियों को खोलना होता है और पात्र को उनके कारणों के बारे में जानकारी करानी होती है। इसलिए 'निर्वासित' का महीप रूपा के ठाकुर साहब की ओर आकर्षण की, जिसके कारण धीराज के अचेतन में गाँठ पड़ गई थी, व्याख्या करना नही भूलता : 'मुझे ऐसा लगता है कि ठाकुर साहब की तीव्र इच्छा-शक्ति का आकर्षण रूपा के लिए ऐसा प्रबल सिद्ध हुआ है कि उसका प्रतिरोध करना उसके लिए सम्भव नहीं रहा है, और कोई दूसरा चारा न देखकर उसने अपनी क्षीण इच्छा-शक्ति को उस प्रचंड वेगशील इच्छा-शक्ति के आगे अर्पित कर दिया हो—किसी भय से नही, बल्कि स्वाभाविक नियम से।'[९७]

इस प्रकार धीराज का पहला मुक्त आसंग समाप्त हुआ। यद्यपि इससे धीराज को पूरी मानसिक शान्ति नही मिली तो भी वह इस बात को स्वीकार करने में संकोच नही करता कि महीप ने उसे जो बात सुझाई है, वह जँच गई है।[९८] उसे आश्चर्य है कि जिस वास्तविकता को महीप केवल आध घण्टे की बातचीत से भाँप गया उसे वह तीन वर्षों के प्रत्यक्ष अनुभव से भी नही ताड़ पाया। उसकी यह स्वीकारोक्ति

९६. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ९६।
९७. वही, पृ० १००।
९८. वही, पृ० १०१।

स्पष्ट रूप से उसे एक 'मनोवैज्ञानिक केस' का रूप दे देती है, और महीप को मनो-विश्लेषक का।[९९]

'निर्वासित' में इसी प्रकार का एक और स्थल है—शारदा देवी का मुक्त आसंग —जो लगभग दस पृष्ठ तक फैला है।[१००]

इस प्रकार फ्रॉयड की मनोविश्लेषण प्रणाली के आधार पर भी जोशी जी अपने पात्रो की मानसिक ग्रन्थियों का उद्घाटन करते हैं।

---

९९. जोशी, 'निर्वासित', पृ० १०० ।
१००. वही, पृ० १५६-१६७ ।

अज्ञेय

परिचयात्मक विवेचन

अज्ञेय के उपन्यास वर्ग-संघर्ष के उपन्यास नहीं, न ही वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में 'एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर'[1] आये हैं और उनके कारण उसमें जो संघर्ष चल रहा है, मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से उसे पहचानने की कोशिश'[2] करना ही उनके उपन्यासों का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार, उनके उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बन गए हैं। अज्ञेय की रुचि सदा व्यक्ति में ही रही है।[3] सामाजिक दृष्टि को वह गलत नहीं कहते, पर उसे निर्णायक भी नहीं मानते; क्योकि व्यक्ति को दबा कर मामले का जो भी निर्णय होगा—ग़लत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा।[4] उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारो का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओं का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है; वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति।[5]

शेखर : एक जीवन

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में फाँसी के पात्र एक सशक्त क्रान्तिकारी का अपने गत जीवन का प्रत्यवलोकन है—यह जानने के लिए कि वह जैसा है वैसा हुआ क्यों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भावुकता से काम

१. स. ही. वात्स्यायन, "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना' जून, १९५२, पृ० ४२५।
२. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी'—भूमिका, प्रथम भाग, पृ० १०।
३. अज्ञेय, "नदी के द्वीप: एक परिचय", 'नया समाज', मई, १९५२, पृ० ३८३।
४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २७८।
५. अज्ञेय, "नदी के द्वीप : एक परिचय", 'नया समाज', मई, १९५२, पृ० ३८३।

न लेकर 'जीवन की विज्ञान-संगत,[६] कार्यकारण-प्रणाली'—आत्म-विश्लेषण—को 'अनासक्त निर्ममता' से अपनाता है। इस प्रकार व्यक्तित्व का क्रमशः विकास शेखर: एक जीवनी' का प्रमुख विषय बन गया है, जो लोट्ज़े के शब्दों में आधुनिक उपन्यास की मूल समस्या है।[७] जीवनी के पहले भाग में शेखर के बाल्यकाल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—१. बाल्यकाल की परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से शेखर के चरित्र का विकास, और २. उसके निमित्त उन परिस्थितियो की आलोचना। शेखर अंततोगत्वा यदि एक सशक्त क्रान्तिकारी बन सका तो निश्चय ही वह अपने बाल्यकाल में एक साधारण बालक न रहा होगा। उसे असाधारण तथा अहंवादी बालक के रूप में विकसित करने के लिए जहाँ उसे जन्म से ही विद्रोही दिखाना जरूरी था वहाँ उसकी परिस्थितियो का भी ऐसा होना आवश्यक था कि उनके उसमें भीतर का विद्रोह-बीज पनप सकता। इसलिए अज्ञेय शेखर को जहाँ स्वभाव से ही आनुकूलिक (एडेप्टिव) या विनीत (सबमिस्सिव) न बनाकर स्वचालित (सेल्फ डाइरेक्टिव)[८] तथा विद्रोही (डिफाएण्ट)[९] बनाते हैं, वहाँ उसके पारिवारिक वातावरण—उसके माता-पिता का स्वभाव, भाई-बहनों में उसका स्थान, घर के विधि-निषेधात्मक नियम आदि—तथा उसकी पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद आदि की परिस्थितियाँ भी इसी प्रकार की बनाते हैं कि उसका समाजीकरण गति न पकड़ सके और वह उत्तरोत्तर विद्रोही होता चला जाए। इस लिए, लेखक शेखर में सहज बुद्धि की कमी नहीं रखता। किन्तु 'उस बुद्धि की प्रवाह-गति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नही थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके प्रयोग के लिए थी; वह उसका मनचाहा उपभोग करता था और वह जानता था, जहाँ उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा मानी वहाँ उसने उचित किया, और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरो ने प्रेरित किया, वही वह लड़खड़ा गया।'[१०]

---

६. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी'—भूमिका, प्रथम भाग, पृ० ६।

७. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 148.

८. R. J. Havighurst and Hilda Taba, 'Adolescent Character and Personality', John Willy, New York, 1949, p. 124:

"The Self-Directive person is conscientious, orderly and persistent. He sets high standards for himself and is seldom satisfied with his performances. He is ambitious, strong-willed and self-sufficient, yet characterised by self-criticism and self-doubt."

९. Ibid., p. 163:

"In general, the Defiant person is one who has had early and continued experiences of neglect and frustration. Society, represented at first by family and then by school and peer group, has not satisfied his needs, and he, in turn, has failed to incorporate the ideals and values of society."

१०. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ५७।

उच्च मध्यवर्गीय परिवार

शेखर के माता-पिता का चुनाव हुआ उच्च-मध्यवर्ग से, क्योंकि इस वर्ग के सदस्य एक तो आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होने के कारण बाह्य संघर्ष से बचे रहते हैं, और दूसरे, समाज के विधि-निषेध भी उनके लिए इतने कडे नही रहते। इस वर्ग के बच्चो के लिए मजबूरी नहीं होती कि वे पढ़ने या खेलने के लिए आम लोगों के बच्चों के साथ मिलें। उनके लिए तो घर पर ही पढ़ने और खेलने का अलग प्रबन्ध कर दिया जाता है। शेखर के पिता इसी सम्पन्न वर्ग के एक सरकारी अफसर थे। वे तो वैसे भी किसी एक स्थान पर अधिक देर नही टिक पाते थे—आज यहाँ और कल वहाँ। उन्हें रहने के लिए कोठी भी प्रायः नगर के बाहर एकांत में मिला करती थी, इसलिए किसी स्थान के बाल-समाज के सम्पर्क में आने के अवसर शेखर को कम ही मिले। शेखर के अहं को दृढ़ और लचकविहीन बनाने के लिए ऐसी परिस्थितियों का निर्माण आवश्यक ही था, क्योंकि यदि वह घर से बाहर अन्य बालकों के साथ सम्पर्क रख पाता तो खेल में प्रायः उसका अहं टूटता रहता और वह निरन्तर अपने असाधारणत्व के प्रति जागरूक न रह पाता। इस वर्ग के साधारण बालक अपने असाधारणत्व के कारण घर वालो से तो कटे-कटे रहते ही हैं, बाहर बालों से भी मिल नही पाते और अन्तर्मुख, आत्मचिन्तक, कल्पनाशील, अतः व्यग्र, रहने लगते हैं। किसी प्रकार के अभाव से पीड़ित न होने से जीवन में भी उन्हें कोई बड़ी महत्वाकांक्षा नहीं रहती, समाज के नैतिक मूल्यों के प्रति उनमें उदासीनता बढ़ने लगती है और कला के प्रति लगाव होने लगता है, क्योंकि वह उन्हें जीवन की नीरसता से पलायन का एक मार्ग प्रदान करती है।[११]

अनमेल स्वभाव के माता-पिता

शेखर के भीतर विद्रोह-बीज के पनपने के लिए आवश्यक था कि उसके माता और पिता अनमेल स्वभाव के होते[१२] और वे दोनों बाल-मनोविज्ञान से अपरिचित

---

११. Havighurst and Taba, 'Adolescent Character and Personality', p. 132 :

"Variation of his type (i. e. Self-Directive) is found in certain upper-middle class youths who are indepenpents'. They appear to be more sophisticated and almost a little weary of the life of ambitions, thrift and severe morality. They are 'mavericks' who belong and yet do not belong. They may have artistic or literary interests......they seem to understand them better and to have more depth in their personalities. At the same time, they are often moody, self critical and uncertain of themselves."

१२. Mrs. S. Frankenburg, 'Common Sense in the Nursery', Penguin Book, revised edn. 1946, p. 213 :

"Children are particularly acute in observing differences of opinion in their elders......If the child is treated quite differently by several different authorities, or by the same person in different moods, he will become uncertain, nervy and irritable."

होते । शेखर के पिता आवेश में आततायी थे, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय ......इन प्रकृतियों के मेल और संघर्ष में ही शेखर का पालन-पोषण हुआ था।[१३] शेखर अपने पिता का उपासक[१४] था, शेखर पिता से पिट कर भी उन्हें पूजता था; माँ जो पीटती नही, पर क्षमा देती है अनुग्रह की चक्की में पीस कर।[१५] शेखर के असाधारण बनने के लिए यह आवश्यक ही था कि वह माता की अपेक्षा पिता की ओर ही आकर्षित होता।[१६] पर माँ के प्यार से वंचित रहना भी उसके लिए घातक हो सकता था। इतने पुष्ट अहं वाला विद्रोही एक हिंसक डाकू बन जाता यदि समय-समय पर उसकी शक्त भावना की समुचित तुष्टि के लिए उसे किसी स्त्री का प्यार न मिलता। उसकी माँ के प्यार की क्षतिपूर्ति के लिए लेखक को उसकी बहन सरस्वती की रचना करनी पड़ी जो एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई।'[१७] शेखर का जब घर के बाहर भी सम्पर्क बढ़ने लगा, तब उसकी सैक्स भावना की तृप्ति के लिए शारदा की सृष्टि हुई। इस प्रकार मद्रास कालेज में जहाँ वह अपने स्वभाव के कारण किसी युवती से निस्संकोच न मिल-जुल सकता था, उसकी इस भावना के लिए उसके सहपाठी कुमारप्पा की जरूरत पड़ी, जिसे आर्थिक सहायता देकर वह हथिया लेना चाहता है: 'कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा।'[१८] शशि की अवतारणा भी तो इसी माँग की पूर्ति में हुई थी। जेल से छूट जाने के बाद से तो शेखर को निरन्तर उसका आप्लावनकारी प्यार मिलता रहा और वही उसके जीवन को छाया, गति और दिशा प्रदान करता रहा। शेखर के जीवन में इन सभी पात्रों का महत्त्व है, क्योकि उनके दिए गए प्यार ने शेखर की सेक्स भावना को ही तृप्त नही किया था, बल्कि कुछ समय के लिए उसे व्यग्र किए रखने वाले आवेगो से मुक्त करके उसके भीतरी तनावों को भी ढीला कर दिया था।[१९]

शेखर के अहं को तुष्ट करने वाले अन्य पात्र

शेखर की अहं-भावना की पुष्टि जहाँ एक ओर उसके घर के वातावरण और उसके माता-पिता तथा बहन-भाइयों के उसके प्रति व्यवहार से हुई, वहाँ उसे दृढ़ से दृढ़तर बनाते रहने के लिए मद्रास की एंटीगोनम क्लब के राघवन, सदाशिव आदि

१३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० १२४।
१४. वही, पृ० १२६।
१५. वही, पृ० १२७।
१६. वही, पृ० १२६।
१७. वही, पृ० ८०।
१८. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०६।
१९. M. Klein, 'The Psycho-analysis of Children', Hogarth Press, 1932, p. 276-77.

सदस्यों, रात्रि पाठशाला के विद्यार्थियो, कांग्रेस-अधिवेशन के शिविर के स्वयंसेवकों, जेल के अन्य व्यक्तियो मोहसन, रामजी आदि का निर्माण हुआ। उसकी अहं भावना के उन्नयन (सब्लिमेशन) के लिए जेल में विद्याभूषण की जरूरत पड़ी। विद्याभूषण से ही उसे नई दृष्टि मिली कि 'अभिमान या अहंकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है।'[२०] इसके अतिरिक्त, शेखर की प्रचण्ड विद्रोह-भावना के उन्नयन के लिए सृष्टि हुई बाबा मदनसिंह की जिससे शेखर ने जाना कि 'अहिंसात्मक रक्तपात' भी हो सकता है।

इस प्रकार शेखर ही उस उपन्यास का प्रमुख पात्र ठहरता है, अन्य सभी पात्र गौण हैं। शेखर के माता-पिता, उसकी बहन सरस्वती, उसकी प्रेयसी शारदा, बन्दी साथी विद्याभूषण, मोहसन, रामजी, बाबा मदनसिंह आदि का अस्तित्व शेखर के व्यक्तित्व के क्रमिक निर्माण के लिए ही है। यद्यपि शशि का अपना व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावशाली बन गया है, तो भी उपन्यास में उसका स्थान उस सान से अधिक नहीं रहा, जिस पर बराबर चढ़ाया जाकर शेखर का जीवन तेज होता रहा है।[२१]

'नदी के द्वीप' के पात्र

'शेखर . एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' भी व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है, पर इसका विषय व्यक्ति-चरित्र का क्रमश· विकास नही, विकसित चरित्र का उद्घाटन ही है। गौरा को छोड़कर 'नदी के द्वीप' के अन्य सभी पात्र परिपक्व व्यक्तित्व लेकर ही उपन्यास में आते हैं। गौरा का चरित्र अवश्य उपन्यास में ही परिपक्वता को प्राप्त होता है, पर उसके व्यक्तित्व का क्रमश· निर्माण उपन्यास का लक्ष्य नहीं प्रतीत होता; उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओ के उद्घाटन की ओर ही उपन्यासकार का ध्यान रहा है।

'नदी के द्वीप' के पात्रो का चुनाव उस बुद्धि-जीवी मध्यवर्ग से हुआ है, जिसकी बौद्धिकता सभी पुरातन मूल्यों के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगा चुकी है और उनके बदले में अभी तक न कुछ और पा सकी है और न स्वयं बना सकी है। ये लोग आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हैं—यहाँ तक कि रेखा, गौरा आदि स्त्री पात्र भी अपनी बौद्धिकता में डूबे समाज और उसके विधि-निषेधों से दूर कल्पना-जगत् में रहते हैं। यह बुद्धि-जीवी मध्य-वर्ग तो वैसे ही साधारण जन-जीवन से अलग जा पड़ा है, पर 'नदी के द्वीप' के पात्र तो उस वर्ग के भी असाधारण सदस्यों में से हैं जो चेतन बौद्धिक स्तर पर ही पुरातन मूल्यों, समाज के विधि-निषेधों की अवहेलना कर पाए हैं—उनके अचे-

---

२०. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ५५।

२१. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।

तन में तो वही पुराने संस्कार पक्के जमे हुए है और उनका पात्रो की सैक्स भावना से निरन्तर संघर्ष छिड़ा रहता है जो उन्हें सदा बेचैन किये रखता है। उनके अचेतन में गहरे धँसे ये संस्कार उन्हें तृप्ति (फुल्फिलमेंट) के लिए नौकुछिया ताल के एकात जंगलों और कश्मीर की निर्जन ऊँचाइयों पर भटका ले जाते हैं, पर वहाँ भी उन्हें समर्पण का निर्बाध आनन्द नही लूटने देते।

'नदी के द्वीप' का नायक भुवन है। भुवन वैसे तो फिजिक्स में डॉक्टर है, पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन का चित्रण नही, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमड़न का उद्घाटन है, जो उसके विचारो और कामों को निर्दिष्ट करती है।[२२] रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती हैं : रेखा उसकी यौन प्रवृति (सैक्स अर्ज) को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी 'विवेक बुद्धि (कान्शैंस) को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज है, जाग्रत करती है। वैसे तो भुवन भी उस की वासनापूर्ति का साधन बनता है, पर वह बात गौण है। यदि वासनापूर्ति ही लक्षित होती, तो वह कदाचित् चन्द्रमाधव भुवन से अधिक अच्छी तरह कर सकता। वह तो रेखा से समझौता करने को तैयार ही था। बल्कि भुवन की बात तो माधव की समझ में भी नही आती थी कि 'आशिकी भी हो रही है, रिसर्च भी और नौकरी भी चल रही है।' रेखा उसकी बात मान लेती तो 'वह अपना सब काम-काज छोड़कर उसे लेकर कहीं चला जाता बर्मा-वर्मा।[२३]' सच तो यह है कि रेखा के माध्यम से वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह में एक बार तो उसकी 'रिसर्च-वर्च' सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने से यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व ही था। भुवन की इन दो प्रवृतियों में बड़े जोर का संघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन-धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है, गौरा की याद बीच-बीच में आकर उस पर अंकुश का काम करती है और फिर रेखा को 'फुल्फिल्मेंट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है तब बीच-बीच में रेखा का ध्यान उसे विचलित करके गौरा के प्रति पूर्णतया समर्पित नही होने देता। यद्यपि भुवन के जीवन में निरन्तर उसकी सैक्स भावना—रेखा—की ही प्रबलता रही, तथापि अन्ततोगत्वा गौरा को उसके समर्पण की परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके समर्पण के पीछे सैक्स-प्रवृत्ति नहीं थी।

उपन्यास के चौथे पात्र चन्द्रमाधव की आवश्यकता विचारणीय हो सकती है, क्योंकि न तो वह कथानायक भुवन के संघर्ष को बढ़ा सका है और न घटा सका है। वह कभी रेखा को प्रणय-निवेदन करता-फिरता है और कभी गौरा को, पर उनमें से कोई भी उसकी बात पर ध्यान नही देती। ईर्ष्यावश वह रेखा और गौरा को भुवन से विमुख करने का प्रयत्न तो करता है, पर उसके प्रयास की व्यर्थता इसी से सिद्ध हो

२२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४२।
२३. वही, पृ० २२०।

जाती है कि भुवन को भी उसकी निरर्थकता पर विश्वास है और वह उसे एक पत्र में स्पष्ट कह देता है : "चन्द्र, मेरे प्रति किसी मिथ्या 'लायलटी' का बन्धन तुम न मानो ; जिस भी चीज पर तुम्हारा लोभ है, उसके लिए निर्बाध होकर जुगत करो।"[२४] स्वतन्त्र रूप से चन्द्रमाधव का चरित्र-चित्रण कैसा ही रहा हो, उपन्यास में वह ठीक से जम नहीं पाता।

पात्रों का प्रथम परिचय

वस्तु-जगत में हम नित्य-प्रति कई लोगों से मिलते हैं, पर पहली भेंट में ही तो हम सबके प्रति आकृष्ट नहीं हो जाते। अनेक बार मिलने पर भी कई लोग हमें अपनी ओर नही खीच पाते और कई लोग प्रथम भेट में ही अपने प्रति हमारा औत्सुक्य बढ़ा देते है। उपन्यास के पात्रों की भी सार्थकता इसी में है कि वे प्रथम भेट में ही पाठक का ध्यान अपनी ओर खीच लें। इस दृष्टि से पात्रो के प्रथम परिचय का भी उपन्यास में विशेष महत्त्व हो जाता है।

नायक का प्रवेश—विकसित अवस्था में

अज्ञेय के उपन्यासों के कथानक आगे से पीछे चलते है। इसलिए, उनके कथा-नायक का प्रथम परिचय हमें उनके विकास की आरम्भिक अवस्था में नहीं मिलता। पर्दा उठते ही नायक अपने विकास की अन्तिम या किसी एक अवस्था में उपन्यास के रंग-मंच पर मौन बैठा-खड़ा मिलता है। बिना किसी भूमिका के नाटकीय ढंग से लेखक उसे पाठक के सामने ले आता है। स्थिति-विशेष में अपनी किसी कायिक प्रति-क्रिया के माध्यम से वह हम पर नही खुलता और न ही बोलकर हमें अपने बारे में कुछ बताता है। हमारे सामने तो उसकी स्मृतियाँ (रिकोलेक्शन्ज़) ही आती हैं और उनसे ही हमें उसके बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है।

शेखर—शेखर से जब पाठक की पहली भेंट होती है तब शेखर का व्यक्तित्व परिपक्व हो चुका होता है। 'शेखर : एक जीवनी' का पर्दा उठते ही शेखर अपने विक-सिततम रूप में फाँसी की कोठरी में 'अपने जीवन का प्रत्यवलोकन करता हुआ' तथा 'अपने अतीत जीवन को दुबारा जीता हुआ मिलता है।'[२५] उसे शीघ्र ही फाँसी मिल जाएगी, उसके बारे में इससे अधिक हमें और कुछ नहीं पता चलता। फिर कुछ-एक छुट-पुट स्मृतियों में दूसरों से उसके सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त होती है। सुव्यव-स्थित रूप से उसका परिचय तो उपन्यास के प्रथम खण्ड : 'उषा और ईश्वर[२६]' से ही मिलना आरम्भ होता है।

---

२४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४०।

२५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १५।

२६. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १५।

भुवन—'नदी के द्वीप' का पर्दा उठते ही उसका नायक भुवन उपन्यास के रग-मंच पर हक्का-बक्का सा, चलती रेलगाड़ी का हैंडल पकड़े खड़ा दिखाई देता है। भुवन कौन है और क्यो ऐसे खड़ा है, कुछ पता नहीं चलता। जानकारी के नाम पर केवल यही मिलता है कि रेखा नाम की किसी स्त्री ने जब सहसा उसकी कुहनी पकड़ कर मुसकराकर उसे ढकेलते हुए कहा था "अच्छा जल्दी से सवार हो जाइए, आपकी गाड़ी जा रही है।"[२७] वह चलती गाड़ी पर सवार हुआ था। फिर जब उसकी स्मृति अतीत के पन्ने उलटने लगती है तब दूसरों के साथ उसकी बातचीत के बीच में धीरे-धीरे पता चलता है कि वह प्रोफेसर है[२८] और डाक्टर है। बाद में उसका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार मिलता है : "कालिज के बाद······वह चार-छः वर्ष वैज्ञानिक खोज और देशाटन में लगाकर पहले से भी कुछ अन्तर्मुखी और तटस्थ होकर एक कस्बे के कालेज में लैक्चरार हो गया है।"[२९]

अन्य पात्र नायक के स्मृति-पट पर

अज्ञेय के उपन्यासों के कथा-नायक के प्रथम दर्शन किसी भूमिका के बिना उपन्यास के रंग-मंच पर होते हैं, तो अन्य पात्रों के प्रथम दर्शन होते है कथा-नायक के स्मृति-पट पर। वहाँ उनके विकास के आरम्भिक सूत्र मिलते हों, यह बात नहीं। उन पात्रो के जिस रूप की उसके मन पर सबसे गहरी छाप पडी होती है, वही उसकी स्मृति में सबसे पहले उभर आता है। ये पात्र उसकी स्मृति में उस क्रम से नहीं आते जिस क्रम से वे उसके जीवन में आए हों; बल्कि जिस पात्र के द्वारा वह सबसे अधिक प्रभावित हुआ होता है, वही उसकी स्मृति में सबसे पहले आता है, उसके जीवन में चाहे वह सबके बाद आया हो।

'शेखर : एक जीवनी' में उपन्यास के रग-मंच पर तो केवल कथा-नायक शेखर ही रहता है। अन्य सभी पात्र उसके स्मृति-पट पर छाया-चित्रो के रूप में मिलते हैं। सबसे पहले शेखर की स्मृति में शशि आती है। इसलिए नहीं कि उसके जीवन में वह सबसे पहले आई थी या वह उसकी सबसे ताजी स्मृति थी[३०], बल्कि इसलिए कि 'शेखर का होना अनिवार्य रूप से उसके होने को लेकर था।' शशि हमारे सामने सर्वप्रथम उस रूप में आती है जबकि उसका विवाह हो चुका होता है और 'उसके जीवन के चलने के लिए एक पटरी निश्चित हो गई होती है।'[३१] शेखर के स्मृति-फलक पर दूसरा छाया-चित्र दीखता है शारदा के "गरुड़नीड़" का। उसी नीड़ की ओर शेखर

२७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३।
२८. वही, पृ० ६।
२९. वही, पृ० १०।
३०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।
३१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।

चला जा रहा है शारदा से मिलने। मकान के द्वार पर शेखर सहमा हुआ खडा रह जाता है—मकान खाली है।[३२] यहां खाली मकान देखकर ही पाठको को सतोप कर लेना पड़ता है। शारदा को वह देख नहीं पाता। शेखर को ही शारदा नहीं मिली तो पाठक को कैसे मिल सकती थी ? शेखर की स्मृति में तीसरा व्यक्ति आता है उस की माँ जो उसके पिता से यह कहती हुई सुनाई पडती है : 'और सच पूछो तो मैं इस का (शेखर का) भी विश्वास नहीं करती।'[३३] इसके बाद छाया-चित्र आता है—शीला का, जो शेखर की शिष्या थी, पर जिसका वह गुरु न था। 'शीला के लिए वह था एक बडा-सा भाई—किन्तु ऐसा भाई जिससे प्रेम किया जा सके, जिस पर झुका जा सके, जिसके आधार पर स्वप्न बुने जा सकें।'[३४] शीला की पढ़ाई थोड़ी देर ही चल पाई थी कि पाठक देखता है कि वह बन्द हो गई।

उपन्यास के प्रथम खण्ड से लेखक शेखर के व्यक्तित्व का विकास व्यवस्थित रूप से दिखाने लगता है और तभी से अन्य पात्रों के भी छाया-चित्र शेखर के स्मृति-पट पर क्रमशः उभरने लगते है और हमें उसके माता-पिता, बहन सरस्वती, प्रेमिका शारदा, मद्रास कालेज के सहपाठी कुमार, राघवन और सदाशिव, लाहौर कालेज के साथी, कांग्रेस शिविर के स्वयंसेवक, जेल-जीवन के बन्दी साथी-नेता विद्याभूषण, बाबा मदनसिंह, मोहसन, रामजी तथा शशि के पति रामेश्वर, क्रांतिकारी दल के सदस्यों आदि का परिचय मिलता है—पर उतना ही जितना शेखर को बनाने के लिए आवश्यक था। इस प्रकार पाठक जिन भी पात्रों को देख पाता, शेखर के स्मृति-पट पर ही देख पाता है—शेखर की स्मृति में वे जैसे सुरक्षित हैं वैसे ही, सीधे अपनी दृष्टि से नहीं।

'नदी के द्वीप' में भी रेखा और चन्द्रमाधव के प्रथम दर्शन उपन्यास के नायक भुवन के स्मृति-पट पर ही होते हैं। भुवन की स्मृति में पहले तो रेखा का वह चित्र आता है जब वह प्रतापगढ़ के स्टेशन पर उससे बिदा लेती हुई अवैयक्तिक पर सच्चे विनय से कहती है : "मैं आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँ—और आपने तो इस वापसी की यात्रा को भी प्रीतिकर बना दिया' और सहसा भुवन की कुहनी पकड़कर मुस्कराकर उसे ठेलकर चलती गाड़ी पर चढ़ा देती है।[३५] दूसरा चित्र उभरता है रेखा से उसके प्रथम परिचय का जिसमें रेखा को पारखी दृष्टि से देखकर मन-ही-मन उसने कहा था—'यों ही नहीं रेखा देवी की इतनी चर्चा होती। उनमें कुछ है जिसका उन्मेप जीवन का उन्मेष है।'[३६] उस समय उसने लक्ष्य किया था कि रेखा के पास रूप भी है और बुद्धि भी है।[३७] इस प्रकार, पाठक पर रेखा की धाक बैठ जाती है, यद्यपि उसका अधिक

३२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० २४।
३३. वही, पृ० २५।
३४. वही, पृ० ३२।
३५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ८।
३६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ९।
३७. वही, पृ० १०।

परिचय उसे बाद में मिलता है।[३८] भुवन की स्मृतियों में ही चन्द्रमाधव के दर्शन होते हैं और वही से पता चलता है कि वह भुवन का "कालेज का सहपाठी और मित्र है, स्थानीय पायनियर का विशेष संवाददाता है और लखनऊ से परिचित है, यो भी बहुधंधी आदमी है"[३९] यद्यपि पाठक अभी तक अपनी आँखो से उसे नही देख पाया है। गौरा के प्रथम दर्शन हमें उपन्यास के रंग-मंच पर ही होते हैं और लेखक स्वयं उसका तथा उसके और भुवन के सम्बन्धो का परिचय कराता है और साथ मे भुवन की टिप्पणी जोड़ना नही भूलता "उसमें जीवन है, जीवन की लालसा है—ऐसी जो कई दिशाओ में उसे अन्वेषण की प्रेरणा दे।"[४०]

अज्ञेय अपने पात्रों का प्रथम परिचय नाटकीय ढंग से कराते हुए बिना किसी भूमिका के उन्हे उपन्यास के रंग-मच पर ले जाएँ या नायक के स्मृति-फलक पर ही उनका छाया-चित्र दिखा दें, वह उनके बारे में पाठक को उतनी ही जानकारी कराते हैं, जिससे उन पर पात्रों की धाक बैठ जाए और वह उनके बारे में जिज्ञासाशील हो उठे।

आकृति-वेशभूषा वर्णन

पहले कह आए है कि अज्ञेय की रुचि व्यक्ति में है, किसी समाज या वर्ग में नही। उनके सभी मुख्य पात्र 'व्यक्ति' हैं, किसी वर्ग के प्रतिनिधि नही। पात्रो का पूरा नख-शिख वर्णन उन्हें व्यक्ति-चरित्र बना सकता हो, ऐसी बात नहीं। ब्योरेवार वर्णन, यदि कुशलता से किया जाए तो, ऐसे 'टाइप' ज़रूर बना सकता है जो शक्ल से ही पहचाने जा सकें। व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार जिस प्रकार अपने पात्रों के शील को एक चौखटे में कस कर लचक-विहीन नही कर देता, उसी प्रकार उन्हें आकृति और वेशभूषा की मोटी और पक्की रेखाओ में बाँधकर उन्हे गुड़िया नहीं बना देता। वह उसकी बाहरी सज्जा में नही अटकता, प्रत्युत् ठोस बाह्य आवरण को चीरकर उनके भीतर की तरल मानसिक क्रिया का चित्रण करने की ओर प्रवृत्त होता है और उसी के द्वारा वह उन्हे अन्य सब मानवों से भिन्न व्यक्ति बना देता है। साथ ही वह यह बात पाठकों की रुचि और कल्पना पर छोड़ देता है कि वे उसे कैसी ही पोशाक पहना लें।

प्रमुख पात्रों के रूप-चित्रण के प्रति उदासीनता

शेखर-शशि-सरस्वती—श्रीनगर के पास एक बजरे के अग्र भाग में बैठे आठ वर्ष के शेखर का तो अज्ञेय कुछ उडता-उड़ता सा हुलिया दे भी देते हैं--'बालक निकर पहने हुए, किन्तु सारा शरीर नगा, उलझे हुए भूरे बाल'[४१]—पर उसके पास ही

३८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २६।
३९. वही, पृ० १०।
४०. वही, पृ० ७६।
४१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०।

बैठी हुई तेरह वर्ष की सरस्वती की वेशभूषा की ओर उनका ध्यान ही नही जाता। उसका परिचय वह इस प्रकार देते हैं, "उससे कुछ ही दूरी पर, एक लड़की बैठी है। किन्तु मनसा, वह सैकडों हजारों मील दूर है। उसके पास एक अंग्रेज चित्रकार के बनाए हुए कश्मीर के अनेक चित्र पडे है, और उसकी गोद में एक किताब है—कालिदास का 'रघुवश'। पर वह चित्र भी नही देख रही, पुस्तक भी नही पढ रही। वह उस बालक की ओर एक शून्य दृष्टि से देख रही है, मुँह से कुछ गुनगुना रही है, और मनसा पता नही क्या सोच रही है।"[४२] सरस्वती के इस परिचय से पता चल जाता है कि लेखक की रुचि इस पात्र के शरीर के आकार-प्रकार में नही, बल्कि उसके मन में है। लेखक की पहुँच उसके मन की गहराइयों तक है, क्योंकि मन की गहराइयो में ही तो प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति होता है, अद्वितीय होता है। शशि की वेशभूषा का वर्णन तो 'शेखर : एक जीवनी' के दोनों भागों में शायद ही कही मिलेगा। इस एक उद्धरण के सिवाय, शेखर के अपने शरीर या उसकी वेशभूषा का वर्णन भी उपन्यास-भर में दुर्लभ होगा—ऐसे संकेत भले ही मिल जाएँ कि वह खद्दर-धारी हो गया या सूट-बूट-टाई पहनने लग गया।

भुवन-रेखा-गौरा—इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन का शरीर कैसा था, उसके नयन-नक्श कैसे थे, वह किस प्रकार की पोशाक पहनता था—उपन्यास-भर में इसकी चर्चा नही मिलेगी। हाँ, रेखा की सफेद रेशमी धोती का उल्लेख एक बार जरूर हुआ है, पर वह इसलिए नही कि रेखा को वह जँचती है, बल्कि इसलिए, कि वह पहनने वालो को दूर ले जाती है,। दूर ही नही, एक ऊँचाई पर भी।[४३] रेखा के चेहरे का 'हार्ड फोकस', उसके मुख का हू-बहू चित्र कहीं नहीं मिलता, हू-बहू चित्र तो दूर उसका कोई भी चित्र नहीं मिलता; केवल यही पता चलता है कि वह साँवले वर्ण की है।[४४] रेखा की उँगलियों का वर्णन अवश्य दो बार हुआ है, पर वह इसलिए नहीं कि वे सुन्दरता का आदर्श उपस्थित करती थीं, बल्कि इसलिए कि उनके उभरे हुए जोड़ रूपतत्त्व की अपेक्षा मनस्तत्त्व की ओर ही इंगित करते थे,[४५] उसके चिन्तनशील स्वभाव के सूचक थे।[४६] तेरह वर्ष की गौरा का आकार-वर्णन केवल तीन शब्दों तक ही सीमित है : 'लम्बी, कृशतनु, गम्भीर गौरा।[४७] बीच में एक बार उल्लेख है कि रेखा से प्रथम भेंट के समय उसने एक सफेद धोती पहन रखी थी—'बहुत छोटी-छोटी, सफेद बूटी वाली चिकन की।'[४८]

४२. वही, पृ० २१।
४३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीव', पृ० १३३।
४४. वही, पृ० २२५।
४५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३५।
४६. वही, पृ० २२७।
४७. वही, पृ० ७४ :
४८. वही, पृ० २२५।

गौण पात्रों की सुनिश्चित रूप-रेखा

कुमार—अज्ञेय के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास हैं जरूर और उनके सभी प्रमुख पात्र व्यक्ति हैं, पर टाइप से अलग व्यक्ति बनाने के लिए उन्हे भी 'टाइप' की आवश्यकता पड़ी है और उन 'टाइप' पात्रो को स्मरणीय बनाने के लिए लेखक ने जहाँ उन्हे उनके वर्गानुकूल विशिष्ट शील प्रदान किया है वहाँ उनकी आकृति, वेश-भूषा भी वैसी ही रखी है। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग में शेखर के कालेज-होस्टल के साथी कुमारप्पा का ब्योरेवार वर्णन हुआ है—"युवक का चेहरा सुन्दर था, आखे सुडौल और स्वच्छ, नीली, प्रायः हँसती हुई, नाक सीधी और छोटी, ओठ पतले, लम्बे और चचल। सिर पर लम्बे लम्बे और घुँघराले बाल थे, जिन्हे उसने ढग से काढ रखा था। दाढ़ी-मूँछ उसके नही थी—अभी फूट भी नहीं रही थी। कद और गठन से भी वह चौदह-पंद्रह वर्ष से अधिक नही जान पड़ता था।"[४९] कुमार उस समय सोलह वर्ष का था और शेखर पंद्रह का, पर देखने में शेखर ही उससे बडा लगता था और यह बात शेखर की 'सैक्स' प्रवृत्ति के अनुकूल ही थी, जिसके कारण वह कुमार की ओर खिचा था। कुमार के इस रूप को देखते हुए शेखर का उसकी ओर खिच जाना असम्भव नही प्रतीत होता—उसके पास रंग-रूप भी था और अभी उसकी दाढी-मूँछ भी नही उगी थी। जो लोग कालेज के होस्टल में रह चुके है, उन्हे कुमार के 'टाइप' को पहचानने में कठिनाई नही हुई होगी। उसके 'टाइप' के अनुकूल उसके नयन-नक्श इसीलिए तो बनाए गये हैं कि वह आसानी से पहचाना जा सके।

शारदा—शेखर से प्रथम भेंट के समय शारदा की वेशभूषा के वर्णन में भी लेखक ने रुचि दिखाई है। शेखर ने पाया कि "लडकी के वेष्टन में भी लज्जा नही है। उसके अभी तक कुछ गीले बाल, जो बाहर खुले थे, अब एक रेशमी रिबन से बँधे है, शरीर पर वह एक सफेद कुरती पहने है, और एक एड़ियो से ऊँचा सफेद लहँगा या पेटीकोट।"[५०] अंततः, शारदा भी तो एक 'टाइप' ही सिद्ध होती है। यदि वह शशि की तरह 'व्यक्ति' बन सकती तो शेखर को उससे निराशा क्यों मिलती।

विद्याभूषण—जेल में जब शेखर को अपने केस के अन्य बन्दियो से मिलने-जुलने की अनुमति मिल गई तो पहले ही दिन उसकी भेंट विद्याभूषण से हुई। क्षणभर के लिए दोनों एक-दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे "विद्याभूषण कद का मध्य, बलिष्ठ शरीर का और गोरे रग का कोई बीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए

---

४९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०४।

५०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६६।

रूखे बालु, चौडा माथा, सीधी-नाक और पतले ओंठ, सीधी और पतली ठोडी--शक्ल से-वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखो में अवश्य उसके एक कोमल हास का चचल प्रकाश था।"[५१] विद्याभूषण की आकृति का इतना ब्योरेवार वर्णन करने का आशय यही दिखाना है कि वह शक्ल-सूरत से ही उस टाइप का नजर आता था जो शेखर के मन के अनुकूल[५२] हो सकती थी।

अज्ञेय के उपन्यासों में वेशभूषा वर्णन के स्थलों को देखकर विश्वास हो जाता है कि उन्होंने उन्हीं पात्रों की शारीरिक सज्जा का वर्णन किया है जिनके भीतर घुसने की उन्हें जरूरत नहीं थी। जिन पात्रो के हृदय की वे गहराइयाँ नापने में व्यस्त है, जो पात्र उनके उपन्यासो के व्यक्ति-चरित्र है, उनके बाह्यावरण के प्रति वे सदा उदासीन ही रहे हैं। जब वे पात्र मनसा मुक्त हैं तो लेखक उन्हे बाह्य रूपरेखा में क्यों बांध दे। पाठक आवश्यक समझें तो अपनी रुचि और कल्पना के अनुसार उन्हें जैसा चाहे, सजा लें।

अनुभाव-चित्रण

अज्ञेय के सभी प्रमुख पात्र बुद्धि-जीवी हैं। बाहर से तो वे सुलझे हुए प्रतीत होते हैं, पर अपने भीतर बेहद उलझे रहते हैं। किसी के "मन के दो टुकड़े हो गए है और कभी-कभी तो दो से भी अधिक जान पड़ते हैं,"[५३] किसी के "अन्दर कितनी बड़ी टकी बँधे पानी की जमा है",[५४] और किसी के "भीतर एक घुमड़न है, जो उसके विचारों और कामों को निर्दिष्ट करती है।"[५५] ये पात्र नहीं चाहते कि उनके भीतर जो है उस पर किसी दूसरे की दृष्टि पड़े—वह तो उन का अपना है, निजी है। वे जानते हैं कि "निजी सत्य को न कहना आसान है, न सहना आसान है,"[५६] यह जानते हुए वे बाहर से सदा जागरूक रहते हैं, और इसीलिए, मानसिक कम और बौद्धिक अधिक हो गए हैं। अपने वास्तविक आशय पर वे बहुधा दार्शनिकता का आरोप कर लेते हैं। बात-चीत के समय की उनकी शारीरिक मुद्रा, अनुभाव, स्वर-प्रकम्पन आदि का यदि ध्यान-पूर्वक अध्ययन न किया जाए, तो भ्रम हो सकता है कि वे साधारण अवैयक्तिक स्तर पर ही दार्शनिक चर्चा चला रहे हैं, जबकि उनकी दार्शनिकता के पीछे एक गूढ़ अभिप्राय छिपा होता है। उनके प्रति आँख और कान खुले रखकर ही जाना जा सकता है कि "बात के अर्थ से अलग उसमें और भी अर्थ है—अकथित, अकथ्य अभिप्राय।"[५७]

---

५१. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ५२।
५२. वही, पृ० ५२।
५३. वही, प्रथम भाग, पृ० ३१।
५४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३६।
५५. वही, पृ० ३४२।
५६. वही, पृ० १५।
५७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३६।

ऊपर से ड्राइंग रूम वाली तटस्थ बातचीत नजर आने पर भी वह वास्तव में निजीपन लिये होती है।

गूढ़ाशय की अभिव्यक्ति

काफी हाउस की ओर बढ़ती हुई 'नदी के द्वीप' की रेखा अपने साथ चल रहे भुवन से कह रही है कि "काफी हाऊस का भी एक चस्का है। काफी के चस्के से शायद ज्यादा गहरा वही है" और साथ ही यह भी पूछ लेती है—"आप को कैसा लगता है ?" भुवन सीधा उत्तर न देकर कहता है, "चन्द्र का विचार है कि जीवन से तटस्थ होकर दो मिनट बैठने के लिए ऐसी अच्छी जगह दूसरी नही—तटस्थ भी हो और देखते भी चलें, यह यहाँ का लाभ है।" तभी रेखा थोड़ा हँस देती है—"पर आप तो ऐसा न मानते होंगे—आप तो यों ही इतने तटस्थ जान पडते है कि दो मिनट की तटस्थता का आपके लिए क्या आकर्षण होगा।"[५८] ऊपर से बात साधारण ढंग से कही गई प्रतीत होती है, पर रेखा की तीखी दृष्टि[५९] से उसका सहसा आशय समझ कर भुवन चौक उठता है कि बात तो निजी स्तर पर हो रही है और उसे उसकी तटस्थता पर उलाहना दिया जा रहा है।

'नदी के द्वीप' के पात्रों की घबराहट भी कई बार आसानी से नहीं पकड़ी जा सकती। उसे पकड़ने के लिए उनके चेहरे का सूक्ष्म अध्ययन ही पर्याप्त नही होता, उसकी बातचीत के लहजे की भी अपेक्षा रहती है। काफी हाउस में बैठा भुवन जब जीवन की नदी पर पुल बाँधने की बात सोच रहा था और रेखा कल्पना कर रही थी कि वह उसके प्रवाह में एक छोटा द्वीप है, प्रवाह से घिरा हुआ भी, उससे कटा हुआ भी। उसी कल्पना में अपने को खोता-खोता भुवन सहसा संभलकर बोल उठा—"रेखाजी, आप क्यो काफी हाउस आती हैं ?" उत्तर में रेखा ने "मैं ? मैं"—एक ही शब्द की दो प्रकार के स्वरों में आवृत्ति करके चुप हो गयी।[६०] भुवन ने महसूस किया कि "बिना कुछ कहे भी रेखा कितना कुछ कह सकती है ! मानो अचानक उठ खड़े हुए इस प्रश्न पर वह घबरा उठी हो और बात के बदलते स्तर के साथ संतुलन बैठाने के लिए समय चाह रही हो। और भी थोड़ी देर बाद बोली—"मैं तो—आप मानिए—काफी पीने ही आती हूँ।"[६१]

कई बार सहज स्वाभाविक रूप से, बिना किसी विशेष अभिप्राय से, कोई बात कही जाती है, पर उसे कहते ही कहने वाले को महसूस होने लगता है कि वह किसी गूढ़ आशय को भी व्यक्त कर रही है, तब उसकी मुख-मुद्रा में जो परिवर्तन आ जाता

---

५८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १७।

५९. वही, पृ० १७।

६०. वही, पृ० १८।

६१. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १८।

है, उसे देखकर सुनने वाले का ध्यान पहले उस गूढतर आशय की ओर ही जाता है। शेखर ने साँझ को आकर दिन-भर की पेंटरी की कमाई शशि के हाथ पर रख दी। शशि ने शरारत से हँस कर कहा—"बस, कुल इतनी ही ?" तो शेखर ने हँसते हुए उत्तर दिया—"और क्या अब—जो कुछ था, सब तो दे दिया।"[६२] उसने यह बात साधारणतः कही थी, क्योंकि उसे जितने रुपये दिन भर में मिले थे, उसने वे सब शशि के हाथ पर रख दिये थे। पर उसकी बात बीच में ही रह गई और वह "एका-एक अपनी बात के गूढ़तर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया। उस चुप्पी से वह गूढ़तर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चहरा गम्भीर हो आया, आगे बढ़ा हुआ हाथ नीचे लटक आया और वह धीरे-धीरे भीतर चली गई।"[६३]

प्रेम-ज्ञापन

प्रेमियो के लिए सबसे कठिन काम प्रेम-ज्ञापन का होता है। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ या करती हूँ, यह कहना कितना कठिन है और इसे सह सकना कठिनतर है। इसलिए प्रेमी यह बात शब्दो की भाषा में न कह कर अनुभावो या संकेतों द्वारा ही व्यक्त कर पाते हैं। शेखर के लिए तो प्रेम-ज्ञापन और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि जिस पर वह व्यक्त करना चाहता है, वह रिश्ते में उसकी मौसेरी बहन है, जिसके प्रति इस प्रकार का भाव-प्रकाशन असामाजिक बन जाएगा और फिर उसे यह भी डर था कि शशि उसे क्या समझेगी। उस रात आत्म-हत्या करने के प्रयत्न में असफल होकर जब वह घर लौट आया तब अपने कमरे में उसने शशि को पाया। फिर रात भर शशि उसके पास ही खाट पर बैठी रही थी। शेखर उसके प्रति पिघल कर बह रहा था। एक बार हिम्मत करके उसने धीमे स्वर में कहा—"शशि, तुम क्या हो, कुछ समझ में नहीं आता" और जब शशि उसकी बात सुनने के लिए उस पर झुक आई और स्थिर स्वर से बोली—"क्यो, शेखर ?"—"कब से तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होती है उतनी पास तुम नहीं हो; इसलिए वह जितनी दूर होती है, उतनी—दूर भी तुम नहीं हो" यह कहते-कहते शेखर ने एका-एक शशि की दोनों ऊँगलियों को दोनों हाथों से अपनी आँखों पर जोर से दाब लिया, मानो आँखें खुलने से कुछ अनर्थ हो जाएगा। फिर शशि की काँपती हुई आवाज —"क्या अभिप्राय है तुम्हारा, शेखर ?"—पर शेखर ने फिर दोनों हाथ उठाए, कनपटी के पास से शशि का सिर हल्के से पकड़ा और उसे अपने ऊपर झुका कर बोला "अभिप्राय मैं नहीं जानता, तुम्हें जानता हूँ और जानता हूँ कि जितने स्वप्न मैने देखे हैं सब तुम में आकर घुल जाते हैं।" शशि के झुकने में न अनुकूलता

---

६२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० २६१।
६३. वही,		दूसरा भाग, पृ० २१६।

थी, न प्रतिरोध; वह झुकी थी, पर स्तब्ध, निःशब्द थी[६४]। मानो वह इस व्यापार में तटस्थ रहना चाहती हो।

जब शेखर दादा के साथ जंगल में पिस्तौल टैस्ट करने गया था और साँझ को देर तक नही लौटा था और शशि ने दूर पिस्तौल चलने की आवाज सुनी थी, वह द्वार पर उसकी प्रतीक्षा में खड़ी असह्य वेदना से भर आई थी और उस घबड़ाहट में ही उसे दिव्य-दृष्टि मिली थी—शेखर के प्रति अपने सम्बन्धों के बारे में। वही, वह बेहद सर्दी खा गयी थी और समझ गई थी कि अब वह अधिक दिन नहीं जी सकती। वह शेखर पर अपनी इस अनुभूति को प्रकट हो लेने देना चाहती थी, पर शब्दो की भाषा में इसे कह सकना कठिन था। रात को शशि ने शेखर को खाट पर अपने पास बैठा लिया। शेखर पैताने बैठा तो उसने कहा—"नहीं, वहाँ नहीं; पास आओ।" मंत्रचालित शेखर आगे सरक आया। तब बिना एक शब्द और कहे "शशि ने अपनी ठोड़ी उठाई, उसकी आँखें अर्धनिमीलित थी और ओठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नहो थी क्षण भर तो शेखर भी कुछ नहीं समझ सका, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आई और उसने शशि के स्निग्ध, स्तब्ध, किन्तु बेझिझक ओठ चूम लिये—निर्द्वन्द, वरद, दीर्घ चुम्बन"[६५] और, इस प्रकार, शशि के मूक निमन्त्रण को सम्मानित किया। मुख से एक भी शब्द कहे बिना मुख-मुद्राओ की भाषा में ही उन दोनों का आदान-प्रदान होता रहा।

सहज स्वाभाविक मुद्रा

दूसरों की उपस्थिति में 'नदी के द्वीप' के पात्रों को निश्चितता के अभिनय में जो आयास करना पडता है उसकी कसर वे एकान्त में अपने असली रूप में आराम करके निकाल लेते हैं। उस समय की उनकी मुद्रा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अपने भीतर कितनी व्यथा को छिपाए हुए हैं। काश्मीर की ऊँचाइयों पर भुवन के तम्बू के बाहर निकल कर रेखा मानो चाँदनी में अपनी व्यथा को धो डालना चाहती हो—"वह एक चट्टान पर बैठ गई······जूड़ा खोला, बाल खोल डाले, फिर सिर को एक बार झटक कर उन्हें कन्धों पर फैला लिया। फिर चाँद की ओर मुँह उठा कर आँखे बन्द कर ली, उसका सारा शरीर शिथिल हो आया[६६]।" भुवन ने एक बार पहले भी प्रथम भेंट के समय रेखा को इस मुद्रा में निश्चेष्टा देखा था—और तभी से वह उसके प्रति द्रवित हो गया था[६७]। इसी प्रकार चन्द्रमाधव जैसा व्यक्ति भी अपने में कितनी निराशा छिपाए हुए होगा, इसका अनुमान उसकी

६४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० १६५।
६५ वही, दूसरा भाग, पृ० २३६।
६६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १६५।
६७ वही, पृ० ११।

इस करुणा मुद्रा से लगाया जा सकता है। रेखा अचानक उसके घर गई तो देखा कि वह अंगीठी में आग जलाये उसके निकट झुका बैठा है, घुटनो पर कुहनियाँ, हथेलियों पर ठोड़ी टेके, निर्निमेष दृष्टि से आग को देख रहा है। उसकी झुकी हुई पीठ, शिथिल पैर,ललाट पर लटके हुए बाल।[६८]

जब पात्रो की सीधी अभिव्यक्ति के मार्ग में उनकी बौद्धिकता अड़ जाती है और वे आयासपूर्वक अपने भीतरी भावों को उमड़ने से रोक लेना चाहते है, तब अज्ञेय उनकी शारीरिक मुद्राओं, अनुभावो आदि के चित्रण द्वारा उन्हे पाठक पर खोल देते है।

अन्तर्द्वन्द्व

जीवन नाम सघर्ष का है। मनुष्य अपूर्ण पैदा हुआ है। जन्म से ही उसे दूसरों की अपेक्षा रहती है और यह अपेक्षा उसके भीतर भाँति-भाँति की इच्छाओं को जन्म देती रहती है। पर चाहने भर से तो कोई चीज मिल नही जाती, यदि ऐसे मिल सकती होती तो कदाचित् संसार में सघर्ष का नाम तक न रहता। इच्छा से इच्छा-पूर्ति तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अपने भीतर और बाहर, दोनो ओर, सघर्ष करना पड़ता है। अपने भीतर उसे मन की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों से जूझना पड़ता है और बाहर सामाजिक शक्तियो से। समाज यदि अपने सभी सदस्यों को उनकी इच्छानुसार चलने दे तो उसकी व्यवस्था कितने दिन चले ? इसलिए समाज अपने सदस्यों को जो सुरक्षा प्रदान करता है, उसके बदले में उससे भी आशा रखता है कि वे समाज के विधि-निषेधों का पालन करते हुए व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक हो।

बाह्य संघर्षों से पलायन

अज्ञेय के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास हैं और उनके सभी प्रमुख पात्र व्यक्तिवादी हैं—समाज-व्यवस्था के प्रति उदासीन उनका अहं इतना पुष्ट है कि वे कभी नही सह सकते कि उनकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग में कोई अड़े। जो उनके मार्ग में अड़ता है उसे वे अपना परम शत्रु समझते हैं—चाहे वह कोई भी हो। अपने बाहर —घर में, स्कूल में, कालेज में, समाज में—वे तब तक ही रम पाते है, जब तक उनके अहं की पुष्टि होती रहती है। जब और जहाँ उनके अहं पर चोट पड़ती है या चोट पड़ने की सम्भावना होती है, वे अपने हानि-लाभ की चिन्ता छोड़ सिमिट कर उस स्थिति से अलग हो जाते हैं और इस प्रकार अपने आप को साधारण से भिन्न—असाधारण घोषित करके अपने अहं को तुष्ट कर लेते हैं। जीवन के प्रति उनका एक

६८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ५५।

दृष्टिकोण बन जाता है जो उन्हे बाह्य सघर्ष से भाग कर अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरित करता रहता है[७०]।

पलायनवादी शेखर—'शेखर : एक जीवनी' के नायक शेखर का जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बन गया है कि वह किसी स्थिति के भीतर रहेगा तो उसका स्वामी बन कर, नही तो सिमिट कर आत्म-स्थित हो जाएगा। उसे कोई ऐसा उतना नही चाहिए जिसकी ओर वह देखे, उसे वह चाहिए जो उसकी ओर देखे।[७१] अहं पर चोट पड़ते ही वह आहत अभिमान को लिए वहाँ से भाग लेगा। जब-जब उसका दर्प कुचला गया, वह घर के कुचल देने वाले वातावरण[७२] से निकल भागने के लिए व्याकुल हो उठा। कई बार तो भाग भी लिया।[७३] अपमान की सम्भावना देख वह कान्वेंट स्कूल से भागा।[७४] दूसरे स्कूल में सारी क्लास से काश्मीरी बाजारु गीत गवाने के अपराध में उससे मानिटरी छीन कर एक मुसलमान लड़के को दे दी गयी, उसकी तो उसे परवाह नहीं थी, पर सारी क्लास के सामने उसे जो 'मुर्गा' बनना पड़ा था, यह अपमान उसके लिए असह्य था और वह मास्टर के पेट में लात मार, उसे 'उल्लू' कहकर तीर की तरह क्लास से बाहर हो गया। इससे उसकी पढ़ाई बन्द हो गई, इसकी उसे चिन्ता नही, पर स्कूल से वह हार कर नहीं जीत कर निकला, इसका उसे संतोष है।[७५] वह इतना घोर अहंवादी बनता गया कि जब उसने अपनी माँ को अपने पिता से यह कहते सुना कि 'सच पूछो तो मुझे इसका (शेखर का) भी विश्वास नही' तो वह स्त्री-हत्या (माँ की हत्या) से लेकर आत्म-हत्या तक सभी प्रकार के साधनों पर विचार कर चुकता है[७६] और फिर घर से भाग लेता है। मद्रास कालेज के ब्राह्मण होस्टल में अपनी दाल गलती न देख वह अछूतों के होस्टल में

---

७०. Alfred Adler, 'Der Sinn des Lebens', Vienna, Leipzig ; Rolf Passer, (Social Interest : a Challenge to Mankind), p. 113 :

> "The neurotic from childhood on, is trained in his law of movement to retreat from tasks that he fears might, through his failings in them, injure his vanity and interfere with his striving for personal superiority for being the first, a striving that is all too strongly dissociated from social interest. Further more, his life motto 'all or nothing' usually only slightly modified, the oversensitivity of a person continuously threatened with defeats, the intensified affects of one who lives as though he were in a hostile country, his impatience and his greed evoke more frequent and stronger conflicts than would be necessary."

७१. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४८।

७२. वही, पृ० १८०।

७३. वही, पृ० ३९, १८०, १८६।

७४. वही, पृ० ५४।

७५. वही, पृ० ६६।

७६. वही, पृ० १८६।

चला आया था।[७७] शारदा के हाथो मद्रास में मिली पराजय से भाग कर, अपने दर्द से भाग कर वह लाहौर आ गया।[७८] लाहौर में, जेल जाने से पहले कालेज में और कांग्रेस के शिविर में उसके अहं की खूब पुष्टि होती रही और वह भी वहाँ जान लड़ा कर काम करता रहा।

कांग्रेस-शिविर में वह दूसरों को अनुशासन में रखता है, इसका उसे गर्व है, पर स्वय किसी का अनुशासन नही मानता, इसका उसे थोड़ा भी खेद नहीं। अपने मातहतो के अनुशासन भंग करने पर उनकी वर्दियाँ उतरवा कर उन्हें शिविर से निकलवा देता है, पर स्वयं अपने अधिकारियों के सामने अकड़ जाता है—'मैं अपने फैसले को गलत नही मानता, आप उसे रद्द करें वह आपकी मर्जी है······आप जैसा गुजारा करना चाहते हो, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नहीं होगा। मुझे इजाज़त दें।'[७९] दूसरों का अनुशासन मानने से तो उसके अहं को चोट पहुँचती है। जेल से लौटकर उसे संघर्ष का सामना करना पड़ा। वह लेखक बना तो प्रकाशकों से उसका पाला पड़ा और उनसे हार खाकर 'आत्म-हत्या का उपाय खोजता' घर से बाहर निकल पड़ा।[८०] यदि एक स्त्री उसकी बाँह पकड़ कर उसे सड़क से एक तरफ न खीच लेती तो वह कार के नीचे आकर मर गया होता।[८१] शशि को लेकर जब उसके समाज से लड़ने की नौबत आई तो वह फिर भागने की सोचने लगा। रह-रह कर उसे विचार आता कि स्थानांतर करना ही है तो क्यों न इतनी दूर जाए कि आस-पास के गुँफरों के भागो की खीच वहां तक न पहुँचे।[८२] उसने आराम की सांस ली जब क्रांतिकारी दल ने उसे अढ़ाई सौ रुपये देकर लाहौर से कहीं दूर चले जाने का सुझाव दिया और वह वहाँ से दिल्ली भाग आया। इस प्रकार, शेखर का जीवन बाह्य संघर्ष से पलायन का जीवन रहा।

भुवन भी पलायनवादी—'नदी के द्वीप' के नायक भुवन का जीवन-दर्शन भी संघर्ष से पलायन का जीवन-दर्शन है। वैसे तो लेखक ही उसे समाज की आँखों से बचाए रखता है, पर प्रकृत्या भी वह एकांत-प्रिय है। समाज से टक्कर लेने की बात तो दूर, सामाजिक-संघर्ष का संकेत पाकर ही वह ऐसा भागता है कि पीछे मुड़कर नहीं देखता। रेखा को लेकर वह कई दिन उसके साथ दिल्ली घूमता रहा और वहाँ से नैनीताल तक भी आ गया, पर उन दो के अतिरिक्त किसी तीसरे के अस्तित्व का ध्यान उसे नहीं रहा, समाज तो मानो उसके लिए हो ही नहीं। पर जब नैनीताल

---

७७. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग पृ० २१६।
७८. वही, दूसरा भाग, पृ० ६।
७९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ३१।
८०. वही, पृ० १६३।
८१. वही, पृ० १६२।
८२. वही, पृ० २०१।

में होटल के मैनेजर ने रजिस्टर की ओर हाथ बढाते हुए उससे पूछा कि वह किस नाम से दो कमरे किराए पर लेना चाहता है, वह ठिठक गया। होटल, रजिस्टर और मैनेजर के प्रश्न के रूप में 'सभ्यता की सब समस्याएं उसकी नजर के आगे कौंध गयीं'[८३] और वह वहाँ से रेखा को लेकर ऐसा भागा कि नौकुछिया ताल की निर्जन ऊँचाइयों में जाकर ही उसने साँस ली। इसी प्रकार भुवन और रेखा के पारस्परिक मिलन से जो 'सर्जन-वार्यालनिस्ट' बन रहा था उसके बारे में वह विचलित हो उठता है और सामाजिक संघर्ष को सामने देख रेखा से विवाह का प्रस्ताव करता है, पर रेखा उसकी चिन्ता को ठीक समझ लेती है और उस 'संर्जन-वायलिनिस्ट' को पकने ही नहीं देती और इस प्रकार भुवन को, और अपने को भी, भावी संघर्ष से बचा लेती है। अपनी तृप्ति के बाद रेखा तो भुवन को गौरा के लिए मुक्त छोड़कर चली गई, पर भुवन का पलायन बन्द न हुआ। गौरा के सम्मुख वह अपने आप को अपराधी पाता रहा और उससे भाग कर पहले जावा में भटकता रहा और बाद में सेना में भरती होकर अपनी इच्छा से बर्मा चला गया। गौरा के सम्मुख स्वयं भी वह अपनी इस कमज़ोरी को स्वीकार कर लेता है, "गौरा, मैं भाग गया था—तुम से भागा था—पर तुम से भागने के लिए ही नही—एक बोझ मुझे दबा लिए जा रहा था।[८४]

संघर्ष : पात्रों के अचेतन में

अज्ञेय के पात्रो का जीवन-दर्शन उन्हें बाह्य संघर्ष से बचाए रखता है और वे औरो से कट कर अपने को असाधारण—दूसरों से श्रेष्ठतर—समझ कर अपने अहं को तुष्ट भी कर लेते हैं तो फिर उनको बेचैनी क्यों ? माना कि समाज सदा उनके प्रति अन्याय करता रहा, उसके विधि-निषेध उनके मार्ग में अड़ते रहे और घृणा के ससार में वे पग-पग पर कुचले गए। पर जब वे जानते हैं कि समाज उन्हें अपने साँचे में डाल कर टाइप बनाना चाहता है, उन्हें समाज के मूल्य मान्य नही ; वे उस सांचे में न ढल कर शेप सबसे अलग व्यक्ति ही बने रहना चाहते हैं[८५]—व्यक्ति वे अंत तक बने भी रहते हैं—तो फिर उनकी व्यथा कैसी ? सच तो यह है कि अज्ञेय के पात्र अपने चेतन में समाज के प्रचलित मूल्यों को ठुकरा कर उसके विधि-निपेधों की अवमानना करके अपने अहं को पुष्ट करके अपने चेतन में भले ही तुष्ट हो लेते हो, उनके भीतर निरंतर एक उथल-पुथल मची रहती है जो उन्हें अव्यवस्थित किए रखती है और स्थिति से उनका मेल नहीं बैठने देती।

इसीलिए शेखर की एक 'अंतःकथा है, जिसे वह कह डालना चाहता है; एक

८३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १६३।

८४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३८७।

८५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ६६।

अन्तर्वेदना है, जिसे वह बहा देना चाहता है; एक अत ज्वाला है जिसे बह लुटा देना चाहता है।'[८६] उसे लगता है कि उसके मन के दोनों खण्ड घोर युद्ध कर रहे हैं, उसकी चेतना पर राजत्व पाने के लिए लड रहे हैं कभी किसी का प्रभाव बढ जाता है, कभी किसी का और इसके फलस्वरूप उसके कार्यो में एक प्रतिक्रिया, एक असम्बद्धता आ जाती है ।[८७] यही हालत शशि की है, शेखर उसके चेहरे पर पढ़ता है कि वह घोर यातना भुगत रही है।[८८] 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के भीतर भी एक घुनेड़न है, यद्यपि वह उसे नही समझ पाया, पर वह उसके कामो और विचारों को निर्दिष्ट करती है।[८९] रेखा के पास भी कितनी बड़ी 'टंकी बन्धे पानी की' जमा है।[९०] ये अहंवादी पात्र यदि समाज के प्रचलित मूल्यों की अवहेलना कर सके हैं तो चेतन स्तर पर ही। उनके अचेतन में उनकी यौन प्रवृत्ति तथा विवेक बुद्धि, में जो समाज के विधि-निषेधों की ही आवाज है, निरंतर एक संघर्ष चलता रहता है जो उनके भाव, विचार और व्यवहार को प्रभावित करके स्थिति से उनका संतुलन नहीं बैठने देता।

यौन-प्रवृत्ति पर विवेक-बुद्धि की विजय

शेखर के अचेतन में आरम्भ से ही उसको यौन प्रवृति और विवेक बुद्धि में घोर संघर्ष चलता रहा जो उसे निरंतर अव्यवस्थित किए रखता है। शेखर की मनोवैज्ञानिक समस्या यह है कि उसकी सैक्स भावना पर सदा ही उसकी विवेक-बुद्धि का कड़ा अकुश रहा है, जिसके फलस्वरूप जीवन के महान क्षणो में प्रेम को या किसी भी गहरे भाव-विलोड़न के क्षण में वह सहसा पाता है कि उसमें पूर्णता नहीं है, तन्मयता, चूड़ांत तद्गति नहीं है, है एक अद्भुत असंगत तटस्थता। संस्कार और शिक्षा उसके जीवन की एक गांठ बन गये हैं।[९१]

शेखर-सरस्वती-शारदा--उसे सबसे पहला प्यार मिला अपनी सगी बहन सरस्वती का, जो एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहिन' और 'बहिन' से 'सरस' हो गई।[९२] तब से शेखर के संसार में वह था और सरस्वती थी और कहीं कोई नहीं था।[९३] उसे लगता था कि जिस प्रकार 'जो वांछित है, प्रिय है और समझने और

---

८६. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० ३८।
८७. वही, पृ० ३१।
८८. वही, दूसरा भाग, पृ० १३७।
८९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४२।
९०. वही, पृ० १३६।
९१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० २२२।
९२. वही, पहला भाग, पृ० ।
९३. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७।

सहानुभूति करने वाला है, उसका पुंजीभूत रूप सरस्वती है।[९४] 'वह सोचने लगता कि सरस्वती उससे बड़ी न होकर एक-आध वर्ष छोटी होती—इतनी कि कहने को वह बड़ा होता।'[९५] विवाह के बाद सरस्वती का उसे छोड़ कर किसी और के साथ चले जाना शेखर के लिए असह्य था। उसने सरस्वती को एक दिन कहा भी था—'तुम यहीं क्यों नही किसी से शादी कर लेती।'[९६] बिदा का समय उसने मुँह फेर घुटते गले से निकाला था—'सरस'। लेकिन बहन के लिए 'सरस' तो अपने अंतरतम कह कर भी वह काँप उठता था। सरस्वती चली गई। शेखर के लिए अशांत चित्तता असह्य होने लगी उसे लगने लगा कि वह कुछ चाहता है, लेकिन क्या चाहता है, यह वह नहीं समझ पाया। 'अपने शरीर की माँग वह नहीं समझता, लेकिन उसे लगता, वह कुछ अनुचित है, कुछ निषिद्ध, कुछ पपमय।'[९७]यह आवाज़ उसकी विवेक-बुद्धि की—उस पर पड़े सामाजिक सस्कारों की—ही तो आवाज थी, जो बहन के प्रति उसके प्यार को असामाजिक रूप नही लेने देती थी।

आगे चलकर सरस्वती के प्रति उसका प्यार शारदा की ओर प्रवृत्त हो जाता है। शारदा से वह खूब घुल-मिल जाता है, पर 'कंटकमय पथ पर न जाने का उन दोनों का मूक समझौता रहता है।[९८] शारदा के साथ बिताए हुए महान क्षणो में भी उसके शरीर की तृप्ति नहीं हुई, उसमें संचित हो रही उत्तेजना बिखरी नहीं।'[९९] अन्त में उनके संस्कार उन दोनो के बीच में अड़ गए और शारदा ने यह कहते हुए प्रेम-कहानी समाप्त करदी—'जिन बातों का न हुआ होना ही अधिक उचित है, उन्हें याद करने में कुछ लाभ है, ऐसा मैं नही समझती।'[१००]

शेखर-शशि—फिर उसके जीवन में आई शशि। शशि शेखर की मौसेरी बहन है, यही शेखर की सबसे बड़ी समस्या है। ज्यों-ज्यों वे निकट से निकटतर होते गए शेखर को लगने लगा कि वह जितने स्वप्न देखता है, वे सब शशि में आकर घुल जाते हैं। उसकी समझ में नहीं आता कि शशि क्या है। वह उसे बहन कहता आया है, पर बहन जितनी पास होती है, उतनी पास शशि नहीं। इसलिए बहन जितनी दूर होती है—उतनी दूर भी वह नहीं।[१०१] पर शशि के आप्लावनकारी प्यार में वह सम्पूर्णतया 'निर्द्वन्द्व आमस्तक डूब नहीं सकता, क्योंकि न वह पशु है और न ही अनपढ़ गँवार।

---

९४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७।
९५. वही, पृ० १४८।
९६. वही, पृ० १५०।
९७. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १५५।
९८. वही, पृ० १७२।
९९. वही, पृ० १७२।
१००. वही, पृ० २४७।
१०१. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १६४-६५।

वह शिक्षित सभ्य और संस्कृत है[१०२]—शशि से 'वह कुछ माग नहीं सकता, क्योंकि दोनो की धमनी एक है—चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान की।'[१०३] शशि की कठिनाई दोहरी है। एक तो शेखर उसका मौसेरा भाई है और दूसरे वह किसी और की विवाहिता है। अपनी स्थिति स्पष्ट करती हुई वह शेखर से कहती है—"मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का इहका संकल्प कर दिया है—ाहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ।······पर तुम में मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ जो मेरा मैं है। और वह मूर्त नहीं है, इसलिए कम सच नही है, कम जीता नही है। शेखर तुम मुझे बहिन माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मै—अब कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ। ······और अमूर्त होकर मैं······तुम्हारा अपना आप हूँ, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।"[१०४] पर उस रोज जब शेखर दादा के साथ पिस्तौल टैस्ट करने गया था और साँझ को देर तक नहीं लौटा था और वह उसकी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी यह सोच कर घबरा उठी थी कि अब शेखर को पुन. नहीं देख सकेगी, घबराहट में उसे दिव्य दृष्टी मिली थी। उसने बहुत कुछ देखा, जो पहले नही देखा था। इतना स्पष्ट नहीं।[१०५] इस दिव्य दृष्टि ने ही शायद शशि को अपनी विवेक-बुद्धि से ऊपर उठाकर 'इन्सैस्ट बैरियर' को तोड़ने में समर्थ बना दिया हो। इस अनुभूति के बाद शशि यदि कुछ देर जीवित रहती तो शायद शेखर के प्रति उसका प्यार असामाजिक रूप धारणकर लेता। पर लेखक ने यह स्थिति बचा ली।

'इन्सैस्ट' प्रेम की भावना से शेखर और शशि की वासना तो दमित होकर उनके अचेतन में चली जाती है और उनके चेतन में उनका संयोग ही रह जाता है। इस प्रकार, उनके सम्बन्धों की पवित्रता तो बनी रहती है, पर उनकी दमित वासना उनके अचेतन में उनकी 'कान्शैन्स' से द्वन्द्वरत रहकर उन्हें बेचैन किए रखती है।[१०६]

---

१०२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ २२२-२३।

१०३. वही, पृष्ठ २२०।

१०४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १६६ :

१०५. वही, पृष्ठ २३६।

१०६. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', Vol. 1, rans. T. F. Lindsay, 1941, p. 134 :

"An incestuous love strikes repression, the emotional and the sensual components are seperated, and the only emotional component persists in consciousness, owing to its apparent desexualization. The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re-established."

भुवन-रेखा

'नदी के द्वीप' के भुवन और रेखा के भी अचेतन में उनकी यौन-प्रवृत्ति और 'कान्शैन्स' में एक भीषण संग्राम छिड़ा रहता है। अन्तर केवल इतना है कि 'शेखर : एक जीवनी' के प्रधान पात्रों के अचेतन में पहले 'कान्शैन्स' की यौन प्रवृत्ति पर विजय होती रहती है और बाद में यौन-प्रवृति की जीत ध्वनित होती है, पर 'नदी के द्वीप' में पहले यौन-प्रवृत्ति जीतती रहती है और बाद में 'कान्शैन्स'। नौकुछिया ताल के एकांत प्रवेश में भुवन के भीतर यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। रेखा के समर्पण को वह स्वीकार नही कर पाता। पर क्या वह रेखा को चाहता है ? प्यार करता है ? नकारात्मक उत्तर उसमें भीतर से नहीं आता। लेकिन क्यों नही सहज स्वीकारी उत्तर आता, क्यों यह स्तब्धता है। भुवन को ऐसा लगता है कि उसके भीतर और गहरे किसी एक स्तर पर एक संघर्ष है, पर किस स्तर पर, वह यह नही जान पाता और उसे कुरेद कर ऊपर भी नहीं ला पाता। यहाँ उसकी 'कान्शैन्स' की विजय होती है और समर्पण होता-होता बीच में रुक जाता है।

पर काश्मीर की ऊँचाइयों पर उसकी यौन प्रवृत्ति जोर मार कर विजय पा गई। रेखा का हेमेन्द्र रूपी शाप छूट गया, उसने भुवन को पुरुष करके जान लिया और वह 'फुलफिल्ड' हो गई। पर इसके फलस्वरूप जिस 'सर्जन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था—वह इन दोनों को वासना के वायुयान जीवन की यथार्थ भूमि पर ला पटकता है। 'सर्जन वायलिनिस्ट' के हित-चिन्तन में भुवन का रेखा, से विवाह-प्रस्ताव और बाद में उसका रेखा को आश्वासन देना—"रेखा जो हुआ है, मुझे उसका दुःख नहीं है।—वह जो आएगा—आएगा या आएगी, वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वांछित है—उससे मैं लजाऊँगा नहीं, वह तुम मुझे दोगी। भूलना मत, तुम्हें और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ।"[१०७] उसकी 'कान्शैन्स' उसके सामाजिक संस्कारो की ही विजय की द्योतक है। रेखा उसके विवाह प्रस्ताव पर कहती तो यही है कि "भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नहीं है, पर निर्णायक भी नही है। व्यक्ति को दबा कर इस मामले का जो निर्णय होगा—गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा।" पर स्वयं ही वह व्यक्ति को दबा कर, अपनी और भुवन की इच्छा के विरुद्ध जाकर सामाजिक दृष्टि को अपनाती हुई—भुवन का हित सोचते हुए ही सही—उस 'सर्जन वायलिनिस्ट' को समाप्त कर देती है। इस प्रकार, उसके अचेतन पर गहरे जमे सामाजिक संस्कारों की, उसकी कान्शैन्स की, जीत होती है।

'सर्जन वायलिनिस्ट' समाप्त होता-होता भी भुवन के अचेतन में एक गांठ डाल जाता है। उसे ऐसा लगता है कि उसने ही उसके प्रति अत्यधिक चिंता प्रकट करके रेखा को उसे समाप्त करने के लिए प्रेरित किया है। उसे आग में चेहरे दीखने

---

१०७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २८६।

लगते है--मृत चेहरे, बच्चो के चेहरे ।[१०८] गौरा के सम्मुख अपना अपराध स्वीकार करते समय उसकी वाणी में, उसके अचेतन में व्याप्त घोर व्यथा, उमड़ आई थी-उस समय गौरा के रौंगटे खड़े हो गये थे, उसे ऐसा लगा था कि 'वह आवाज मानो वातावरण में भटकती हुई कोई प्रेतव्यथा वहाँ पुंजीभूत होकर स्वरित हो रही हो।'[१०९] इस स्वीकारोक्ति के बाद भुवन को ऐसा लगा कि जो बोझ उस पर था—'सागर का बूढ़ा जो उसके कंधों पर सवार था, 'वह उतर गया,'[११०] और उसके बाद वह निश्चित रूप से गौरा की ओर प्रवृत्त हो गया।

इस प्रकार देखते हैं, अज्ञेय के पात्रों में बाह्य संघर्ष न सही, उनके अचेतन में उनकी यौन प्रवृत्ति तथा विवेक-बुद्धि में इतना भीषण संग्राम मचा रहता है कि वे बेचारे कस्तूरी मृग की तरह जीवन भर भटकते फिरते है। उनके अतल अचेतन में सक्रिय सघर्ष को पकड़ने के लिए तथा उनकी व्यथा को उघाड़ने के लिए लेखक मनो-विश्लेषण का सहारा लेता है।

मनोविश्लेषण

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' हैं तो दोनों व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास, पर चरित्र-सम्बन्धी समस्या दोनों की अलग-अलग है। 'शेखर : एक जीवनी' का लक्ष्य है विकासोन्मुख चरित्र के क्रमिक-विकास का चित्रण, पर 'नदी के द्वीप' की समस्या चरित्र का क्रमिक-विकास नहीं, विकसित चरित्र का उद्घाटन है। इसलिए दोनों की चरित्रचित्रण की टेकनिक में भी बहुत अन्तर आ गया है।

'शेखर : एक जीवनी' की टेकनिक

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की एक रात में देखे हुए 'विजॉन' को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है। फाँसी की कोठरी में बैठा घोर क्रान्तिकारी शेखर यह जानने के लिए अधीर हो उठा है कि वह जो कुछ है, जैसा है, वैसा वह क्यों और कैसे हुआ। जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच कर वह प्रत्यवलोकन करने बैठता है और एक-एक करके जीवन की घटनाएँ उसके स्मृतिपट पर उभरने लग जाती हैं। पहले तो वह 'सब्जैक्टिव्ली' अपने जीवन को दुबारा जीने लग जाता है, पर ज्यों-ज्यों उसकी स्मृतियों में एक क्रम आने लगता है वह तटस्थ द्रष्टा के रूप में 'ऑब्जैक्टिव्ली' स्थिति का निर्मम विश्लेषण करने लगता है। इस प्रकार सहस्मृतियों के आधार पर आत्म-विश्लेषण द्वारा चरित्र का क्रमिक-विकास दिखाना 'शेखर : एक जीवनी' की मुख्य टेकनिक बन गई है।

---

१०८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३८५।
१०९. वही, पृ० ३८६।
११०. वही, पृष्ठ ३९१।

अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा चरित्रोद्घाटन

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के वर्तमान की व्याख्या उसके अतीत के विश्लेषण द्वारा की गई है।[१११] और यह विश्लेषण उसके बाल्यकाल की छोटी-छोटी घटनाओं की जाँच से आरम्भ होता है। फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि अनुभूतियाँ, विशेषतः वे जिनका सम्बन्ध मनुष्य के प्रौढ़ जीवन की असंगतियों, विकृतियों और असाधारणताओं से होता है, उनका मूल उसके बाल्यकाल के संघर्ष और दुःखद अनुभूतियो में होता है जो सुलझे बिना दमित हो कर उसके अचेतन में द्वन्द मचाए रखती है और उसके आचार, विचार और व्यवहार को प्रभावित करके स्थिति से उसका मेल नहीं बैठने देतीं।[११२] एडलर का तो यहाँ तक कहना है कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे का जीवन के प्रति एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, वह आसानी से नहीं बदलता और मनुष्य की वर्तमान और अतीत दोनों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों का मूल बाल्यावस्था में अपनाये जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण से उत्पन्न असंगतियों में होता है।[११३] इसलिए बाल्यकाल की घटनाओं और उनके प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को खोजने के लिए उस काल के सम्बन्ध में उसकी स्मृतियों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।[११४]

प्रत्यवलोकन-प्रणाली

बाल्यकाल की स्मृमियाँ—मनुष्य के अचेतन को समझने के सफल साधनों में है, उसकी स्मृतियों का विश्लेषण। ये स्मृतियाँ आकस्मिक रूप से प्रकट नहीं

---

१११. Dalbioz, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', p. 41.

११२. Freud, 'New Introductory Lectures on Psycho-analysis', W. W. Norton & Company, New York, 1933, p. 291 :

"The first years of infancy (upto about the age of five) are for a number of reasons, of special importance, because the impressions of this period come up against an unformed and weak ego, upon which they act like traumas. The ego cannot defend itself against the emotional storms which they call forth, except by repression, and in this way it acquires in childhood all its predispositions to subsequent illnesses and disturbances of functions."

११३. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Adler', p. 387 :

"Both the present and the past difficulties have their common origin in the early established neurotic disposition, which is based on an early mistake is judgement."

११४. Adler, 'The Science of Living', Greenburg, Publisher Inc., New York, 1929, p 118 :

"...the style of life of a person does not really change. In the style of life, formed at the age of four or five, we find the connection between the remembrances of the past and actions of the present."

हो जाया करतीं,[११५] उनके पीछे इच्छाशक्ति की प्रेरणा रहती है।[११६] जो स्मृतियाँ अचानक उभर आई प्रतीत होती हैं, वे भी किसी समय की हमारी इच्छा के परिणामस्वरूप ही बाद में प्रकट हुई होती हैं। वास्तव में, स्मृतियो की तीव्रता और स्पष्टता उन्हें प्रेरित करने वाली इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करती है।[११७]

"**विजॉन**" इसलिए, बाल्यकाल की जो स्मृतियाँ शेखर घनीभूत वेदना की उस रात में देख सका, वे उससे पहले नही देखी जा सकती थी। जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर उसके श्वास-प्रश्वास से यह आवाज निकलने लगी कि उसकी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी। उसके सामने यह प्रश्न आया कि उसके जीवन की क्या सिद्धि थी। घनीभूत वेदना में उठे इस प्रश्न के साथ ही उसमें बलवती इच्छा उत्पन्न हुई अपने गत जीवन के प्रत्यवलोकन की। प्रत्यवलोकन की उस प्रबल इच्छा-शक्ति से प्रेरित होकर उसके जीवन की घटनाएँ एक-एक करके उसके स्मृति-पट पर उभरने लगी।

अर्ध-समृतियों के आधार पर कार्य-कारण के सूत्रों की खोज

बाल्यकाल की घटनाओं की जाँच शेखर का साध्य नही। उसका साध्य तो है इस जाँच द्वारा जीवन में कार्य-कारण के सूत्रों को खोज कर यह जानना कि उसके जीवन की सिद्धि क्या थी। पर जिन घटनाओं को वह अपनी खोज का आधार बनाता है उन सबकी पूरी-पूरी याद भी तो उसे नहीं। किसी घटना की उसे पूरी स्मृति है तो यह याद नहीं कर पाता कि उस समय उसकी मनोस्थिति क्या थी, उस घटना के प्रति उसके भाव क्या थे। और कई बार उसकी स्मृति में किसी घटना के प्रति उसके भाव ही आ पाते हैं और मूल घटना भरसक चेष्टा करने पर भी उसकी स्मृति में हू-बहू नहीं आ पाती। कई बार तो उसे ऐसा सन्देह भी होने लगता है

---

११५. Adler, 'What Life Should Mean to You', Little Brown Company, Boston, 1931, p. 73 :

"There are no chance memories : out of the incalculable number of impressions which met an individual, he chooses to remember only those which he feels, however darkly, to have a bearing on his situation."

११६. McDougall, 'An Outline of Psychol ogy', Methuen & Co., London, 1943, p. 310 :

"The strength of our conation, our interest during any experience, is main condition of our remembering."

११७. McDouggall, An Outline of Psychology', p. 310 :

"We remember and recollect effectively in proportion as we have strong motives for doing so."

Ibid., p. 311 :

"Our desire or purpose to recollect is the determining factor of our subsequent recollections."

कि 'जो घटनाएँ उसकी स्मृति में पूरी की पूरी आ गई हैं, उनका मूल रूप यही रहा होगा या कि उसकी मन.स्थिति द्वारा विकृत होकर आई है, या कही यह बात तो नहीं कि वे कोरी कल्पित हों। अतिम दिनों में अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय, उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ वह अपने उद्योग की सफलता के मोह में पड़कर केवल अंकन की निर्ममता से डिगकर सृजन की आसक्ति में पड़ गया हो।'[११८] और वह स्मृति घटना के सत्य से दूर जा खड़ी हो।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शेखर की स्मृतियों में उसके जीवन की मूल घटनाओं का सत्य निहित नही; है भी तो पूरा नही अधूरा है। शेखर स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करता है : उन्हे "स्मृतियाँ कहना 'स्मृति' के अर्थ को कुछ खीचना ही हैं। क्योंकि ये सब मुझे ठीक इस रूप में याद नहीं हैं, वल्कि उनके तथ्य याद ही नही हैं—मुझे याद आते हैं केवल वे भाव जो मैने अनुभव किये हैं, वह विशेष मन:-स्थिति जिसे लेकर मैं किसी दृश्य में कभी भागी हुआ था। और ये जो चित्र मैं खींचता हूँ, ये उन्हीं मन:स्थितियों को लेकर उन पर निर्मित हुए छायापट मात्र हैं। यदि ये स्मृतियाँ हैं तो मन की स्वतन्त्र स्मृतियाँ है, वैसी स्मृतियाँ नहीं, जिनकी मूल छाप बिठाने के लिए आँखें साधन हुआ करती हैं।"[११९] तो क्या अपनी टूटी-फूटी अर्ध स्मृतियों के आधार पर चल रही शेखर द्वारा कार्य-कारण के सूत्रों की खोज में कोई सार्थकता हो सकती है ? क्या इस प्रकार पकड़ में लाए गए कार्य-कारण के सूत्र विश्वसनोय माने जा सकते है ?

जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण तथा उसके जीवन-दर्शन को जानने के लिए उसके अतीत की, विशेषत: बाल्यकाल की, स्मृतियों का विश्लेषण डा० ऐडलर के 'व्यक्ति मनोविज्ञान' (इडिविजुअल साइकॉलाजी) की एक महत्वपूर्ण खोज है।[१२०] डा० एडलर का विश्वास है कि मनुष्य की स्मृतियां जीवन के प्रति बन चुके उसके दृष्टिकोण के प्रतिकूल नही जा सकती। जीवन में असंख्य दु:खद-सुखद घटनाएँ घटित होती रहती हैं और उन सबके संस्कार मनुष्य के अचेतन पर पड़ते रहते हैं; पर जब चाहे कोई घटना आकस्मिक ढग से स्मृति पट पर उभर आए, ऐसा नही होता। मनुष्य के अचेतन में पड़े हुए घटनाओं के केवल वही सस्कार उभर कर उसके चेतन में आ पाते हैं, जो मनुष्य के जीवन-दर्शन के अनुकूल हो।[१२१] उसका

---

११८. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १८३।

११९. अज्ञेय, शेखरः एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १८३।

१२०. Adler, 'Significance of Early Recollections', Inter, Journal, Indiv.Psychol., 3, p. 283 :

"The discovery of the significance of early recollections is one of the most important findings of Individual Psychology."

१२१. Adler, 'What Life Should Mean to You', p, 73-74 :

"Memories never run counter to the style of Life."

विश्वास है कि बाल्यकाल के चौथे या पाँचवें वर्ष में ही मनुष्य का जीवन के प्रति जो एक दृष्टिकोण बन जाता है, उसका मनुष्य की अतीत की स्मृतियो और वर्तमान की क्रिया-प्रतिक्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मनुष्य के चेतन में आई हुई ये स्मृतियाँ यदि ठीक-ठीक समझी जा सकें तो उनसे मनुष्य के अचेतन की गहराइयों में छिपे उसके संघर्ष की झाँकी मिल सकती है।[१२२]

कल्पित स्मृतियाँ भी उपेक्षनीय नहीं

'व्यक्ति-मनोविज्ञान' वाले इस तथ्य से अनभिज्ञ नही कि बाल्यकाल की घटनाओं की स्मृतियों में मूल घटना का सत्य नहीं आ पाता। वे यह भी जानते है कि बहुत सी स्मृतियाँ परिवर्तित और विकृट रूप में प्रकट होती हैं। और कई तो कल्पित होती हैं, पर उनका विश्वास है कि इससे उन स्मृतियों का महत्व कम नहीं होता, उल्टे और बढ़ जाता है। स्मृतियों में आए घटनाओं के कल्पित तथा परिवर्तित अंशों में व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य निहित रहता है।[१२३] इसलिए, इन अंशों के उचित विश्लेषण द्वारा व्यक्ति के अचेतन जीवन-दर्शन को समझा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक तब भी निराश न होगा यदि कोई यहाँ तक कह दे कि "मुझे किसी घटना की याद नहीं आ रही; पर हाँ, मैं स्मृति में घटना को रच सकता हूँ"— क्योंकि वह जानता है कि मनुष्य की कल्पना वैसी घटना की रचना कर ही नही सकती जो उसके जीवन-दर्शन द्वारा अनुशासित न हो।[१२४] कल्पित स्मृतियों के बारे में, एडलर ने एक ऐसे पात्र का उल्लेख किया है जिसने उसे यहाँ तक कहा था "तुम मुझ पर विश्वास नहीं करोगे, पर मुझे अपने जन्म की सारी घटना अच्छी तरह याद है, जब मेरी माँ मुझे अपनी गोद में लिये हुए थी।"[१२५] शेखर को भी तो अपने जन्म की घटना याद है, यद्यपि उस द्वारा वर्णित अपने जन्म के समय की बातें असंख्य विभिन्न मौकों पर विभिन्न असम्बद्ध वाक्यों को सुनकर, टूटी-फूट मुद्राओं को लेकर, टूटे-फूटे अव्यक्त विचारों को किसी गूढ़ अंत:शक्ति से भाँप कर, एकत्रित किये हुए मनश्चित्रों का पुँज है।[१२६]

---

१२२. Adler, 'Significance of Early Recollections', p. 283 :
"Rightly understood, these conscious memories give us glimpses of depths just as profound as those which are more or less suddenly recalled during treatment."

१२३. Ibid., p. 283-84 :
"What is altered or imagined is also expressive of the patient's goal."

१२४. Adler, 'Science of Living', p. 156-57 :
"The Psychologist knows that the person's imagination cannot create anything but that which his style of life commands."

१२५ Adler, 'Significance of Early Recollections', p. 283-84.

१२६. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ४९।

पहली-पहली स्मृतियों का महत्त्व

स्मृतियों के विषलेपण द्वारा चरित्रोद्घाटन की प्रणाली में सबसे प्रमुख बात यह है कि व्यक्ति अपनी कहानी का आरम्भ कैसे और कहाँ से करता है; उसकी पहली स्मृति कौनसी है और उस स्मृति में आए व्यक्ति को वह किस रूप में याद करता है। इन स्मृतियो की उचित व्याख्या द्वारा उसके आधारभूत जीवन-दर्शन को पकड़ा जा सकता है।[१२७] शेखर के स्मृति-पट पर सबसे पहले उभरती है उसकी मौसेरी बहन शशि। इससे समझा जा सकता है कि शेखर को उसकी वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में शशि का विशेष हाथ रहा होगा। जिस रूप में शेखर उसका स्मरण करता है, उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है : "तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज़ होता रहा है—जिस पर मँज-मँज कर मैं कुछ बना हूँ, जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं।" यहां यह बात उल्लेखनीय है कि शेखर को यदि शशि की याद सबसे पहले आई तो इसलिए नहीं कि वह शेखर के जीवन में सबसे पहले आई थी या वह सबसे ताजी स्मृति थी। शेखर स्वय स्वीकार करता है कि सबसे पहले शशि उसके स्मृतिपट पर इसलिए उभर आई कि शेखर का होना अनिवार्य रूप से शशि के होने को लेकर है।[१२८] इससे इन दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है कि शशि का होना शेखर के लिए है, न कि शेखर का होना शशि के लिए। इस प्रकार, शेखर के स्मृति-पट पर सबसे पहले जो व्यक्ति उभरता है, वह वही है जिसके द्वारा उसके अहं को तोष मिलता रहा है।

शेखर की दूसरी स्मृति है अपनी माँ के बारे में, जिसने उसके प्रति अविश्वास प्रकट करके उसके अहं को एक गहरी चोट पहुँचाई थी। अपनी मा के शब्दों—'सच पूछो तो मै इसका भी विश्वास नहीं करती'—से उसके तन-मन में आग लग उठी थी। उसका उफान उसकी डायरी में इन शब्दों में उतरा था—"अच्छा होता कि मैं कुत्ता होता, दुर्गन्धमय कीड़ा-कृमि होता—बनिसबत इसके कि मैं वैसा आदमी होता, जिसका विश्वास नही है"[१२९] और उसने लिखकर प्रतिज्ञा की थी कि वह मां को नहीं मानेगा। इसके साथ ही उसे एक और घटना की याद आती है, जिसमें उसकी मां ने उसके अहं को ललकारा था। वह बैंक से चैक भुना कर लाया था और मा के बढ़ाए हुए हाथ को देखकर उसने कहा था—"मां आंचल में ले लो—बहुत हैं।" उसकी माँ ने धीरे-धीरे आँचल तो फैलाया था, पर साथ ही हँसते हुए यह भी कह दिया था : "आचल तो तब फैलाऊँगी, जब तुम कुछ कमा कर लाओगे; इसके लिए क्या ?"[१३०] तभी शेखर ने एक विचित्र दृष्टि से माँ की ओर देखकर उसके फैले

१२७. Adlor, 'What Lifo Should Mean to You', p. 75.
१२८. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १६।
१२९. वही, पृष्ठ ३६।
१३०. वही, पृष्ठ २६।

हुए आँचल की उपेक्षा करते हुए एक तिपाई खींचकर उस पर रुपये रख दिये थे।

शेखर की स्मृति में फिर उभरती है—शीला। शीला का वह इस प्रकार स्मरण करता है "वह मेरी शिष्या थी, पर मैं उसका गुरु न था···उसके लिए मैं था एक बड़ा-सा भाई, किन्तु ऐसा भाई जिससे प्रेम किया जा सके, जिसके आधार पर स्वप्न बुने जा सकें और जो उपेक्षा से उन्हे तोड़ दे"[131] यहाँ भी शीला को शेखर की अपेक्षा है, न कि शेखर को शीला की। इसलिए पढ़ाते-पढाते एक दिन ऐसा आया कि वह उसे पढाने नही गया। दो दिन नही, तीन दिन नही और चौथे दिन उसने शीला के पिता को पत्र लिख दिया कि वह उसे नही पढ़ा सकेगा।

उसके बाद, एक के बाद दूसरे दो दृश्य उभरते है। एक है—बम विस्फोट से मरे एक क्रातिकारी के शव का जिसके दोनो ओर दानवी भूख से लाचार स्त्री और पुरुप के दो आकार उसकी नितांत अवहेलना कर, शव के आर-पार आलिगनबद्ध हो जाते है।[132] दूसरा दृश्य है आजीवन घर न लौटने का निश्चिय करके शेखर का घर से निकलने का जबकि घर से दूर एक जल-प्रपात के पास ध्यान मग्न हो वह सोचने लगता है कि "जीवन ऐसा होना चाहिए, शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरन्तर सचेष्ट और प्रगतिशील, घरबार के बन्धनों से मुक्त और सदा विद्रोही।"[133]

पहली असम्बद्ध स्मृतियों की व्याख्या

प्रत्यवलोकन की प्रबल चेष्टा से प्रेरित उपर्युक्त परस्पर असम्बद्ध घटनाओं की स्मति के रूप में शेखर की कहानी आरम्भ होती है। अभी वह कहानी का सिरा नहीं पकड़ पाया है। पर शेखर की इन आरम्भिक और असम्बद्ध स्मृतियों और उन पर उसकी टीका-टिप्पणियों से जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसको जाने बिना 'शेखर : एक जीवनी' को समझ सकना बहुत कठिन है। शेखर घोर अहंवादी है। वह किसी स्थिति में रह सकता है तो उसका स्वामी बन कर, किसी व्यक्ति से सम्पर्क रख सकता है तो उससे बड़ा बन कर, नहीं तो वह स्थिति और व्यक्ति दोनों से भागेगा। उसे ऐसी प्रत्येक स्थिति और व्यक्ति से घृणा है जो उसके अहं की पुष्टि नहीं करता—वह स्थिति चाहे उसके लिए उपादेय हो और वह व्यक्ति चाहे उसको जन्म देने वाली मां ही हो।

शेखर का होना अनिवार्य रूप से शशि के होने को लेकर इसलिए ही होता है कि शशि का होना शेखर के अहं की पुष्टि को लेकर है। शेखर के बनने में ही वह टूट गई थी।[134] शीला को भी शेखर की ही उपेक्षा रही, न कि शेखर को शीला

१३१. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ३२।
१३२. वही, पृष्ठ ३५।
१३३. वही, पृष्ठ ४२।
१३४. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १६।

की। जब शेखर को यह महसूस होने लगा कि अब शायद उसे भी शीला की अपेक्षा होने लगे, वह झूठ बोलकर शीला से पीछा छुड़ा, भाग खड़ा होता है; और अंतिम समय स्वीकार भी करता है कि झूठ बोलकर उसने अपने को शीला से नहीं, अपने आप से छुपाया था।[१३५] अपनी मां से उसे इसलिए घृणा है कि वह सदा उसके अहं को ललकारती रहती है, उसे ठेस पहुँचाती रहती है। अंतिम दिनों में भी जब कभी उसे यह विचार आता है कि उसके फांसी की कोठरी में होने के कारणों में उसकी माँ के उसके प्रति अविश्वास की प्रतिक्रिया भी हो सकती है, तो भी इस विराट परिवर्तन के लिए, इस इतने गहरे प्रभाव के लिए, माँ को श्रेय देने की उसकी इच्छा नहीं होती।[१३६] माँ के प्रति बाल्यकाल में शेखर का जो दृष्टिकोण बन गया है, उसमें परिवर्तन ला सकने में वह असमर्थ है। वह स्वयं भी तो कहता है—इस न मरने वाली दरार का कारण वह एक कल्पित चित्र ही है, जो मेरे मन ने उस रसोई घर की दीवार को भेद कर देखा था, उस समय जबकि मां कह रही थी—'मैं तो इसका भी विश्वास नही करती।'[१३७] जब तक शेखर के अचेतन से वह चित्र नही मिटता, माँ के प्रति उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन कैसे हो ?[१३८]

सबसे पुरानी स्मृतियाँ

स्मृतियो के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि व्यक्ति की बाल्यकाल की सबसे पुरानी स्मृति कौन-सी है। इससे जीवन के प्रति उसके मूलभूत दृष्टिकोण का पता चलता है। पुरानी स्मृति की उपयोगिता इसमें भी है कि इससे एकदम यह भी पता लग जाता है कि कोई व्यक्ति अपने विकास का आरम्भ कहाँ से मानता है।[१३९] शेखर को भी अपने जीवन की सबसे पहली दो-एक घटनाएँ ठीक तौर पर अपनी अनुभूति सी याद है। वे घटनाएँ जिन तीनों पहली प्रेरणाओं का चित्रण करती हैं, वे हैं—अहंभाव, भय और सैक्स।[१४०] इन स्मृतियों में कौन पहले की है और कौन बाद की, यह बता सकना शेखर के लिए कठिन है; क्योंकि वे लगभग एक ही काल की हैं।[१४१]

१३५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ३४।
१३६. वही, पृष्ठ २७।
१३७. वही, पृष्ठ ३१।
१३८. Adler, 'Die Technic der Individual Psychologie', Tl. 2, 1930, Chap. 1. ('A School Girl's Exaggeration of her own importance', Int. J. Indiv. Psychol., 3). p. 6 :

> "The style of Life, which is formed in the preschool period, does not change except by the individual's own recognition of his faults and errors."

१३९. Adler, 'What Life Should Mean to You', p. 75 :
१४० अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ४९।
१४१. वही, पृष्ठ ५०।

अहंभाव—पहली स्मृति में वह तीन वर्ष का है, पर उसका विजयी दर्प ऐसा है, जैसा निपोलियन लाख वर्ष तक विजयी रह कर भी नही प्राप्त कर सकता। उसका भाई बीमार है और उसे डाक्टर को बुलाने को कहा गया है। शेखर घर से चला तो आया है, पर उसकी उत्तरदायित्व भावना यही तक है कि उसे कोई महत्त्व का काम दिया जाय। उसे करने के विषय में अपने को बाध्य नही समझता। सड़क के किनारे पर के लैटरबक्स ने उसका ध्यान खींच लिया है और वह उस पर चढ़ कर उसे घोड़ा समझ कर अपने पिता की नकल करता हुआ, उसकी 'गरदन' थपथपा रहा है। उधर से आने-जाने वाले राहियो को मुँह चिढ़ाता है। "वह संसार से एक लैटरबक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है। अपने इस आसन से वह सारा ससार देखता है। उसकी क्षुद्रता पर हँसता है।" तभी डाकिया आकर उसे जवर्दस्ती उतार देता है पर शेखर अपना बदला ले लेता है—उतरते समय डाकिए की उँगलियों पर गिर कर उन्हे कुचल देता है और भाग निकलता है तथा इस प्रकार अपने को विश्वास दिला लेता है कि वह विजयी है। घर पहुँच कर सहसा पिता की हथेली का आघात ही याद दिलाता है कि वह पराधीन शिशु है, जिसे डाक्टर को बुलाने भेजा गया था और जो उसे बिना बुलाए, एक घटा लगाकर लौट आया है।[१४२]

भय-प्रवृत्ति—दूसरी स्मृति उस समय की है जबकि वह अकेला अजायबघर में घूम रहा था था—उस कमरे में जहाँ हिंस्र पशु दिखाये गये है। एकाएक एक भीमकाय बाघ को देखकर, जो एक पंजा झपटने को उठा रहा है, वह चीख मारकर वहाँ से भाग निकला है। वह बाघ एक चर्म के अन्दर भरा हुआ फूँस है, पर शेखर वहाँ अकेला है, कोई भी उसे बताकर उसका डर दूर करने वाला नहीं। वह डर उस समय तो दब गया पर उसके मन में घर कर गया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। उसका वह डर अपने आप ही मिटा। एक बार वैसा ही बाघ उसके घर लाकर रखा गया। बहुत मुश्किल से वह अपने भाइयों की देखा-देखी उसके पास भी गया, उसकी पीठ पर भी बैठा और उसे निर्जीव पाकर साहस करके उसके मुँह में हाथ डालकर भी देखा। तब डर एकाएक टूट गया। उसने चाकू लेकर उस खाल को फाड़ डाला और घास-फूँस को बिखेर कर हँसने लगा जिसके लिए उसे दण्ड भी मिला। उस पर इसका एक गहरा प्रभाव पड़ा। उसने समझ लिया कि भय डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ हैं—केवल घास-फूँस भरा एक चाम, जिससे डरना मूर्खता है।[१४३]

सैक्स-प्रवृत्ति—तीसरी स्मृति बड़ी भद्दी और वीभत्स है। उसका ठीक-ठीक रूप और मूल कारण उसे याद नहीं। शिशु शेखर कोई दृश्य देख रहा है—याद नहीं

१४२. वही, पृष्ठ ५०-५१।

१४३ अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ५२-५३।

कि क्या; किन्तु इतना याद है कि उसमें कुछ अनुचित, कुछ वर्जित, कुछ घृणास्पद, कुछ जुगुप्साजनक है ; और इसी के अनुकूल भावना उसे देखकर उसके मन में आ रही है। वह दृश्य अवर्ण्य है।[१४४]

पुरानी स्मृतियों में मूल जीवन-दर्शन का स्वरूप

शेखर की इन सबसे पुरानी स्मृतियों में एकसूत्रता है। वे तीनों मिलकर किसी बात को दिखाती हैं और वह है—जीवन के प्रति बन रहा उसका दृष्टिकोण। वह अपने को ससार के समकक्ष नही, सदा उससे ऊँचा समझता रहेगा और उसकी क्षुद्रता पर हँसता रहेगा। उसका वह उच्चासन चाहे 'लेटर-बक्स' पर घोडे की पीठ के आरोप से बनाया गया हो और एक दम कल्पित हो—उसकी ऊँचाई लेटरबक्स की ऊँचाई भर हो। अपने को इस स्थिति में मान लेने से उसे चाहे और कोई लाभ न हो, उसके अहं को तोष मिलता रहेगा। दूसरी घटना उसकी निडरता की ओर सकेत करती है कि वह जब भी कभी कोई भयानक वस्तु देखेगा, उससे डरेगा नही, उसका बाह्य चाम काट डालेगा, उसके भीतर भरी हुई घास-फूँस निकाल कर बिखरा देगा और खूब हँसेगा।[१४५] तीसरी घटना यह बताती है कि वह वासना से उत्पन्न पाप-कर्म के किनारे तक पहुँच कर लौट आएगा, किसी बाह्य रुकावट, डर या आसामर्थ्य के कारण नहीं, बल्कि एक आन्तरिक, स्वतः उत्पन्न ग्लानि से भर कर।

शेखर द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण समाज-सम्मत नही, उसके विधि-निषेधों के विपरीत है, पर इससे उसे खेद नही, प्रसन्नता ही होती है। क्योंकि उसका विश्वास है कि 'जो नियमो से नही चलते, किन्तु नियमों की मूल प्रेरणा को समझकर अपना नियम स्वय बनाते है, जीवन तो उन्ही का है'।[१४६] शेखर के जीवन-व्यापी विद्रोह का प्रेरक भाव भी तो यही है कि वह दूसरो के बनाए हुए नियमों से नही चलेगा, उनकी मूल प्रेरणा को समझकर अपना नियम स्वय बनाएगा।

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण

अतीत के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या करने के लिए व्यक्ति के प्रकट प्रतिन्यासों के कारणों को उसके बाल्यकाल के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में खोजना होता है और उसके लिए आवश्यकता पड़ती है अतीत की घटनाओं की, जिनकी आवृत्ति स्मृति में ही की जा सकती है। पर पुरानी स्मृतियों द्वारा अभिव्यक्त दृष्टिकोण को वर्तमान प्रतिन्यास का कारण मान बैठना भ्रामक होगा। ये स्मृतियाँ तो संकेत-मात्र होती हैं और यह बताती हैं कि उस व्यक्ति का रुझान जीवन के किसी

१४४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० ५२-५३।

१४५. वही, पृष्ठ ५२।

१४६. वही, पृष्ठ ५३।

विशेष पक्ष की ओर उत्तरोत्तर कैसे बढ़ता गया है। पर यदि व्याख्याकार इस विषय में विशेषज्ञ हों तो वह स्मृतियो द्वारा दिए गए सकेतों का अर्थ समझ सकता है।[१४७] शेखर का इस विषय में काफी अभ्यास दिखाई देता है—लेखक के दस वर्ष के परिश्रम का फल शेखर को मिल गया प्रतीत होता है।[१४८] अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा वह अपनी वर्तमान स्थिति के कारणो को अतीत की घटनाओ में ही ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है।

अहं की पुष्टि

शेखर को फाँसी मिलने वाली है, इसकी उसे चिता नहीं; बल्कि वह प्रसन्न है कि वह एक भीमकाय डर—शासन के डर का—भीतरी खोखलापन दिखा सकने में सफल हुआ है। वह हँसता है कि उसने संसार के सबसे बड़े डर पर आघात किया है, उस पर विजय पाई। अपनी इस मनोस्थिति की व्याख्या शेखर अपने बाल्यकाल की उस घटना के विश्लेषण द्वारा करता है जबकि उसने पहली बार जाना था कि जिस बाघ से वह डर कर भागा था, वह निर्जीव चाम है और तब वह उसके भीतर का घास-फूँस बिखेर कर हँस दिया था। उस चाम को फाड देने पर उसे दण्ड तो मिला था, पर उस घटना से उसे विश्वास हो गया था कि संसार की सब भयानक वस्तुएँ केवल घास से भरा हुआ निर्जीव चाम है, जिससे डरना मूर्खता है। भयानक वस्तुओं के प्रति शेखर के इसी दृष्टिकोण ने उसे उद्धत बना दिया था। विध्वसक और हिंस्र बनने की प्रेरणा भी उसे इसी भाव से मिली थी।

व्यक्ति के बाल्यकाल की माँ—सम्बन्धी स्मृतियों से अनेक तथ्य प्रकाश में आते हैं। उसकी माँ का उन स्मृतियों में क्या स्थान रहता है, उनमें वह किस रूप में प्रकट होती है, उस समय उसके प्रति पात्र का क्या भाव रहता है—इन सबसे उसकी वर्तमान की उलझनों पर प्रकाश पड़ता है। शेखर की बाल्यकाल की स्मृतियों में उसकी माँ का विशिष्ट स्थान है। वह बार-बार उसके स्मृति-पट पर उभर आती है, पर उसका मातृत्व रूप कभी भी शेखर की स्मृति में नही आया। शेखर के प्रति उसकी माँ के अविश्वास प्रकट करने वाली घटना को वह भूल नहीं पाता। इक्के-दुक्के उल्लेख के अतिरिक्त दो बार तो वह घटना और उसके प्रति शेखर की प्रतिक्रिया ब्योरेवार उसकी स्मृति में आई है।[१४९] तभी उसमें अपने-आप एक परिवर्तन आया और वह सोचने लगा—"मैं क्यों हार मानूँ? कोई नहीं विश्वास करता, न

१४७. Adler, 'Early Recollections', p. 284 :

"To estimate its meaning we have to relate the early pattern of perception to all we can discover of the individual's present attitude, until we find how the one clearly mirrors the other."

१४८. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, भूमिका, पृष्ठ ५।

१४९. वही, पृ० २५-२६ तथा १८४-१८७।

करें। मैं योग्य हूँ। योग्य बनूँगा, रहूँगा। इस चोट को चुपचाप सहूँगा, इस अप-मान को पिऊँगा और दीखने नही दूँगा। और सारे ससार का आदर और विश्वास पाकर उसे माँ के मुँह पर पटक दूँगा और कहूँगा, 'यह देख ! मैं इसे ठुकराता हूँ'।"[१५०] इस प्रकार, अपनी विकासोन्मुख आत्मा में एक और आग छिपा कर शेखर एक अशांत विद्रोही के रूप में पलने लगा।[१५१]

जीवन के प्रति आक्रोश

दूसरी प्रकार की घटनाएँ, जिनकी स्मृति शेखर को सबसे अधिक है, घर, स्कूल, कालेज और समाज की वे स्थितियाँ हैं, जिनमें उसे शारीरिक या किसी अन्य प्रकार का दण्ड मिला हो। वास्तव में उसकी स्मृतियों में प्रधानता है ही इसी प्रकार की घटनाओं की। शेखर का ध्यान, स्मृति तक में भी, कभी इस ओर जाता ही नहीं कि उसके उद्धत व्यवहार के कारण, उसके उन्मुक्त विकास से उसके माता-पिता, अध्यापक-अध्यापिकाओं, कालेज जीवन के साथियों तथा उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों को कितना कष्ट व असुविधा हुई होगी। उसे तो केवल यह याद है कि कब, कहाँ और किसने उसे वेदना पहुँचाई थी। अपने प्रति दूसरों के अपराधों को बढा-चढ़ा कर दिखाने की शेखर की इस प्रवृत्ति से यह पता चलता है कि जीवन के 'हॉस्टाइल' पक्ष की ओर ही उसका अधिक रुझान है। इसीलिए उसकी कहानी उस की वेदना का एक अभिन्नतम निजी दस्तावेज 'ए रेकार्ड ऑव पर्सनल सफरिंग'[१५२] बन गई है। बाल्यकाल से ही उसके मन में यह बात घर किए हुए थी कि वह उपेक्षित है, उसका कोई आवरण, कोई कवच, कोई बचाव नही और वह अपने चारो ओर के जीवन के लिए नंगा हो गया है, प्रत्येक चोट, प्रत्येक झोंका, प्रत्येक आघात के लिए प्राप्य।[१५३] वह समझता है : मैं घृणा के संसार से इतना कुचला गया हूँ, पीड़ा से इतना घिरा हुआ हूँ कि आनन्द मेरा अपरिचित हो गया है।[१५४]

पिता के साथ हुई अन्तिम भेंट को छोड़कर उसकी स्मृति में उसका पिता सदा दंडनायक के रूप में ही आया है। डाक्टर को बुला लाने की अपेक्षा रास्ते में लेटरबक्स के साथ खेलते रहने के कारण पिता की हथेली का आघात सहने,[१५५] अपने एक अध्यापक को 'थुक्कु मास्टर'[१५६] और दूसरे को 'ऐस'[१५७] कहने पर पड़ी

१५०. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', पृष्ठ १८७।
१५१. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ१८७।
१५२. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ८।
१५३. वही, पृ० १३२।
१५४. वही, पृष्ठ १३१-१३२।
१५५. वही, पृष्ठ ५१।
१५६. वही, पृ० ५६।
१५७. वही, पृष्ठ ७७।

मार, सारनाथ के अजायबघर में अकेला घुस जाने पर पिता की डॉट-डपट,[१५८] ईश्वर में अनास्था प्रकट करने पर बेंत से सबके सामने पिटाई,[१५९] चपड़ासी से छूटने के प्रयत्न में बाँह झटक कर उसकी नाक फोड़ डालने के अपराध में पिता की छड़ी का छः बार उठना और गिरना और छः बार ही उसके शरीर में एक रोमाच-सा हो आना, पर उसका न हिलना [१६०] आदि उसकी अनेक स्मृतियों का सम्बन्ध पिता से खाई मार से है। धीरे-धीरे तो शेखर को इतनी आदत पड़ गई थी कि शरारत करने के बाद वह बड़ी तन्मयता से पिता के थप्पड़ की प्रतीक्षा किया करता था।[१६१]

अपनी माँ के भी उग्ररूप की ही उसे याद है। पिटता शेखर पिता से ही अधिक था, पर पिता से पिट कर भी उसके प्रति बुरी भावना उसके हृदय में नहीं आती थी। माँ पीटती चाहे कम है पर उसके व्यवहार के लिए वह उसे कभी क्षमा नही कर पाया था। घर के सब विदेशी कपडे जला देने पर माँ द्वारा उसके गाल भी विदेशी कर दिये जाना[१६२] और अपने भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध में माँ द्वारा पहले उसके मुँह पर तड़ातड़ दो-चार थप्पड़ की मार और फिर उसका हाथ मेज पर रख कर पहले घूँसे से और फिर पट्टी से मारने लगना और अन्त में शेखर का यह उत्तर—'नहीं दूंगा, कह दिया नहीं दूँगा चाहे जान से मार डालो'[१६३] आदि घटनाओ की उसकी स्मृति फीकी नही पड़ती।

स्कूल और कालेज के जीवन की भी उसे बहुधा वे घटनाएँ ही याद हैं, जिन में उसके साथ ज्यादती हुई थी—कान्वेंट में सिस्टर का उस पर आरोप 'तुमने बहुत शरारत की है'[१६४] स्कूल में उसकी मानिटरी का छिन जाना और सारी क्लास के सामने मास्टर का उसे 'मुर्गा' बनाना।[१६५] कालेज में कुमार का उसे धोखा देना,[१६६] उसे ब्राह्मणों के होस्टल से निकलवाने के लिए लडकों की साज़िश।[१६७]

इनके अतिरिक्त शेखर को वे सब घटनाएँ और उनसे सम्बन्धित लोग याद हैं, जिनमें वह सकारण या अकारण सताया गया है। जेल से लौटने पर प्रकाशकों के उस पर किए गए अत्याचार, ला० अमोलक राय का उसके विरुद्ध षड्यंत्र,[१६८]

१५८. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ७२।
१५९. वही, पृष्ठ ९३।
१६०. वही, पृष्ठ ११६।
१६१. वही, पृ० ११०।
१६२. वही, पृष्ठ ११८।
१६३. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४२।
१६४. वही, पृष्ठ ५४।
१६५. वही, पृष्ठ ९६।
१६६. वही, पृष्ठ २१३।
१६७. वही, पृष्ठ २१४।
१६८. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १५०-१५४।

शशि के पति रामेश्वर द्वारा लगाया गया उस पर मिथ्या आरोप[१६९] आदि दूसरों द्वारा उस पर किए गए किसी भी अत्याचार को वह भूल नहीं पाया।

विद्रोह-भावना

इस प्रकार के कटु अनुभवों और उनके प्रति अपनी विशेष रुझान के कारण उसे बाल्यकाल में ही यह विश्वास हो गया था कि इस संसार में 'अन्याय ही अन्याय है और यह अन्याय विशेषकर उस पर किया जाने के लिए है'।[१७०] इससे उसकी असहिष्णुता बढ़ने लगी और वह संसार के उस अन्याय के विरुद्ध जलने लगा। जीवन भर वह यह महसूस करता रहा कि—'उसके चारों ओर दुःख है, दारिद्र्य है, पीड़ा-रोग, मृत्यु सब कुछ हैं। देश-विदेश के धर्म के ठेकेदारों ने अपनी कुल आविष्कार-शक्ति को खर्च करके नरक में जिन बुरी से बुरी और भयंकर से भयंकर यातनाओं का सृजन किया है, वे सभी संसार में, उसके संसार में, मौजूद हैं'।[१७१] पर उसका निश्चय था कि वह उन्हे स्वीकार नही करेगा, उनके विरुद्ध विद्रोह करेगा, उनसे लड़ेगा। प्रत्येक प्रकार के अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के भाव ने उसमें न मिटने वाली एक बौद्धिक घृणा भर दी थी जो उसके भीतर क्रान्तिकारी तत्त्वों को वेग से विकसित कर सकी थी।

'सेक्स' प्रवृत्ति : विद्रोह पर अंकुश

शेखर की स्मृति में कुछ व्यक्ति और स्थितिया ऐसी भी उभरती हैं—और बार-बार उभरती हैं—जिनसे उसका रागात्मक सम्बन्ध रहा, जिनसे उसे चोट नहीं पहुँची प्रत्युत् प्रोत्साहन ही मिलता रहा। इसमें सन्देह नही कि शेखर को बनाने में उन लोगों का हाथ रहा जिनसे उसे घोर घृणा थी, पर शेखर को शेखर बनाने में इन व्यक्तियो और स्थितियों का भी कम महत्त्व नहीं रहा, क्योकि उनमें लीन होकर शेखर अपना दुःख भूल सका।

शेखर को टूटने से बचाने वालो में शीर्ष स्थान रहा उसकी मौसेरी बहन शशि का, उसके बाद शारदा का, पर इन दोनों के लिए उसे बचाए रखने का श्रेय उसकी सगी बहन सरस्वती को ही है। सरस्वती के अभाव में वह कभी का मर गया होता।[१७२] शीला, प्रतिभा लाल, शान्ति आदि का स्थान इनके बाद है। इन व्यक्तियों की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा शेखर यह दिखा देता है जिस प्रकार घृणा ने उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ को खोकर भी संसार को ललकार सके; उसी

---

१६९. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ४ १७८।
१७०. वही, पहला भाग, पृ० १५३।
१७१. वही, पृ४ ७४।
१७२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १३०।

प्रकार इन व्यक्तियों के प्रति उसकी वासना ने उसे जगाया और समर्थ बनाया कि वह उस चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।[१७३]

शेखर की स्मृति में शशि, उसके अपने शब्दों में, जीवन भर वह सान रही, जिस पर शेखर का जीवन बार-बार चढ़ाया जाकर तेज होता रहा। शेखर ने महसूस किया कि तृप्ति आदर्श से नहीं, आदर्श के प्रतीक से मिलती है, तो शशि उसके आदर्श का प्रतीक बनी[१७४] और उसे बनाने के प्रयत्न में स्वयं सहर्ष टूट गई। इसी प्रकार, जब से शेखर ने शीला को पढ़ाना छोड़ा उसकी 'उलहना भरी छाया' उसके साथ रहने लगी। शेखर अब तक उससे बचता आया है, पर अपने अन्तिम समय में वह उसकी श्रद्धा को कृतज्ञता से स्वीकार कर लेता है और लज्जा भुला कर मान लेता है कि झूठ बोल कर शेखर ने अपने को शीला से नहीं, अपने से छिपाया था।[१७५] शीला से भागते फिरने का कारण शायद यही था—जब प्रेम मर जाता है तब वासना उसके शव को उठाये-उठाये फिरती है और उससे अपने को धोखे में छिपाना चाहती है और यह भी कि वासना नश्वर है, मुरझा जाती है, तब प्रेम-तन्तु ही जीवन की स्थिरता बनाए रखता है।[१७६]

शेखर की सगी बहन एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' बन गई'।[१७७] जब वह मानव-अन्याय के अथाह सागर में गोते खा रहा था तब उसे उबारने वाला उसके प्रति सरस्वती का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही था। जब वह दुनिया भर की उपेक्षा की अग्नि में जल रहा था, तब उसे झुलसने से बचाने वाला कवच बनी उसकी बहन, सरस्वती।

स्रोतस्विनी-सी शारदा ने आकर शेखर के जलते हुए मरुस्थलीय हृदय को शीतलता और सरसता प्रदान की। शेखर अपने घर का कुचलने वाला वातावरण शारदा की पहली चितवन में ही भूल गया। शेखर के से मदमत्त हाथी पर शारदा ने अंकुश का काम किया—नहीं तो क्या शेखर उसके इन शब्दों के लिए उसे कभी क्षमा कर सकता 'सच ए सिली बाय लाइक यू'।[१७८] वह हर बात में उसे 'सिली' कहती रही,[१७९] और उसका ऐसा कहना शेखर को अखरा तक नहीं। धीरे-धीरे शेखर महसूस करने लगा कि उसका अभिन्न सम्बन्ध शारदा से और शारदा के विचार से है।[१८०] उन दिनों जिस मरुभूमि में से वह गुजर रहा था, उसमें शारदा ही एक

१७३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १८७।
१७४. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १२३-१२४।
१७५. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३४।
१७६. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३४।
१७७. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ८०।
१७८. वही, पृष्ठ १६७।
१७९. वही, पृष्ठ १७२।
१८०. वही, पृष्ठ १७६।

मात्र शाद्वल (ओएसिस) थी। शारदा ने यद्यपि अन्ततः शेखर को ठुकरा दिया था, तो भी वह उसे न ठुकरा सका। शुभ्र-वसना देवी के रूप में वह उसके स्वप्नों में समाई रही।[१८१]

शशि, शारदा, सरस्वती, शीला आदि नारियाँ यदि शेखर के जीवन में न आतीं, तो वह उस यातना भरे जीवन से न उबर पाता। उसने कभी का आत्मघात कर लिया होता, इस ओर वह कई बार प्रवृत्त हुआ भी, पर बच जाता रहा। जीवन के प्रति बाल्यकाल से ही उसने जो दृष्टिकोण अपनाया था उससे उत्पन्न घोर घृणा का विष उसे ही भस्म कर डालता या पागल करके अपना दास बना लेता।[१८२] शेखर की घृणा की भावना में यदि सात्विकता आ पाई तो इन्ही नारियों के कारण, जिनमें अपने अन्तर की पीड़ा को सदा के लिए नही तो कुछ समय के लिए ही सही, खो सका। इन नारियों के संसर्ग से केवल उसकी वासना को ही प्रश्रय नही मिला, उसकी अंतर्वेदना भी उनमें कुछ समय के लिए सो सकी और वह टूटने से बचता रहा।

शेखर का निष्कर्ष

इस प्रकार अपने अतीत की यातनापूर्ण और रागात्मक घटनाओं की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा शेखर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यातनापूर्ण घटनाओं ने उसे बौद्धिक सात्त्विक घृणा की क्षमता दी, उसमें अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की आग भर दी[१८३], और रागात्मक घटनाओं से उसे व्यापक प्रेम की सामर्थ्य मिली और इन दोनों के योग से ही वह बन पाया—शेखर, घोर क्रान्तिकारी शेखर !

शेखर द्वारा की गई अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की विश्लेषणात्मक व्याख्याएँ हमें शेखर को समझने में सहायक सिद्ध होती हैं, क्योंकि इन व्याख्याओं में शेखर का जीवन-दर्शन प्रतिबिम्बित हो उठता है।

'नदी के द्वीप' की टेकनिक

'नदी के द्वीप' की चरित्र चित्रण सम्बन्धी समस्या 'शेखर : एक जीवनी' की समस्या से भिन्न है। 'शेखर : एक जीवनी' की समस्या यह है कि उसका नायक जैसा है, वैसा वह हुआ क्यों ? और इसके समाधान के लिए जरूरत पड़ी, उसकी वर्तमान अवस्था के कारणों को उसके अतीत में खोजने की। इससे, शेखर की चरित्रचित्रण की शैली का रूप बना—अतीत के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या और, इस प्रकार, चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण। 'नदी के द्वीप' में पात्र जैसे हैं, वे वैसे के वैसे ही, उनके वर्तमान रूप के कारणों के प्रति जिज्ञासा भाव के बिना, ले लिए गए हैं।

---

१८१. वही, दूसरा भाग, पृ० २५।
१८२. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३०।
१८३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग पृष्ठ ३०।

यहां लेखक का लक्ष्य उन पात्रों को उनकी वर्तमान स्थिति में पहुँचाने वाले अतीत के गर्भ में छिपे कारणों की खोज नहीं, उनके विकास की वर्तमान अवस्था का उद्घाटन है। इस प्रकार, 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का उपन्यास न होकर विकसित चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास हो गया है। 'शेखर' में उसके नायक की वर्तमान विकासावस्था का इतना ही महत्त्व है कि उसको समझने के बहाने लेखक उसके अतीत का विश्लेषण कर सका है, पर 'नदी के द्वीप' में वर्तमान ही सब कुछ है।

'शेखर : एक जीवनी' की टेकनिक की सीमा

'शेखर : एक जीवनी' का चित्र-पट अत्यन्त विशाल है और स्पष्ट भी; पर उसमें कठिनाई एक यही है कि शेखर के सिवाय और सब की दृष्टि से वह पट ओझल है। कोई सीधे अपनी नज़र से उसे देख नहीं सकता। जिसने भी उस पट पर उभरते हुए चित्र देखने हों, उसे कथानायक शेखर की दृष्टि से ही उन्हें देखना होगा या शेखर द्वारा दी गई उन चित्रों की रिपोर्ट पर विश्वास करना होगा। शेखर के ३०-३२ वर्ष के लम्बे अतीत की लगभग सभी प्रमुख घटनाओं का विश्लेषण उपन्यास में हुआ, पर वह समस्त विश्लेषण हुआ है—एक व्यक्ति शेखर के दृष्टिकोण से ही। शेखर के अतीत की स्मृतियों के आधार पर किसी स्वतन्त्र निर्णय पर पहुँचना बड़ा कठिन है; क्योंकि उसके अतीत की जो सामग्री उपलब्ध है, वह अपने यथातथ्य रूप में न होकर शेखर के अपने दृष्टिकोण के रंग में रंगी हुई है और पाठक को बहुधा ऐसा प्रतीत होने लगता है कि शेखर उस पर अपने दृष्टिकोण को लादकर उसे स्वतन्त्र रूप में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने नहीं देता। पर वह करे क्या ? शेखर के अतीत को जानने का उसके पास और कोई साधन है ही नहीं। यह शेखर की शैली की—अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या—की सीमा है।

'नदी के द्वीप' की टेकनिक की विशेषता

'नदी के द्वीप' का चित्रपट इतना विस्तृत तो नहीं जितना 'शेखर : एक जीवनी' का, पर उसमें शेखर के सीमित दृष्टिकोण वाली बात नहीं। इसमें पात्रों का चरित्रोद्घाटन एक ही पात्र के चेतना-मार्ग से, उसके सीमित दृष्टिकोण से नहीं हुआ। इस में चार पात्र हैं—भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव। चारों के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। चारों ही स्वतन्त्र रूप से अपना उद्घाटन और दूसरों का अध्ययन करते हैं। इसमें ११ परिच्छेद हैं और कुछ अन्तर डालकर प्रत्येक पात्र के नाम पर दो-दो परिच्छेद हैं, जिनमें उसके अपने दृष्टिकोण से ही कथा प्रवाहित हुई है। तीन-चार परिच्छेदों के बाद दो अतराल है, जिनमें चारों पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार के आधार पर उनके विभिन्न दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन उपलब्ध है। शेखर में लेखक के लाख तटस्थ रहने पर भी नायक का निजी दृष्टिकोण (सब्जेक्टिव व्यू) ही अधिक

मिलता है, क्योकि लेखक जिसे तटस्थ चित्रण (आब्जैक्टिव व्यू) कहता है, उस पर भी शेखर का चश्मा लगा है। 'नदी के द्वीप' की टेकनिक में यह विशेषता है कि इस से प्रत्येक पात्र का 'सब्जैक्टिव' उद्घाटन तो हो ही जाता है, साथ ही उसके प्रति अन्य तीन पात्रो के अलग-अलग दृष्टिकोण व्यक्त हो जाते हैं। 'नदी के द्वीप' चार संवेदनाओं का अध्ययन है—'सब्जैक्टिव' तथा 'आब्जैक्टिव' दोनों ही प्रकार से।

प्रत्यवलोकन प्रणाली

प्रत्यवलोकन की प्रणाली का प्रयोग 'नदी के द्वीप' में भी हुआ है, पर एक सीमा तक ही। उपन्यास का आरम्भ उनके नायक भुवन के रेखा के साथ लखनऊ में बिताए गत सप्ताह की घटनाओं की स्मृतियों से होता है। जो घटनाएँ उसके स्मृति पट पर एक-एक करके उभर कर उसे अपने में उलझा रही हैं, वे सप्ताह-भर से अधिक पुरानी नही।

दूसरा प्रत्यवलोकन रेखा का मिलता है। भुवन के हेमन्त-सम्बन्धी वात छेड़ने तथा उनके विवाह-विच्छेद के कारणों को जानने की उसकी उत्सुकता को वह यथा-शक्ति टालती रही थी, पर 'जतर-मतर' के ऊपर चढ़कर जब उसे अचानक याद आया कि उसका पति हेमेन्द्र वहाँ अपने 'एक युवा बन्धु को लेकर आया था' और 'तारे को देखकर दोनो ने वफा की कसमें खाई थीं'।[१८४] तभी उसे सम्बन्ध-विच्छेद वाली घटना याद आ गई और वह उसे भुवन को सुनाने के लिए अधीर हो उठी। यद्यपि भुवन ने उसे सुनने से इन्कार कर दिया तो भी रेखा के स्मृति-पट वह घटना स्पष्ट उभर आई और वह अपने जीवन के उन दुःखद क्षणों को दुबारा जीने लग गई।[१८५] रेखा और हेमेन्द्र को एक-दूसरे से अलग हुए ६-७ वर्ष[१८६] से अधिक नही हुए थे, इसलिए वह घटना भी ६-७ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं।

तीसरा प्रत्यवलोकन फिर भुवन का है। जब वह मोटर में बैठकर श्रीनगर से पहलगाँव जा रहा था और रेखा उससे पिछली सीट पर बैठी हुई थी, तभी ज्यों-ज्यों बस आगे जाती थी, त्यों-त्यों भुवन का मन अधिकाधिक तीखे झटकों के साथ पीछे जाता था और धीरे-धीरे रेखा की कापी में पढ़े हुए वाक्य स्पष्ट होकर उसकी आँखों के आगे दौड़ने लगे थे—एक के बाद एक पंक्ति, जैसे सिनेमा की पक्तिया मानो बेलन पर चढ़ी हुई घूमती जाती है और एक-एक पक्ति आलोकित होती जाती है।[१८७]

१८४. अज्ञेय, नदी के द्वीप', पृष्ठ १४४।
१८५. वही, पृष्ठ १४५।
१८६. वही पृष्ठ २६।
१८७. वही, पृ० १८८।

पात्रों की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति

भुवन और रेखा के ये प्रत्यवलोकन सोद्देश्य नहीं। शेखर की भाँति ये पात्र प्रत्यवलोकन द्वारा अपने जीवन की सिद्धि नही जानना चाहते और न ही अपने अतीत में से कार्य-कारण-परम्परा के उलझे सूत्र सुलझाना चाहते है। इसलिए अतीत की जो घटनाएँ उनके स्मृति-पट पर नाच उठती हैं, वे उनकी चीर-फाड़ आरम्भ नही करते। यद्यपि इनका प्रत्यवलोकन सोद्देश्य नही और उनकी स्मतियाँ भी कोई बहुत पुरानी घटनाओं की नहीं, तो भी जिस रूप में घटनाएँ उनकी स्मृति मे आई हैं, उससे उन की तत्कालीन मनःस्थिति और उन मूल घटनाओं के प्रति पात्रों की सवेदनाओं का पता चल जाता है। यद्यपि फ्रॉयड बाल्यकाल की स्मृतियों के महत्त्व पर ही बल देता है, एडलर बाल्यकाल की पुरानी स्मृतियों या प्रौढ़ावस्था की नई स्मृतियो में कोई अतर नहीं समझता[१८८], इस दृष्टि से कि स्मृतियाँ, नई हों या पुरानी जीवन के प्रति व्यक्ति के मूल प्रतिन्यास को ही अभिव्यक्त करती हैं, जो वर्षो भर वैसे का वैसा बना रहता है[१८९], यद्यपि पुरानी घटनाओं से जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को ढूँढ़ सकना आसान होता है।

भुवन-रेखा

रेखा ने जो भुवन की कुहनी पकड़कर उसे ठेलते हुए कहा--'अच्छा, जल्दी से सवार हो जाइये, आपकी गाड़ी जा रही है।' उसके स्पर्श ने भुवन की नस-नस में उत्तेजना भर दी—"उसने सहसा जाना कि वह भीतर कही विचलित है, और उसकी कुहनी चुनचुना रही है और उसका हाथ उसका अपना अवयव नही है और सब पर्याय विपर्य है।"[१९०] किसी नारी का स्पर्श, वह नारी चाहे प्रेयसी ही हो, इतनी उत्तेजना भर देगा असाधारण-सा प्रतीत होता है, पर भुवन को जो इतनी तीव्र संवेदना हुई, उसका कारण था वह अर्थ जो भुवन ने रेखा के उसकी कुहनी पकड़कर ठेलने का लगाया था। गाड़ी पर बैठे हुए भी वह अपनी कुहनी पर रेखा के स्पर्श का दबाव अनुभव कर रहा था और उसे ऐसा प्रतीत होता था कि 'वह दवाब ढकेलने का नहीं, खींचने का है।'[१९१] उसका यह अर्थ लगाना ही उसकी संवेदना को तीव्र-से-तीव्रतर कर रहा था और साथ ही उसके अपने भीतर के भाव को उद्घाटित करता है कि

---

१८८. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfred Adler,' p. 191 (Comments).

१८९. Adler, 'Science of Living', p. 118 :
"We should not distinguish too sharply between old and new remembrances, for in new remembrances also the action line is involved."

१९०. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ४० ।

१९१. वही, पृष्ठ ८ ।

अन्दर-ही-अन्दर वह रेखा की ओर पूरी तरह खिच गया था। सवेदना की तीव्रता ने ही गत सप्ताह की घटनाओं को उसके स्मृति-पट पर ला दिया था।

प्रथम भेंट के समय ही पारस्परिक बातचीत के बीच अपने किसी प्वाइण्ट के समर्थन में भुवन का, अंग्रेजी की इस कविता का उद्धरण देते समय, 'तनिक-सा रुकना' (द पेन-आव लविंग यू इज मोर दैन आई कैन बैअर) और फिर उससे पहले का शब्द 'डीयरेस्ट' खा जाना।[१९२] काफी हाऊस में रेखा के इन शब्दों पर उसका चौंक उठना 'पर आप तो यो ही इतने तटस्थ जान पड़ते है कि (काफी हाऊस की) दो मिनट की तटस्थता का आपके लिए क्या आकर्षण होगा[१९३]—और फिर सँभलकर उत्तर देना--'मैं तो आता हूँ कि थोड़ी देर के लिए जीवन के भरपूर प्रवाह में अपने को डाल सकूँ—मुझे तो हमेशा यह डर रहता है कि कही तटस्थता के नाम पर मैं उनसे बिल्कुल दूर न जा पहुँचूँ",[१९४] रेखा के बारे में उसकी चन्द्रमाधव से पूछताछ, नदी के किनारे भुवन के आग्रह पर रेखा का एक बँगला गीत सुनाना, भुवन द्वारा अपने बारे में रेखा के ये शब्द सुन लेना : अकेले हैं तभी लीक पकड़ कर चलते है[१९५], फिर प्रतापगढ़ तक दोनों के इकट्ठे सफर का वर्णन आदि सप्ताह भर की घटनाएँ, जो भुवन की स्मृति में आई, उनका चुनाव ही रेखा के प्रति भुवन के आंतरिक प्रतिन्यास का उद्घाटन कर देता है कि भुवन रेखा के व्यक्तित्व से उलझ गया है।"[१९६]

प्रथम भेंट की स्मृति—भुवन को रेखा की सबसे पहली स्मृति[१९७] उसके उस रूप की है, जबकि वह लखनऊ वाली पार्टी के दौरान में 'कमरे की एक ओर शून्य के एक छोटे से वृक्ष के बीचो-बीच कुर्सी पर बैठी थी, अतः उसका माथा और आँखें अँधेरे में थी, बाकी चेहरे पर आड़ा प्रकाश पड रहा था, जिससे नाक, ओठ और ठोड़ी की आकार रेखा-सुनहली होकर उभर आई थी।[१९८] रेखा की इस स्वर्णिम निश्चलता पर भुवन का कौतूहल आकर टिक गया था। उसने देखा कि रेखा में एक दूरी है, एक अलगाव है कि वह जिस समाज से घिरी है और जिसका केन्द्र है, उससे अछूती भी है। उसे लगा जैसे रेखा के व्यक्तित्व की रहस्यमयता उसे चुनौती दे रही हो। यद्यपि किसी के व्यक्तित्व की चुनौती की प्रतिक्रिया भुवन को प्रायः सर्वदा नकारात्मक ही होती थी, रेखा के व्यक्तित्व की चुनौती को वह टाल न सका था, टालने की बात ही उसके मन में न आई थी।[१९९]

१९२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २५।
१९३. वही, पृष्ठ १७।
१९४. वही, पृष्ठ १७।
१९५. वही, पृष्ठ १७।
१९६. वही, पृष्ठ ३२।
१९७. वही, पृष्ठ १४८।
१९८. वही, पृष्ठ ११।
१९९. वही, पृष्ठ १२।

भुवन की रेखा से प्रथम भेंट की स्मृति रेखा के प्रति उसके जिस दृष्टिकोण को-व्यक्त करती है वह जब तक कि रेखा कलकत्ते नही चली गई, बराबर बना रहा। रेखा के प्रति भुवन की जिस कौतूहल-वृत्ति ने भुवन को रेखा की ओर आकृष्ट किया था, वही कौतूहल वृत्ति उसे रेखा के व्यक्तित्व से अधिकाधिक उलझाती गई थी। रेखा के अत्यधिक निकट आने पर ज्यों ही उसका कौतूहल शात हुआ, वह उसके प्रति उदासीन होने लग गया।

भुवन की स्मृति में रेखा की डायरी—पहलगाँव जाते समय बस में उसकी स्मृति में रेखा की कापी के जो वाक्य उभर आये थे, उनसे भी जहां एक ओर भुवन के प्रति रेखा के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है : 'तुम सोओ, अपने स्वप्न के लिए तुम्हे नही जगाऊँगी—भुवन, मैं तुम्हारे जीवन में आऊँगी और चली जाऊँगी··· मैं जानती हूँ अपने भाग्य की मर्यादाएं। पर तुम्हें जो प्रिय है, उन्हें प्यार कर सकूंगी—सहज भाव से बिना आयास के। और सोचती हूँ, तुम्हारी करुणा सदैव मुझे शाति दे सकेगी।[२००] दूसरी ओर भुवन की स्मृति में रेखा की कापी के इस प्रकार के ही विशेष स्थलों का आना रेखा के प्रति उसके अपने दृष्टिकोण का भी द्योतक है : 'तुमने पूछा था एक बार, 'कविता लिखती हो ?' हा एक कविता मैंने भी लिखी है, पर मेरी कविता उसके शब्द में नही है, उसकी भावना में है—तुम पहुँचोगे ? 'शुभाशंस चूमती है भाल तेरा···स्नेहशिशु उठ जाग।' रेखा के व्यक्तित्व की रहस्यमयता भुवन को अभी चुनौती दे ही रही है। तभी इस लम्बी स्मृति के बाद प्रकृतिस्थ होकर भुवन ने जब पीछे बैठी रेखा की ओर देखा, दोनों की आँखें मिलीं, तो भुवन की आँखों में स्नेहपूर्ण कौतुक था।[२०१] रेखा के प्रति उसकी कौतूहल वृत्ति अभी शांत नहीं हुई और उसे रेखा के व्यक्तित्व से अधिकाधिक उलझा ही रही है।

इस प्रकार प्रत्यवलोकन-शैली का प्रयोग 'नदी के द्वीप' में भी हुआ है पर यहाँ इसका उद्देश्य भुवन और रेखा के जीवन की कार्य-कारण परम्परा के सूत्रों को पकड़ना नहीं, उनकी तत्कालीन मनोदशा, और एक-दूसरे के प्रति उनके प्रतिन्यास का उद्घाटन करना है। इसीलिए, इन पात्रों का प्रत्यवलोकन शेखर के प्रत्यवलोकन से सीमित है और शायद इसीलिए यहाँ यह बोझीला नहीं, प्रशस्त और रुचिकर बना है।

पत्रात्मक शैली

'नदी के द्वीप' में पत्रात्मक शैली का खूब प्रयोग हुआ है। पत्रों द्वारा पात्र आत्म-ज्ञापन तो करते ही हैं, बीच-बीच में अन्य पात्र या पात्रों पर टीका-टिप्पणी भी करते चलते हैं। इस प्रकार, उन पत्रों से जहाँ एक ओर पत्र लिखने वाले की तत्कालीन मन:स्थिति का पता चलता है

२००. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १६० ।
२०१. वही, पृष्ठ १६१ ।

वहाँ जिसे पत्र लिखा जा रहा हो, उसके प्रति पत्र-लेखक की भावनाएँ भी व्यक्त हो जाती है। पत्र में जब किसी अन्य पात्र की चर्चा छिड़ती है, तब उसके बारे में पत्र लेखक के रुख का भी पता चल जाता हे। 'नदी के द्वीप' में पत्रात्मक शैली की सब से बड़ी उपयोगिता रही है पात्रों के परस्पर सम्बन्धो तथा एक-दूसरे के प्रति उनकी बदलती सवेदनाओं का प्रकाशन। जब वे एक-दूसरे से दूर जा पड़ते है, उनमें एक अन्तराल पड़ जाता है और वे परस्पर मिल नही पाते, उस समय भावनाओ के आदान-प्रदान का एकमात्र माध्यम पत्र ही रह जाते है। वे पत्र ही उन पात्रों की कोमल भावनाओ, तीव्र सवेदनाओ तथा अनुभूतियो के वाहक बनते है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

पत्रों में पात्र जब जाने या अनजाने आत्म-ज्ञापन करने लगते हैं, तब जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण का तथा उनके जीवन-दर्शन का पता चल जाता हे। इस प्रकार उनके जीवन-दर्शन को जान लेने के बाद आत्म-ज्ञापन में निहित उनका उद्देश्य स्पष्ट होने लगता है। गौरा को भुवन और चन्द्रमाधव दोनो ही पत्र लिखते रहते हैं। इधर-उधर की बातो से निकल कर जब भी दोनो पात्र अपने पत्रों में व्यक्तिगत बातों पर आते हैं, उनके पत्र में जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अपने आप झलक पड़ता है और उन दोनों के दृष्टिकोण की तुलना द्वारा हम उनकी मनोवृत्ति समझ सकते है।

चन्द्रमाधव अपने एक पत्र में गौरा को लिखता है : 'हमें जिसको यहाँ जितना थोड़ा-सा सुख मिलता है, उतना ही हमें आतुर कृतज्ञ हाथो से ले लेना चाहिए—उसी का नाम स्वाधीनता है, बाकी सब सघर्ष है, अन्तहीन आशाहीन सघर्ष'।[२०२] सभी पात्रो से चन्द्रमाधव के सम्बन्ध का उत्तरोत्तर विकास जीवन के प्रति उसके इसी दृष्टिकोण द्वारा प्रेरित होता हे। किसी मे उसे नैसर्गिक लगाव नही। जिस किसी से भी उसे सुख की आशा होने लगती है, उसी की ओर वह खिच जाता है और उसके अधिकाधिक निकट होने के लिए अधीर हो उठता है। जब तक उसे आशा रही कि वह रेखा को अपने जाल में फँसा सकेगा, तब तक रेखा ही उसकी जीवन-नैया की कर्णधार बनी रही। रेखा के प्रति आत्म-ज्ञापन करते हुए एक बार तो वह अपने पत्र में स्पष्टरूप से प्रणय-निवेदन कर देता है : 'रेखा तुम नही जानती कि मैंने कितनी बार तुम्हे बुलाना चाहा है, 'तुम' कह कर ही नही, 'तू' कह कर- कुछ न कहकर केवल आखो से, मन से, हृदय की धड़कन से, अपने समूचे अस्तित्व से। तुम अगर डेस्टिनी को मानती हो तो कहूँ कि जब से तुम्हें देखा है तब से यह जानता रहा हूँ कि डेस्टिनी ने मुझे तुम्हारे साथ बाधा है, और मै चाहूँ न चाहूँ, इसके सिवाय कोई उपाय नही है कि मे तुम्हारी ओर बढ़ता जाऊँ, तुम दूर जाओ तो तुम्हारे पीछे आऊँ,

२०२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ८८।

पृथ्वी के परले छोर तक भी'।[२०३] और जब उसने देख लिया कि यह किसी भी उंचितानुचित उपाय से रेखा को अपनी ओर खींचने में सफल नहीं हो सकता, तब रेखा की ओर से निराश होकर वह गौरा की ओर प्रवृत्त हुआ और उसकी ओर जाल फैलाने लगा। प्रेम भरे अपने एक पत्र में वह गौरा को भी लिखता है : 'सैण्टीमैण्टल बातें मुझे कहनी ही नहीं आतीं, गौरा जी; सच कहता हूँ कि उस दिन की वह भेंट मेरे लिए एक अकथनीय अनुभव था, और कदाचित् वहीं से मेरे जीवन में वह परिवर्तन शुरू हुआ जो आज देख रहा हूँ। मैंने कभी कल्पना नहीं की थी कि आप इस प्रकार मेरी डेस्टिनी बन जाएंगी'।[२०४] जब उसे गौरा भी अपने जाल में फँसती हुई न दीखी तब उसने सुख-प्राप्ति के लिए बम्बई की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री चन्द्रलेखा से दूसरा विवाह कर लिया।[२०५]

भुवन—विवाह के सम्बन्ध में गौरा को अपनी राय देता हुआ भुवन अपना ही जीवन-दर्शन प्रकट कर देता है : 'तुम्हें जो राह दिखती है, उसी पर चलो, गौरा ! धैर्य के साथ, साहस के साथ। और हाँ, जो तुम से सहमत नहीं हैं, उनके प्रति उदारता के साथ; जो बाधक हैं, उनके प्रति करुणा के साथ। और राह पर जब ऐसा साथी मिलेगा, जिसका साथ तुम्हे प्रीतिकर, वाछनीय, कल्याणप्रद लगे, तब किसी की बात न सुनना, जान लेना कि अब स्वतन्त्ररूप से जोखम करने का समय आ गया। यही मै मानता हूँ, स्वयं उस आदर्श को नहीं पाता, वह दूसरी बात है। पर वह ठीक है, इसके बारे में मुझे जरा भी संशय नहीं है।'[२०६] भुवन के मार्ग में कोई व्यक्ति विशेष रूप से तो नहीं अड़ा—उसकी सबसे बड़ी अड़चन थी उसके अचेतन में सक्रिय, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ—फिर भी चन्द्रमाधव के बारे में कहा जा सकता है कि वह भुवन के प्रति ईर्ष्या का भाव रखता था। चन्द्रमाधव के अपने प्रति उस रुख से भुवन अपरिचित नहीं था। यह जानते हुए भी कि चन्द्रमाधव उसे दूसरों की दृष्टि में गिराना चाहता है, वह उसके प्रति उदारतामिश्रित उदासीनता का भाव ग्रहण किए रखता है और चन्द्रमाधव की अंतिम विकृति की चर्चा करता हुआ वह गौरा को अपने एक पत्र में लिखता है : 'किसी पर दया करना पाप है, नहीं तो मैं चन्द्र को दया का पात्र मान लेता'।[२०७] भुवन की यह टिप्पणी उसके जीवन-दर्शन के अनुकूल ही है।

पत्रों के द्वारा मानसिक भेंट

'नदी के द्वीप' के पात्रों के परस्पर सम्बन्ध एक-दूसरे से भेंट की सुविधा

२०३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ८६।
२०४. वही, पृष्ठ ३३८।
२०५. वही, पृष्ठ ४०७।
२०६. वही, पृष्ठ ६२।
२०७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ४०८।

के अभाव में स्थिर नही रहते। शारीरिक भेंट के अभाव में वे पत्रों द्वारा मानसिक भेंट जारी रखते हैं। प्रथम भेंट के समय उनमें जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसे वे भेंट के अभाव में सूखने नही देते, अपितु पत्रों में आत्म-ज्ञापन द्वारा उसे उत्तरोत्तर विकसित करते रहते हैं। इसलिए पिछली भेंट के बाद और अगली भेंट के होने तक, वे पत्रो द्वारा या तो एक-दूसरे के बहुत निकट आ चुके होते हैं और या फिर इतने दूर जा पड़ते हैं कि उन्हें पुनर्मिलन की कोई इच्छा ही नहीं रहती। इस प्रकार दो भेंटों के अन्तराल में हुए पात्रों के पत्रों से उनके परस्पर सम्बन्धों के क्रमिक विकास को खोजा जा सकता है।

रेखा-भुवन : एक-दूसरे की ओर

भुवन से पहली भेंट के पश्चात् तथा दूसरी भेंट से पहले रेखा ने उसे जो पत्र लिखे, उनके आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि वह द्रुत गति से भुवन की ओर खिची चली जा रही है और उसे अपनी ओर खीचने में प्रयत्नशील है : 'आपका परिचय मेरे इधर के धुंधले वर्षों में एक प्रखर ज्योति-किरण-सा है; मै तो किसी हद तक कर्मवादी हूँ और सोचती हूँ कि मेरा इस बार का लखनऊ जाना और आपसे भेंट होना और आपके साथ प्रतापगढ़ तक लौटना 'लिखा हुआ' था।'[२०८]

> 'पर अब मै उनके (चन्द्रमाधव के) साथ न जा सकूँगी—न अकेले, न पार्टी में। इसलिए जाने की बात छोड़ देनी चाहिए। हाँ, आप अगर और लोगों को साथ लेकर जाने वाले हों तो मैं चल सकूँगी और आपका साथ पाकर प्रसन्न हूँगी—हाँ, आप मेरा साथ चाहे तब।'[२०९]

> 'चन्द्रमाधव जी ने मुझे लखनऊ बुलाया था। मैं दोपहर को पहुँची तो पहले हम लोग काफी हाऊस गये, वहाँ आपके विषय में बाते होती रही; मैने लक्ष्य किया कि उनकी बातों में बार-बार एक छिपी ईर्ष्या व्यक्त हो उठती है, जिसका कारण न समझ सकी।'[२१०]

> 'आपकी चिट्ठी की बाट जोहती रहूँगी। बल्कि सोचती हूँ, कुछ दिन आपके निकट इसलिए रह सकूँ कि जानूँ, कि आपने मुझे क्षमा कर दिया है, नही तो एक गहरा परिताप मुझे सालता रहेगा।'[२११]

रेखा के पत्रों के उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त उसके पत्रों के आरम्भ और अन्त के क्रमिक विकास—'प्रिय भुवनजी···विनीता-रेखा',[२१२] 'प्रिय भुवन

---

२०८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ११०।
२०९. वही, पृष्ठ ११२।
२१०. वही, पृष्ठ २२२।
२११ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १२४।
२१२. वही, पृष्ठ ११०-१११।

जी···आपकी—रेखा' (और फिर आगे नया पन्ना जोड कर चन्द्रमाधव द्वारा किए गए प्रेम-निवेदन की चर्चा करते हुए) 'भुवन जी—रेखा'[२१३] से भी इस बात का समर्थन हो जाता है कि वह भुवन के सामीप्य-लाभ के लिए तड़प उठी है।

भुवन-रेखा : एक-दूसरे से दूर

'वायलनिस्ट-सर्जन' के अधूरे ही गिर जाने पर रेखा और भुवन के अलग-अलग स्थानों पर चले जाने के बाद उनमें जो पत्रोत्तर व्यवहार हुआ, उससे उन दोनों की तात्कालिक मनोदशा का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि कितनी तेजी से वे एक-दूसरे से दूर हो रहे हैं। रेखा अपने अतीत के 'फुलफिलमेण्ट' के सुख के अभाव में आँसू बहाती है और भुवन उसे चाहते हुए भी अपनी भीतरी घुमड़न के कारण पुनर्मिलन में अपने को असमर्थ पाकर उससे दूर भागता चला जाता है :

रेखा द्वारा भुवन को पत्र

"वहाँ फूल थे, सुहानी शारदीया धूप थी, और तुम थे। और मेरा दर्द था। यहाँ गरम, उद्गन्ध, बौखलायी हुई हरियाली है, धूप से देह चुनचुना उठती है : और तुम नहीं हो। और दर्द की बजाय एक सूनापन है, जिसे मैं शांति मान लेती हूँ।"[२१४]

"क्यों नहीं तुम पत्र लिखते ? इतने दिन बाट देखते हो गए··· तुम्हारी ओर से कोई संकेत नहीं मिलता तो एक भयानक उदासी मन में छा जाती है, जिससे लगता है कि कभी उबर नही सकूँगी। कोई इशारा, कोई सकेत तो दो, भुवन—यों क्यों मुझे छोड़ दिया है तुमने ?"[२१५]

"जो कुछ भी मैं चाह सकती, वह मैने तुम्हारे साथ में पाया है—प्यार भी वासना भी, दोनों का चरम सुन्दर रूप—तब और लालच क्यों ? तुम्हारा मौन मुझे खलता है, क्योंकि मैं अधिकाधिक माँगती हूँ और वह सम्भव नही है, वह उचित भी नहीं है; अतीत को कोई भविष्य नहीं बना सकता।"[२१६]

"मैं भीतर मर गई हूँ, भुवन ; तुम से कट कर फिर से कहीं भी बह सकती हूँ—किसी भी बुरे से बुरे नर-पशु के साथ भी रह सकती हूँ।"[२१७]

---

२१३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १२२-१२३।
२१४. वही, पृष्ठ ३२५।
२१५. वही, पृष्ठ ३२६।
२१६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३२८।
२१७. वही, पृष्ठ ३२९।

भुवन द्वारा रेखा को पत्र

"रेखा, क्या कहूँ और कैसे कहूँ ? मैं मानता हूँ कि जो कहना नहीं आता वह इसीलिए नही आता कि वह मन के सामने ही स्पष्ट नहीं है—हो सकता है कि मैं स्वयं ठीक नही जानता कि क्या कहना चाहता हूँ—फिर भी भीतर जो घुमड़न है, उसके सामने कुछ जैसे अस्पष्ट है, यद्यपि मैं उसे नही जान पाया, और वही मानो मेरे और विचारों और कामों को निर्दिष्ट करती है" ।[२१८]

"रेखा एक बात को तुम समझोगी···तुम नहीं समझोगी तो कोई नही समझ सकेगा·· प्यार मिलाता है ; साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलाता है ; लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियाँ मिलाती नही, अलग कर देती हैं, सदा के लिए और अन्तिम रूप से ।"[२१९]

"मेरे पास अधिक चित्र नही हैं, कह लो कि एक ही है, पर वही—हमारे साझे अनुभवो का सम्पुंजन ही, रेखा । हमारे बीच में दीवार-सा खड़ा हो जाता है । हम मिलेंगे, लेकिन मानो इस दीवार के आर-पार हाथ मिलाएँगे, लेकिन मानो इस चौखटे के भीतर से, एक-दूसरे को देखेंगे, लेकिन मानो इस चौखटे में जड़े हुए—तुम उधर से, मैं इधर से···रेखा, मैं अब भी तुम्हें प्यार करता हूँ, उतना ही, पर···"[२२०]

अन्य पात्रों के प्रति रुख

इसी प्रकार, परस्पर भेंटों के अंतराल में चन्द्रमाधव और रेखा में, चन्द्र-माधव और भुवन में तथा भुवन और गौरा में जो पत्र-व्यवहार होता है, उससे एक-दूसरे के प्रति उनका रुख व्यक्त होता रहता है । पत्रों में जब कभी तीसरे पात्र की चर्चा छिड़ जाती है तो वर्णित पात्र के चरित्र पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही उस पात्र के प्रति पत्र-लेखक के प्रतिन्यास का भी पता चल जाता है । गौरा को लिखे अपने एक पत्र में उसके विवाह-सम्बन्धी निर्णय की बात छेड़ते हुए चन्द्रमाधव भुवन पर जो छींटा कसता है—"सुना था कि आपके विवाह का निश्चय हुआ था, फिर सुना था कि बात टूट गई : यह भी सुना था कि 'मास्टर साहब' के परामर्श से—भुवन जैसे विज्ञान के नशेबाज की बात को जरूरत से ज़्यादा अहमियत भी दे दी जा सकती है । वह तो ऊब-डूब भी नहीं है, डूब ही डूब है और उस सागर से उभरना नही होता । यो आपके सामने निश्चय ही स्पष्ट कर्त्तव्य-पथ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है" ।[२२१] —उसमें भुवन के प्रति उसका ईर्ष्यापूर्ण रुख अपने आप ही व्यक्त

२१८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३४२ ।
२१९. वही, पृष्ठ ३४४ ।
२२०. वही, पृष्ठ ३४४-३४५ ।
२२१. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ९९ ।

हो उठता है। चन्द्रमाधव को गौरा का जो उत्तर मिला उसमें गौरा का आत्मसम्मान का भाव तो झलकता ही है, पर साथ ही भुवन के प्रति गौरा की श्रद्धा की भी अभिव्यक्त हो जाती है : "मास्टर साहब के बारे में आपने जो लिखा है, उससे मैं पूर्ण सहमत हूँ; पर आप उससे जो परिणाम निकालते हैं, उससे नही। वह विज्ञान में डूबे हैं, ठीक है ; उसे आप नशा भी कह लीजिए, पर इसलिए वह राय नहीं दे सकते, यह मैं नहीं मानती। यों वह राय कभी देते ही नही, पर जब देंगे तब वह अधिक सम्मान्य होगी, क्योकि वह अनासक्त होगी, ऐसा मैं जानती हूँ।"[२२२] अपने एक पत्र में रेखा का उल्लेख करता हुआ भुवन गौरा को लिखता है : "उसके (चन्द्रमाधव) यहाँ एक और 'रिमार्केबल' व्यक्ति से परिचय हुआ—एक श्रीमती रेखा देवी से। तुम उन्हें देखतीं तो अवश्य प्रभावित होती—एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व प्रतिभा के सहज तेज से नहीं, दु:ख की आँच से निखरा है।"[२२३] और इस प्रकार रेखा के व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादकता का परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार, पत्रात्मक शैली के प्रयोग द्वारा अज्ञेय जहाँ एक ओर लेखक-पात्र की तात्कालिक मानसिक अवस्था का 'सब्जैक्टिव' चित्र उपस्थित कर देते हैं, वहाँ पत्रों में किसी तीसरे पात्र की चर्चा द्वारा आलोच्य पात्र का 'आब्जैक्टिव' अध्ययन भी प्रस्तुत हो जाता है।

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' की समान टेकनिक उद्धरण-शैली

अज्ञेय के उपन्यासों में हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं के गीतों और गद्य-पद्यांशों के उद्धरणों का बाहुल्य देखकर कुछ लोग चौक उठे है, परन्तु वास्तव में इसमें चौकने की कोई बात नहीं। पात्रों के चरित्रोद्‌घाटन की, उनके गूढ़तम रहस्यों को खोलने की, तथा उनकी आन्तरिक उलझनों के चित्रण की यह भी एक प्रणाली है। मनोवैज्ञानिको का कहना है कि मनुष्य की साधारण से साधारण क्रिया भी अकारण प्रकट नही होती। उसके बीज पहले से ही मनुष्य के अचेतन में पड़े रहते है और अनुकूल अवसर पाकर अंकुरित हो लेते हैं। फिस्टर नामक एक मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि किसी का मुँह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना, किसी गीत की अधूरी तान छेड़ना, किसी गद्य या पद्य के अंशों को उद्धृत करना आदि तक भी निरर्थक नहीं होता। उसकी इस प्रकार की क्रिया का अर्थ उसके चेतन में चाहे न आया हो, पर

---

२२२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप' पृष्ठ ९९।
२२३. वही, पृष्ठ ११४।

उसके द्वारा उद्धृत गद्य-पद्यांशो का चुनाव उसके अचेतन द्वारा ही प्रेरित होता है।[२२४] इसलिए उन गीतो तथा उद्धरणो में, उन्हे चुनने वाले अचेतन प्रेरको को खोजा जा सकता है और इस प्रकार व्यक्ति के अतल में व्याप्त उथल-पुथल को पकड़ा जा सकता है।

उद्धरणों के रूप में पात्रों की तात्कालीन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति

अज्ञेय के उपन्यासों में उद्धरणों का बाहुल्य है तो सही, पर वह अखरता नही क्योकि उनके सभी पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, कई भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार है और अनेक विषयों का उनका अच्छा अध्ययन है। इसलिए किसी समय उनकी मनोव्यथा का उमड़ कर उनके पूर्व-पठित तथा मनन किए हुए गद्य-पद्याशों के उद्धरणों के रूप में व्यक्त हो पड़ना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। 'नदी के द्वीप' का नायक भुवन एक बार रेखा से इसी आशय का प्रश्न भी करता है। उस प्रश्न में मानो पाठको की उत्सुकता ही व्यक्त हुई हो। काश्मीर की ऊँचाइयों में रेखा के 'फुलफिलमेंट' के पश्चात् पहलगॉव लौट चलने से पहली रात, जब भुवन ने रेखा को अपने पास आदर से लिटा लिया और धीरे-धीरे उसे थपकने लगा तब एक बड़ी उदासी ने रेखा को घेर लिया। भुवन की किसी बात का कोई उत्तर देने की अपेक्षा रेखा उसके पास लेटी, एक शिथिल हाथ उसकी कमर पर डाले, अपलक, शून्य, देखती हुई दृष्टि से उसकी ओर देखती रही। भुवन जब आग्रह-पूर्वक कुछ पूछता तो वह कभी अंग्रेजी में, कभी बँगला में, कभी हिन्दी में कुछ गुनगुना देती—कभी गद्य, कभी पद्य—अपनी ओर से कुछ न कहती।[२२५] जब भुवन ने कुछ शिकायत के से स्वर में कहा, "तुम सिर्फ 'कोटेशन' बोल रही हो—अपना कुछ नही कहोगी ?" तब रेखा ने खोए से स्वर में कहा, "अपना क्या ? मैं सिर्फ कोटेशन बोलती हूँ, भुवन, क्योंकि मै स्मृति में जी रही हूँ।"[२२६] कितनी व्यथा भरी है, रेखा के इस उत्तर में। वह पूर्वानुभूतियों की स्मृति में जी रही है और उसकी अनुभूतियॉ 'कोटेशन्ज' में अभिव्यक्ति पा रही हैं।

असामाजिक संवेदनाओं की निस्संकोच अभिव्यक्ति

अज्ञेय के उपन्यासों में इस उद्धरण-शैली की एक और उपादेयता भी है। इन उद्धरणों में अभिव्यक्त भाव पात्र के तात्कालिक भावों के समसाम्य होने पर भी

२२४. Fielding, 'Self Mastery through Psycho-analysis', Eton Reprint, 1952, p. 112:

"We never hum or whistle aimless tunes. The tune selected, or the words to which it has been set, will be found to have direct or indirect bearing upon the individual's trend of mind or attidude at the time."

२२५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २०५।

२२६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २०५-२०६।

उद्धरणों के रूप में व्यक्त होने पर वे उनके व्यक्तिगत भाव नहीं प्रतीत होते। इसलिए, जब कोई पात्र अपनी ऐसी कोमल भावनाओं को व्यक्त करना चाहता हो जिनका सम्बन्ध अपने सम्मुख खड़े किसी अन्य पात्र से हो, तो उन भावनाओं को इस रूप में व्यक्त करने में उसे किसी प्रकार का भय और आशंका नहीं रहती। उद्धरणात्मक शैली की इस व्यंजकता, और इस रूप में उसकी उपादेयता, के कारण ही कदाचित् अज्ञेय के उपन्यासों में इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के ये शब्द इस शैली की उपादेयता को और भी स्पष्ट कर देते हैं : "मान लीजिए कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। उनका प्रेम एक तथ्य है, आप बड़ी आसानी से कह सकते हैं कि 'क' 'ख' से प्रेम करता—आपका अपना कोई लगाव 'क' 'ख' से नहीं है। इसीलिए अब कल्पना कीजिए उस स्थिति की, जिसमें अपनी ओर से यह बात कहनी हो। 'क' 'ख' से प्रेम करता है, यह कह देना कितना आसान है, और 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ' यह कह पाना कितना कठिन—कितना 'पेनफुल'। क्योंकि एक तथ्य है दूसरा सत्य—और सत्य न कहना आसान है न सहना आसान है।"[२२७] इसलिए अज्ञेय के उपन्यासों में प्रेमी पात्र और प्रेमिका पात्र दोनों ही एक-दूसरे के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त करते समय बड़ी सतर्कता से काम लेते हैं और यथा-सम्भव उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त न करके दूसरों की 'कोटेशन्ज' के रूप में ही प्रकट करते हैं। इस ढंग से वे अपनी कोमल से कोमल भावनाएँ भी एक-दूसरे पर बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के प्रकट कर देने में सफल हो जाते हैं; क्योंकि न तो उनके लिए इस रूप में उन भावनाओं को कह सकना कठिन होता है और न दूसरों के लिए उन्हें सह सकना ही कठिन होता है।

रेखा की भावनाएँ—पहलगाव की ओर चलते हुए रास्ते में उभरी हुई एक चट्टान पर भुवन और रेखा बैठ जाते हैं और भुवन की ओर से फरमाइश होती है कि कुलियों के आने से पहले रेखा एक गाना गा दे। रेखा खड़ी हो जाती है, सामने आकर वह उँगलियों से ठोड़ी पकड़ कर भुवन का मुँह उठाती है कि उस पर पूरी धूप पड़े, क्षण भर उसे निहार कर झुककर चूम लेती है और तत्पश्चात् उसका यह गान मुखरित हो उठता है :—

"यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृंतों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या?
चुपचाप चू पड़ें जीते।"[२२८]

इस गीत को गाकर रेखा केवल अपनी अन्तरतम इच्छा को ही नहीं व्यक्त कर देती, बल्कि भुवन के मन में भी उसी इच्छा को उद्दीप्त करने का प्रयास करती है।

---

२२७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १९२।
२२८. वही. पृष्ठ १५।

पहलगाव पहुँच कर चाँदनी रात में रेखा भुवन को जो गीत सुनाती है वह एक अंग्रेज कवि का है :—

"लव मेड ए जिप्सी आउट आफ मी।"[२२९]

इस गीत में मानो रेखा ही अपना प्रणय-निवेदन कर रही हो।

अपनी फुलफिलमेंट के पश्चात् पहलगाँव में रेखा भुवन के लिए जो एक लिफाफा छोड़ गई थी, उसमें एक कागज पर किसी कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी लिखी हुई थी :—

"आई सैड टू माई सोल : बी स्टिल वेट विदाउट होप
फार होप वुड बी होप आफ द रांग थिग ;
वेट विदाउट लव, फार लव वुड बी लव आफ द राग थिग ;
देयर इज येट फेथ ; बट द फेथ एंड द लव ऐंड द होप आर
आल इन द वेटिग।"[२३०]—

रेखा के इस उद्धरण में उसकी तात्कालीन मनोदशा प्रतिबिम्बित हो उठी है कि किस प्रकार वह अपने भविष्य को भुवन की कृपा-दृष्टि की प्रतीक्षा में छोड देती है।

शेखर—'शेखर : एक जीवनी' में भी इस उद्धरण-शैली का भरसक प्रयोग हुआ है। वास्तव में, शेखर और शारदा, शान्ति और शेखर तथा शशि और शेखर इसी शैली में एक-दूसरे के प्रति अपना प्रणय निवेदन कर पाते हैं। एकान्त जगल में बैठा हुआ शेखर शारदा को गीतांजलि की यह कविता सुनाता है :—

"आन द डे द लोटस ब्लूम्ड एलास, माई माइन्ड वाज़ स्ट्रेइंग,
एण्ड आई न्यू इट नाट······"

(जिस दिन शतदल खिला, उस दिन मैं अनमना था, मैने नही जाना)[२३१]

शेखर द्वारा लाए गए अंग्रेजी कविताओं के एक सग्रह में से शान्ति ने एकान्त में शेखर को जो कविता सुनाई, वह यह थी :—

"ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक
आन दाई कोल्ड ग्रे क्रैग्प, ओ सी !
एण्ड आई वुड दैट माई टंग कुड अटर
द थाट्स दैट एराइज इन मी"[२३२]

शशि की आत्माभिव्यक्ति—शशि और शेखर के लिए तो एक-दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाओ को प्रकट कर पाना और भी कठिन था क्योकि वे बहन-भाई होने के कारण एक-दूसरे के प्रति अपनी भावनाओ को स्वय भी ठीक से नही

२२९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप' पृष्ठ २९४।
२३०. वही, पृष्ठ २१०।
२३१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १७८।
२३२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १९३।

समझ पाते थे, उन्हें प्रकट करना तो उनके लिए और भी कठिन था। इसलिए उद्धरण-शैली को अपनाना उनके लिए तो और भी आवश्यक हो गया था। आपसी सम्बन्धो में चौकसी की उन्हे विशेष आवश्यकता थी। जिस रात शेखर गाडी के नीचे आकर आत्महत्या करने के प्रयत्न में असफल होकर घर लौटा था, उस दिन सारी रात शशि उसके पास ही रही थी और उस रात के शेखर के सामीप्य से उसकी मन:स्थिति में जो परिवर्तन आया था, उस द्वारा गाए गए इस गीत में वह मुखरित हो उठा था :—

"आजि मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे !
आजि मम अन्तर माझे
कोथा पथिकेर पद-ध्वनि बाजे
ताई चकित-चकित घूम भांगिलो रे --
आज मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे।"[२३३]

मरने से कुछ ही दिन पहले शशि ने शेखर से इस कविता को पढ़ कर सुनाने के लिए आग्रह किया :—

"आई वांट टु डाई, ह्वाईल यू लव मी
ह्वाईल येट यू होल्ड मी फेयर
ह्वाईल लाफ्टर लाईज़ अपान माई लिप्स
एण्ड लाईट्स आर इन माई हेयर
आई वांट टु डाई ह्वाइल यू लव मी
ओह हू वुड केयर टु लिव
टिल लव हैज़ नथिंग मोर टु आस्क
एण्ड नथिंग मोर टु गिव
आई वाट टु डाई······"[२३४]

इस कविता में शेखर-सम्बन्धी शशि की भावनाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाती हैं।

इस प्रकार, अपने उपन्यासों में उद्धरण-शैली के समावेश से अज्ञेय पात्रों की उन अन्तर्तम भावनाओं को भी आसानी से उघाड़ सके हैं, जिन्हे अन्यथा वे पात्र कभी व्यक्त न कर पाते।

स्वप्न-विश्लेषण

'नदी के द्वीप' की रेखा का कहना है कि 'सपनों' के सिर-पैर नहीं होते। होते हों, जैसा मनोविश्लेषक जताते हैं, तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नहीं होती।[२३५]

---

२३३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १६८।
२३४. वही, पृ० २३६-२४०।
२३५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ट ४१५।

अज्ञेय के पात्रो को भले ही अपने स्वप्नों के अर्थ जानने की जरूरत न हो, अज्ञेय के पाठकों को उनके औपन्यासिक पात्रो के स्वप्नो में निहित गूढ़ ग्रर्थ को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, वे स्वप्न चाहे कितने ही बे सिर-पैर के प्रतीत हो; क्योंकि अज्ञेय ने अपने पात्रों के स्वप्नों के व्यक्त रूप (मैनिफेस्ट-फॉर्म) के उल्लेख द्वारा उनकी भीतरी गाँठो को उघाड़ने का प्रयत्न किया है। उनके पात्रों की इन भीतरी गाँठो का वास्तविक स्वरूप जाने बिना उन्हे ठीक-ठीक समझ सकना कठिन हो जाता है।

मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि किसी व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण जितना अधिक यथार्थ होगा उसे उतने ही कम स्वप्न आएँगे। इसी लिए प्रायः देखा गया है कि स्वस्थ दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को स्वप्न आया ही नही करते; क्योंकि जागृतावस्था में ही वह परिस्थिति की यथार्थता से अपना मानसिक संतुलन बैठा लेता है।[२३६] स्वप्न-विश्लेषण प्रणाली के प्रवर्तक फ्रॉयड का कहना है कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है[२३७]—विश्लेषण द्वारा बे सिर-पैर के, अजीब से अजीब, स्वप्नों की भी युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है।[२३८] स्वप्न का अर्थ समझ में आ जाने पर स्वप्न के कारणों का पता चल जाता है; क्योंकि, वास्तव में, स्वप्न का अर्थ ही स्वप्न का कारण होता है।[२३९] मनुष्य के अचेतन को समझने में स्वप्नो की उपादेयता पर जोर देते हुए फ्रॉयड से पहले जर्मन कवि हैवेल ने भी अपने बाल्यावस्था के संस्मरणों में कहा था कि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वप्नो का संकलित करके उनकी परीक्षा करे और उन स्वप्नों के साथ उनसे सम्बन्ध रखने वाली सहस्मृतियों (ऐसोसिएशन्ज) को जोड़ दे और फिर यदि उन स्वप्नों को अपने अतीत के स्वप्नों के साथ मिलाकर उनका अध्ययन करे तो, इस प्रकार, वह अपने आप को, मनोविज्ञान की किसी भी अन्य प्रणाली की अपेक्षा, अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा।[२४०] फ्रॉयड पहला मनोवैज्ञानिक था जिसने बड़े साहस के साथ हैवेल के

२३६. Adler, "On the Interpretation of Dreams" Int. J Indiv. Psychol., 2, No. 1, 3-16.

२३७. Freud, 'Interpretation of Dream.', p. 19, 105:
"The Dream has a meaning."

२३८. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud, p. 34:
"The strangest dream may be found on analysis to have a completely logical explanation."

२३९. Frink, 'Morbid Fears and Compulsions'. p. 19-22:
"The meaning of the dream is the cause of the dream."

२४०. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfred Adler', p. 357:
"If, man would collect his dreams and examine them and would add to the dreams which he is now having all the thoughts he has in association with them, all the remembrances, all the pictures he can grasp from them, and if he would combine these with the dreams he has had in the past, he would be able to understand himself much better by this than by means of any other kind of Psychology (Hebbel)."

दद चिन्हों पर चल कर मनुष्य के अचेतन में सक्रिय संघर्षों का यथार्थ रूप समझने के लिए स्वप्न-विश्लेपरा की प्रणाली को चलाया और इस प्रणाली को मनोविश्लेषण प्रणाली का एक आवश्यक अग ठहराया। फ्रॉयड का विश्वास है कि स्वप्नों की व्याख्या द्वारा हम व्यक्ति के मनोजगत के अचेतन तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।[२४१]

स्वप्न-संघटन (ड्रीम-मैकेनिज्म)

नित्य प्रति के जीवन में हमारे कटु अनुभव, और अत्यन्त दु:खद संवेदनाएँ, जिन्हे न सह सकने के कारण हम उनसे मानसिक संतुलन नहीं बैठा सकते, वे दमित होकर हमारे अचेतन में गहरी धँस जाती हैं और अवसर पाकर विकृत रूप धारण करके हमारे स्वप्नों में प्रकट होती हैं। यद्यपि स्वप्न में प्रकट होने वाले विकार विविध प्रकार के मिलेंगे, पर मनोविश्लेषकों ने उनका संघटन मुख्य रूप से पाँच प्रकार का माना है: 'संघनन (कन्डेन्सेशन), विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), नाटकीकरण (ड्रेमेटाईजेशन), प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) तथा 'सैकण्डरी इलेवोरेशन'।

अज्ञेय के उपन्यासों में पात्रों की मानसिक गुत्थियों को प्रकाश में लाने के लिए लगभग सभी प्रकार के स्वप्न-संघटनों का प्रयोग हुआ है।

संघनन (कन्डेन्सेशन)

अनेक प्रकार के विचारों, शब्दों और व्यक्तियों से सम्बन्धित दमित भावनाएँ जब स्वप्न में इस प्रकार विकृत होकर प्रकट हों कि वे सब घुल-मिल कर एक से ही सम्बन्धित प्रतीत हों, तब उसे संघनन (कन्डेन्सेशन) स्वप्न-संघटन कहते हैं।[२४२] 'शेखर: एक जीवनी' में शेखर द्वारा उद्धृत वह स्वप्न, जो उसने उस दिन रात में देखा था जब छोटे भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध में उसकी माँ ने उसका हाथ मेज पर रख कर उसे पहले घूँसे से और फिर पट्टी के सिरे से मारा था और शेखर ने 'पीड़ा और अपनी विवशता पर क्रोध' को न सह पाते हुए कहा था: 'नहीं दूँगा, कह दिया नहीं दूँगा, चाहे जान से मार डालो।'[२४३] उस दिन शेखर ने खाना नही खाया था, न किसी ने उससे पूछा ही। रात हुई, सब सो गए, तब वह भी थका हुआ-सा चारपाई पर लेट गया और अन्धकार को फाड़ने की चेष्टा करता रहा। कुछ देर बाद चुपके से सरस्वती आई, शेखर ने उसकी गोद में अपना सिर रख

२४१. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 559:

"The interpretation of dreams is the 'via regia' to a knowledge of the unconscious elements in our psychic life."

२४२. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 270:

"The dream is meagre, paltry, and loconic in comparison with the range and copiousness of the dream thoughts."

२४३. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४२-१४३।

दिया। तब आँसू आए·········। सरस्वती ने उसका सिर उठा कर धीरे से तकिए पर रख दिया। वह सो गया। रात को उसने जो स्वप्न[२४४] देखा, वह इस प्रकार था :

"एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कड़कती हुई धूप।

शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। भागा जा रहा है···सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह जैसे भागा जा रहा है।

और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नही मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुड़ कर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरों से उड़ी धूल उसे दीखती है···

तीसरा पहर ? धूप कम नही हुई, और भी तीखी हो गई जान पड़ती है। और शेखर भागता जा रहा है, और उसके पीछे वह 'कुछ' भी बढ़ा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षों का बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाढ़ लगी हुई है, जिसमें कहीं-कहीं बिलें हैं, और कही-कही आयरिस-जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतर कर, बाढ़ पार करके बाग में घुस जाता है।

बाग में वृक्ष फूलों से लदे हुए हैं। इतने अधिक लदे हैं, कि सारी जमीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है—

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड़ के नीचे फूलों की शय्या पर लेटता है और सो जाता है···

संध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पड़ रही है, और सेब के वृक्ष मानो जंगली गुलाब के हो गये हैं– प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है······

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतंक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने वह बाग घेर लिया है, और उसमें प्रवेश करने की ताक में है। और उसके ऊँटों के पैरो से उड़ी धूल चारों ओर छाई हुई है, उससे आकाश भरा जा रहा है······

शेखर उठकर एक ओर को भागता है, बाग में से निकल जाता है पथरीला रास्ता, चढाई। शेखर चढ़ता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे······किसी खोज में, यद्यपि वह नहीं जानता कि किस वस्तु की खोज······

सन्ध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चल रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कही दीखता नही। हाँ, दूर कहीं जैसे झरने का रव हो रहा है·········एक चट्टान के ऊपर चढ़ कर शेखर आगे देखता है, और एकाएक रुक जाता है।

---

२४४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४३-१४४।

सामने नीचे थहराता हुआ एक पहाड़ी झरना बह रहा है। शुभ्र, स्वच्छ निर्मल ·····

शेखर घुटने टेक कर बैठता है, और हाथ टेक कर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे वन्य पशु पानी पीने के लिए करते हैं। पर पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नहीं······

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है। वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है, यद्यपि अभी तक वहाँ नहीं थी। और दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं···

शेखर देखता है, पानी के मध्य में प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खड़ा है। बहुत बड़ा—लिपटी हुई सी एक ही बड़ी, सफेद पत्ती, जिसके बीच-बीच में एक तपे सोने-से वर्ण की एक डण्डी (पिस्टिल) है।

और देखते-देखते, एक दिव्य शान्ति उसके ऊपर छा जाती है, और वह जानता है कि यही है, जिसे खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था··· और वह शान्ति इतनी भरपूर है कि शेखर को रोमाच हो आता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड़ लेता है···

वह जाग पड़ा। स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था, कि शेखर ने हाथ बढ़ाया कि सरस्वती का हाथ पकड़े। वह उसने नही पाया।

तब वह चारपाई पर उठ बैठा। इधर-उधर देखा। उठकर सरस्वती की चारपाई के पास गया। जब वह सोई हुई थी।

शेखर ने उसका मुख देखने की चेष्टा की, पर देख नही सका। लौट आया, एक सन्तुष्ट-सी साँस लेकर लेकर लेट गया, और फौरन नि.स्वप्न नीद में अचेत हो गया।"

विश्लेषण

इस स्वप्न में शेखर के गत जीवन के अनेक भाव, विचार और अनुभूतियाँ तथा कई दृश्य मिल कर एकाकार हो गए है। इसमें शेखर के जीवन का कटु यथार्थ मरुस्थल के रूप में प्रकट हुआ है और उसका अहं (ईगो) ऊँट के रूप में, जिस पर चढ़ कर वह मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। उसका पीछा करने वाला 'कुछ' उसके माँ-बाप और अन्य लोगो के अह हैं। जो उसे घेर कर उसका समाजीकरण करना चाहती है। इस मरुस्थल में उसे केवल एक ही शाद्वल (ओएसिस) दिखाई देता है और वह है सरस्वती। शेखर प्यासा ही भागता चला जा रहा है। उसकी प्यास 'सैक्स' की प्यास है, जिसे वह बुझाना चाहता है। पर झरने के पास पहुँच कर भी वह अपनी प्यास नही बुझा सका है। उसके हाथ पर सरस्वती का

हाथ है और वे दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं। एक-दूसरे के निकट-तम होने पर भी दोनों प्यासे ही रह जाते है। जलरूपी 'सैक्स' तृप्ति (ग्रेटिफिकेशन) को वे पा नही सकते, वे सगे बहन-भाई हैं, शायद इसी लिए।

इस स्वप्न में वर्णित दृश्य भी भिन्न-भिन्न समय पर शेखर द्वारा जागृतावस्था में देखे हुए अनेक दृश्यों के विकृत रूप हैं। उदाहरणार्थ स्वप्न के इस विकृत दृश्य—'सामने सेब के वृक्षों का बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाढ़ लगी है, जिसमें कहीं-कही बिलें हैं, और कही-कहीं आयरिस जैसा कोई पौधा है',[२४५] का मूल रूप इस प्रकार है : 'अब दोनों (शेखर और सरस्वती) सबसे निकट की दीवार पर पहुँचे और कीच से बिलों के मुँह बन्द करने लगे। कभी-कभी वे साथ ही अपने प्रिय आयरिस के पौधे भी खीच लेते और उन्हे भी बिलों में ठूँस कर कीचड़ से दबा देते'।[२४६] यहाँ यह स्मरण रहे कि इस मूल दृश्य का सम्बन्ध शेखर की इस अनुभूति से है, जिसमें सरस्वती उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई थी।[२४७]

विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट)

जागृतावस्था में किसी व्यक्ति के प्रति महसूस की हुई भावनाएँ जब स्वप्न में उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाती हैं, तब उस स्वप्न संघटन को विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट) कहते है ![२४८] 'शेखर : एक जीवनी' में इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। जिस दिन शेखर ने रुग्णा शान्ति के पास जाकर बड़े आदर से, डरते-डरते, अपना एक हाथ उसकी ठोड़ी के नीचे कठ पर रख दिया था और शेखर के हाथ पर टप से एक बड़ा-सा आँसू गिरा था और शेखर ने महसूस किया था कि उसके हाथ के नीचे शान्ति का कंठ एक बार कुछ काँप गया था। उस रात स्वप्न में शेखर ने देखा कि : 'शारदा तपेदिक से आक्रान्त होकर मर रही है, वह उसके पास गया और शारदा उसे कह रही है, 'तुम मुझे भूल गए न, नहीं तो मैं मरती' ? और उसके बड़े-बड़े गरम आँसू टपटप शेखर के हाथ पर झर रहे हैं।"[२४९] शेखर के इस स्वप्न में पिछले दिन की उसकी शान्ति सम्बन्धी समस्त अनुभूत सम्वेदनाएँ ही स्वप्न में विकृत होकर प्रकट हुई हैं।[२५०] स्वप्न में उनका

२४५ अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४३।

२४६. वही, पृष्ठ ८१।

२४७. वही, पृष्ठ ८०।

२४८. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', p. 82., Vol. I.

२४९. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० १९५।

२५०. Freud, 'Interpretation of Dreams,' p. 225 :
"The experiences of the previous day furnish the most obvious material of its contents."

सम्बन्ध शान्ति से टूट कर शारदा से गंठ गया है। पिछले दिन तपेदिक से आक्रान्त शान्ति ने उसके साथ जो कुछ किया था, स्वप्न में वही कुछ शारदा उसके साथ करती है।

इस स्वप्न में शेखर की भावनाओं का विस्थापित होना एक स्पष्ट संकेत है कि शान्ति के प्रति शेखर के आकर्षण के कारण शेखर की विवेक-बुद्धि (कान्शैन्स) ने उसे अपराधी ठहराया था, शारदा के प्रति उसके सच्चे प्रेम के शान्ति की ओर उभड़ पड़ने के कारण। यद्यपि चेतन में शेखर को शान्ति के इस आदान-प्रदान से संतुष्टि हुई थी, अचेतन में उसकी विवेक-बुद्धि इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। उसके अचेतन में जो संघर्ष छिड़ गया था, उसी ने स्वप्न में शेखर की सच्ची प्रेम-भावना को शारदा से ही गांठना स्वीकार किया। फ्रायड का विश्वास है कि जागृतावस्था की अनुभूतियों का स्वप्न में इस प्रकार विस्थापन विवेक-बुद्धि द्वारा ही प्रेरित होता है, क्योंकि जागृतावस्था की क्रिया उसे स्वीकार नहीं होती।[२५१] स्वप्न के बाद शेखर का उठ बैठना और देखना कि उसका सारा शरीर काप रहा है, अंधकार मानो उसे काटने लगा है[२५२] और फिर सप्ताह-भर उसका शान्ति को देखने न जाना, दिन-भर अपने कमरे के किवाड़ बन्द करके बैठे रहना भी उसकी सैक्स भावना और विवेक-बुद्धि के उसी संघर्ष को ध्वनित करते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति इस स्वप्न में हुई।

नाटकीकरण (ड्रामेटाइज़ेशन)

जब स्वप्न से थोड़ा पहले की जागृतावस्था के भाव व विचार स्वप्न में छाया चित्रों में बदल कर प्रकट होते हैं और चलचित्र के समान आँखों के सामने नाच उठते हैं, तो उस संघटन को नाटकीकरण कहते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में इस प्रकार की विकृति का उदाहरण वह स्वप्न है, जो शेखर ने काश्मीर की ऊँचाइयों में सौदर्य की खोज में भटकते हुए देखा था। काश्मीर यात्रा की अंतिम रात को वह अपने खैमे में कुछ खा पीकर लेटा हुआ था, वह बहुत थक गया था; इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह लेटा-लेटा सोचने लगा : "कैसा मूर्ख है वह, क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा ? कहानियों में अवश्य सुनते थे··· लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की, कि वे कहानियाँ सच हैं ? 'कहानी' और 'यथार्थ'···ये दो अलग श्रेणियाँ है, यह ज्ञान छोटे से बालक के मन में भी बैठा दिया जाता है···वही एक मूर्ख ऐसा है कि नहीं समझ पाया···यथार्थ जीवन में रह कर जीवन की चीज पकड़ना चाहता है—क्यों न लोग उस पर हँसें ? उसे मूर्ख समझें ? घर पर···नगर की गंदगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी

२५१· Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis', p. 147.
२५२· अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृष्ठ १९५।

उसे हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके सौंदर्य की खोज करने चला है'...[२५३] यह सोचते-सोचते वह सो गया और स्वप्न में उसने देखा : "एक काली चट्टान की गोल-गोल आँखें उस पर टिकी है। वह चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया जो सौदर्य की खोज में चले आए मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई जो ठठा कर हँस पड़ी।" [२५४] इसके बाद वह उठकर बाहर निकल आया और धीरे-धीरे कई दृश्य उसकी आँखों के सामने से गुजर गए।

इस स्वप्न में जागृतावस्था के भाव और विचार ठोस चट्टान के रूप में प्रकट हुए, जिसका सम्बन्ध उसकी सौंदर्य की खोज से ही रहा। अर्ध जागृतावस्था में अपनी स्त्री (कल्पित) के सम्बन्ध में सोच ही रहा था कि वह उसकी मूर्खता पर हँसती होगी, पर स्वप्न में वह चट्टान ही उसकी स्त्री के रूप में परिणत होकर उस पर हँसने लगी। इस प्रकार शेखर की जागृतावस्था के भाव उसके स्वप्न में छायाचित्रों के रूप में प्रकट होते हैं। [२५५]

प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन)

जब अचेतन में गहरी धँसी हुई व्यक्तियों या घटनाओं-सम्बन्धी अनुभूतियाँ स्वप्न में अपने अविकृत रूप में न प्रकट होकर प्रतीकों के रूप में व्यक्त होती हैं, तब उस प्रक्रिया को 'प्रतीकीकरण' कहते है। नाटकीकरण (ड्रामेटाईजेशन) और प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) में अन्तर यह है कि पहले प्रकार के स्वप्न-संघटन में भाव या विचार ठोस वस्तुओं में बदलते हैं, पर प्रतीकीकरण में या तो भाव भावों में बदलते है और या वस्तुओं में। [२५६] 'नदी के द्वीप' में रेखा भुवन के फौज में भर्ती हो जाने की सूचना पाने के शीघ्र ही पश्चात् जो स्वप्न देखती है, उसमें उसके मन में छिपे

२५३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग-पृष्ठ २७-२८।

२५४. वही, पृष्ठ २८।

२५५. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 328 :
"(Silberer, a Freudian dissenter, while engaged in intellectual work and forcing his mind, inspite of a strong desire for sleep, to attend to an abstract thought,) it frequently happened that the thought escaped him, and in its place there appeared a picture in which he could recognize the substitute for the thought."

२५६. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', p. 105 :
"Two fundamental qualities distinguish symbolization from dramatization. In the first place, whereas dramatization leads from the abstract to the concrete, from the concept to the image, symbolization leads from the concrete to the concrete, from the image to the image. In the second place, the relation between the sign and the thing signified is strictly individual in dramatization, whereas in symbolization such a relation is the same in one man and another." (Cf. Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis', p. 126).

हुए सन्देह और शंकाएँ प्रतीकों द्वारा प्रकट या व्यक्त होती हैं। भुवन को लिखे एक पत्र में रेखा अपने स्वप्न का ब्योरा इस प्रकार देती है :—

"देखा कि तुम हमारे घर आए हो...हमारे घर, मेरे माता-पिता और छोटे भाई सब की उपस्थिति में, और सबसे मिले हो, पिता तुम्हे बाहर नदी के किनारे की रौस पर मेरे पास बैठा गए है; फिर हम लोग कागज़ की नावें बना कर नदी में डालते हैं और उनका बह जाना देखते हैं। नावें कभी दूर-दूर तक चली जाती है, कभी पास आ जाती हैं, कभी टकरा भी जाती हैं; कभी नदी में बहते हुए शैवाल से उलझ जाती हैं। सहसा देखती हूँ कि उन्ही हमारी कागज की नावों में हम भी बैठे है...रौंस पर बैठे देख भी रहे है, पर नावों में भी है; फिर नावें एक बालू के द्वीप में जा लगती हैं, जहाँ हम उतर कर नावों को खीचने लगते हैं पर नावों में बैठे भी रहते है। अब हम रौस पर से देखते भी है, नावों में बैठे भी है, नावों को खीच भी रहे है। फिर देखती हूँ, बहुत से द्वीप हैं, हर एक पर हम नाव में भी बैठे, नाव को खीच भी रहे है, और रौंस पर बैठे देख तो रहे ही है। सहसा नदी का पानी बहती हुई बालू हो जाती है; और तुम्हारा चेहरा तुम्हारा नही, कोई और चेहरा है, तुम मुस्कराते हो तो वह चेहरा तुम्हारा भी है, पर नही भी है; मैं कहती हूँ, यह सपना है, जागेंगे तो तुम्हारा चेहरा दूसरा हो जाएगा, तुम कहते हो सपना थोड़ी देर और देखो न, फिर चेहरा बदल नही सकेगा। फिर मैं तुम्हारी मुस्कान देखती रही; थोड़ी देर में जाग गई। सपनों के सिर-पैर नहीं होते—होते हों, जैसा मनोविश्लेषक जताते हैं, तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नहीं होती...पर मै जागी एक मधुर भाव लेकर, फिर ध्यान आया कि तुम तो बर्मा में कही होगे।"[२५७]

विश्लेषण

इस स्वप्न में रेखा के पिता का भुवन को बाहर नदी के किनारे की रौस पर बैठा जाना रेखा की इस इच्छा को व्यक्त करता है कि भुवन के साथ उसके यौन सम्बन्धों को सामाजिक मान्यता मिल सकती—सामाजिक मान्यता के अभाव में ही रेखा ने दोनों के यौन सम्बन्ध से उत्पन्न 'वायलिनिस्ट सर्जन' को उत्पन्न होने से पहले ही गिरा दिया था। रेखा और भुवन का कागज़ की नाव पर बैठना रेखा के अचेतन में व्याप्त इस आशंका का प्रतीक है कि उन दोनों के सम्बन्धों की नीव कच्ची है और वे सम्बन्ध अधिक देर तक नहीं चल सकते। स्वप्न में सहसा नदी के पानी का बहती हुई सूखी बालू हो जाना उनके पारस्परिक सम्बन्धो के नीरस हो जाने का प्रतीक है।

---

२५७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ४१४-४१५।

और भुवन के चेहरे का बदलकर किसी और का चेहरा बन जाना प्रतीक है, रेखा के प्रति भुवन के बदले हुए रुख का। इस प्रकार, प्रतीकों द्वारा इस स्वप्न में रेखा की आन्तरिक आशकाओं को अभिव्यक्ति मिली है।

अज्ञेय अपने उपन्यासों में फ्रॉयड द्वारा स्वीकृत लगभग सभी प्रकार के स्वप्न-सघटनों द्वारा अपने पात्रो के अचेतन में सक्रिय परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के घोर सघर्ष का, जो उन्हें निरन्तर विचलित किए रखता है और परिस्थिति से उनका मानसिक सतुलन नही बैठने देता, चित्रण कर देते हैं।

प्रतीकात्मक प्रणाली

अज्ञेय के उपन्यासों में प्रतीकात्मक प्रणाली का भी प्रयोग हुआ है। उनके पात्र जब किसी ऐसी भावना को प्रकट करना चाहते हैं, जो सत्य होते हुए भी कटु हो, वास्तविक होते हुए भी असामाजिक हो, तो वे उसे अभिधा द्वारा प्रकट न करके प्रतीकों द्वारा ही प्रकट करते हैं, इस आशंका से कि अपने यथार्थ रूप में वे भावनाएँ कहीं अनर्थ न कर डालें। इसके अतिरिक्त कभी-कभी स्पष्टीकरण के लिए भी पात्र प्रतीको का सहारा लेते हैं। 'नदी के द्वीप' उपन्यास का तो नाम भी प्रतीकात्मक है। 'नदी के द्वीप' प्रतीक है, इस उपन्यास के पात्रों के व्यक्तित्व का। रेखा के शब्दों में वे सब पात्र जीवन-सरिता के 'प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह के घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी ; भूमि से बँधे हुए और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाए फिर चाहे द्वीप का फूल-पत्ते का आच्छादन कितना ही सुन्दर क्यों न रहा हो।'[२५८] इस सम्बन्ध में अज्ञेय की एक कविता का यह अंश भी उल्लेखनीय है :—

> हम नदी के द्वीप हैं।
> हम नही कहते कि हम को छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
> वह हमें आकार देती है।
> हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
> सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी है।
> माँ है वह। हैं, इसी से हम बने।
> किन्तु हम हैं द्वीप।
> हम धारा नही है।
> स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं—स्रोतस्विनी के।
> किन्तु हम बहते नही हैं। क्योंकि बहना—रेत होना है।

२५८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १९।

हम बहेंगे तो रहेंगे ही नही।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। छहेंगे। सहेंगे—मिट जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार—बन सकते ?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।[२५९]

असामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति

शेखर भी अपनी जीवनी लिखते समय अनेक बार प्रतीकों का सहारा लेने के लिए बाध्य हो जाता है, जबकि उसे अपने अन्तर्तम के ऐसे गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करना होता है जो असामाजिक तथा अनैतिक हों। शेखर ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, अपनी सगी बहन सरस्वती के प्रति उसका आकर्षण भी बढ़ता गया। एक स्थिति ऐसी आ गई कि शेखर के लिए "शेखर था, और सरस्वती थी और कही कोई न था। जिसे हम संसार कहते हैं, उसका अस्तित्व मिट गया था।"[२६०] सरस्वती शेखर की बहन ही नहीं, सगी बहन थी, इसलिए अपनी स्मृति तक में भी शेखर उसके प्रति अपनी भावनाओं को उनके वास्तविक स्वरूप में नही ला सकता था—उनके नीति-विरोधी होने के कारण। इसलिए सरस्वती के साथ अपने सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए वह प्रतीकों का सहारा लेते हुए लिखता है : "उन्ही वर्षा के दिनों एक दिन सरस्वती उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई थी—यद्यपि इस अन्तिम अंतरंग नाम का उसने कभी उच्चारण नहीं किया, इसे मन में ही छिपा रखा।"[२६१] अर्थात् शेखर के लिए सरस्वती सहसा साधारण स्त्री से सम्बन्धी और सम्बन्धी से प्रेम का आलम्बन बन गई। इसी प्रकार 'नदी के द्वीप' की गौरा के लिए उसके मास्टर भुवन जी क्रमशः 'मास्टर जी' से 'भुवन मास्टर जी' होकर 'भुवन दादा' हो गए थे।'[२६२]

प्रतीकों के सहारे प्रणय-निवेदन

प्रेम के क्षेत्र में 'तुम' और 'तू' प्रतीकों का खूब प्रयोग हुआ है। स्त्री और पुरुष पात्रों का जब तक एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध नही गठता, तब तक वे एक-दूसरे के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं। पर ज्यों-ज्यों वे एक-दूसरे के निकट आते जाते हैं 'आप' शब्द का स्थान 'तुम' शब्द लेता जाता है। 'आप' मानो उनके लिए बिलगाव का सूचक हो और 'तुम' घनिष्ठता का।

२५९. वात्स्यायन, "समकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि", 'कल्पना', फरवरी १९५१, पृ० २३।
२६०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७।
२६१. वही, पृ० ८०।
२६२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ७९।

कई बार तो पात्र इन प्रतीकों के सहारे अपना प्रणय-निवेदन कर देते हैं। अपने एक पत्र में रेखा को प्रणय-निवेदन करते हुए चन्द्रमाधव लिखता है : "रेखा, तुम नहीं जानती कि मैंने कितनी बार तुम्हें बुलाना चाहा है, 'तुम' कह कर ही नहीं, 'तू' कहकर—कुछ न कहकर केवल आँखों से, मन से, हृदय की धड़कन से, अपने समूचे अस्तित्व से।"[२६३] इस सम्बन्ध में भुवन को लिखे गौरा के एक पत्र का यह अंश भी उल्लेखनीय है : "मैं 'तुम' लिख गई हूँ—बिना इजाजत लिये ही—बुरा तो न मानोगे ? बोलने में, लगता है जब भी मिलूँगी तो 'आप' ही कहूँगी, पर चिट्ठी में 'तुम' लिखना ही आसान भी और ठीक भी जान पड़ रहा है, बल्कि सोचती हूँ, 'आप' अब कैसे लिखूँ ?"[२६४] कई बार इन प्रतीकों को ठीक प्रकार से न ग्रहण करने पर पात्रों को धोखा भी लग जाता है। 'नदी के द्वीप' में रेखा और चन्द्रमाधव इस धोखे का शिकार होते हैं। रेखा, किसी विशेष अभिप्राय से नहीं, केवल उम्र में बड़ी होने के कारण, चन्द्र[२६५] को 'तुम' कह कर बुलाने लग गई थी, चन्द्र भी उसे कभी-कभी 'तुम' कहने लग गया था, पर उसका 'तुम' कहना साभिप्राय था, इस बात का संकेत था कि वह रेखा से घनिष्ठता चाहता है। चन्द्र के इस अभिप्राय को न समझ सकने के कारण रेखा को उसकी इस प्रवृत्ति के रोकने की आवश्यकता न महसूस हुई। पर इस ओर रेखा की चुप्पी का अर्थ चन्द्र उसकी स्वीकारिता लगाता रहा। इस प्रसंग में भुवन को लिखे रेखा के ये शब्द उल्लेखनीय हैं : "फिर उन्होंने कहा, 'यहाँ से रैज़ीडैन्सी चला जाए।' मैंने आपत्ति की तो बोले, 'रेखा जी, जरा-सी आँधी से डरती हो ?' वह मुझे सदा आप कहते हैं, 'आप' और 'तुम' की खिचड़ी कुछ अद्भुत लगी, पर शायद दिल्ली का मुहावरा है, इसलिए मैंने ध्यान न दिया, यह भी न लक्ष्य किया कि उनका स्वर आविष्ट है—बाद में यह भी याद आया—संक्षेप में कहूँ कि चन्द्रमाधव ने अपना प्रेम निवेदन किया—जबानी भी और एक लिखा हुआ पत्र देकर भी।"[२६६]

'नदी के द्वीप' में और भी कई प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं 'फुलफिलमैंट' शब्द प्रतीक है, रेखा और भुवन के परस्पर यौन सम्बन्ध का, और इस सम्बन्ध के फलस्वरूप जो होने वाला था उसकी चर्चा करते हुए दोनों उसके लिए 'सर्जन वायलि' निस्ट शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार, प्रतीकों द्वारा अज्ञेय अपने पात्रों की असामाजिक प्रवृत्तियों को, उनकी मनोदशा में आने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन को चित्रित करते चलते हैं।

---

२६३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ११६।
२६४. वही, पृ० ४६७।
२६५. वही, पृ० ५५।
२६६. वही, पृ० १२३।

कथोपकथन

अज्ञेय के उपन्यासों में कथोपकथन काफी मात्रा में मिलते है विविध रूपों में भी। ये कथोपकथन रूढ़िवादी कथोपकथनों की भाँति सदा एक-से नही रहते, अपितु पात्रो और उनकी स्थिति के अनुकूल यत्किंचित् बदलते रहते हैं। कथोपकथन की परम्परागत प्रणाली के अतिरिक्त अज्ञेय के उपन्यासो में स्मृति में आए कथोपकथन (रिकोलेक्टिड डायलॉग), आन्तरायिक (इन्टरमिटेंट) संवाद, लिखित रूप में वार्तालाप आदि कई रूपों में मिलते हैं। ये कथोपकथन केवल कथानक को ही आगे नहीं बढ़ाते, पात्रों का चरित्रोद्घाटन भी करते हैं। उनमें पात्रों की तात्क्षणिक मनोदशा, उनके अन्तर्तम की घुमड़न, उनके अचेतन में उथल-पुथल मचाए रखने वाली प्रवृत्तियाँ सहज में ही प्रतिबिम्बित हो उठती है।

एक के प्रति दूसरे के रुख की अभिव्यक्ति

पारस्परिक भेंट के अभाव में एक-दूसरे से निकट का सम्बन्ध बनाए रखने के लिए और एक बार के स्थापित सम्बन्ध को उत्तरोत्तर घनिष्ठ बनाए रखने के लिए पात्र जो काम पत्रों से लेते हैं, एक-दूसरे से भेट का सौभाग्य प्राप्त होने पर वे वही काम आपसी बातचीत से लेते हुए एक-दूसरे पर खुलते जाते हैं। चन्द्रमाधव के यहाँ भुवन से हुई पहली भेंट के पश्चात् रेखा ने भुवन को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जो पत्र लिखे थे, उनका भुवन पर क्या प्रभाव पड़ा, यह जानने के लिए उससे दिल्ली में दूसरी भेंट के समय रेखा बड़ी सतर्कता से, सँभल-सँभलकर, बातचीत आरम्भ करती है। स्टेशन से बाहर निकलते हुए उसे लेने आए भुवन को यह सूचित करते हुए कि वह वाई० डब्ल्यू० ए० में ठहरेगी, उसने देखा कि भुवन ने उसे पास ठहराने का कोई आग्रह नहीं किया, आग्रह करना तो दूर, उसे यह बताकर कि वह स्वयं कालिज में ठहरा है, एक प्रोफेसर के साथ, मानो भुवन कह रहा हो कि उसे इस विषय में दिलचस्पी नही है। तब रेखा ने बात का रुख बदलते हुए कहा :—

"भुवन जी, एक स्वार्थ की बात कहूँ ?"

"क्या ?"

"मैं दो-चार दिन यहाँ रुक जाऊँ तो आप अपना कुछ समय मुझे देंगे ? दिल्ली में मेरे परिचित तो बहुत हैं, पर वह खुशी की बात अधिक है या डर की, नहीं जानती।"

"मुझे तो यहाँ कोई काम नहीं है, दो-एक व्यक्तियों से ही मिलता-जुलता हूँ, मेरे पास बहुत समय है।"

"उबाऊँगी नहीं, यह वचन देती हूँ।" रेखा हँस दी। "ऊब जाने से पहले ही हट जाऊँगी—मुझे और कुछ तो नहीं आता पर ऊब के पूर्व लक्षण

खूब पहचानती हूँ। कहूँ कि मेरे जीवन का मुख्य पाठ यही रहा है—ऊब की सात सीढ़ियाँ।"[२६७]

इस प्रकार भूमिका बाँधने के पश्चात् भुवन के वाक्य 'अधिक बात जिस विषय की कर सकता हूँ, वह स्वयं उबाने वाला है' में प्रयुक्त 'विषय' शब्द को नया अर्थ देते हुए एक सीधा प्रश्न कर देती है :—

"भुवन जी, आप अपने बारे में बात कहते हैं—करते रहे हैं ?"

"नही तो—या बहुत कम। वह भी कोई विषय है ?"

"तो ठीक है ; कहना चाहिए कि वह नया विषय है—मेरे लिए तो है ही, आपके लिए भी है।" रेखा की आँखें हँसी से चमक उठी। "और मैं वायदा करती हूँ, इस विषय से नहीं ऊबूँगी—आप ही जब छोड़ें, तो छोड़ें बल्कि मैं फिर-फिर लौट आऊँ तो आप बुरा तो न मानेंगे ?"

भुवन ने थोड़ा सकुचाते हुए, यद्यपि कुछ तोप भी पाकर, कहा, "न-नहीं तो; पर मैं फिर आपको वार्न करता हूँ, वह बिषय बड़ा नीरस है, और कही पहुँचता नही।"

"मैं तो पहले ही बता चुकी हूँ कि कहीं पहुँचने का लोभ ही मुझे नहीं है—ऐसी यात्रा पर हूँ, जो कहीं पहुँचती ही नही, अन्तहीन है, यही क्या कहीं पहुँच जाना नही है ?"

"यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है—"कहकर भुवन निरुत्तर-सा कुछ सोचने लग गया।[२६८]

इस बातचीत के पश्चात् रेखा यह तो समझ गई कि भुवन को लिखे उसके पत्र बेकार नही गए, पर यह जानना अभी बाकी था कि उनका प्रभाव कितना और किस रूप में पड़ा होगा। इसलिए अगले दिन घूमते समय उसने फिर एक और प्रयास किया :—

"काफी पीते-पीते रेखा ने पूछा, 'भुवन जी, आपने पहाड जाने के लिए और किसी को आमन्त्रित नही किया ?'

"नही तो। फिर मेरा जाना ही तो नही हुआ—"

"अच्छा, आप जहाँ रिसर्च के लिए जाना चाहते हैं, वहाँ मै आ जाऊँ तो आपके काम का बहुत हर्ज होगा ?"

भुवन ने चौककर कहा, "वह तो एकदम बियाबान जंगल है रेखा जी। वहाँ—"

"फिर भी—फर्ज कीजिए—"

---

२६७ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३०।

२६८ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३१।

"नही---आप ही फर्ज करना न चाहे तो-- खास नही होगा—इतना ही कि आपकी असुविधा का ध्यान हमेशा रहेगा—"

"और काम में बाधक होगा।" रेखा हँस दी,"ठीक है, मैं तो यों ही कह रही थी।"[२६९]

इस प्रकार यह विश्वास हो जाने पर कि भुवन पर उसके पत्रों का वाँछित प्रभाव पड़ा है, वह बडे नटखट भाव से उसे अधिकारपूर्ण ढंग से चेता देती है :

"कल रात वाली गाड़ी से चली जाऊँगी—लेकिन वहाँ मन न लगा तो काश्मीर आ जाऊँगी, कहे देती हूँ। आप भी खदेड देंगे यह कहकर कि हुक्म नही है ?"

भुवन ने हँस कर कहा, "मै क्या करूँगा, यह बताने का भी हुक्म नही है।"[२७०] भुवन के इस उत्तर से रेखा की पूरी तसल्ली हो जाती है और फिर बाद में यदि वह सहसा भुवन को इन शब्दों में "बडे नालायक है आप ! मुझे यों डराना अच्छा लगता है ?" डॉट सकी है तो इस विश्वास के बल पर ही।

यहाँ स्थानाभाव के कारण केवल एक ही उद्धरण दिया गया है, पर अज्ञेय के उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे, जहां पात्र दूसरे पात्रो के अन्तर्मन को जानने के लिए बातचीत चलाते हैं और स्वयं न खुलकर उन्हें खुलने के लिए प्रेरित करते हैं।

आन्तरायिक (इन्टरमिटेंट) सम्वाद

'नदी के द्वीप' में कथोपकथन की और भी कई शैलियों के प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग खटकते नही, अपितु कथोपकथन की स्वाभाविकता को बढ़ा देते हैं। 'इन्टर-मिटेंट टॉक' को ही लें; लेखक ने इसे कितना स्वाभाविक बना दिया है। रेखा और भुवन एक ही गाड़ी में सफर कर रहे हैं। रेखा, महिलाओं के डिब्बे में बैठी है और भुवन पुरुषों के डिब्बे में सफर कर रहा है। गाड़ी ज्यों ही किसी स्टेशन पर रुकती है, भुवन रेखा की खिड़की के सामने प्लेटफार्म पर आ खड़ा होता है और पिछले स्टेशन पर हुई बातचीत के सूत्र को पकड़कर दोनों पुनः बातचीत में लीन हो जाते हैं और उन्हें समय का ध्यान नही रहता। उनकी मग्नता गार्ड की सीटी से ही भंग होती है और सहसा उनकी बातचीत बीच ही में टूट जाती है। जब तक गाड़ी चलती रहती है, वे दोनों विचाराधीन विषय पर सोचते रहते हैं। अगला स्टेशन आने पर उनकी बातचीत का सिलसिला पुनः चल पड़ता है। "बात ज्यों-ज्यों आगे चलती थी, अगले स्टेशन पर फिर न जा पहुँचना भुवन के लिए उतना ही असह्य जान पड़ता था, अनुचित ही नहीं; भुवन स्वयं भी बात आगे सुनने को उत्सुक रहता था।"[२७१]

२६९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३३-१३४।
२७०. वही, पृ० १४६।
२७१. वही, पृ० ३४।

रेल के सफर ने इस प्रकार 'इन्टरमिटेट'[२७२] टॉक के रूप में उनके आत्मप्रकाशन को सहज बना दिया था।

लिखित संवाद

कथोपकथन की एक और शैली भी 'नदी के द्वीप' में मिलती है और वह है लिखित कथोपकथन। नैनीताल की यात्रा के लिए रेखा को जनाने डिब्बे में बैठाकर भुवन प्लेटफार्म पर उसकी खिड़की के सामने आ खड़ा हुआ। उसने देखा रेखा अपनी नोट-बुक निकाले उस पर कुछ लिख रही है। कुछ ही देर बाद जब रेखा ने वह नोट बुक उसकी ओर बढ़ा दी तब उसने पढा :—

"उस डिब्बे में बैठकर थोड़ी देर के लिए मैं अपने को यह मना सकी थी कि हम साथ ही इस गाड़ी में यात्रा कर रहे हैं। पर अब यह लगता है कि आप मुझे विदा कर चुके, और उपचार बाकी है।"

भुवन ने कुछ न कहकर कापी लौटा दी।

रेखा ने फिर लिखा : "अगले स्टेशन पर आप प्रतापगढ़ से आगे बात चलाने आयेंगे ?"

अब की बार भुवन ने कहा, "जरा पैंसिल दीजिए।" और लिखा : "आप ही ने तो कहा था, "आप अगले स्टेशन पर आना ?"

रेखा के चेहरे पर हल्की-सी उदासी खेल गई। कापी में उसने लिखा, "नहीं, मेरी ज्यादती है।" भुवन ने फिर कापी ले ली। जेब से कलम निकाल कर सुस्पष्ट अक्षरों में लिखा "अकेले है न, तभी लीक पकड़ कर चलते हैं।" फिर तनिक रुककर उस पर दुहरे उद्धरण-चिह्न लगा दिए।"[२७३]

अज्ञेय के उपन्यासों में कथोपकथन का जो रूप प्रचुरतम मात्रा में मिलता है, वह है—स्मृत वार्तालाप (रिकोलेक्टिड डायलॉग)। कथोपकथन की इस शैली में कथोपकथन और उनमें भाग लेने वाले पात्रों से पाठकों का सीधा सम्पर्क नहीं हो पाता और न ही ये कथोपकथन उन्हें अपने मौलिक रूप में ही उपलब्ध होते हैं। उन्हें ये कथोपकथन उस रूप में ही मिलते हैं, जिसमें वे किसी पात्र या पात्रों की स्मृति में आ पाते है। "शेखर : एक जीवनी" के सभी कथोपकथन और 'नदी के द्वीप' के वे कथोपकथन, जो भुवन की स्मृति में पुनः उभर उठते हैं, इसी कोटि के हैं।

अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में अश्लीलता का आभास

स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्धों की चर्चा हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के लिए

२७२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३३-३६।
२७३. वही, पृ० १५८-१६०।

कोई नई चीज नही; पर इन सम्बन्धो का जितना विशद और स्वच्छन्द चित्रण अज्ञेय के उपन्यासो में हुआ है, उतना शायद ही अन्यत्र मिले। वैसे तो 'शेखर : एक जीवनी' में भी कई ऐसे स्थल हैं, जिनमें एकान्त का विलास व्यापक हो उठा है, फिर भी 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर-शारदा, शेखर-शान्ति, शेखर-शशि के मार्ग में सैकडों अडचनें हैं। एक ओर घर वालों का डर है तो दूसरी ओर समाज के विधि-निषेधों का। घर वालो से भागकर दूर भी चले जाएँ तो समाज उन पर कड़ी निगरानी रखे रहता है। समाज की आँखो से ओझल होकर एकान्तवास का प्रबन्ध कर लें, तो भी उनकी विलास वृत्ति अपने नग्न रूप में नहीं प्रकट हो पाती; क्योंकि वहाँ उनकी अपनी विवेक-बुद्धि (कान्शैंस) उनके मार्ग में अड जाती है। शशि और शेखर को ही लें। घर वालों से दूर, वे दूसरे शहर में साथ-साथ एक कमरे में रहते हुए भी निर्बाध स्वच्छन्दता का उपभोग नही कर पाते, क्योंकि समाज की कड़ी निगरानी तब भी उन पर रहती है। वहाँ से भागकर वे दिल्ली में आ जाते हैं। वहाँ उन्हें एकान्तवास की सुविधा तो मिल जाती है, समाज की कड़ी निगरानी भी उन पर नहीं रहती, पर फिर भी वे एकान्त विलास नही कर पाते। उनके मन पर जमे संस्कार उनके संयम का बाँध नहीं टूटने देते। क्षण भर के लिए भी वे संस्कार उन्हें नही भूलने देते कि वे दोनों बहन-भाई हैं।

'नदी के द्वीप' में रेखा और भुवन के मार्ग में ऐसी कोई बाधा नहीं है। उनके घर वालों का तो कहीं जिक्र भी नही आता; समाज उन दोनों के लिए मानो अस्तित्व नहीं रखता। 'इन्सेस्ट' नाम की बाधा भी उन दोनों के बीच में नही, तो फिर उनका उन्मुक्त विलास क्यो न चले—विशेषतः जबकि वे एक-दूसरे को चाहते हैं। लेखक चाहता तो उन्हें मिथुन तक न ले जाकर उस स्थिति की ओर संकेत भर करके काम चला सकता था, पर लेखक चाहता तब तो ! इसलिए 'नदी के द्वीप' में एकान्त का विलास उत्तरोत्तर व्यापक होता जाता है और अकेले-अकेले मिथुन बढ़ता जाता है—"खुले ससार में अकेले, काफी हाउस में अकेले, कुदसिया बाग में अकेले, यमुना की कछार में अकेले, नौकुछिया ताल में अकेले, तुलियन में अकेले, सर्वत्र अकेले ही अकेले।"[२७४] अकेले ही अकेले वे दोनों 'फुलफिलमैंट' की ओर बढ़ते रहते हैं।

अज्ञेय और लॉरेंस में साम्य

'नदी के द्वीप' के इन स्थलों को पढ़ते हुए प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यासकार डी० एच० लॉरेंस की याद आती है। लॉरेंस का कहना है कि स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग 'सेक्स' हैं; उभयलैंगिकता (बाई सेक्स्युएलिटी) एक वैज्ञानिक कल्पना है। इस लिए, उसका विश्वास है कि स्त्री और पुरुष का मेल यदि हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही। मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे में प्रवेश करके एक-दूसरे की प्रकृति को समझ सकते हैं और एक-दूसरे के स्वतन्त्र और अन्योन्याश्रयी रूप को पहचान सकते

२७४. भगवतशरण उपाध्याय "नदी के द्वीप : आलोचना", 'कल्पना', मार्च, १९५३।

है।[२७५] इस प्रकार मिथुन लॉरेंस के उपन्यासो का एक महत्त्वपूर्ण अग बन जाता है।[२७६] इस प्रकार के मिथुन को लॉरेंस पाप नही मानता, यदि दोनों उसे ठीक समझते हुए सच्चे प्रेमी-प्रेमिका बनना चाहते हों और दोनो में अपने प्रेम की ज्योति जलाए रखने के लिए सच्चा साहस हो—फिर वह इच्छा चाहे क्षणिक ही क्यों न हो।[२७७] इसका अभिप्राय यह नही कि लॉरेंस उपन्यास और नैतिकता को दो परस्पर विरोधी तत्त्व मानता है। नैतिकता को तो वह कला का आवश्यक अंग मानता है, पर ऐसी नैतिकता को जो उत्कट और साकेतिक हो, न कि उपदेशात्मक।[२७८] उसका विश्वास है कि कोरी उपदेशात्मकता उपन्यास को निष्प्राण बना देगी।[२७९] लॉरेंस का कहना है कि उपन्यास यदि ढंग से लिखा जाय तो वह जीवन के गुप्ततम स्थलों का भी उद्घाटन कर सकता है; क्योंकि जीवन के वासनापूर्ण गुप्त स्थलो पर ही हमारी सवेदनाएँ उद्बुद्ध होकर उमड़ पड़ती हैं, हमारे मन को साफ और तरो-ताजा करती हुईं।[२८०]

---

२७५. Hoffman, 'Freudian ism and the Literary Mind', p. 169.

२७६. D. H. Lawrence. 'Lady Chatterley's Lover', Signet Book, 1950, p. 175 :

"And she adored me. The serpent in the grass was sex. She somehow didn't have any. I got thinner and crazier. Then I said we'd got to be lovers. I talked her into it. I was excited, and she never wanted it. She just didn't want it. She adored me, she loved me to talk to her and kiss her, in that way she had a passion for me. But the other, she just didn't want. And there are lots of women like her. And it was just the other that I did want. So there we split."

२७७. D. H Lawrence, 'Studies in Classic American Literature', New York, 1930, p. 148 :

"The sin in Hester and Arthur, Dimmer-Dales' (of the Scarlet Letter) case was a sin because they did what they thought it wrong to do. If they had really wanted to be lovers, and if they had had the honesty and courage of their passion, there would have been no sin, even had the desire been only momentary."

२७८. Ibid., p. 254 :

"The essential function of art is moral... ..But a passionate, implicit morality, not didactic. A morality which changes the blood, rather than the mind."

२७९. D. H. Lawrence. 'Morality and the Novel', Phoenix, p. 528 :

"If you try to nail anything down, either it kills the novel or the novel gets up and walks away with the nail."

२८०. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 90 :

"Therefore, the novel, properly handled, can reveal the most secret places of life ; for it is in the passionate secret places of life, above all, that the tide of sensitive awareness needs to ebb and flow, cleansing and refreshing."

लगभग यही दृष्टिकोण अज्ञेय का भी प्रतीत होता है। अज्ञेय स्वय भी अपने को लॉरेंस के निकट मानते हैं।[२८१] यह बात 'नदी के द्वीप' के निम्नलिखित स्थलों की, लॉरेंस के उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज लवर' से तुलना करने से और भी स्पष्ट हो जाएगी :

"मेरे लिए काल का प्रवाह भी प्रवाह नही है, केवल क्षण और क्षण का योगफल है—मानवता की तरह ही काल प्रवाह भी मेरे निकट युक्ति-सत्य है, वास्तविकता क्षण की ही है। क्षण सनातन है।"[२८२] (पृष्ठ ३९)

+ + +

"रेखा कुछ सीधी होकर बैठ गई। भुवन ने दोनों बाँहों से उसे कमर से घेर लिया; सिर उठा कर धीरे से रेखा की जाँघ पर रख दिया।

फिर और न जाने कितनी देर तक ऐसा रहा। सहसा रेखा चौंकी। भुवन का शरीर काँप रहा था। जल्दी से झुक कर रेखा ने उसका मुँह देखना चाहा, पर उसने और भी जोर से उसे रेखा की जाँघ में गड़ाकर अपनी एक बाँह से ढक लिया।

रेखा बैठी रही, बिल्कुल निश्चल। उसकी सारी सवेदनाएँ जैसे अत्यंत सजग हो आईं, पर साथ ही भीतर कही कुछ जड होने लगा।

भुवन सिसक रहा था; अब उसकी सिसकी स्पष्ट सुनी जा सकती थी। रेखा ने फिर उसे सीधा करना चाहा, पर न कर सकी। फिर वह वैसी ही निश्चेष्ट बैठी रही।"[२८३] (पृष्ठ १७६)

+ + +

भुवन ने उठकर उसके कन्धे पकड़े—ठंडे, जैसे बर्फ। बलात् उसे लिटा

---

२८१. S. H. Vatsyayan, "Hindi Literature", 'Contemporary Indian Literature', Sahitya Akademi, 1957, p. 84 :

" 'Ajneya' (1911—) is sometimes bracketed with Joshi as an exponent of the Freudian novel—wrongly...His literary affinities are, in fact, Browning and D. H. Lawrence."

२८२. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 13 :

"Connie had adopted the standard of the young : what there was in the moment was everything, And moments followed one another without necessarily belonging to one another."

२८३. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 21-22 :

"She stared at him, dazed and transfixed and he went over and kneeled beside her, and took her two feet close in his two hands, and buried his face in her lap, remaining motionless. She was perfectly dim and dazed, looking down in a sort of amazement at the rather tender nape of neck, feeling his face pressing against her. In all her burning dismay she could not help putting her hand, with tenderness and compassion, on the defenceless nape of his neck and he trembled with a deep shudder."

दिया, कम्बल उढ़ा दिए। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा, चेहरा भी बिल्कुल ठंडा था। उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गरम गाल रखा, उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा के कन्धे सहलाने लगा। भुवन ने कंबल खींच कर कन्धे ढक दिये। कंबल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा···

सहसा वह चौंका। झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे-छोटे हिमपिंड···और अब तक जड़ रेखा के सहसा दाँत बजने लगे थे।

सहसा रेखा ने बाँहें बढ़ाकर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया।"[२८४] (पृष्ठ १९७)

+ + +

"भुवन, जाने से पहले मैं एक बात कहना चाहती हूँ। आई एम 'फुल्-फिल्ड'। अब अगर मैं मर जाऊँ तो परमात्मा के—प्रकृति के—प्रति यह आक्रोश लेकर नही जाऊँगी कि मैंने कोई 'फुलफिल्मैंट' नहीं जाना—कृतज्ञ भाव ही लेकर जाऊँगी—परमात्मा के प्रति और···भुवन, तुम्हारे प्रति।"[२८५] (पृष्ठ २०७)

+ + +

"रेखा, जो कुछ हुआ है, मुझे उसका दुःख नहीं है, परिताप नहीं है। और जो हुआ है उससे मेरा मतलब केवल अतीत नहीं है, भविष्य भी है—कारण भी, परिणाम भी। और यह नकारात्मक बात लगती है—मैं कहूँ कि मैं प्रसन्न हूँ, एक आनन्द है मेरे भीतर—एक शान्ति, भविष्य के प्रति एक स्वागत-भाव···यही मैं तुमसे कहना चाहता हूँ—वह जो आएगा—आएगा या आएगी, वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वांछित—उससे मैं लजाऊँगा

---

२८४. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 105 :

" 'You lie there', he said softly, and he shut the door, so that it was dark, quite dark.

With a queer obedience, she lay down on the blanket. Then she felt the soft, groping, helplessly desirous hand touching her body, feeling for her face. The hand stroked her face softly, softly with infinite soothing and assurance, and at last there was the soft touch of a kiss on her cheek."

२८५. Ibid., p. 105 :

"Then she wondered, just simply wondered, why? Why was this (sexual intercourse) necessary ? Why had it lifted a great cloud from her and given her peace ?"

नही, वह तुम मुझे दोगी। भूलना मत—तुम्हें और तुम्हारी देन को मै वर-दान करके लेता हूँ।"[२८६] (पृष्ठ २८६)

+ + +

यहाँ यह जान लेना असंगत न होगा कि 'नदी के द्वीप' के लेखक के सिद्धान्तानुसार—'जो रस देती है, जीवन को उभारती है, उसे अश्लीलता नही कहना चाहिए।"[२८७]—इन प्रसगो को अश्लील नहीं कह सकते। उपर्युक्त स्थिति ने भुवन और रेखा दोनों को रस दिया था, दोनों के—विशेषत: रेखा के—जीवन को उभारा भी था, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता,—वह उभारना चाहे क्षण भर के लिए था। वास्तव में, भुवन को इस बात का गर्व है और सन्तोष भी कि वह रेखा की 'फुलफिल्मेंट' का निमित्त बन सका: "तो क्या यही 'फुलफिल्मैंट' नहीं है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके—देने का निमित्त बन सके—जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है? सचमुच ऐसे संधि-स्थल पर ही मरना चाहिए, यह कहते हुए कि मैं कुछ दे सका जो मुझसे बड़ा है, मुझसे अच्छा है।"[२८८]

---

२८६. D. H. 'Lawrence, Lady Chatterley's Lover', p. 108:

"To tell the truth, he was sorry for what had happened, perhaps most for her sake. He had sense of foreboding. No sense of wrong or sin, he was troubled by no conscience in this respect. He knew conscience was chiefly fear of society, or fear of oneself. He was not afraid of himself."

२८७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २८६।

२८८. वही, पृ० २०८।

छठा अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास-क्रम

प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास—लोकरंजन की माँग—**अनायास चरित्रचित्रण**—**सोद्देश्य चरित्रचित्रण**—सामाजिक आन्दोलन—लोकरक्षण की मांग—बहिरंग चरित्रचित्रण—सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकारों के चरित्रचित्रण पर तुलनात्मक टिप्पणी—**मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण**—अन्तरंग चरित्रचित्रण—मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के चरित्रचित्रण पर तुलनात्मक टिप्पणी।

औपन्यासिक चरित्रचित्रण की मुख्य समस्या

औपन्यासिक चरित्रचित्रण का भविष्य

उपसंहार

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास-क्रम

उपन्यास की हम चाहे कोई भी परिभाषा स्वीकार करें, पर इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि उसका मुख्य विषय मानव-जीवन है। मानव एक पहेली है; एक रहस्य है—दूसरों के लिए ही नही, अपने लिए भी। इस पहेली को सुलझाने की, उस रहस्य को खोलने की, थोड़ी-बहुत चेष्टा प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। उपन्यास का वास्तविक विषय तो मानव है, पर मानव जीवधारी है; उसका जीवन होता है। जीवन-संग्राम में प्रस्फुटित उसकी विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही उसका परिचय मिल पाता है। इसलिए, उपन्यास मानव को उसके जीवन से अलग करके नही देख सकता और उसका विषय विस्तृत होकर मानव-जीवन बन जाता है। मानव-चरित्र के उद्‌घाटन के लिए उपन्यास को मानव के जीवन और जगत् दोनो का चित्रण करना पड़ता है। उपन्यासकार वस्तु-जगत् का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी पात्र को अपने कल्पित उपन्यास-जगत् के बीच लाकर, उसके चतुर्दिक् की परिस्थिति का चित्रण करता है और उस परिस्थिति में हुई पात्र की क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण करता हुआ उसके प्रति पात्र के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। पात्र की प्रवृत्तियो के साथ उसकी परिस्थितियों का अंतर्विरोध दिखाने से ही उपन्यासकार का काम नही चलता, प्रत्युत् निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियो के कारण जीवन के अनुभवो में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप इस अन्तर्विरोध में जो रूपान्तर घटित होता रहता है, उपन्यासकार को उसे भी दिखाना होता है। इस प्रकार, चरित्रचित्रण के प्रयत्न मे उपन्यास मानव की अपनी परिस्थितियों के साथ उसके सम्बन्ध की तथा अपने परिपार्श्व के प्रति उसके दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास की अभिव्यक्ति बन जाता है। हिन्दी-उपन्यास भी इस प्रक्रिया का अपवाद नही।

उपन्यास से लोकरंजन की मांग

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि भारतेन्दु काल (सन् १८५०-१९०० ई०) के

प्रथम चरण से ही तैयार होनी आरम्भ हो गई थी। भारतेन्दु-काल के पूर्वार्द्ध की राजनीतिक परिस्थितियों तथा सामाजिक प्रवृत्तियो का उल्लेख करते हुए हम लिख आए है कि वह युग भारत के नैतिक पतन का युग था। जब राजा अत्याचारी हो, पर हो शक्तिशाली तथा जनता तंग हो, पर हो असहाय और निरुपाय, तब उसके पास इसके सिवाय और क्या चारा हो सकता है कि हाथ पर हाथ धर, अपने भाग्य को रोती रहे—विशेषत: जब उसने सगठित विद्रोह के रूप में पुरुपार्थ करके देख लिया हो और भाग्य ने उसका साथ न दिया हो। ऐसी घोर निराशापूर्ण स्थिति में जनता का, भाग्य आदि अतिमानवी शक्तियों में विश्वास करने लगना स्वाभाविक था और यह भी स्वाभाविक था कि धर्म के नाम पर रूढ़िवाद का बोलबाला होता और कुरीतियों और अधपरम्पराओं को प्रश्रय मिलता। उस युग की जनता एक ओर तो इस प्रतीक्षा में एक-एक करके दिन काट रही थी कि कब अंग्रेजों के पाप का घड़ा भर कर फूटे और अतिमानवी शक्तियाँ उन्हें उनकी करनी का फल दे; दूसरी ओर वह अपने दैनिक जीवन के अनुभवों की कटुता कम करने के लिए जीवन की यथार्थता से पलायन की ओर प्रवृत्त हुई।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासो को जनता की इन प्रवृत्तियो को तृप्त करना पड़ा। धार्मिकता की पुट लिए सामाजिक उपन्यासो ने जनता की पहली प्रवृत्ति को खाद्य प्रदान किया और तिलस्म-ऐय्यारी और जासूसी के उपन्यासों ने दूसरी प्रवृत्ति को तुष्ट किया। श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट आदि के उपन्यासों में अच्छे और बुरे पात्रों में संघर्ष, बुरे पात्रों द्वारा अच्छे पात्रों पर अत्याचार और अन्त में अच्छे पात्रों की विजय और बुरे पात्रों को उनके कुकृत्यों के लिए दण्ड आदि के चित्रण से जनता के इस विश्वास को बल मिला कि पाप का घड़ा भर कर एक न एक दिन अवश्य फूटेगा और अंग्रेजों के अत्याचार का अन्त होगा। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में तिलस्मी करामातों के चित्रण से अतिमानवी शक्तियों में जनता की निष्ठा बढ़ी। उनके ऐय्यारों के मन्त्र-मुग्ध कर देने वाले क्रिया-कलाओं ने पाठकों को आत्मविस्मृत करके उन्हें जीवन की कटु यथार्थताओं से मुक्त होने का—थोडे समय के लिए ही सही—अवसर प्रदान किया। इस दूसरी प्रवृत्ति को तृप्त करने वाले उपन्यासों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गई और प्रेमचन्द के हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने तक लोगों की इस माँग को पूरा करने के लिए हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्ति लोकरक्षण की अपेक्षा लोकरंजन की अधिक रही। लोकरक्षण की पूर्ण उपेक्षा तो इसने नहीं की। देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी ने भी अपने उपन्यासों में सत् और असत् पात्रों के भेद को नहीं भुलाया; धर्म और न्याय के मार्ग पर चलने वाले पात्रों की अन्त में विजय दिखाई और दुष्ट और अधर्मी पात्रों को दण्ड दिलाया। पर उनका मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन रहा। उनका लक्ष्य नाना प्रकार की विस्मयोत्पादक घटनाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन करके पात्रों के हृदय में कुतूहल

जागृत करते हुए उन्हे मुग्ध करने की चेष्टा करना था—घटनाओं के घटाटोप के पीछे जो एक रहस्यमयता छिपी रहती है, उसका धीरे-धीरे उद्घाटन करके पाठकों के औत्सुक्य को निरंतर बढ़ाते रहना था।

अनायास चरित्रचित्रण

इसमें सन्देह नही कि इन उपन्यासों का लक्ष्य लोकरंजन था न कि पात्रों का चरित्रचित्रण, तो भी इन उपन्यासों में चरित्रचित्रण की पूर्ण उपेक्षा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता। उपन्यास-रचना के लिए लेखनी उठा कर चरित्रचित्रण की समस्या से भला कोई उपन्यासकार बच पाया है! अपने पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए इन उपन्यासकारों ने चाहे कोई आयास न किया हो, पर उनके पात्रों के नामों, परिचयात्मक वर्णनों, आकृति-वेशभूषा-चित्रणों, घटना-चक्रों, कथोपकथनों, अध्यायों के शीर्षकों, पात्रों के एक-दूसरे को लिखे पत्रों आदि में उनका चरित्र अनायास ही व्यक्त हो पड़ता है।

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

सामाजिक आन्दोलन : उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए देशव्यापी सुधारवादी आन्दोलनों ने भारतीय जनता को पतन के अतल गर्त से उबारा। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी विवेकानन्द आदि के अथक परिश्रम से प्राचीन भारतीय संस्कृति का शुद्ध और निर्मल रूप लोगों के सामने आया, भारत के गौरवमय अतीत का प्रकाशन हुआ और धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर सबका ध्यान गया। निराशा का स्थान आत्मविश्वास ने लिया, लोगों की आस्था भाग्यवाद से हट कर सामाजिक सगठन में केन्द्रित हो गई तथा व्यक्तिगत सुख-दु:ख की भावना नि:स्वार्थ सेवा में बदलने लगी। समाज पर से कूपमण्डूक लोगों का आतंक उठा, धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियों और अंध-परम्पराओं की पोल खुली और चारों ओर बड़े ज़ोर से सुधारों की माँग व्यक्त हुई। जब तक सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से राष्ट्रीय चेतना और तज्जनित स्वतन्त्रता-संग्राम में परिणत नहीं हो गई, अपनी परिस्थितियों के प्रति जनता का सुधारवादी दृष्टिकोण बना रहा और उसकी चेष्टा समाज-व्यवस्था को सब प्रकार से सुदृढ़ और न्यायपूर्ण बनाने की रही।

इसी बीच अपनी लोकरंजन-शक्ति के कारण उपन्यास, साहित्य की अन्य सभी विधाओं से आगे बढ़ चुका था। उसके पाठकों और प्रशंसकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो रही थी और इसके साथ ही उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ रहा था। उपन्यास से माँग की जाने लगी थी कि वह लोकरंजन में ही न उलझा रह कर लोक-रक्षण की ओर भी प्रवृत्त हो तथा विस्मयोत्पादक अस्वाभाविक घटनाओं के वर्णन

का मोह त्याग कर जीवन और जगत् की यथार्थ समस्याओं का निरूपण करे; वह सुन्दर ही नही, शिव भी हो; प्रिय ही नही, हितकर भी बने। लोकरक्षण के लिए यह आवश्यक था कि समाज-व्यवस्था में, उसके द्वारा स्वीकृत आचार-व्यवहार में तथा उसके विधि-निषेधों में उपन्यास की पूर्ण आस्था होती और वह संस्थावाद का प्रचार करता। इस माँग की पूर्ति में उपन्यास कोरी कल्पना की उड़ान भरना छोड़ जीवन और जगत् के आदर्शों का चित्रण करने लगा, उसके पात्र अतिमानवी शक्तियों से वंचित होकर सीमित सामर्थ्य वाले गुण-दोष-युक्त मनुष्य प्रतीत होने लगे, और उनका चरित्रचित्रण सोद्देश्य--सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए आयासपूर्वक—होने लगा।

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण—हम पहले कह आए हैं कि मानव-चरित्र हिमनग (आईसबर्ग) के समान है। जिस प्रकार हिमनग का केवल $\frac{1}{8}$ भाग जल के ऊपर दिखाई देता है और शेष जल-मग्न रहता है, उसी प्रकार मनुष्य के चरित्र का अत्यल्पांश ही उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं में प्रतिबिम्बित हो पाता है। मानव के चरित्र का बहुत बड़ा भाग तो उसके अचेतन मन में अव्यक्त रहता है और उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित किया करता है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले इन उपन्यासकारों की रुचि हिमनग रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अंश में ही रही और अपने पात्रों की आकृति, वेशभूषा, उनके आस-पास की परिस्थिति, उस परिस्थिति में व्यक्त उनके हाव-भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के माध्यम से ही वे उनके चरित्र को चित्रित करते रहे। इनमें से कुछ-एक उपन्यासकारो ने मानव-चरित्र के अव्यक्त अंश का आभास पाकर उसे चित्रित करने की चेष्टा की भी तो उनके चित्रण मनोवैज्ञानिक सत्यांशों से दूर जा पड़े। उनमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के यथार्थ रूप की झाँकी न मिल सकी, क्योंकि अधिकांशतः उनके प्रयास का आधार भावुकतापूर्ण अनुमान ही होता था। प्रधानतया, उनकी प्रवृत्ति अपने पात्रों का बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण करने की ही थी। वे उन्हें 'वे' के रूप में ही चित्रित कर सके थे। अपने पात्रों के अव्यक्त 'मैं' रूप की यथार्थता से वे उपन्यासकार लगभग अनभिज्ञ ही थे। अपने सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्हें पात्रों के 'मैं' रूप की आवश्यकता भी नहीं थी। उनके लिए उनका 'वे' रूप ही पर्याप्त था।

सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले हिन्दी-उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का शीर्ष स्थान है। अपने पात्रों के चरित्रचित्रण की प्रत्येक अवस्था में वह उनके निर्माण में निहित सामाजिक उद्देश्य के प्रति जागरूक रहते हैं। उन्हें उद्देश्यानुकूल रंग-रूप प्रदान करके और अच्छी तरह सिखा-पढ़ा कर ही प्रेमचन्द उन्हे उपन्यास के रंगमंच पर लाते हैं। उन्हें रंगमंच पर छोड़कर स्वयं चले नहीं जाते, अपितु वहीं डटे रहते हैं और उनकी प्रत्येक गतिविधि पर नियंत्रण रखते हुए उनसे वही कराते हैं, जिससे उनकी सामाजिक मान्यताओं की पुष्टि हो। पाठकों से प्रेमचन्द उनका

सीधा सम्पर्क नही होने देते और न ही पाठको को उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का मन-माना अर्थ लगाने देते हैं, प्रत्युत् साथ-साथ अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करते रहते है और इसी बहाने पाठको पर अपना मत लादते जाते हैं। इस प्रकार, प्रेमचन्द अपने पात्रो और पाठकों, दोनों को ही, अनुशासन में रखने की चेष्टा करते हैं, मानो उनके पात्र कल के छोकरे हों और पाठक निरे बुद्धू हों।

जयशंकर प्रसाद के पास था नाटककार का विशाल अनुभव। प्रेमचन्द की तरह वह अपने पात्रों के साथ उपन्यास के रंगमंच पर प्रकट नही होते। पात्रों को स्वय ही अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा पाठकों पर प्रकट होने देते हैं। अपने पात्रों पर उनका नियंत्रण न रहता हो, यह बात नहीं; पात्रों को वे भी अपनी इच्छानुसार चलाते हैं। उनके पात्रों के आचार-व्यवहार के पीछे भी पाठक उनके स्रष्टा के अस्तित्व को महसूस करता है, पर उसे देख कहीं नही पाता। यहाँ तक कि पाठक कई बार चाहता भी है कि उपन्यासकार प्रकट होकर पात्रों के चरित्र की गुत्थी को सुलझाए, पर प्रसाद को तो सामने आने की आदत नहीं। पर्दे की ओट में खड़े-खड़े ही वह पाठक की सूझ-बूझ परखते रहते हैं और उसकी झल्लाहट पर मुस्कराते रहते है, यह उनकी नाटकीय प्रणाली की सीमा है, जिसके प्रति उपन्यासों में भी उनका मोह बना रहा है। चरित्रचित्रण की विश्लेषणात्मक शैली में उनकी रुचि नहीं। विश्लेषणात्मक शैली को तो प्रेमचन्द ने भी अधिक नही अपनाया। वह भी मुख्यतः वर्णनात्मक शैली में उलझे रहे। पर उनके पात्रों के चरित्रचित्रण में कहीं भी दुरूहता नही आ पाई, क्योंकि उन्होने अपने पात्रो को दृढ़चरित्र (पाजैटिव-कैरेक्टर) प्रदान किया, जिससे वे बहिर्मुख अधिक रहे। पर प्रसाद ने सामाजिक आदर्शवाद के चक्कर में न पड़ कर अपने पात्रों को उनकी परिस्थितियों के अनुकूल ही ढुलमुल रहने दिया और सबसे बडी गड़बड यह की कि उनके भीतर के तरल द्रव्य की ओर संकेत करके उसे पूरी तरह चित्रित किये बिना ही छोड़ दिया। परिणामतः उनके पात्रों की कई क्रियाओं की अंतःप्रेरणाओं में एकसूत्रता नहीं आ पाई और वे असम्बद्ध रह गई हैं।

पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्द से बहुत आगे, सभी सामाजिक मूल्यों के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाने वाले मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रों के निकट ठहरते हैं; पर चरित्रचित्रण की दृष्टि से वह प्रेमचन्द के ही संशोधित संस्करण कहे जा सकते है। व्यक्ति के सामाजिक रूप में उसका नैसर्गिक आचरण कितना दबा रहता है और परिस्थिति के अनुरोध से आरोपित उसका आनुकूलिक आचरण (एडेप्टिव बिहेवियर) किस प्रकार देखने वालों को भरमाता रहता है, इसका चित्रण वर्मा जी के उपन्यासों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

अपने औपन्यासिक पात्रों के चरित्रचित्रण में वृन्दावनलाल वर्मा का दृष्टिकोण इतिहासकार का अधिक रहा है और उपन्यासकार का कम। प्रत्यक्ष प्रमाण को ही

उनकी चरित्रचित्रण-कला में अधिक मान मिला है। जयशंकर प्रसाद की तरह नाटकीय प्रणाली में और उसमें भी मुख्यतः कथोपकथनों के माध्यम से उन्होने अपने पात्रों का बहिरंग चित्रण किया है। भीतर के तरल मानस को उन्होंने अधिक नहीं छेड़ा। इसलिए, उनका चरित्रचित्रण सतही चाहे रह गया हो, उसमें वह दुरूहता नहीं आने पाई, जो प्रसाद के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में मिलती है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से यशपाल सोद्देश्य उपन्यासकारों के बहिरंग चित्रण और मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के अंतरंग चित्रण की सीमा पर खड़े हैं। न तो वह सामाजिक आदर्शवाद की धुन में पात्रों के स्थूल रूप में ही उलझे रहे हैं और न ही व्यक्तिमानस की गहराइयों में डूब कर खो गए हैं। क्योंकि उनके कई पात्र एक साथ वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र दोनों ही रूपों में चित्रित हुए हैं, उनके पात्रों का बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार का चित्रण हुआ है। उनका चरित्र-चित्रण न तो अन्य सोद्देश्य चरित्रचित्रण वाले उपन्यासकारों की तरह सतही रहा है और न ही उसमें मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दुरूहता आ पाई है। उनकी चरित्रचित्रण-कला पाठकों से किसी प्रकार के आयास की अपेक्षा किए बिना पात्रों का बाह्याभ्यन्तर स्फटिक स्पष्ट कर देती है पर एक सीमा तक और वह सीमा है उनकी मार्क्सवादी मान्यताओं की। यशपाल की चरित्रचित्रण-कला में यदि अपनी बात मनवाने का आग्रह न होता तो उनका औपन्यासिक चरित्रचित्रण बेजोड़ होता।

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

अब तक मानव का दृष्टिकोण अपने आस-पास की परिस्थितियों के प्रति उदासीनता का नहीं, संघर्ष का दृष्टिकोण रहा था। इसलिए उपन्यास भी व्यक्ति और समाज के संघर्ष का तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष का चित्रण करता रहा। इन उपन्यासों के पात्र जीवन-भर समाज से संघर्ष करते रहे तथा समाज के विधि-निषेधों ने उनका नाक में दम किए रखा, पर क्षण भर के लिए भी उन्होंने अपने को समाज से अलग नहीं माना। समाज के भीतर रहकर ही वे उसकी व्यवस्था में घुस आई विकृतियों को सुधारने में संघर्षरत रहे। समाज के अत्याचार द्वारा वे चाहे पिस गए हों और सामाजिक न्याय में उनका विश्वास भी हिल रहा हो; पर समाज से अलग होने की, उसकी पूर्ण उपेक्षा करने की, बात उन्हें कभी नहीं सूझी थी। पर युग ने करवट ली। समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष से तथा व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष से समाज-व्यवस्था खोखली तो हो ही रही थी, वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास ने उस पर करारी चोट की। उधर डार्विन, मार्क्स तथा फ्रॉयड के सिद्धान्तों के प्रभाव से सभी पुरातन, नैतिक और सामाजिक मूल्य बदलने लगे, समाज के विधि-निषेधों के प्रति अस्वीकारिता का भाव जोर पकड़ने लगा और धीरे-धीरे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उदय हुआ। व्यक्ति की आस्था अपने परि-

पार्श्व—समाज, वर्ग तथा परिवार—से हटकर अपने में ही केन्द्रित होती गई। उसकी बहिर्मुखता घटी और वह अन्तर्मुख होता गया। उसके जीवन में बाह्य संघर्ष का स्थान मानसिक संघर्ष ने ले लिया। अपने परिपार्श्व के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण के बदलते ही उपन्यास का विषय भी बदल कर व्यक्ति-मानस हो गया, उसके पात्र भी धीरे-धीरे ढुल-मुल व्यक्ति होने लगे और चरित्रचित्रण का आधार सामाजिक उद्देश्य न रह कर मनोविज्ञान हो गया।

फ्रॉयड की खोज ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित किया था, उससे उपन्यासकार को नई दृष्टि मिली। एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हेवलॉक ऐलिस की धारणाओं ने उसकी बड़ी सहायता की। पात्रों के मन में हो रही उथल-पुथल के चित्रण का प्रयत्न तो वह पहले भी करता था पर वह उनकी आकृति, वेष-भूषा, उनके विविध अनुभाव और व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया पर आधारित अनुमान के बल पर होता था। अपने पात्र के मन में हो रहे संघर्ष के यथार्थ रूप से वह अब तक अपरिचित ही रहा था। मनोवैज्ञानिक खोजों ने उसकी आँखें खोल दी और उसे पता चला कि व्यक्ति का व्यक्त चरित्र ही सब कुछ नहीं अर्थात् उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया, हाव-भाव और कथोपकथन में उसका स्वल्पांश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष अधिकांश तो अव्यक्त रहता है और उसके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। अब उपन्यासकार समझ गया कि उस अव्यक्तांश का यथार्थ रूप जाने बिना व्यक्ति को समझ सकना कठिन है। फलतः उपन्यासकार के लिए व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष का कोई मूल्य न रहा और वह व्यक्ति के मानस में हो रहे चेतन और अचेतन संघर्ष को पकड़ने मे प्रवृत्त हुआ। फ्रॉयड, एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हेवलॉक ऐलिस की धारणाओ ने उसे नई दृष्टि दी और वह बड़े आत्म-विश्वास के साथ पात्रों के मानस की चीर-फाड़ करने और उनके अचेतन की परत-पर-परत खोलने में जुट गया। उसके पात्रो के चरित्रचित्रण में कोरे भावुकतापूर्ण अनुमान का स्थान मनोवैज्ञानिक प्रणालियो ने लेना आरम्भ किया और वह एक मनोविश्लेषक की दक्षता के साथ मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति-परीक्षण आदि द्वारा पात्रों के अचेतन में पड़ी मानसिक ग्रन्थियों और उनके कारणों को उघाड़ने लगा। अब उसका उपन्यास पात्र और परिस्थिति के संघर्ष का उपन्यास न रहा और न नायक और प्रतिनायक के संघर्ष का ही, प्रत्युत् अब वह नायक के चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) और उसके अन्तर्विवादो (इन्टीरियर मोनोलॉग) का उपन्यास बन गया।

अंतरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण—हिन्दी-उपन्यास में जैनेन्द्र जी एक पहेली के रूप में आए। हिन्दी के वे पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने अपने पाठको को संकीर्ण सामाजिक नैतिकता से निकालकर मूल नैतिकता के लिए गहरे आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त किया। अपने पात्रो के मानस की गहराइयों में गोता लगाकर उन्होंने यह दिखाया कि

कोई व्यक्ति जो दिखाई देता है, वह वही नही है। अपने पात्रों के मानस की परत-पर-परत खोलकर उसमें गहरे धँसे अचेतन द्वन्द्वों को उघाड़कर उन्होंने यह भी दिखा दिया कि वे जो करना चाहते हैं वह उनके किए होता नही और जिससे वे बचना चाहते हैं, वह उनसे अपने-आप हो जाता है। उनके अचेतन में निरन्तर परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष चलता रहता है जो उनके भाव-विचार और आचार को प्रभावित करके परिस्थिति से उनका मानसिक सतुलन नहीं बैठने देता। अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक समस्याओ का यथार्थ रूप चित्रित करने के लिए उन्होंने अनेक मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का सहारा लिया। पर उनकी गूढ़ आत्मचिंतन-प्रणाली और उसमें आवश्यक व्याख्या-सूत्रों का अभाव, चरित्रोद्घाटन की नई-नई शैलियो के मोह में पड़कर उपन्यासकार के सहज अधिकारों का उत्तरोत्तर त्याग, आवश्यकता से अधिक व्यंजकता के समावेश द्वारा पाठको को भरमाते रहना, उपदेशात्मकता से बचने के प्रयत्न में अभिप्राय की रास को ढील नही, हल्की खीच देकर चलना आदि कई विशिष्टताएँ मिलकर उनकी चरित्रचित्रण कला में एक ऐसा "जैनेन्द्रपन" ला देती हैं, जिससे पूरा परिचय पाए बिना पाठक उनके औपन्यासिक पात्रो से सायुज्य स्थापित नही कर पाता।

इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति-मानस की चीर-फाड़ बड़ी निर्भीकता से की और अपने पात्रों की अचेतन ग्रन्थियों को उघाड़ने के लिए लगभग सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का सहारा लिया। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा उद्घाटित पात्रों की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के यथार्थ रूप को पाठकों पर प्रकट करने के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक व्याख्या का भी अपने उपन्यासों में प्रचुर मात्रा में समावेश किया और पात्रों में वह दुरूहता नही आने दी, जिसके कारण जैनेन्द्र जी के पात्रों से झल्लाहट होती है। पर स्पष्टीकरण की धुन में उनके उपन्यासों में व्याख्यात्मक अंश इतना अधिक बढ़ गया है कि उनमें खप नहीं पाता और उनके मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को साधन से साध्य बना देता है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि विविध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की नींव पर ही उन्होंने अपने पात्रों का निर्माण किया है।

'शेखर : एक जीवनी' की रचना द्वारा अज्ञेय ने हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण को एक नई दिशा प्रदान की। तब तक उपन्यासकारों की समस्त शक्ति चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं में पात्रों के चरित्रोद्घाटन में लगी रही थी। विकासमान चरित्र (करैक्टर इन दी मेकिंग) को चित्रित करने की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। हिन्दी-उपन्यास में सर्वप्रथम विकासमान चरित्र के चित्रण द्वारा मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यक्ति के जीवन में कार्य-कारण परम्परा को पकड़ने का श्रेय अज्ञेय को ही है। अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या उनके 'शेखर : एक जीवनी' की मुख्य टेकनीक है। उनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का उपन्यास नही, विकसित चरित्र के उद्घाटन का

उपन्यास है; अनुभूति के विविध स्तरो पर वह चार सनेदनाओ का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अंतरंग चरित्रचित्रण, जो सामाजिक उद्देश्य वाले उपन्यासो के बहिरग चरित्रचित्रण की स्थूलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रेरित हुआ था, व्यक्ति-मानस की गहराइयों में खोकर इतना सूक्ष्म हो गया कि उसे पकड़ने के लिए पाठको को अत्यधिक आयास की अपेक्षा होने लगी।

औपन्यासिक चरित्रचित्रण की मुख्य समस्या

उपन्यासकार की लेखनी से निकलते ही उपन्यास पाठकों का हो जाता है। पाठक उपन्यास को पढ़ता ही नहीं, साथ-साथ अनुभव भी करता जाता है। वह यह जानने के लिए अधीर रहता है कि उसके किस पात्र के और कितने गहरे अनुभव उस तक पहुँचाये जा रहे हैं और उनसे उसका अपना मर्म कहाँ तक छिड़ा है अर्थात् उस की अपनी गत अनुभूतियों से ये अनुभव कहाँ तक मेल खाते हैं। उपन्यास के किसी पात्र की मनोव्यथा जब पाठक के हृदय को छू जाती है, उसके मर्म को छेड जाती है, तब पाठक का पात्र से सायुज्य स्थापित हो जाता है और वह आत्म-विभोर होकर वाह-वाह कर उठता है। जिस उपन्यास के किसी भी पात्र से पाठक पूर्णतया सायुज्य स्थापित नही कर पाता, उस उपन्यास से उसे साहित्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती—उसमें पात्रों के बाह्याभ्यन्तर का चित्रण चाहे कितना ही यथार्थ हुआ हो। हिन्दी-उपन्यास के इतना आगे बढ जाने पर भी प्रेमचन्द उपन्यास-सम्राट् बने हुए हैं तो इसलिए नही कि उन्होंने सबसे अधिक उपन्यास लिखे। इसलिए भी नहीं कि उन के उपन्यास आकार में बहुत बड़े-बड़े होते हैं। पाठको के हृदय-सिंहासन पर उपन्यास-सम्राट् के रूप में प्रेमचन्द अब तक इसलिए विराजमान हैं कि उनके उपन्यासों में अधिकाश पाठकों को, वे चाहे किसी भी वर्ग या विचारधारा के हो, एकाधिक पात्र ऐसे मिल जाते हैं, जिनसे वे सायुज्य स्थापित कर सके; और दूसरी बात यह कि उनसे सायुज्य स्थापित करने में पाठकों को कोई आयास नही करना पड़ता। इसलिए, औपन्यासिक चरित्रचित्रण के लिए इतना ही पर्याप्त नही कि वह पात्रो के बाह्याभ्यन्तरिक रूप का यथार्थ चित्रण कर सके, प्रत्युत् यह भी आवश्यक है कि वह पाठकों से विशेष आयास की अपेक्षा न करे; अन्यथा जो पाठक विशेष आयास न कर सकेंगे, उन के लिए उपन्यास के पात्रो से सायुज्य स्थापित कर सकना कठिन हो जाएगा।

हिन्दी-साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के उदय से पहले का औपन्यासिक चरित्रचित्रण पाठको से किसी विशेष आयास की अपेक्षा नही करता था। तब तक के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अंश के चित्रण में ही रही थी। उसके जल-मग्न अव्यक्त अंश के चित्रण में न तो उन्हे रुचि थी और न उसकी उन्हें आवश्यकता ही थी। इसलिए, उन्होंने अपने पात्रो का

प्रधानतया बहिरंग (ऑब्जैक्टिव) चित्रण ही किया ; उनके उसी रूप का उघाडा जो विविध परिस्थितियो मे दूसरो पर व्यक्त होता रहता था। अपने पात्रो के आभ्यन्तरिक चित्रण की, उनकी मनोदशा के वर्णन की, आवश्यकता तो उन्हें पडी और उन्होने उसका अकन भी किया पर उसका आधार मनोविज्ञान नही, उनकी आकृति-वेशभूषा, क्रिया-प्रतिक्रिया, हाव-भाव, कथोपकथन आदि के आधार पर लगाया गया अनुमान ही होता था, जिसमें प्राय. भावुकता की पुट रहती थी। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पात्रो के चरित्र को समझने और समझाने की उनकी प्रक्रिया प्रयोगशाला में अपनाई जाने वाली विशेषज्ञों की प्रक्रिया न थी, प्रत्युत् उन्होने उसी पद्धति का आश्रय लिया था, जिसे दैनिक जीवन में हम एक-दूसरे को समझने और समझाने के लिए अपनाते है। इसलिए, उन उपन्यासकारो के पात्रों से सायुज्य स्थापित करके साहित्यानन्द प्राप्त करने में पाठकों को कोई विशेष आयास नही करना होता था, क्योकि उपन्यासकार की चरित्रचित्रण-प्रणाली उनकी अपनी और चिर-परिचित होती थी।

व्यक्ति-मानस की गूढ़ता : पर हिन्दी-साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के उदय से स्थिति बदल गई। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो की रुचि मानव-चरित्र के व्यक्त रूप की अपेक्षा अव्यक्त रूप में अधिक थी। वे हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जल-मग्न अव्यक्तांश के चित्रण में प्रवृत्त हुए, जो स्वय दृष्टि से ओझल रहकर व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। पात्रों के व्यक्त रूप को समझने और समझाने के लिए वे उनकी अन्तःप्रेरणाओ को पकड़ने की ओर प्रवृत्त हुए और उनके मानस की मनोवैज्ञानिक आधार पर चीर-फाड कर, उसकी परत-पर-परत खोलकर उनके व्यक्त आचरण के चेतन ही नहीं, अचेतन प्रेरकों तक को भी पकड़ने की चेष्टा करने लगे। पर अचेतन मन को पकड़ पाना कोई सरल काम नहीं। वैसे तो चेतन मन की प्रवृत्तियों को समझ पाना भी बड़ा कठिन है, पर अचेतन मन की प्रवृत्तियों को पकड़ पाना तो और भी कठिन है। अचेतन की व्याख्या करते हुए फ्रॉयड ने स्वयं एक बार कहा था कि अचेतन मन की भीतरी प्रकृति हमारे लिए उसी प्रकार अज्ञात रहती है जिस प्रकार बाह्य जगत् की यथार्थता; और अचेतन सामग्री में उसकी झलक उतनी ही अधूरी मिलती है, जितनी हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् की जानकारी। इसलिए, इस अचेतन को समझ सकना साधारण लोगों के नहीं, मनोविश्लेपकों के ही वश की बात है। यह अचेतन मन जब व्यक्ति की अचेतन कल्पनाओं और विचारों की भाषा में भी पूरी तरह नहीं समझा जा सकता तो इसे समझाया कैसे जा सकता है और वह भी शब्दों की ससीम भाषा में जो चेतन मन की ही एक उपज है। इसलिए, कहना न होगा कि व्यक्ति-मानस की अचेतन प्रवृत्तियाँ इतनी गूढ़ होती हैं कि उपन्यासकार यदि सफल मनोविश्लेषक हो और उपन्यास में उसने उन सभी प्रणालियों का प्रयोग किया हो, जिनको एक मनोविश्लेषक अपनाता है तो भी शायद ही वह उन्हें उघाड़ सकेगा। वास्तव में, यह उपन्यास के विषय—अचेतन मन— की गूढ़ता है, जहाँ

उपन्यासकार को लाचार हो जाना पड़ता है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय प्रभृति उपन्यासकारों के लाख चेष्टा करने पर भी उनके पात्रों के चरित्रचित्रण में जो दुरूहता बनी रही है उसका एक कारण यह भी है।

आयास-साध्यता : मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की पहली सीमा उसके विषय अचेतन मन की अतिगूढ़ता और अकथनीयता है, तो उसकी दूसरी सीमा यह है कि अचेतन का जितना अंश मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण में निहित होता है, उतना भी समझ पाना पाठको के लिए कठिन हो जाता है। जोसैफ फ्रैंक ने जो यह कहा है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास साधारण अर्थ में पढा नहीं जा सकता—सदा उसके पुनर्पठन की आवश्यकता रहती है, उसका कदाचित् यही अभिप्राय है कि केवल एक बार पढ़ने से मनोवैज्ञानिक उपन्यास समझ में नही आता। मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक से ही नही, पाठक से भी आयास की माँग करता है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का रूप स्थिर करने वाले पहले मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार ने भी यह माँग अपने प्रथम उपन्यास 'परख' मे ही व्यक्त कर दी थी।

मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की सबसे बडी कमजोरी उसके यह मानकर चलने में है कि उसके पाठक मनोविज्ञान के पूर्ण पण्डित है और वे विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियो से पूर्णतया परिचित है। इसलिए, वह नि.सकोच उन सभी प्रणालियों का प्रयोग करता है, जिन्हे एक मनोविश्लेषक अपनाता है—अधिक से अधिक वह यह करता है कि औपन्यासिक सुविधा के अनुसार उन्हे थोड़ा रूपान्तरित कर लेता है। अपने पात्रों के मुक्त आसंगो (फ्री एसोसिएशंज), व्यक्त स्वप्नों (मैनीफेस्ट ड्रीम), अन्तर्विवादो (इन्टीरियर मोनोलॉग) आदि के रूप में, जो अचेतन मन की अनगढ़, टूटी-फूटी, युक्तिहीन भाषा में होते है, वह अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणो को अभिव्यक्त तो कर देता है, पर उन्हें समझ तो वही सकेगा जो अचेतन मन की भाषा को समझने में विशारद हो। अभी ऐसे कितने पाठक होगे—विशेषकर हिन्दी-उपन्यास के—जो बिना किसी सहायता के अचेतन मन की भाषा को समझ सकते हैं। यह तो साधारण पाठको की बात है, पर पाठक यदि अनुभवी मनोविश्लेषक हो तो भी वह कदाचित् ही पात्रो के मुक्त आसगों, अंतर्विवादों, चेतना-प्रवाहो आदि को पूरा-पूरा समझ सकेगा; क्योकि उनमें दी हुई अचेतन सामग्री उपन्यासकार ने अपनी रुचि, अनुभव और युक्तिक्रम के आधार पर सजाई होगी, जो मनोविश्लेषक पाठक के लिए असंगत और अपर्याप्त भी हो सकती है। दूसरे, पाठक को उस स्वल्प सामग्री पर ही निर्भर रहने के लिए विवश होना पड़ता है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर पात्रो से पूछ-ताछ करने की सुविधा—जो मनोविश्लेषक का सहज अधिकार माना जाता है—उपन्यास के पाठक को उपलब्ध नही होती। ये कठिनाइयाँ उस पाठक की है जो मनोविज्ञान का पण्डित है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण पाठक मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को कितना समझ पाता होगा।

पात्रों के चेतना-प्रवाह को समझे बिना पाठक उनसे सायुज्य कैसे स्थापित कर सकेगा और किसी पात्र से सायुज्य स्थापित किये बिना उसे उपन्यास में साहित्यानन्द की प्राप्ति कैसे होगी। इसीलिए, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों का अन्तरग (सब्जैक्टिव) चित्रण अधिक यथार्थ होने पर भी उनके प्रशंसकों की सख्या आज बहुत कम है। मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण पाठको से अत्यधिक आयास माँगता हे और उसकी इस माँग को पूरा करने वाले पाठको की संख्या अभी नगण्य है।

चरित्रचित्रण का भविष्य

ऊपर मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दुरूहता का और सोद्देश्य अर्थात् बहिरंग (ऑब्जैक्टिव) चरित्रचित्रण की सरलता का जो उल्लेख किया गया है, उससे लेखक का अभिप्राय यह नही कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक अंतरंग चरित्रचित्रण छोड़कर सोद्देश्य बहिरंग चरित्रचित्रण की ओर लौट चलें। न ही ऐसा करने से चरित्रचित्रण की यह विकट समस्या सुलझ सकेगी। फ्रॉयड, एडलर और जुंग की खोजों ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित किया है, उससे प्रेमचन्द प्रभृति उपन्यासकारों का सोद्देश्य चरित्रचित्रण यथार्थ से दूर हटा हुआ प्रतीत होने लगा है। मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को पूर्णतया समझ सकने वाले पाठको की संख्या चाहे अभी अधिक न हो पर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचार के कारण आज इस प्रकार के निराश पाठकों की कमी नही, जिन्हें सोद्देश्य चरित्रचित्रण में उसके यथार्थ से दूर लगने के कारण रुचि नहीं रही, पर जो मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण में रुचि रखते हुए भी उसे पूरी तरह समझ नही पाते। इसलिए, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की क्षमता, उपयोगिता और उसमें बढ़ती हुई पाठकों की रुचि के कारण उससे इधर-उधर होने का आज के उपन्यासकार के लिए प्रश्न ही नही उठता। हाँ, उसे यह अवश्य सोचना होगा कि मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को पाठकों के लिए किस प्रकार सुबोध बनाया जाए। इस सम्बन्ध में उसे यह नहीं भूलना होगा कि जिस प्रकार मनोविश्लेपक द्वारा पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणों को उसके चेतन में ले आने से ही उस पात्र की वे कठिनाइयाँ दूर नहीं हो जातीं, प्रत्युत् मनोविश्लेपक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उन अचेतन प्रेरणाओं की उचित व्याख्या द्वारा उन्हें पात्र को समझाता भी जाए; उसी प्रकार, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण में इतना ही पर्याप्त नही कि उसमें पात्रों की अचेतन प्रेरणाएँ निहित हों, प्रत्युत् पाठको की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि उपन्यासकार उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा उन पर उचित टीका-टिप्पणी के अवसर निकाल कर उन्हें पाठकों के लिए बोधगम्य बनाए। उपन्यासकार को यह स्वीकार करना होगा कि जब तक उसके पाठक पात्रों के अचेतन तक पहुँचाने वाली सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियो से पूरी तरह परिचित नही हो जाते, एवं उन प्रणालियों पर

उनका सहज अधिकार नहीं हो जाता, तब तक अपने उपन्यासों में उचित व्याख्या के समावेश द्वारा उन्हें समझाने का दायित्व उपन्यासकार पर ही होगा। वह अपने इस दायित्व से कतराएगा तो उसके पात्र पहेली से दीखने लगेंगे और उपन्यास गोरख-धन्धा।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के चरित्र का अत्यल्पांश ही उसकी व्यक्त क्रिया-प्रक्रिया में प्रतिबिम्बित हो पाता है और उसका शेष बड़ा भाग, जो उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित करता है, अव्यक्त रहता है। उस अव्यक्त को शनैः शनैः उघाड़ने में ही चरित्रचित्रण की सार्थकता है। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि मानव-चरित्र वही नहीं जो व्यक्त है, तो मानव के अव्यक्त चरित्र को भी उसका समूचा चरित्र नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार हिमनग का जल के ऊपर वाला व्यक्त भाग और जल-मग्न अव्यक्त भाग दोनों मिलकर ही पूरा हिमनग बनता है, उसी प्रकार मानव-चरित्र के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में से कोई भी अपने-आप में पूर्ण नहीं; दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। कदाचित् इसीलिए, पात्रों के बहिरंग (ऑब्जैक्टिव) चित्रण में उलझा रहने वाला उपन्यासकार अपने पात्रों का सतही चरित्रचित्रण ही कर पाता है, और अंतरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण की धुन में व्यक्ति-मानस की अतल गहराइयों में खो जाने वाला उपन्यासकार अपने पात्रों को पहेली बना बैठता है। वास्तव में, चरित्रचित्रण की सफलता बहिरंग तथा अंतरंग चित्रण के समन्वय में है। भविष्य उसी उपन्यासकार का साथ देगा जो अपने उपन्यास में चरित्रचित्रण की इन दोनों शैलियों में सन्तुलन बैठा सकेगा।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची
और
पारिभाषिक शब्दावली

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची (BIBLIOGRAPHY)

ENGLISH

Adler, Alfred. 'On the Interpretation of Dreams', *International J. Indiv. Psychol. 2-No. 1.*

Adler, Alfred. *Problems of Neurosis,* Kegan Paul, Trench, London.

Adler, Alfred. 'A School Girl's Exaggerations of her own Importance', *International J. Indiv. Psychol. 3.*

Adler, Alfred. *Science of Living,* Greenberg, Pub. Inc., New York, 1929.

Adler, Alfred. 'Significance of Early Recollections', *International J. Indiv. Psychol. No. 3.*

Adler, Alfred. *Social Interest : A Challenge to Mankind,* trans. John Linton, Faber & Faber, London, 1938.

Adler, Alfred. *Understanding Human Nature,* Greenberg, Pub. Inc., New York, 1927.

Adler, Alfred. *What Life Should Mean to You,* Little Brown, Boston, 1931.

Alexander, F. *The Medical Value of Psycho—analysis,* Allen & Unwin, London, 1932.

Allain. *Systeme des Beaux.*

Allen, Walter (ed.). *Writers on Writing,* Phoenix House, London, 1948.

Allport, G. W. *Personality : A Psychological Interpretation,* Constable & Co., London, reprint, 1951.

Ansbacher, H. L. & R. R. Ansbacher. *The Individual Psychology of Alfred Adler,* Basic Books, Inc. New York, 1956.

Archer, William. *Playmaking : A Manual of Craftsmanship,* Chapman & Hall, London.

Aurobindo. *Lights on Yoga,* Arya Publishing House, Calcutta, 1948.

Barret, William E. 'The Living Character', *The Writer's Hand Book,* Writer's Inc., Boston, 1952.

Beauvoir, Simon De. *The Second Sex*, .Parshley's Eng. trans., Oxford, 1953.

Blake, W. H. 'A Priliminary Study of the Interpretation of Bodily Expression', *Teachers College Contrib. to Educ.*, 1933, No. 574.

Boas, R. P. Edwin Smith. *Enjoyment of Literature*, Harcourt, Brace & Co., New York.

Brightman, E. S. (ed). Proceedings of the Sixth International Congress of Philosophy, Longmans, London, 1927.

Campbell, Sir George, *Memoirs of My Indian Career. II.*

Carter, H. D. Emotional Factors in Verbal Learning—IV. Evidence from Reaction Time. *Journal of Educational Psychology, 1937 : 38.*

Church, Richard. *The Growth of the Novel*, Methuen & Co., London, 1951.

Cousins, Norman (ed.). *Writing for Love or Money*, Longman, Green & Co., Canada, 1949.

Crosland, H. *The Psychological Methods of Word-Association & Reaction Time as Test of Deception*, University of Oragon Publication, Psychol. Series, 1929, 1 . No. 1.

Dalbiez, R. *Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud*, trans, T. F. Lindsay, Longman, Green & Co. London, 1941.

Dine, S. S. Van. 'Twenty Rules for Writing Detective Stories', *The Writer's Hand Book*, Writer's Inc., Bostonr, 1952.

Dodwell, Henry. *A Sketch of the History of India : 1858-1918.* Longman, Green & Co., London, 1925.

Dodwell, H. H. *The Cambridge History of India*, Vol. VI, 1932.

Edel, Leon. *The Psychological Novel* (1900-1950), J.B. Lippincott Company, New York, 1955.

Egri, Lajoi. 'Plot or Character', *The Writer's Book*, Harper & Bros, New York, 1950.

Fielding, Henry. *Tom Jones*, Book II, The Modern Liby., New York.

Fielding, William J. *Self-Mastery Through Psycho-analysis*, Eton Reprint Edn., 1952.

Ford. *Joseph Conrad : A Personal Remembrance*, 1924.

Forster, E. M. *Aspects of the Novel*, Edward Arnold & Co., London., pocket edn., 1949.

Fox, Ralph. *The Novel and the People,* Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1954.

Frankenberg, Mrs. S. *Common Sense in the Nursery,* Penguin Book, revised edn 1946.

Freud, Sigmund. *Beyond the Pleasure Principle.* International Psycho-analytical Press, London, 1922.

Freud, Sigmund. *Fragments of an Analysis of a Case of Hysteria,* Dora, *Collected Papers*, Vol. III, 1905.

Freud, Sigmund. *Interpretation of Dreams,* trans. Strachey, Allen & Unwin, London, 1955.

Freud, Sigmund. *Interpretation of Dreams,* trans, A. A. Brill, *The Basic Writings of Sigmund Freud,* The Modern Lib., New York, 1938.

Freud, Sigmund. *Introductory Lectures on Psycho-analysis,* trans. Joan Riviers, Allen & Unwin, London, 1929.

Freud, Sigmund. *New Introductory Lectures on Psycho—analysis,* W W. Norton and Comp Inc., New York, 1933.

Freud, Sigmund. *Psychopathology of Every Day Life—Childhood and Concealing Memories,* trans. A. A. Brill, E. Benn, 1954.

Frink. *Morbid Fears and Compulsions.*

Griffiths, P. *The British Impact on India,* MacDonald, London, 1952.

Guedalla, Phillips. *The Sunday Times* of 27th May, 1928.

Haines, Helen E. *Living with Books,* Columbia University Press, New York, second edn., 1950.

Hall and Lindzey. *Theories of Personality,* John Wiley & Sons, New York, 1957.

Hanawatt, H. G "The Role of the Upper and the Lower Parts of the Face as a Basis for Judging Facial Expressions" *Journal of General Psychology,* 1944, 31 : p.23-36

Harding. *The Way of All Women · A Psychological Interpretation,* Longman, Green & Co. London, 1947.

Havighurst, R.J. and Hilda Taba. *Adolescent Character and Personality,* John Wiley & Sons, New York, 1949.

Hepner, H. W. *Psychology · Applied to Life and Work,* Prentice-Hall, New York, 1950.

Hiriyanna, H. *The Essentials of Indian Philosophy,* George Allen and Unwin, London, second imp , 1951.

Hoffman, Frederick J. *Freudianism and Literary Mind*, Lousiana State University Press, New York, 1945.

Horney, Karen. *Self-Analysis*, Routledge & Kegan Paul, London, 1942.

Hudson, W. H. *An Introduction to the Study of Literature*, George G Harrap & Co., London, 1949.

Hull, Helan (ed.). *The Writer's Book*, Harper & Bros., New York, 1950.

James, Henry. *Portable Henry James*, Vilsin Press, New York, 1951.

James, Henry. *The Spoils of Poynton.*

Johnson, and Weigand. *Proc. Penna. Acad. Sci.*, 1927.

Jung, C. J. *Modern Man in Search of a Soul*, Routledge & Kegan Paul, London, 1949.

Kale, M. R. *Higher Sanskrit Grammar*, Appendix to Dhatu Kosh.

Kettle, Arnold. *An Introduction to the English Novel*, Vol. 1, Union Library, Hutchinson, 1951.

Klein, M. *The Psycho-analysis of Children*, Hogarth Press, 1932.

Lahmann, John. *Penguin New Writing*, Penguin Books, September, 1942.

Lamb, Charles. 'A Letter to Wordsworth', *Time and the Novel*, 1952.

Landis, Paul. *Adolescence and Youth*, McGraw Hill, New York, 1952.

Lawrence, D. H. *Lady Chatterley's Lover*, Signet Book, Sixth Print, 1950.

Lawrence, D. H. 'Morality and the Novel', Posthumous Papers : *Pheonix*, London.

Lawrence, D. H. *Studies in Classical American Literature*, Heinemann, New York, 1930.

Liddell, Robert. *A Treatise on the Novel*, Jonathan Cape, London, second imp., 1949.

Lubbock, Percy. *The Craft of Fiction*, Jonathan Cape, London, 1954.

Maciver, R. M. *Society*, Macmillan and Co., London, 1950.

Madan, Dr. I. N. *Premchand : An Interpretation.*

Majumdar, R. C. *An Advanced History of India*, Macmillan, London, 1953.

Marx, Karl. *Critique of Political Economy.*

McDougall, William. *An Outline of Psychology*, Methuen & Co., London, 1943.

Medilow, A. A. *Time and The Novel*, P. Nevill, 1952.

Meredith, Scott. 'Stuffing the Hollowman—Characterization', *Writing to Sell.* Harper & Bros, New York, 1950.

Misra, Vachaspati. *Sankhyatatwakaumudi*, Bombay, Samvat, 1969.

Mounier. E. *The Character of Man*, trans. C. Rowland, Rockliff, London, 1956.

Muir, Edwin. *The Structure of the Novel*, Hogarth Press, London, 5th imp. 1949.

Murphy, G. *General Psychology*, Harper & Bros. New York, 1935.

Murray, H. A. *Explorations in Personality*, Oxford University Press, New York, 1938.

Nikhilananda. *Vedanta-Sara of Sadananda Yogendra*, Advait Ashram, Almora, 1949.

Padmore, Frank. *Apparitions and Thouhgt Transference.*

Pain, Barry. *The Short Story*, Harrap & Co., London.

Patrick, Q. 'The Naughty Child of Fiction', *The Writer's Hand Book*, Writer's Inc. Boston, 1952.

Radhakrishnan, Dr. S. *Indian Philosophy*, George Allen & Unwin, London, 1948.

Roback, Dr. A. A. *The Psychology of Character*, Routledge & Kegan Paul, London, third edn., 1952.

Roback, Dr. A. A. *Problems of Personality*, Campbell & Bros, 1925.

Robinson, M. L. *Writing for Young People*, Thomas Nelson & Sons, New York. 1950.

Ruch, F. L. *Psychology and Life*, Scott, Foreman & Co. New York, third edn.

Russel. *My Diary in India.*

Schilder, P. *Psycho-analysis, Man and Society*, W. W. Norton & Co., New York, 1951.

Schoen, Max. *Human Nature in the Making*, The Wordsworth, Surrey, 1947.

Sinha, J. *Indian Psychology: Perception*, Kegan Paul, Trench & Co., London, 1934.

Spender, Stephen. 'The Novel and Narrative Poetry', *The Penguin New Writing*, Penguin Books, London, Sep., 1942.

Soman. *General Introduction to Stevenson's Stories.*

Stagner, Ross. *Psychology of Personality,* McGraw Hill, New York, 1948.

Thomson and Garrat. *Rise and Fulfilment of the British Rule in India,* Macmillan & Co., London.

Tilak, B. G. *Kesari* of 12th June, 1908.

Tracy, Dr. F. *How to use Hypnosis*, Arco. Pub. Co., London, 1953.

Tridon, Andre. *Psycho-analysis and Love.* Perma Books edn., 1949.

Unwin. *Sex and Culture*, Oxford University Press, London, 1934.

Vatsyayan, S. H. 'Hindi Literature', *Contemporary Indian Literature,* Sahitya Akademi, New Delhi, 1957.

Wachner, T. S. 'Interpretation of Spontaneous Drawings and Paintings'. *Genet. Psychol Monoger.*

Webster. *American Standard Dictionary,* Triangle Books, New York, 1948.

Webster. *New International Dictionary of English Language,* second edn., 1945.

Wellek, R & Austin Warren. *The Theory of Literature*, Jonathan Cape, London, 1949.

Wolfert, Era. 'What is a Novel and what is it Good for', *The Writer's Book,* Harper & Bros., New York.

Zola, E. *Nana*, Pocket Books, New York, 1951.

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

अज्ञेय. **नदी के द्वीप**, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, १९५१ ।

अज्ञेय. **शेखर : एक जीवनी—भाग १-२**, सरस्वती प्रेस, बनारस, तृतीय संस्करण, १९२ ।

अरविन्द. **योग प्रदीप**, श्री अरविन्द-ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९३६ ।

इंशा अल्ला खाँ. **रानी केतकी की कहानी**, परिमल प्रकाशन प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९५२ ।

एंगेल्स, फ्रेड्रिक. **समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक**, हिन्दी-संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, १९४९ ।

काश्यप, अर्जुन चौबे. **सामान्य मनोविज्ञान**, राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

कोठारी, कोमल, (सं०). **प्रेमचन्द के पात्र**, प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर, १९५४ ।

गहमरी, गोपालराम. **ठन-ठन गोपाल**, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९४६ ।

खत्री, देवकीनन्दन. **चन्द्रकान्ता**, लहरी बुक डिपो, बनारस, २९वाँ संस्करण, १९५६ ।

खत्री, देवकीनन्दन. **चन्द्रकान्ता-सन्तति**, लहरी बुक डिपो, बनारस १६वाँ संस्करण, १९५१ ।

खत्री, डा० एस० पी०. **आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

जैनेन्द्र कुमार. **कल्याणी**, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, तीसरा संस्करण, १९५३ ।

जैनेन्द्र कुमार. **जयवर्धन**, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

जैनेन्द्र कुमार. **त्याग-पत्र**, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, सातवाँ संस्करण, १९५५ ।

जैनेन्द्र कुमार. **परख**, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, आठवाँ संस्करण, १९५६ ।

जैनेन्द्र कुमार. **विवर्त**, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५३ ।

जैनेन्द्र कुमार. **व्यतीत**, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५३ ।

जैनेन्द्र कुमार. **साहित्य का श्रेय और प्रेय**, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९५३ ।

जैनेन्द्र कुमार. **सुखदा**, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

जैनेन्द्र कुमार. **सुनीता**, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, चौथा संस्करण, १९४९ ।

जोशी, इलाचन्द्र. **जहाज का पंछी** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **जिप्सी**, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

जोशी, इलाचन्द्र. **निर्वासित**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सं० २००३ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **पर्दे की रानी**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, सं० २००२ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **प्रेत और छाया** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **मुक्ति पथ** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **लज्जा**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सं० २००७ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **संन्यासी**, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, सं० २००६ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **सुबह के भूले**, हिन्दीभवन, इलाहाबाद, १९५२ ।

तिलक, बालगंगाधर. **गीता-रहस्य**, हिन्दी संस्करण ।

त्रिगुणायत, डा० गोविन्दशरण. **शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त**, प्रथम भाग, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७ ।

भटनागर, डा० रामरतन. **कलाकार प्रेमचन्द**, यूनिवर्सल प्रेस, इलाहाबाद ।

भट्ट, बालकृष्ण. **सौ अजान एक सुजान**, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, ११वां संस्करण, सं० २००६ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **आँसू**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००३ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **इरावती**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण ।

प्रसाद, जयशंकर. **कंकाल**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ५वां संस्करण ।

प्रसाद, जयशंकर. **कामायनी** ।

प्रसाद, जयशंकर. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, द्वितीय संस्करण, सं० २००१ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **तितली**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ५वां संस्करण, सं० २००५ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **विशाख**, प्रथम संस्करण, १९२१ ।

प्रेमचन्द. **कर्मभूमि**, सरस्वती प्रेस, बनारस ।

प्रेमचन्द. **कायाकल्प**, सरस्वती प्रेस बनारस ।

प्रेमचन्द. **कुछ विचार**, सरस्वती प्रेस, बनारस, चौथा संस्करण, १९४९ ।

प्रेमचन्द. **गोदान**, सरस्वती प्रेस, बनारस ।

प्रेमचन्द. **गबन**, सरस्वती प्रेस, बनारस, ८वाँ संस्करण, १९४६।
प्रेमचन्द. **निर्मला**, सरस्वती प्रेस, बनारस, ९वाँ संस्करण, १९५२।
प्रेमचन्द. **प्रतिज्ञा**, सरस्वती प्रेस, बनारस, ८वाँ संस्करण, १९५३।
प्रेमचन्द. **प्रेमाश्रम**, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. **रंगभूमि**, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. **वरदान**, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. **सेवासदन**, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
मदान, डा० इन्द्रनाथ. **प्रेमचन्द : एक विवेचन**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
वर्मा, भगवतीचरण. **आखिरी दाँव**, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
वर्मा, भगवतीचरण. **चित्रलेखा**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ८वाँ संस्करण, सं० २००४ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. **टेढ़े-मेढ़े रास्ते**, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, सं० २००५ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. **तीन वर्ष**, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थावृत्ति, सं० २००५ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. **पतन**, गगा ग्रंथागार, लखनऊ द्वितीयावृत्ति, १९४९।
वर्मा, डा० रामकुमार. **विचार-दर्शन**, साहित्य-निकुंज, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४८।
वर्मा, रामचन्द्र. **सक्षिप्त शब्द-सागर**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, सं० २००२ वि०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **कचनार**, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति, १९४८।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **गढ़ कुण्डार**, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, ५वीं आवृत्ति, १९४६।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **झाँसी की रानी**, मयूर प्रकाशन, झाँसी, द्वितीयावृत्ति, १९४८।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **मृगनयनी**, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथम संस्करण, १९५०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **विराटा की पद्मिनी**, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, तृतीयावृत्ति, सं० २००३ वि०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. **सोना**, मयूर प्रकाशन, झाँसी।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. **आधुनिक साहित्य**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००७ वि०।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. **जयशंकर प्रसाद**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००४ वि०।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. **प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन**, हिन्दी भवन, इलाहाबाद।
व्यास, अम्बिकादत्त. **आश्चर्य वृत्तान्त**, व्यास पुस्तकालय, काशी, चतुर्थ संस्करण, १९४९।
यशपाल. **दादा कामरेड**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ।

यशपाल. **दिव्या**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, ५वाँ संस्करण, १६५६।
यशपाल. **देशद्रोही**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, तीसरा संस्करण, १६४६।
यशपाल. **पार्टी कामरेड**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, दूसरा संस्करण, १६४७।
यशपाल. **मनुष्य के रूप**, विप्लव कार्यालय, लखनऊ।
यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ, पंजाबी विभाग, पटियाला, १६५७।
शर्मा, डा० जगन्नाथप्रसाद. **हिन्दी की गद्य-शैली का विकास**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
शर्मा, यज्ञदत्त. **हिन्दी के उपन्यासकार**, भारती भाषा भवन, दिल्ली, १६५१।
शर्मा, डा० रामविलास. **प्रेमचन्द और उनका युग**, मेहरचन्द मुंशीराम, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६५२।
शिवरानी. **प्रेमचन्द : घर में**, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।
शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. **हिन्दी-साहित्य का इतिहास**, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००३ वि०।
श्रीनिवासदास. **परीक्षा गुरु**।
श्रीवास्तव, शिवनारायण. **हिन्दी-उपन्यास**, सरस्वती मन्दिर, बनारस, सं० २००२ वि०।
सिन्हा, शशिलता. **प्रयोगात्मक मनोविज्ञान**।
हरिश्चन्द्र. **महर्षि दयानन्द सरस्वती**, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००६ वि०।

पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल, जून, १६५१।
आरती, अगस्त, १६४१।
आलोचना : इतिहास-विशेषांक, अक्तूबर, १६५२।
कल्पना, फरवरी, १६५१।
कल्पना, मार्च, १६५३।
कल्याण : वेदान्त अंक, सं० १६६३ वि०।
कोहेनूर, लाहौर, २८ जुलाई, १८७७।
नया समाज, मई, १६५३।
नये-पत्ते, जनवरी-फरवरी, १६५३।
पारिजात, जनवरी, १६४७।
प्रतीक, इलाहाबाद, सं० १ ग्रीष्म।
वीरअर्जुन, २७ नवम्बर, १६४७।
वीणा, दिसम्बर, १६४१।
संगम : प्रसाद-स्मृति-अंक, फरवरी, १६५१।

समाज, जुलाई, १९४७।
सरस्वती, मार्च, १९५२।
साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २० दिसम्बर, १९५३।
साप्ताहिक ससार, १ जुलाई, १९४६।
साहित्य-सन्देश : आधुनिक उपन्यास-अंक, जुलाई-अगस्त, १९५६।
हस, दिसम्बर, १९३३।
हंस : प्रेमचन्द स्मृति-अक, मई, १९३७।
हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, नवम्बर, १८७८ ई०।

संस्कृत

अमरु	अमरुशतक, काव्यसंग्रह, कलकत्ता, १८७२।
	कठोपनिषद्
जगन्नाथ	रसगगाधर, प्रथम आनन।
	महाभारत, शान्ति पर्व।
मिश्र, वाचस्पति	सांख्य-तत्त्व-कौमुदी, बम्बई, सं० १९६९ वि०।
वात्स्यायन	कामसूत्र।
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
	श्रीमद्भगवद्गीता
सरस्वती, माधव	मितभाषिणी।
	सांख्य

मराठी

सहस्रबुद्धे, डा०	स्वभावलेखन-कला।

बँगला

दास, ज्ञानेन्द्रमोहन	बँगला भाषार अभिधान।

प्रबन्ध की पारिभाषिक शब्दावली

अंतरंग चरित्रचित्रण	subjective characterization
अंतःप्रेरणाओं का चित्रण	motivation
अंतर्दृष्टितः	subjectively
अंतर्द्वन्द्व	mental conflict
अंतर्विवाद	interior monologue
अंतर्मुख	introverted
अचेतन प्रतिन्यास	unconscious attitudes
अचेतन व्यवहार	automatism
अनुभाव	expressive features
अपसामान्य	abnormal
अवचेतन	subconscious
आभ्यान्तरिक चित्रण	subjective characterization
अहं	ego
अहंवादी	egoist
आन्तरायिक	intermittent
आत्मरति	narcissism
आत्म-विश्लेषण	self-analysis
आनुकूलिक व्यक्तित्व	adaptive personality
आनुवंशिकता	heredity
आवेगज आचरण	emotional behaviour
उत्तेजना	impulse
उदात्तीकरण, उन्नयन	sublimation
उद्दीपन	stimulus
उभयलैंगिकता	bisexuality
एकात्मीकरण	identification
किशोरावस्था	adolescence
धर्षकाम	masochism
चारित्रिक गुणावगुण	personality traits
चित्र-विश्लेषण	picture-analysis
चेतना प्रवाह	stream of consciousness

छाप	impression
तनाव	tension
तीव्रता	intensity
तृप्ति, काम-वासना	gratification, sexual
तादात्म्य	identification
दमन	repression
दर्शन	vision
नाटकीकरण, स्वप्न सघटन	dramatization, dream mechanism
निराधार प्रत्यक्षीकरण	hallucination
परिपक्वता	maturity
परिवेश	environments
पात्र	subject, characters
प्रतिध्वनि	echo
प्रतीकीकरण, स्वप्न संघटन	symbolization, dream mechanism
प्रत्यक्षीकरण	perception
प्रत्यावर्त्तन	regression
प्रत्यवलोकन	recollection
प्रवृत्ति	aptitude
प्रेरणा, प्रेरक	motive
पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली	case-history method
बहिरंग चरित्रचित्रण	objective characterization
बहिर्मुख	extroverted
बाधकता-विश्लेषण	analysis of resistance
भ्रान्ति	delusion
मानस	psyche
मानसिक सन्तुलन	mental equilibrium
माया	illusion
मुक्त आसंग	free association
मुख-अध्ययन	face reading
मुखाकृति विज्ञान	physiognomy
मुख-इंगित	facial expressions
मृत्यु का अकारण भय	death phobia
यथार्थता सिद्धान्त	reality principle
युक्तिकरण	rationalization
यौन प्रवृत्ति	sex urge
वातावरण	environments
बाह्य चरित्रचित्रण	objective characterization
बाह्यदृष्टितः	objectively
विकसनशील पात्र	kinetic character

विकासमान चरित्र	character in the making
विद्रोही व्यक्तित्व	defiant personality
विनीत व्यक्तित्व	submissive personality
विवेक बुद्धि	conscience, super-ego
विस्थापन, स्वप्न-संघटन	displacement, dream machanism
वैर भाव	hostility
व्यक्त आचरण	overt behaviour
व्यजकता	suggestiveness
व्याख्या, मनोवैज्ञानिक	interpretation, psychological
शब्द-सहस्मृति-परीक्षण	words association test
शैली प्रदर्शन	mannerism
संक्रमण-विश्लेषण	analysis of transference
संघनन, स्वप्न-सघटन	condensation, dream mechanism
सघर्ष	conflict
संवेदनशीलता	sensitivity
संवेदना	sensation
समयौनता	homosexuality
सम्मोहन-क्रिया	hypnotism
सम्मोह-विश्लेषण	hypno-analysis
सहस्मृतिया	associations
सामान्यीकरण	generalization
सामंजस्य	adjustment
सायुज्य-स्थापन	identification
सुख सिद्धान्त	pleasure principle
स्मृत कथोपकथन	recollected dialogues
स्वचालित व्यक्तित्व	self-directive personality
स्वप्न का व्यक्त रूप	manifest form of dream
स्वप्न-विश्लेषण	dream-analysis
स्वप्न-संघटन	dream mechanism
स्वभाव	temperament
स्थिति	situation
स्थितिपालक	conservative
स्थित्यंकन	situation portrayal
स्थिर पात्र	static character
हिम-नग	ice-berg

अनुक्रमणिका

INDEX*

(*Subject-Author*)

*Figures other than those in antic relate to the footnote matter.